विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

सत्यकेतु विद्यालंकार

सरस्वती सदन, मसूरी

विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(१९१९ से १९४५ तक)

लेखक

सत्यकेतु विद्यालङ्कार डी० लिट्० (पेरिस)

(गोविन्दवल्लभ पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार एवं
मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

जुलाई, १९७१] [मूल्य ९ रुपये

प्रकाशक
श्री सरस्वती सदन
मसूरी (उत्तर प्रदेश)

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

प्रारम्भिक शब्द

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का इतिहास में सदा महत्त्व रहा है। प्राचीन और मध्य युगों में भी विश्व के विविध राज्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आते थे, और उनके सम्बन्ध इतिहास की घटनाओं को प्रभावित किया करते थे। पर आधुनिक समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इसका कारण यह है कि नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है जिससे संसार के सब राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। रेल, मोटर, तार, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन और हवाई जहाज आदि ने राज्यों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिये हैं और किसी भी देश के लिये अब यह सम्भव नहीं रहा है कि वह विश्व की राजनीति और गतिविधि से अपने को पृथक् रख सके। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि कोई भी राज्य अपने राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक एवं सांस्कृतिक जीवन को केवल अपने तक ही सीमित नहीं रख सकता। इसीलिये गत एक सदी में अन्तर्राष्ट्रीयता में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है और यह स्वीकार कर लिया गया है कि संसार में शान्ति को स्थापित करने के लिये सब राज्यों का एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होना बहुत आवश्यक है, जो राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटा सके और उनमें परस्पर सहयोग को बढ़ा सके। इसी के परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ का निर्माण किया गया, और द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ का। यद्यपि अभी इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को पूर्ण व निर्दोष नहीं कहा जा सकता, पर यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान समय में मानव समाज अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है, और वह समय दूर नहीं है जब कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श क्रिया में परिणत हो जायगा।

बीसवीं सदी में मानव समाज ने अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में जो असाधारण प्रगति की है, उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुशीलन का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अनेक तत्त्व प्रभावित करते हैं, जिनमें राष्ट्रीय हितों की रक्षा सर्वप्रधान है। अपनी विदेशनीति का निर्धारण करते हुए राज्य अपने राष्ट्रीय हितों को ही मुख्यरूप से अपने सम्मुख रखते हैं। व्यक्तियों के समान राज्यों में भी विषमता की सत्ता है। कुछ राज्य शक्तिशाली तथा उन्नत हैं, और अन्य राज्य निर्बल तथा पिछड़े हुए हैं। यद्यपि सभी राज्यों

को पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न तथा एक समान माना जाता है, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वे समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकते। साम्राज्यवाद का अब तक भी पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ है। अनेक राज्य ऐसे भी हैं जो पर्याप्त शक्तिशाली तथा उन्नत हैं, पर जिनके पास साम्राज्यों का अभाव है। गत दो महायुद्धों के प्रादुर्भाव का प्रधान कारण यही था कि विविध राज्यों के साम्राज्य-विषयक स्वार्थ परस्पर टकराते थे। समाज के संगठन के सम्बन्ध में भी अनेक विचार-धाराएँ इस समय प्रचलित हैं। कुछ राज्य कम्युनिस्ट विचारधारा में विश्वास रखते हैं, और अन्य पूँजीवाद पर आधारित लोक-तन्त्रवाद में। इस भेद के कारण भी राज्यों में परस्पर संघर्ष होते रहते हैं। कुछ राज्य ऐसे हैं जिनका क्षेत्रफल तो बहुत बड़ा है, पर जिनकी आबादी बहुत कम है। इसके विपरीत ऐसे राज्य भी हैं, जिनकी भूमि अपनी जनसंख्या के लिये पर्याप्त नहीं है। यह बात भी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है। वस्तुतः, राष्ट्रीय स्वार्थ और राज्यों की शक्तिमत्ता—ये दो ऐसे प्रधान तत्त्व हैं, जिन द्वारा वर्तमान समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति निर्धारित होती है। इस विषय का अनुशीलन करते हुए इन तत्त्वों को सम्मुख रखना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्याख्या की जा सकती है।

मैंने प्रयत्न किया है कि इस ग्रन्थ में १९१९ से १९४५ तक की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निष्पक्ष रूप से विचार किया जाए। इस काल में जर्मनी में नाजीज्म और इटली में फासिज्म का विकास हुआ। रूस ने इसी काल में कम्युनिस्ट व्यवस्था को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। फासिज्म और नाजीज्म के विकास का कारण यह था, कि जर्मनी और इटली अपनी राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि तथा अपने साम्राज्यों के निर्माण के लिये उत्सुक थे, जिससे पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों को नुकसान पहुँचता था। रूस का कम्युनिज्म भी पूँजीवादी देशों के लिये खतरे का कारण था। अपने राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रख कर ही ब्रिटेन और फ्रांस आदि देशों ने हिटलर और मुसोलिनी का विरोध किया, और रूस ने भी नाजीज्म और फासिज्म के प्रतिरोध के लिये पूँजीवादी राज्यों का साथ देने में संकोच नहीं किया। मैंने यत्न किया है, कि इस ग्रन्थ में इस काल की राजनीति पर इस ढंग से प्रकाश डाला जाए, जिससे कि वे तत्त्व पाठकों के सम्मुख आ जाएँ, जिन द्वारा इस काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण हुआ था। हिन्दी में इस विषय पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, पर मुझे आशा है कि पाठक मेरे इस ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली में कुछ नवीनता व भिन्नता पायेंगे और इससे वे संतोष अनुभव करेंगे।

मसूरी
ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया, २०२७

सत्यकेतु विद्यालंकार

निवेदन

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के नवीन ग्रन्थ "विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध" को पाठकों के सम्मुख रखते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। इस ग्रन्थ में सन् १९१९ से १९४५ तक के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है, और इस काल की राजनीति का सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया है। १९४५ ई० से वर्तमान समय तक के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर डॉ० विद्यालंकार ने एक पृथक् पुस्तक लिखी है, जिसे भी हम प्रकाशित कर रहे हैं। ये दोनों ग्रन्थ न केवल एम० ए० के विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, अपितु सर्वसाधारण पाठक भी इन द्वारा विश्व की वर्तमान राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। राजनीतिशास्त्र और इतिहास दोनों के ही एम० ए० के पाठ्यक्रमों में यह विषय नियत है, और डॉ० विद्यालंकार के ये दो ग्रन्थ इन दोनों विषयों के विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे, यह हम भरोसे के साथ कह सकते हैं।

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार इतिहास और राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इन विषयों पर वे पच्चीस के लगभग पुस्तकें लिख चुके हैं, जिन्हें हिन्दी संसार में समुचित सम्मान प्राप्त हुआ है। उनकी अनेक पुस्तकें विविध विश्वविद्यालयों द्वारा पाठ्य-पुस्तकों के रूप में स्वीकृत हैं, और प्राध्यापकों, विद्यार्थियों तथा पाठकों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विविध सरकारों तथा साहित्यिक संस्थाओं ने डॉ० विद्यालंकार को अपने उच्चतम पुरस्कारों द्वारा भी सम्मानित किया है, और हिन्दी के लेखकों में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त है।

हमें आशा है कि डॉ० विद्यालंकार की अन्य पुस्तकों के समान "विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध" को भी विद्यार्थियों के लिए उपयोगी पाया जायगा। इस पुस्तक की भाषा बहुत सरल है, और विषय को प्रतिपादित करने की शैली रोचक एवं हृदयंगम है। इसे पढ़कर विषय भली-भाँति समझ में आ जाता है।

हमें खेद है कि इस पुस्तक में प्रूफ की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, पर विज्ञ पाठक उन्हें सुगमता से स्वयं शुद्ध कर लेंगे, इसका हमें विश्वास है।

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) प्रस्तावना

वर्तमान समय में पृथिवी पर जो राज्य विद्यमान हैं, उनकी संख्या १५० के लगभग है। ये सब राज्य सम्पूर्ण-प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न (Sovereign) हैं। क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से ये राज्य चाहे रूस, संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, चीन और भारत के समान विशाल हों, और चाहे बेल्जियम, लुक्समबुर्ग और इजराईल के समान स्वल्पकाय, पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन सबकी स्थिति एक समान मानी जाती है। ये सब राज्य अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, और राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनके पृथक् व्यक्तित्व तथा सर्वोपरि स्थिति को स्वीकार किया जाता है। यद्यपि बहुसंख्यक राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations' Organisation) के सदस्य हैं, पर इससे उनकी प्रभुता में कोई अन्तर नहीं आता।

नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। इससे विविध राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। रेल, मोटर, तार, टेलीफोन, रेडियो, टैलीविजन और हवाई जहाज आदि ने इस समय विविध राज्यों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। आवागमन, परिवहन, यातायात और सञ्चार के नवीन वैज्ञानिक साधनों के कारण व्यापार का स्वरूप भी अब अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। अब लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि उनका आर्थिक जीवन किसी एक देश तक ही सीमित नहीं रहा है। संसार के विविध राज्यों का आर्थिक, औद्योगिक और व्यापारिक जीवन अब एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गया है। प्रेस, समाचार पत्र और रेडियो के विकास के कारण अब विभिन्न राज्यों के निवासियों को एक-दूसरे के धर्म, सभ्यता और संस्कृति से परिचित होने तथा समझने का अवसर मिलता है, और इससे उनमें सांस्कृतिक एकता के विकसित होने में सहायता मिलती है। नये-नये संहारक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार के कारण लोग अब यह भी अनुभव करने लगे हैं कि युद्ध द्वारा उनकी और उनकी सभ्यता की सत्ता ही खतरे में पड़ सकती है। इसका परिणाम यह है कि संसार के राजनीतिक नेता अब इस बात की आवश्यकता भी स्वीकार करने लगे हैं कि राज्यों के झगड़ों को निबटाने के लिए शान्तिमय उपायों का ही आश्रय लिया जाना चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की उपयोगिता में भी अब किसी को सन्देह नहीं रह गया है।

प्राचीन काल में जब मनुष्यों के पास घोड़े से अधिक तेज चलने वाली कोई सवारी नहीं थी, और जब संसार में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी, तब भी विविध राज्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आया करते थे, और उनके राजाओं व शासकों को इस प्रश्न पर विचार करना होता था कि हमें परस्पर किस प्रकार का बरताव करना चाहिये और परस्पर कैसे सम्बन्ध रखने चाहिये। पर वर्तमान समय में तो इस प्रश्न ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया है। यदि आज विएत-नाम में युद्ध होता है, अफ्रीका के किसी राज्य में क्रान्ति होती है, या भारत के किसी प्रदेश में दुर्भिक्ष पड़ता है, तो संसार के सभी राज्यों पर उसका प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समय के राज्य एक-दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गये हैं, कि उनका पूर्णतया पृथक् व स्वतन्त्र अस्तित्व अब सम्भव ही नहीं रह गया है।

जो कार्य राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव डालते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—(१) राज्य के नागरिकों और राज्य में विद्यमान व्यक्ति-समूहों (Corporations) के कार्य, और (२) राज्यों की सरकारों के कार्य। राज्य के नागरिक अनेक प्रकार से अन्य राज्यों के सम्पर्क में आते हैं। वे यात्रा, व्यापार, शिक्षा आदि के प्रयोजन से अन्य राज्यों में जाते हैं, अपने देश का परित्याग कर अन्यत्र बस जाने का प्रयत्न करते हैं, धर्म प्रचार या जनसेवा के लिये दूसरे राज्यों में निवास करते हैं, और या किसी पिछड़े हुए देश की औद्योगिक उन्नति के लिये वहाँ रुपया लगाते हैं। ये सब कार्य जहाँ राज्य के नागरिक करते हैं, वहाँ व्यक्ति-समूहों द्वारा भी ये कार्य किये जाते हैं। आज कल कितने ही बैंक व कम्पनियाँ ऐसी हैं, जिसकी शाखाएं बहुत-से राज्यों में कायम हैं, और जिनके आर्थिक कार्यों का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है। नागरिकों तथा व्यक्ति-समूहों के कार्यकलाप के कारण बहुधा ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके समाधान के लिये राज्यों को बहुधा परस्पर सहमति से अनेकविध नियम बनाने पड़ते हैं या परस्पर समझौते करने होते हैं। धर्मप्रचार, व्यापार, यात्रा और अन्य प्रयोजनों से विदेश जाने वाले व्यक्तियों को पासपोर्ट लेने होते हैं, और हैजा, चेचक, टाइफाइड आदि बीमारियाँ एक देश से दूसरे देश में फैलने न पायें, इस कारण विदेश के यात्रियों को टीके लगवाने पड़ते हैं। विदेश में रुपया किन शर्तों पर लगाया जा सके, इस सम्बन्ध में भी राज्य कानून बनाते हैं। विदेशी उद्योगपतियों और व्यापारियों के कार्यों को भी राज्य अनेक प्रकार से नियन्त्रित करते हैं।

जैसे नागरिकों और व्यक्ति-समूहों के कार्यों द्वारा राज्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, वैसे ही विभिन्न राज्यों की सरकारें भी परस्पर सम्पर्क में आती हैं। यह सम्पर्क शान्ति के समय में भी होता है, और युद्ध के अवसर पर भी। शान्ति के समय विविध राज्य एक-दूसरे के साथ जो सम्बन्ध रखते हैं, उनका निर्धारण राजनय (Diplomacy) द्वारा किया जाता है। इसी प्रयोजन से राज्य अन्य देशों में राजदूत नियुक्त करते हैं, और उन द्वारा अपनी समस्याओं का समाधान करते हैं। यदि किसी

प्रश्न पर दो या अधिक राज्यों में मतभेद हो, तो उसका निर्णय वे बातचीत द्वारा, सन्धि द्वारा या अन्य प्रकार के समझौतों द्वारा करते हैं। साथ ही, अपने सर्वसामान्य हितों (Common interests) की रक्षा के लिए विविध राज्य अनेकविध संघों का भी निर्माण करते हैं। उन्नीसवीं सदी में ही इस प्रकार के संघों या समुदायों का संगठन प्रारम्भ हो गया था, और बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक उनकी संख्या ७०० से भी अधिक हो गयी थी। पोस्टल यूनियन, विश्व टैलीग्राफ यूनियन, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कमीशन, स्वेज यूनियन आदि इस प्रकार के समुदायों के उदाहरण हैं। वस्तुतः, संसार के विविध राज्य अब एक-दूसरे के इतने समीप आ गये हैं, कि उनके लिए परस्पर सहयोग द्वारा कार्य करना अनिवार्य हो गया है, और उन्हें इस प्रकार के संगठन बनाने होते हैं जिनके द्वारा कि वे अपने सर्वसामान्य हितों की रक्षा कर सकें।

नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मनुष्यों के हाथों में जो भयंकर संहारक अस्त्र-शस्त्र अब आ गये हैं, उनके परिणामस्वरूप अब यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि राज्य परस्पर मिल कर ऐसे संगठनों में संगठित हों, जिनके द्वारा कि वे अपने झगड़ों को शान्तिमय उपायों से निबटा सकें और परस्पर सहयोग से काम लें। बीसवीं सदी में राष्ट्रसंघ (League of Nations) और संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations' Organisation) के रूप में जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बने, वे इसी आवश्यकता के परिणाम हैं।

हमने इस ग्रन्थ में १९१९ से १९४५ तक के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विवेचन किया है। इसका कारण यह है, कि बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) का अन्त होने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्या ने अत्यन्त गम्भीर रूप प्राप्त कर लिया था। इस बात की आवश्यकता उग्र रूप से अनुभव की जाने लगी थी, कि विश्व भर के राज्यों का एक ऐसा संगठन बनना चाहिये, जो राज्यों में परस्पर सहयोग की स्थापना कर सके और शान्तिमय साधनों द्वारा राज्यों के आपसी झगड़ों का निबटारा करने का प्रयत्न करे। इस समय तक राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) का निर्माण बहुत कुछ सम्पन्न हो गया था, और यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया था कि प्रत्येक राज्य अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखता है, और उसकी स्थिति सम्पूर्ण-प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न होती है। पर अविकल रूप से पूर्णतया 'प्रभु' होते हुए भी ये राज्य मनमानी नहीं कर सकते और इनके कार्यकलाप को नियन्त्रित व मर्यादित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है। राज्यों में परस्पर सहयोग की स्थापना के लिये राष्ट्रसंघ के रूप में जो संगठन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संगठित हुआ, वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो सका। इसी कारण बीसवीं सदी के द्वितीय विश्वसंग्राम (१९३९-४५) का सूत्रपात हुआ, और उसका अन्त होने पर संसार के राजनीतिज्ञों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन किया। यह संघ भी अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो सकेगा, यह संदिग्ध है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि संसार

अन्तर्राष्ट्रीयता की दिशा में तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है, और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निरन्तर अधिक-अधिक सुदृढ़ होते जा रहे हैं। हमें इस ग्रन्थ में राज्यों के इन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास एवं स्वरूप पर विचार करना है।

(२) प्राचीन और मध्य युगों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप

अत्यन्त प्राचीन काल में ईजिप्ट, सिन्धुघाटी, मैसोपोटामिया और चीन मानव सभ्यता के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। बाद में जब आर्य जाति ने इतिहास के रंगमंच पर प्रवेश किया, तो उसने भारत, ईरान, ग्रीस और इटली में अपनी सभ्यता का विकास किया, और इन देशों में अपने बहुत-से छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। संसार के ये प्राचीन राज्य भी परस्पर व्यवहार करते हुए कतिपय नियमों का पालन किया करते थे, और आत्मरक्षा के प्रयोजन से अपने को विविध संघों में संगठित करने के लिए भी प्रयत्नशील रहते थे। भारत के इन प्राचीन आर्य राज्यों के वैदेशिक व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचय हमें मनुस्मृति, कौटलीय अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों से मिलता है। राजदूत को प्राचीन भारत में अवध्य माना जाता था, और युद्ध के समय पर भी भारत के राजा अनेक नियमों का पालन किया करते थे। पड़ोस के विजिगीषु राजा के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने के लिए वे अन्य राजाओं के साथ सन्धियाँ भी करते थे। प्राचीन ग्रीस में बहुत-से छोटे-छोटे गणराज्यों (City States) की सत्ता थी, जो परस्पर व्यवहार करते हुए अनेकविध नियमों का पालन किया करते थे। ओलिम्पिया के धार्मिक उत्सव के अवसर पर विभिन्न ग्रीक राज्य अपने युद्धों को स्थगित कर दिया करते थे, और उनके प्रतिनिधि ओलिम्पिया में आयोजित साम्मुख्यों में उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे। युद्ध के समय भी वे कतिपय नियमों का पालन करते थे और मृत सैनिकों की अन्त्येष्टि क्रिया के लिए अस्थायी सन्धियाँ भी कर लेते थे। जब पड़ोस के पर्शियन सम्राटों ने ग्रीस पर आक्रमण प्रारम्भ किये, तो आत्मरक्षा के प्रयोजन से विविध ग्रीक राज्यों ने अपने को एक संगठन में संगठित भी किया।

चौथी सदी ई० पू० में रोमन साम्राज्य का विकास प्रारम्भ हुआ। रोम के नगर-राज्य ने पहले इटली के विविध राज्यों को जीत कर अपने अधीन किया, और फिर कार्थेज को युद्ध में परास्त कर उत्तरी अफ्रीका, भूमध्य सागर के विविध द्वीपों और एशिया माइनर के समुद्रतट पर अपने प्रभुत्व को स्थापित किया। बाद में एक ऐसा समय भी आया, जब कि पश्चिम में इंग्लैण्ड से लगा कर पूर्व में मैसोपोटामिया तक के सब प्रदेश रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे। इस साम्राज्य के निवासी दो प्रकार के थे—(१) रोम के नागरिक, और (२) वे लोग जिन्हें रोमन नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं थे। रोमन साम्राज्य के शासक इन दूसरे प्रकार के लोगों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करें, इस सम्बन्ध में वहाँ एक कानून का विकास हुआ, जिसे 'परकीयों का कानून' (Jus Gentium) कहते थे। जब रोमन लोग पड़ोस के अन्य

स्वतन्त्र राज्यों तथा उनके निवासियों के सम्पर्क में आये, तो उनके प्रति व्यवहार करते हुए भी उन्होंने कानून के उन्हीं सिद्धान्तों व मन्तव्यों का प्रयोग किया, जो इस 'परकीयों के कानून' द्वारा प्रतिपादित थे। रोम के विधानशास्त्रियों के अनुसार इस कानून के सिद्धान्त प्राकृतिक कानून (Jus Naturale) के अनुरूप थे, अतः उसका उपयोग विदेशियों के प्रति व्यवहार में भी किया जा सकता था। अपने साम्राज्य के परकीय (aliens) लोगों तथा विदेशियों के साथ रोम के शासकों का जो सम्बन्ध था, वह इसी कानून पर आश्रित था। रोमन लोगों में यह विचार सुदृढ़ रूप से विद्यमान था कि कतिमय ऐसे प्राकृतिक या नैसर्गिक नियम हैं, जिनका पालन परकीयों तथा विदेशियों के प्रति व्यवहार करते हुए आवश्यक रूप से किया जाना चाहिए। प्रायः सम्पूर्ण पाश्चात्य संसार रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था, और पूर्व के सभ्य देशों के साथ रोम का सम्बन्ध अधिक नहीं था, अतः अन्य राज्यों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों की समस्या रोमन साम्राज्य के शासकों के सम्मुख विशेष महत्त्व नहीं रखती थी।

तीसरी सदी ई० प० में अनेक जातियों ने उत्तर की ओर से रोमन साम्राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये, और रोमन सेनाएँ इनका सामना कर सकने में असमर्थ रहीं। फ्रांक, लोम्बार्ड, एंगल आदि जर्मन जातियाँ रोमन साम्राज्य के विविध प्रदेशों पर कब्जा करके वहाँ बसनी शुरू हुईं, और इनके कारण रोम का विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। रोमन लोगों के सम्पर्क में आकर इन जातियों ने रोम की सभ्यता, संस्कृति और धर्म को अपना लिया। उन्होंने जो विविध राज्य कायम किये थे, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से वे स्वतन्त्र थे, पर रोमन सम्राट् की प्रभुता को स्वीकार करते थे। इसी कारण अन्दर से खोखला हो जाने पर भी रोम का वैभव और गौरव पूर्ववत् कायम रहा। नाम को अब भी रोमन सम्राट् एक विशाल साम्राज्य के अधिपति थे, पर वास्तविक शक्ति उन जर्मन नेताओं के हाथों में आ गई थी जो विविध प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित कर चुके थे। यूरोप के ये नये राज्य अपने पड़ोसी राज्यों के साथ बरताव करते हुए रोमन लोगों के उन्हीं सिद्धान्तों का अनुसरण करते थे, जिनका प्रतिपादन परकीयों के कानून द्वारा किया गया था।

पाँचवीं सदी ई० प० में यूरोप पर हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हुए, जिनके कारण रोमन साम्राज्य का पूर्णरूप से अन्त हो गया। इस दशा में विविध जर्मन जातियों के नेता अपने-अपने प्रदेशों में पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये, और वहाँ अनेक नये राजवंशों ने स्वतन्त्र रूप से शासन प्रारम्भ कर दिया। ४५७ ईस्वी में खास रोम में भी गोथ जाति के एक सरदार ने अन्तिम रोमन सम्राट् को पदच्युत कर अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया, और इस प्रकार शक्तिशाली रोमन साम्राज्य का यूरोप से अन्त हुआ।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद उसके खण्डहरों पर जो नये राज्य स्थापित हुए थे, उनकी संख्या हजार से भी अधिक थी। छठी और सातवीं सदियाँ यूरोप के इतिहास में अव्यवस्था और अराजकता की सदियाँ थीं। जिन जर्मन और हूण जातियों ने

आक्रमण कर रोमन साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था, उनके सैंकड़ों सरदारों ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिए थे। जो प्रदेश जर्मन जातियों के हमलों से बच रहे थे, उन पर पुराने समय के राजकर्मचारियों तथा जमींदारों ने स्वतन्त्रता के साथ शासन प्रारम्भ कर दिया था। वे सब आपस में लड़ने और अपने शासन-क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील थे, जिसके कारण सर्वत्र अव्यवस्था मची हुई थी। अराजकता के इस काल में सामन्तपद्धति द्वारा धीरे-धीरे व्यवस्था का विकास हुआ। शक्तिशाली सरदारों ने अन्य सरदारों को जीत कर अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। सामन्त पद्धति एक पिरामिड के समान थी, जिसमें सब से ऊपर एक प्रतापी महाराजा या राजाधिराज होता था, उसके नीचे कुछ बड़े-बड़े सामन्त, उनके नीचे बहुत-से राव राजा और सब से नीचे अनगिनत जमींदार या ठाकुर होते थे। इस पद्धति में राज्यों की प्रभुता का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता था। कोई राजा या शासक अपने पड़ौसी राजा के साथ कैसा सम्बन्ध रखे, यह उसकी अपनी शक्ति पर निर्भर करता था। राजाओं में अपने उत्कर्ष के लिए निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। कभी कोई सर्वोपरि स्थिति प्राप्त कर लेता, और कभी कोई। इस संघर्ष में शार्लमेगन को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसने उन सब प्रदेशों के राजाओं को, जहाँ आजकल बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड और आस्ट्रिया के राज्य हैं, जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार किया, और इटली की विजय कर रोम पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। शार्लमेगन का विशाल साम्राज्य पुराने रोमन साम्राज्य की याद दिलाता था। यूरोप में इस समय तक ईसाई धर्म का प्रचार हो चुका था, और रोम के पोप सम्पूर्ण क्रिश्चियन संसार के धर्मगुरु माने जाते थे। रोम के पोप लिओ तृतीय ने शार्लमेगन को रोमन सम्राटों की पुरानी उपाधियों—सीजर और आगस्टस—से विभूषित किया (८०० ई० प०), और इस प्रकार पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के रूप में पुराने रोमन साम्राज्य का पुनरुद्धार किया। पर इससे मध्ययुग के यूरोप की सामन्तपद्धति में कोई अन्तर नहीं आया, और यूरोप के विविध राजा, महाराजा तथा सामन्त पूर्ववत् अपने उत्कर्ष तथा राज्यविस्तार के लिए संघर्ष में तत्पर रहे। शार्लमेगन के उत्तराधिकारी अपने साम्राज्य को कायम रखने में समर्थ नहीं थे। नये पवित्र रोमन साम्राज्य की सीमाएँ सम्राट् की शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थीं, और इस युग के सभी शक्तिशाली राजाओं की यह महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि वे अन्य राजाओं को अपना वशवर्ती बना कर रोम जाएँ, और वहाँ 'पवित्र रोमन सम्राट्' के गौरवमय पद को प्राप्त करें। पवित्र रोमन साम्राज्य के होते हुए भी यूरोप में सैकड़ों छोटे-बड़े सामन्तों और राजाओं की सत्ता कायम रही। इन राजाओं के पारस्परिक युद्धों के कारण यूरोप में व्यवस्था और शान्ति स्थापित नहीं हो सकी।

पर धीरे-धीरे इन बहुत-से राजाओं तथा सामन्तों के बीच में कतिपय ऐसे शक्ति-

शाली राजाओं का विकास हुआ, जिन्होंने अपने सामन्तों को पूर्णतया अपना वशवर्ती बना कर अपने शक्तिशाली शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। सामन्त लोग अब उनके प्रतिद्वन्द्वी व प्रतिस्पर्धी न रह कर पूर्णतया उनके अधीन व वशवर्ती हो गये। वे आपस के झगड़ों को लड़ाई द्वारा निबटाने के स्थान पर उस शक्तिशाली राजा से न्याय कराने लगे, और अपनी-अपनी जागीरों में स्वतन्त्र राजाओं के समान रहने के स्थान पर एक राजा के दरबार में रहना अधिक सम्मानास्पद समझने लगे। यह दशा यूरोप में एकदम नहीं आ गई। इसे आने में बहुत समय लगा। पर सतरहवीं सदी तक यूरोप के अनेक देशों में यह दशा आ चुकी थी। अब सामन्तपद्धति का ह्रास हो गया था, और उग्र व स्वतन्त्र सामन्त ऐसे अमीरों व उमरावों के रूप में परिवर्तित हो गये थे, जो राजा के दरबार में अदब-कायदे के साथ खड़े होने को गौरव की बात समझते थे। इनकी स्थिति अपनी तलवार के बल पर आश्रित न रह कर राजा की कृपादृष्टि पर आश्रित हो गई थी। फ्रांस, इङ्गलैण्ड, रूस, स्पेन आदि अनेक देशों में यही प्रक्रिया हुई। सतरहवीं सदी तक इन सब देशों के शक्तिशाली राजाओं ने अपने-अपने सामन्तों को पूर्णतया वशवर्ती बना कर अपनी प्रभुता को भली-भांति स्थापित कर लिया था। इङ्गलैण्ड का राजा हेनरी आठवां (१५०३), फ्रांस का राजा लुई चौदहवां (१६४३), स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय (१५५८) और रूस का राजा पीटर (१६८९) इसी प्रकार के शक्तिशाली राजा थे। इतिहास के रंगमंच पर अब एक नये प्रकार के राज्य प्रगट होने लगे, जिन्हें राष्ट्रीय राज्य (Natian State) या राष्ट्र कहते हैं। ये राष्ट्रीय राज्य न केवल मध्यकालीन सामन्त-राज्यों से भिन्न थे, अपितु प्राचीन नगर-राज्यों और सार्वभौम राज्यों या साम्राज्यों से भी भिन्नता रखते थे। इनके संगठन में यह विचार कार्य कर रहा था, कि भाषा, धर्म, रीतिरिवाज, संस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा आदि की एकता के कारण जिस देश के निवासी परस्पर एकानुभूति रखते हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिए। राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के कारण ये नये राज्य बहुत सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित थे। क्योंकि ये राज्य स्पष्ट रूप से एक दूसरे से पृथक् एवं स्वतन्त्र थे और साथ ही पूर्णतया सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न भी, अतः अपने-अपने क्षेत्र में इनकी शक्ति तथा अधिकार असीम थे। इस दशा में इनके लिए यह आवश्यक एवं उपयोगी था, कि पड़ौस के अन्य राज्यों के साथ व्यवहार करते हुए कतिपय ऐसे नियमों का अनुसरण करें जो अन्य सबको भी मान्य हों। ये नियम किसी एक राजा द्वारा बनाये हुए नहीं हो सकते थे। जिन्हें सब कोई प्राकृतिक, नैतिक व नैसर्गिक नियमों के रूप में स्वीकार करें, उन्हीं के अनुसरण की आशा इन सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों से की जा सकती थी। रोमन साम्राज्य के शासक परकीयों के साथ व्यवहार करते हुए जिन नैसर्गिक नियमों का पालन किया करते थे, वही इन राज्यों के लिये भी मान्य हो सकते थे। इस स्थिति में ग्रोटियस (सतरहवीं सदी) नामक विचारक ने रोम के नैसर्गिक नियमों के सिद्धान्त का और अधिक विकास

किया, और यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक राज्य अपनी पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखता है और अपने प्रदेशों पर उसका अधिकार असीम एवं सर्वोपरि होता है। अतः प्रत्येक राज्य के कतिपय ऐसे अधिकार हो जाते हैं, जिनका आदर करना अन्य सब राज्यों का कर्तव्य है। अन्य राज्यों के साथ सन्धि, विग्रह तथा समझौते करते हुए सब राज्यों को इन अधिकारों को दृष्टि में रखना चाहिए। ग्रोटियस का यह मत था, कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समझ-बूझ तथा बुद्धि से अपने कार्य करता है। इसी कारण वह प्राकृतिक व नैसर्गिक नियमों का अनुसरण करता है। क्योंकि राज्य भी मनुष्यों का एक संगठन है, अतः उसे भी मनुष्यों की सामाजिकता तथा सूझबूझ के कारण इन प्राकृतिक नियमों का पालन करना चाहिए। राज्यों को एक-दूसरे के साथ बरताव करते हुए इन प्राकृतिक नियमों के अनुरूप ही अपने सम्बन्धों का निर्धारण करना उपयोगी होगा। सतरहवीं और अठारहवीं सदियों में यूरोप में जो अनेक सन्धियाँ हुईं, उनमें ग्रोटियस के इन्हीं मन्तव्यों को दृष्टि में रखा गया था। वेस्टफेलिया की सन्धि (१६४८), उटरैक्ट की सन्धि (१७१३) और पेरिस की सन्धि (१७६३) में यह बात स्वीकार कर ली गयी थी, कि प्रत्येक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) राज्य अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखता है, और उसके कतिपय ऐसे अधिकार होते है जिन्हें अन्य राज्यों को अंगीकार करना चाहिए। वर्तमान समय में तो यह बात अविकल रूप से मान ली गयी है, कि सब राज्य अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, और राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज (International Society) में उनका अपना-अपना पृथक् व्यक्तित्व होता है। इस प्रकार उस ढंग की अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास प्रारम्भ हुआ, जो अब तक भी सर्वमान्य है। विभिन्न राज्यों की पृथक् सत्ता, स्वतन्त्रता, प्रभुता और समानता—ये ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण करते हुए जिन्हें दृष्टि में रखना अनिवार्य है। मध्ययुग के राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए इनका विशेष महत्त्व नहीं था, क्योंकि सामन्त पद्धति में यह निश्चित कर सकना कठिन था, कि कौन-सा राजा प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न है और कौन-सा नहीं। पर जब सामन्त पद्धति का अन्त होकर राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हो गया, तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण इन्हीं तत्त्वों के अनुसार होने लगा।

पर अनेक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की सत्ता यूरोप में शान्ति और व्यवस्था के कायम रहने में बहुत बड़ी बाधा थी, क्योंकि इनके प्रतापी राजा पड़ौस के निर्बल राज्यों को जीत कर अपने अधीन करने के लिये तत्पर थे। साथ ही, इन राजाओं में पारस्परिक संघर्ष भी जारी था। इस दशा में यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक था, कि कोई ऐसे शान्तिमय उपाय भी होने चाहियें, जिनसे कि ये शक्तिशाली राज्य आपस के झगड़ों को निबटा सकें, और परस्पर सहयोग करते हुए एक साथ रह सकें। १७१३ ई० में सेण्ट पियेर नामक विचारक ने, 'शाश्वत शान्ति की योजना' नाम से एक स्पुतक लिखी। इसमें यह विचार प्रतिपादित किया गया था कि यूरोप के विविध राजा

चिर शान्ति के लिये एक ऐसी सन्धि करें जिस द्वारा शान्तिरक्षा का कार्य राजदूतों की सभा को सौंप दिया जाए। जो राज्य इस सभा के निर्णय को स्वीकार न करें, अन्य राजा उसे मिल कर दण्ड दें। यद्यपि अनेक विद्वानों ने इस पुस्तक का स्वागत किया, पर राजाओं ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में कान्ट ने 'चिरशान्ति की ओर' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें यह विचार रखा गया कि यूरोप के विविध राज्यों को परस्पर मिल कर अपना एक संगठन बना लेना चाहिये। इस संगठन में सम्मिलित सब राज्यों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे, पर सर्वसामान्य हितों के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों का निर्णय वे परस्पर मिल कर इस संगठन द्वारा कराया करें। पर कान्ट का यह विचार उपयुक्त समय से बहुत पहले प्रतिपादित किया गया था, और यह क्रियान्वित नहीं हो सका। अठारहवीं सदी में ही फ्रांस के वाल्तेयर, मांतस्क्यू और रूसो ने तथा इंगलैण्ड के आदम स्मिथ और पिट ने भी इसी प्रकार के विचार प्रगट किये थे। ये विचारक राज्यों में पारस्परिक सहयोग, मानव-समाज की एकता और शान्ति के मन्तव्यों के प्रतिपादक थे। पर उस युग में इन का क्रियान्वित हो सकना सम्भव नहीं था।

शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों के इस काल में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि यूरोप के विविध राज्य केवल अपने ही हितों का ध्यान रखें, अन्य सब राज्यों को पराया एवं अपना प्रतिद्वन्द्वी समझें, और अपनी विदेश-नीति का इस ढंग से संचालन करें जिससे कि अपने राज्य का हित सम्पादित हो सके। इस दशा में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में उस सिद्धान्त का विकास हुआ, जिसे शक्तिसन्तुलन (Balance of Power) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के विविध राज्यों का यह प्रयत्न रहता था, कि कोई राज्य इतना प्रबल व शक्तिशाली न हो जाए कि अन्य राज्य उसके सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करने लगें। यदि किसी राज्य की शक्ति बहुत बढ़ जाती थी, तो अन्य राज्य परस्पर सन्धि द्वारा उसके विरुद्ध एक गुट का निर्माण कर लेते थे और इस गुट में सम्मिलित राज्य शक्तिशाली राज्य से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार यूरोप में शक्ति का संतुलन कायम रहता था, और कोई राज्य इस स्थिति में नहीं हो सकता था कि अन्य सब को अपना वशवर्ती बना सके। राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण इस युग में यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय अनुभूति का सर्वथा अभाव था, और सब राज्य अपने को पूर्णतया पृथक् एवं स्वतन्त्र समझने लगे थे। इस दशा में शक्ति-संतुलन का सिद्धान्त ही उनके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को निर्धारित करता था।

(३) आधुनिक युग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

सन् १७७६ में अमेरिका में राज्यक्रान्ति हुई। कनाडा के दक्षिण में ब्रिटिश लोगों ने न्यू इंगलैण्ड, मेरीलैण्ड, पेन्सिलवेनिया, वर्जिनिया आदि के जो उपनिवेश

बसाये हुए थे, उन्होंने इंगलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। १७८१ तक इंगलैण्ड और अमेरिका के ब्रिटिश निवासियों के बीच लड़ाई जारी रही। पर अन्त में इंगलैण्ड की पराजय हुई, और उसके उपनिनेशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। १७७६ से पूर्व ये उपनिवेश—जिनकी संख्या १३ थी—पृथक् राज्यों के रूप में थे, यद्यपि इनका शासन ब्रिटेन के अधीन था। राज्यक्रान्ति के अवसर पर इन्होंने परस्पर मिल कर ब्रिटेन से युद्ध किया था, इस कारण इनमें एकानुभूति उत्पन्न हो गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्र हो जाने पर इन्होंने अपने को एक संघ-राज्य के रूप में संगठित कर लिया। इन उपनिवेशों की पृथक् राज्यों के रूप में सत्ता अब भी कायम रही, यद्यपि कतिपय निश्चित प्रयोजनों से उन्होंने अपना एक संघ बना लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में यह एक नया पग था।

१७८९ में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई और फ्रेञ्च जनता ने बूर्बो वंश के राजाओं के निरंकुश एवं स्वच्छन्द शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा जिन नयी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ, उनमें राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद का प्रमुख स्थान था। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव फ्रेञ्च क्रान्तिकारियों के आदर्श थे, और वे इन्हीं को क्रियान्वित करने के लिये प्रयत्नशील थे। पर क्रान्ति की ये प्रवृत्तियाँ केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रहीं। यूरोप के अन्य राजाओं ने फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति को अपने लिये खतरनाक समझा, और वे उसे कुचल डालने के लिये तत्पर हो गये। इसी कारण उन युद्धों का सूत्रपात हुआ, जिन्होंने शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप को व्याप्त कर लिया। नैपोलियन के समर्थ नेतृत्व में फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने यूरोप के बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और वहाँ से निरंकुश राजाओं के शासन का अन्त कर लोकतन्त्र रिपब्लिकों की स्थापना की। क्रान्तिकारियों और नेपोलियन की शक्ति का सामना करने के लिये यूरोप के पुराने राजवंशों एवं शासकों ने अनेक गुटों का निर्माण किया। इन गुटों के दो उद्देश्य थे। फ्रांस के असाधारण उत्कर्ष के कारण यूरोप के राज्यों में शक्ति-संतुलन कायम नहीं रह गया था, अतः फ्रांस के विरुद्ध अन्य राज्यों को संगठित कर फिर से शक्ति-संतुलन स्थापित करना, और फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत नयी प्रवृत्तियों का संगठित रूप से मुकाबला करना। १८१४ ई० में राज्यक्रान्ति के विरोधी राज्यों के गुट को नेपोलियन को परास्त करने में सफलता प्राप्त हुई, और वीएना की कांग्रेस द्वारा यूरोप के राज्यों के पुनःसंगठन का कार्य प्रारम्भ हुआ।

नेपोलियन के युद्धों के कारण यूरोप में घोर अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, और अनेक प्राचीन राजवंशों को राजगद्दियों का अन्त हो गया था। इसलिये जब नैपोलियन की पराजय के पश्चात् यूरोप के राजनीतिज्ञ वीएना की कांग्रेस (१८१४) में एकत्र हुए, तो उन्होंने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि युद्धों का अन्त कर किस ढंग से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं, जिससे

भविष्य में युद्धों की सम्भावना ही न रहे। रूस के जार अलेकजेण्डर ने इस कांग्रेस के सम्मुख यह विचार प्रस्तुत किया, कि विविध राजाओं को परस्पर मिल कर एक धार्मिक भाईचारे का संगठन करना चाहिये, जो यूरोप में शान्ति स्थापित रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले। अलेकजेण्डर ने इसे पवित्र मित्रमण्डल (Holy Alliance) का नाम दिया, और सब राजाओं से इसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की। निस्सन्देह, अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में यह एक नयी बात थी। पर पवित्र मित्रमण्डल की योजना सफल नहीं हो सकी। अतः कुछ समय पश्चात् रूस, प्रशिया, ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने मिल कर एक चतुर्मुख मित्रमण्डल (Quadruple Alliance) का संगठन किया, जो १८१५ से १८४८ तक यूरोप की राजनीति का संचालन करता रहा। इस मित्रमण्डल ने यह भी व्यवस्था की, कि समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहें, जिन में कि यूरोप में शान्ति स्थापित रखने के सम्बन्ध में विचार किया जाए। इस प्रकार का पहला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन १८१८ में एक्स-ला-शापेल में, दूसरा १८२० में टाप्या में, तीसरा १८२१ में लैबख में, और चौथा १८२३ में वरोना में हुआ। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ, और यूरोप के विविध राजा अपनी समस्याओं तथा विवादों का बातचीत व शान्तिमय उपायों से हल करने में प्रयत्नशील हुए। यद्यपि उन्हें अपने प्रयत्न में विशेष सफलता नहीं हुई, पर इस काल (१८१५-४८) में उन्होंने अनेक समस्याओं का समाधान किया, जिनमें बेल्जियम की स्वतन्त्रता की समस्या प्रमुख थी।

पर सन् १८४८ के पश्चात् यूरोप के प्रमुख राज्यों के लिए सहयोग से काम कर सकना सम्भव नहीं रहा। इसका प्रधान कारण यह था, कि उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति निरन्तर जोर पकड़ती जा रही थी। फ्रांस, इङ्गलैण्ड और रूस तो पहले ही राष्ट्र के रूप में संगठित राज्य बन चुके थे। अब इटली और जर्मनी भी अपने राष्ट्रीय संगठन के लिए प्रयत्न में लगे थे। इन देशों में उस समय अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता थी, जो बात राष्ट्रीय एकता की भावना के विपरीत थी। जर्मनी और इटली का शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों के रूप में संगठित हो जाना यूरोप के अन्य राज्यों को अपने लिए हितकर प्रतीत नहीं होता था। इस समय तक यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का भी प्रारम्भ हो चुका था, और इङ्गलैण्ड, फ्रांस और प्रशिया जैसे राज्य नये कल-कारखाने खोल कर इस प्रयत्न में लगे थे कि संसार के पिछड़े हुए प्रदेशों को अपने आधिपत्य में ले आएँ, ताकि अपने तैयार माल को वहाँ निश्चिन्तता के साथ बेच सकें। उग्र राष्ट्रीय भावना साम्राज्यवाद को जन्म देती है। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, होलैण्ड और बेल्जियम जैसे देश एशिया और अफ्रीका के विविध क्षेत्रों में अपने-अपने साम्राज्यों का विस्तार करने में तत्पर थे, जिसके कारण उनमें संघर्ष तथा विद्वेष का प्रादुर्भूत हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के राज्यों के आर्थिक तथा राजनीतिक हित आपस में टकराने लग गये, और पवित्र मित्रमण्डल का

विचार निरन्तर शिथिल पड़ता गया। परस्पर सहयोग के स्थान पर अब यूरोप के विविध राज्य एक दूसरे के विरुद्ध गुट बनाने में तत्पर हो गये। बाल्कन प्रायद्वीप, काला सागर और तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में रूस और इङ्गलैण्ड के स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत थे। अतः इङ्गलैण्ड ने फ्रांस और पीडमौण्ड के साथ मिल कर रूस के विरुद्ध गुट बनाया। क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) में इङ्गलैण्ड, फ्रांस और पीडमौण्ट के इसी गुट ने रूस को परास्त किया था। इटली की बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना के लिये यह आवश्यक था कि उत्तरी इटली के प्रदेशों से आस्ट्रिया के शासन को समाप्त किया जाए। अतः १८५८ में पीडमौण्ट के राज्य ने फ्रांस के साथ मिल कर आस्ट्रिया के विरुद्ध गुट का निर्माण किया। इसी प्रकार १८५९ में प्रशिया और आस्ट्रिया ने डेन्मार्क के विरुद्ध और १८६६ में प्रशिया और इटली ने आस्ट्रिया के विरुद्ध गुटों का संगठन किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि १८४८ के बाद यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नये तत्त्व का प्रवेश हुआ था, जिसका प्रधान उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रख कर एक दूसरे राज्य के विरुद्ध गुटों का निर्माण करना था।

१८७१ तक बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी एक सुसंगठित राष्ट्रीय राज्य का रूप प्राप्त कर चुका था। बिस्मार्क द्वारा यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नये तत्त्व का समावेश किया गया, जिसका उद्देश्य ऐसे गुटों का संगठन करना था, जो किसी एक राज्य या राज्यों के किसी एक गुट को बहुत अधिक शक्तिशाली न बनने दे। जब कोई दो या अधिक राज्य मिल कर अपना गुट बना लेते थे, तो अन्य राज्य उससे आशंकित हो जाते थे, और उसके मुकाबले में एक नये गुट का निर्माण कर लेते थे। गुटों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का यह परिणाम होता था कि वे अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि पर विशेष ध्यान देने लगते थे, और अन्त में अपने झगड़ों का निर्णय युद्ध द्वारा करने के लिये तत्पर हो जाते थे। १९१४-१८ का महायुद्ध इसी गुटबन्दी का परिणाम था। १८७१ से १९१४ तक यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य आधार ये गुटबन्दियाँ ही थीं, और इनका प्रवर्तक प्रिंस बिस्मार्क था।

१८७२-७३ में बिस्मार्क ने जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के एक गुट का निर्माण किया, जो इतिहास में 'तीन सम्राटों का संघ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस गुट का उद्देश्य यह था, कि तीनों राज्यों के सम्राट् फ्रांस की क्रान्तिशारी प्रवृत्तियों का मिल कर मुकाबला करें। १८७१ में फ्रांस में तीसरी राज्यक्रान्ति हो चुकी थी, और वहाँ की रिपब्लिक यूरोप में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के प्रसार में तत्पर थी। तीन सम्राटों के संघ का निर्माण इन्हीं प्रवृत्तियों का मुकाबला करने के लिये किया गया था। पर बाल्कन प्रायद्वीप के क्षेत्र में रूस और आस्ट्रिया के हित एक दूसरे से टकराते थे। अतः इन दोनों देशों में परस्पर सहयोग का कायम रह सकना सम्भव नहीं था। इस दशा में १८७९ में बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार उन्होंने यह निश्चय किया कि यदि रूस उनमें से किसी पर आक्रमण करे, तो दूसरा

राज्य आक्रान्त देश की सहायता करे। यह सन्धि १९१४ ई० तक कायम रही, और १९१४-१८ के युद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया एक दूसरे के साथ रहे।

१८८२ में इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया ने एक नई सन्धि की, जो त्रिगुट (Triple Alliance) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि द्वारा इन राज्यों ने यह निश्चय किया कि यदि फ्रांस इटली पर आक्रमण करे, तो जर्मनी और आस्ट्रिया उसकी सहायता करेंगे। यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे, तो इटली उसकी सहायता करेगा, और यदि कोई अन्य दो राज्य (यथा फ्रांस और रूस) त्रिगुट में सम्मलित किसी भी राज्य पर आक्रमण करें, तो तीनों मिल कर उसका मुकाबला करेंगे। यद्यपि रूस इस त्रिगुट में शामिल नहीं था, और 'तीन सम्राटों के संघ' का भी अब तक अन्त हो चुका था, पर बिस्मार्क ने रूस के साथ भी अपने सम्बन्ध को मैत्री पूर्ण बनाये रखा, और १८८७ में उसने रूस के साथ एक नया समझौता किया जिसके अनुसार जर्मनी और रूस ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि उन दोनों में से किसी एक का किसी अन्य शक्तिशाली राज्य से युद्ध हो, तो दूसरा राज्य इस युद्ध में उदासीन रहे।

बिस्मार्क की कूटनीति के कारण अब फ्रांस बिलकुल अकेला रह गया था। आस्ट्रिया और इटली जर्मनी के साथ त्रिगुट में शामिल हो चुके थे। रूस के साथ भी बिस्मार्क सन्धि कर चुका था। यह स्थिति फ्रांस के लिये वाञ्छनीय नहीं थी। १८९० में बिस्मार्क जर्मनी के चान्सलर (प्रधानमन्त्री) के पद से पृथक् हो गया और राज्य का संचालन जर्मन सम्राट् विलियम ने अपने हाथों में ले लिया। अब जर्मनी की वैदेशिक नीति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। यद्यपि बाल्कन प्रायद्वीप के क्षेत्र में आस्ट्रिया और रूस के हित परस्पर विरुद्ध थे, पर इस हित-विरोध के होते हुए भी बिस्मार्क ने इन दोनों राज्यों के साथ सन्धि की हुई थी। सम्राट् विलियम की सम्मति में आस्ट्रिया और रूस के हितों में इतना अधिक विरोध था, कि एक समय में इन दोनों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रख सकना सम्भव नहीं था। उसका विचार था, कि पूर्वी यूरोप (बाल्कन प्रायद्वीप) के प्रश्न पर आस्ट्रिया और रूस में युद्ध छिड़ जाना अवश्यम्भावी है। अतः जर्मनी को यह निर्णय कर लेना चाहिये कि युद्ध की दशा में वह किस का साथ देगा। उसका यह भी विचार था कि जर्मनी के लिये आस्ट्रिया का साथ देना लाभप्रद होगा। वह जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट को बहुत महत्त्व देता था, और उसके लिये रूस की मैत्री को कुर्बान कर देने को तैयार था। जर्मनी और रूस में जो सन्धि हुई थी, उसकी अवधि १८९० तक थी। सम्राट् विलियम ने इस सन्धि को पुनः दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि रूस और फ्रांस परस्पर सन्धि कर लें। १८९३ में इन दोनों देशों में जो सन्धि हुई, उसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि यदि जर्मनी अकेला या जर्मनी और इटली मिल कर फ्रांस पर आक्रमण करें, तो रूस फ्रांस की सहायता करेगा और यदि जर्मनी और आस्ट्रिया रूस पर आक्रमण करें, तो फ्रांस रूस की सहायता

करेगा। इस सन्धि से फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत मजबूत हो गयी, अब वह अकेला नहीं रह गया। फ्रांस और रूस का शक्तिशाली गुट अब जर्मनी, इटली और आस्ट्रिया के त्रिगुट का भली भांति मुकाबला कर सकता था। जर्मनी के त्रिगुट को संतुलित करने के लिए अब फ्रांस और रूस का शक्तिशाली गुट संगठित हो गया था।

यूरोप के इन गुटों में अब तक इङ्गलैण्ड उदासीन था। पर जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के कारण इङ्गलैण्ड के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को उपेक्षा की दृष्टि से देख सके। सम्राट् विलियम अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था। वह चाहता था कि जर्मनी संसार में अपना समुचित स्थान प्राप्त करे। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में जर्मनी राष्ट्रीय दृष्टि से संगठित नहीं हुआ था। इसी लिये वह साम्राज्यवाद की दौड़ में इङ्गलैण्ड, फ्रांस, रूस और हालैण्ड से बहुत पीछे रह गया था। ये राज्य एशिया और अफ्रीका में अपने-अपने विशाल साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। इस दशा में जर्मनी के लिये भी यह स्वाभाविक था, कि वह भी साम्राज्य विस्तार के लिये तत्पर हो। इङ्गलैण्ड के लिये जर्मनी की इस महत्त्वाकांक्षा को सह सकना सम्भव नहीं था। इससे उसे अपने एशियाई साम्राज्य के लिये खतरा अनुभव होता था। अतः उसने यह आवश्यकता अनुभव की, कि वह भी यूरोप के अन्य राज्यों के साथ सन्धि करे। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट का विरोध करने के लिये फ्रांस और रूस ने जिस गुट का संगठन किया था, इङ्गलैण्ड का ध्यान स्वाभाविक रूप से उसकी ओर आकृष्ट हुआ, और वहाँ के राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करने के लिये यदि किन्हीं यूरोपियन राज्यों के साथ सन्धि की जा सकती है, तो वे फ्रांस और रूस ही हैं। पर फ्रांस और रूस के साथ इङ्गलैण्ड की मैत्री हो सकना सुगम नहीं था। इङ्गलैण्ड के अन्तर्राष्ट्रीय हित इनके साथ भी टकराते थे। गत तीन सदियों में इङ्गलैण्ड और फ्रांस साम्राज्यवाद के क्षेत्र में एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे थे। ईजिप्ट और सूडान के प्रश्न पर इन राज्यों में अब तक भी घोर विरोध था। तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में रूस और इङ्गलैण्ड में प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान थी। पर जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से ये तीनों देश समान रूप से चिन्तित थे। अतः उन्होंने आपस के मतभेदों को दूर कर समझौता कर लेने में ही अपना हित समझा। इसी कारण १९०४ में फ्रांस और इङ्गलैण्ड ने एक सन्धि की, जिसके अनुसार उन्होंने विदेशी राजनीति में परस्पर मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। इसी प्रकार १९०७ में इङ्गलैण्ड और रूस में भी सन्धि हो गई, जिस द्वारा उन्होंने ईरान, अफगानिस्तान और तिब्बत के क्षेत्रों में अपने झगड़ों को निबटा लिया। इस प्रकार इङ्गलैण्ड, रूस और फ्रांस के एक त्रिगुट का निर्माण हुआ, जिसे जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के पुराने त्रिगुट के मुकाबले में संगठित किया गया था।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक काल में यूरोप के राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का जो स्वरूप था, उसका उल्लेख हमने ऊपर किया

है। इन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य सिद्धान्त अब तक भी 'शक्ति संतुलन' (Balance of Power) ही था, जिसके कारण वे परस्पर-विरोधी गुट बनाने में तत्पर थे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास अब तक पाश्चात्य संसार में नहीं हुआ था। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली और आस्ट्रिया सदृश यूरोप के प्रमुख राज्य इस काल में जिस ढंग के गुट बनाने में तत्पर थे, उनका परिणाम युद्ध होना सर्वथा अवश्यम्भावी था।

(४) बीसवीं सदी का प्रथम महायुद्ध

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का जो स्वरूप था, उसमें देर तक युद्ध से बचे रह सकना सम्भव नहीं था। इसी कारण १९१४ में उस महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, जिसने शीघ्र ही संसार के बड़े भाग को व्याप्त कर लिया। इस महायुद्ध की समाप्ति पर १९१९ में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का जिस ढंग से विकास हुआ, उसे समझने के लिये इस युद्ध के कतिपय कारणों पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

राष्ट्रीयता का सिद्धान्त इस समय तक भली भाँति विकसित हो गया था, और यूरोप के बहुसंख्यक राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर हो चुका था। पर अब तक भी यूरोप में अनेक राज्य ऐसे थे, जो राष्ट्रीयता के अनुरूप नहीं थे। आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की पूर्णतया उपेक्षा करके हुआ था। उसके राज्य क्षेत्र में अनेक ऐसे प्रदेश सम्मिलित थे, जिनके निवासी राष्ट्रीय दृष्टि से आस्ट्रियन या हंगेरियन लोगों से भिन्न थे। पोल, चेक, स्लोवाक, रूथेनियन, रूमानियन और इटालियन लोगों से आबाद अनेक प्रदेश भी इस राज्य के अन्तर्गत थे। पोलैण्ड नाम का कोई राज्य इस काल में विद्यमान नहीं था। पोल जाति के लोग तीन भागों में बँटे हुए थे, और उनके प्रदेश जर्मनी, रूस तथा आस्ट्रिया-हंगरी की अधीनता में थे। आल्सेस और लारेन के प्रदेशों की बहुसंख्यक जनता फ्रेञ्च थी, पर ये प्रदेश जर्मनी के अधीन थे। बाल्कन प्रायद्वीप के कुछ प्रदेशों पर अब तक भी तुर्क सुलतान का शासन था। राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति यह मांग करती थी, कि 'एक राष्ट्रीयता, एक राज्य' के अनुसार यूरोप के राजनीतिक नकशे का पुनःनिर्माण हो। महायुद्ध से पूर्व यूरोप का जो नकशा था, वह अनेक अंशों में इस सिद्धान्त के प्रतिकूल था। समय की प्रवृत्ति प्रेरित कर रही थी, कि उसमें परिवर्तन हो। राष्ट्रीयता की भावना जहाँ अनेक जातियों को अपने पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण करने के लिये प्रेरित कर रही थी, वहाँ ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस आदि शक्तिशाली राज्यों को अपने साम्राज्यों एवं प्रभाव-क्षेत्रों का विस्तार करने की भी प्रेरणा दे रही थी।

उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद को जन्म देती है। साथ ही, औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक आवश्यकताएँ साम्राज्य विस्तार की प्रेरणा प्रदान करती हैं।

उन्नीसवीं सदी में ये दोनों तत्त्व यूरोप के विविध राज्यों को बड़ी तेजी के साथ साम्राज्य-विस्तार के लिये व्याकुल कर रहे थे। ग्रेट ब्रिटेन पाँचों महाद्वीपों में अपने पैर फैला चुका था। सारा उत्तरी एशिया रूस के आधिपत्य में आ गया था। फ्रांस ने दक्षिण-पूर्वी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। हालैण्ड, बेल्जियम, पोर्तुगाल और डेन्मार्क के भी साम्राज्य थे, जिनका क्षेत्रफल उनके अपने देशों की अपेक्षा कई गुना था। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में जर्मनी बहुत पीछे रह गया था। राष्ट्रीय दृष्टि से सुसंगठित होकर उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में जब जर्मनी ने भी साम्राज्य-विस्तार की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया, तो उसने देखा कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि देश उससे बहुत आगे निकल चुके हैं। प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप, अफ्रीका के शेष बचे कुछ प्रदेश और चीन के तटवर्ती कतिपय प्रदेश ही इस समय जर्मनी को प्राप्त हो सके। पर वह इतने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जर्मनी अन्य साम्राज्यवादी देशों को स्पर्धा और विद्वेष की दृष्टि से देखने लगे। पूर्वी दुनिया में जाने का स्वेज का मार्ग ब्रिटेन के कब्जे में था। अतः जर्मनी ने प्रयत्न किया, कि बर्लिन-बगदाद रेलवे का निर्माण कर सीधे पर्शिया की खाड़ी तक पहुँचा जाए। यह रेल मार्ग आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्क साम्राज्य के बीच से होकर जाता था। आस्ट्रिया-हंगरी जर्मनी के त्रिगुट में शामिल था। सम्राट् विलियम ने तुर्क सुलतान के साथ भी मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया, और इस प्रकार अपनी योजना को क्रियान्वित करना प्रारम्भ किया। ब्रिटेन जर्मनी के इस प्रयत्न को सहन नहीं कर सका।

उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्य-सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विता और अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों का संगठन यही प्रधान कारण थे, जिनसे महायुद्ध (१९१४-१८) को प्रारम्भ हुआ। २८ जून, १९१४ के दिन आस्ट्रिया-हंगरी के युवराज फ्रांसिस फर्डिनन्ड और उसकी पत्नी की बोस्निया के नगर सराजेवो में हत्या कर दी गई। युवराज उस समय अपने साम्राज्य की यात्रा करते हुए बोस्निया भी आये थे। बोस्निया के निवासी सर्ब जाति के हैं, और उन्हें आस्ट्रिया-हंगरी की अधीनता में रहना पसन्द नहीं था। वे अपने प्रदेश को सर्बिया के साथ मिलाकर एक विशाल सर्ब राष्ट्रीय राज्य का निर्माण करना चाहते थे। युवराज की हत्या एक सर्ब क्रान्तिकारी द्वारा ही की गई थी। आस्ट्रिया की सरकार ने सर्बिया को इस हत्या के लिये उत्तरदायी ठहराया, और उसे यह नोटिस दिया कि अड़तालीस घण्टों के अन्दर-अन्दर उन सब कार्रवाइयों को रोक दे जो सर्बिया में आस्ट्रिया के विरुद्ध हो रही हैं। साथ ही, उसने ऐसी शर्तें भी पेश कीं, जो सर्बिया के लिये अपमानजनक थीं। सर्बिया ने इन्हें मानने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया ने सर्बिया पर आक्रमण कर दिया, और यूरोप में युद्ध की अग्नि भड़क उठी। रूस और फ्रांस ने इस युद्ध में सर्बिया का साथ दिया, और जर्मनी ने आस्ट्रिया का। धीरे-धीरे अन्य राज्य भी युद्ध में सम्मिलित होते गये। ग्रेट ब्रिटेन ने

फ्रांस का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी, और बल्गारिया जर्मनी के पक्ष में सम्मिलित हो गया। शीघ्र ही, इस युद्ध ने एक विश्व-संग्राम का रूप धारण कर लिया, जिसमें ३२ राज्य एक पक्ष में (फ्रांस, ब्रिटेन और रूस के पक्ष में) थे, और ४ राज्य (जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बलगारिया और तुर्की) दूसरे पक्ष में। संसार भर में केवल १४ राज्य ऐसे बचे थे, जो इस युद्ध में तटस्थ रहे थे। इनमें से छः यूरोप में, एक अफ्रीका में और सात अमेरिकन महाद्वीप में थे। युद्ध का क्षेत्र भी केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रह गया था। यूरोप के अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका के भी अनेक क्षेत्रों में यह युद्ध लड़ा गया था। चार साल तक निरन्तर संघर्ष के पश्चात् १९१८ में इस युद्ध का अन्त हुआ, जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष की विजय हुई, और जर्मनी के पक्ष की पराजय।

महायुद्ध के परिणाम इतने महत्त्वपूर्ण थे, कि उनसे यूरोप में एक नवयुग का प्रारम्भ हुआ। इसके कारण जर्मनी से होहेन्ट्सोलर्न राजवंश, आस्ट्रिया-हंगरी से हाप्सबुर्ग राजवंश और रूस से रोमनोव राजवंश के शासनों का अन्त हुआ। साथ ही, तुर्की आदि अन्य अनेक राज्यों से भी वंशक्रमानुगत राजाओं के शासन समाप्त हुए। १७८९ में फ्रांस से जिस लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ था, उसे इस महायुद्ध द्वारा बहुत बल मिला, और अनेक नई रिपब्लिकों की स्थापना हुई। १९१४ में जब महायुद्ध का सूत्रपात हुआ था, तब यूरोप में केवल तीन महत्त्वपूर्ण देश ऐसे थे जिनमें रिपब्लिकन शासन था। ये देश फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड और पोर्तुगाल थे। पर महायुद्ध के परिणामस्वरूप रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया, फिनलैण्ड और युक्रेनिया में भी रिपब्लिकें कायम हुईं। यूरोप के अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका में भी अब बहुत-से राज्यों में लोकतन्त्र शासनों का सूत्रपात हुआ। राष्ट्रीयता की भावना को क्रियान्वित होने में भी महायुद्ध द्वारा बहुत सहायता मिली, और अनेक ऐसे नये राज्य कायम हुए, जिनका आधार राष्ट्रीयता थी। ये राज्य चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, पोलैण्ड, लिथुएनिया, लैटविया, फिनलैण्ड, एस्थोनिया और हंगरी थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इन राज्यों के निर्माण के कारण यूरोप का नकशा बहुत कुछ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार बन गया था।

महायुद्ध के अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। रूस से न केवल एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, अपितु आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में समाजवादी क्रान्ति का भी सूत्रपात हुआ। इस समय से कम्युनिस्ट आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता गया, और रूस ने एक ऐसे आर्थिक तथा सामाजिक संगठन को अपनाया, जो संसार के इतिहास में सर्वथा नई बात थी। अन्य देशों में भी समाजवाद का प्रसार प्रारम्भ हुआ, और सर्वत्र ऐसे राजनीतिक दलों का संगठन प्रारम्भ हो गया, जो केवल लोकतन्त्रवाद को पर्याप्त न समझ कर आर्थिक क्षेत्र में भी लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती थे।

पर महायुद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में था। संसार के विभिन्न राज्यों को किसी न किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में संगठित होना चाहिए, यह विचार नया नहीं था। इसके लिए कतिपय प्रयत्न पहले भी किये जा चुके थे। पर महायुद्ध के समय जिस भयंकरता के साथ धन और जन का विनाश हुआ था, उसके कारण इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता बहुत प्रबल रूप में अनुभव की जाने लगी। इसीलिए महायुद्ध की समाप्ति के अनन्तर पेरिस में जो शान्ति परिषद् हुई, उसमें राष्ट्रसंघ (League of Nations) की योजना को स्वीकृत किया गया। यह राष्ट्रसंघ पहला ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था, जिसमें संसार के बहुसंख्यक राज्य सदस्य रूप से सम्मिलित हुए थे। राष्ट्रसंघ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ आदि अन्य भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस महायुद्ध के बाद कायम किये गये, जिनके कारण राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गये।

इसमें सन्देह नहीं, कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में १९१९ से एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, और संसार अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर होने लगा।

दूसरा अध्याय

शान्ति की स्थापना और पेरिस की शान्ति परिषद्

(१) शान्ति-सम्बन्धी समस्याएँ और शान्ति परिषद् का संगठन

महायुद्ध की समाप्ति पर विश्व के राजनीतिज्ञों के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था, कि कौन-से ऐसे उपाय किये जायें, जिनसे कि भविष्य में युद्ध की सम्भावना न रहे और संसार में स्थायी रूप से शान्ति स्थापित हो सके। यह तभी सम्भव था, जब कि (१) विविध जातियों या राष्ट्रीयताओं की आकांक्षाओं को पूर्ण किया जाए, और राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर हो जाए; (२) साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा के कारण शक्तिशाली राज्यों में जो प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिस्पर्धा थी, उसका अन्त किया जाए; और (३) राज्यों का एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया जाए, जो उनके पारस्परिक झगड़ों व मतभेदों का शान्तिमय उपायों से निबटारा कर सके।

राष्ट्रीयता के आधार पर राज्यों के निर्माण की समस्या सुगम नहीं थी। महायुद्ध से पूर्व आलसेस-लारेन का प्रदेश जर्मनी के अन्तर्गत था। क्योंकि वहाँ के बहु-संख्यक निवासी फ्रेञ्च थे, अतः फ्रांस उसे अधिगत करना चाहता था। क्रोटिया, बोस्निया और स्लोवानिया पहले आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य के अन्तर्गत थे। वहाँ के स्लाव जाति के निवासी यह चाहते थे, कि उनका एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया जाए। चेक लोग भी अपने राष्ट्रीय राज्य के लिये उत्सुक थे। बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्यों को अपनी सीमाओं से असंतोष था। पोल लोगों में आबाद प्रदेश जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में विभक्त थे। वे भी अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए इच्छुक थे। महायुद्ध में तुर्की जर्मनी के पक्ष में था। तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत बहुत-से ऐसे प्रदेश थे, जिनके निवासी अरब जाति के थे। ये भी अपने स्वतन्त्र राज्यों को स्थापित करना चाहते थे। रूमानिया, इटली, सर्बिया आदि अन्य राज्यों का भी यह दावा था, कि उनके राष्ट्रों के अनेक प्रदेश विदेशी राज्यों की अधीनता में हैं, जो उन्हें प्राप्त होने चाहिए। पर विविध राज्यों के इन राष्ट्रीय दावों में सामञ्जस्य स्थापित कर सकना सुगम नहीं था।

महायुद्ध के समय मित्रपक्ष (ब्रिटेन और फ्रांस का पक्ष) ने यह घोषणा की थी, कि वे स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के लिये युद्ध में सम्मिलित हुए हैं। भारत, इन्डो-चायना आदि अधीनस्थ देशों ने युद्ध में अपने स्वामी राज्यों की दिल खोल कर सहायता की थी। उन्हें आशा थी, कि युद्ध के समाप्त हो जाने पर वे भी साम्राज्यवाद से मुक्ति

प्राप्त कर लेंगे, और उन्हें अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अवसर मिलेगा। अधीनस्थ देशों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण किये बिना विश्वशान्ति का स्वप्न सर्वथा निरर्थक था। जर्मनी के युद्ध में परास्त हो जाने पर अफ्रीका और एशिया के जो प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त हो गये थे, उनके सम्बन्ध में भी व्यवस्था की जानी थी। यही बात तुर्क साम्राज्य के विषय में थी। उसकी अधीनता में जो अनेक प्रदेश थे, उनके सम्बन्ध में भी निर्णय किया जाना था। साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा के कारण विविध राज्यों में जो संघर्ष उत्पन्न होता रहता है, उसका अन्त करने की भी समस्या थी।

स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए सब राज्य इस बात की आवश्यकता को अनुभव करते थे, कि राज्यों का एक ऐसा संगठन अवश्य होना चाहिए, जो उनमें सहयोग स्थापित कर सके और उनके झगड़ों का शान्तिमय उपायों में निबटारा कर सके।

ये समस्याएँ इतनी जटिल थीं, कि इनका समाधान करने में विश्व के राजनीतिज्ञों को बहुत समय लग गया। महायुद्ध चार साल के लगभग समय में समाप्त हो गया था, पर शान्ति की स्थापना के लिए विविध सन्धियाँ करने में पाँच वर्ष लग गये। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की और बल्गारिया (ये राज्य जर्मन पक्ष में थे) के साथ पृथक्-पृथक् सन्धियाँ की गईं। इन सब सन्धियों द्वारा विश्व की जो नई व्यवस्था की गई, वही शान्ति समझौता (Peace Settlement) कहाती है।

शान्ति की स्थापना और परास्त राज्यों के साथ सन्धियाँ करने के लिये फ्रांस की राजधानी पेरिस में शान्ति परिषद् (Peace Conference) का आयोजन किया गया। १८ जनवरी, १९१९ को पेरिस में इस परिषद् के अधिवेशन प्रारम्भ हुए। मित्र-राष्ट्रों के ७० प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में सचिव, सहायक, विशेषज्ञ और परामर्शदाता भी प्रतिनिधियों को अपने कार्य में सहायता देने के लिए पेरिस आए। इतने अधिक व्यक्तियों के लिए किसी प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकना कठिन था, अतः एक सर्वोच्च शान्ति-समिति का निर्माण किया गया, जिसके दस सदस्य थे। इसमें फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, इटली और जापान—इन पाँच राज्यों के दो-दो प्रतिनिधि लिये गये थे। फ्रांस के क्लमांसो और जेनरल फॉच, ब्रिटेन के लायड जार्ज और बाल्फोर, अमेरिका के विल्सन और लैन्सिग, इटली के आकलैण्डो और सोन्निनो तथा जापान के सेओन्जी इस समिति के प्रमुख सदस्य थे। बाद में जापान और इटली के प्रतिनिधि इस समिति से पृथक् हो गये, और क्लमांसो, विल्सन और लायड जार्ज की त्रिमूर्ति ही सब बातों का निर्णय करने लगी।

सर्वोच्च शान्ति-समिति के अतिरिक्त शान्ति परिषद् ने बहुत-से कमीशनों तथा उपसमितियों की भी नियुक्ति की, जिनकी संख्या ५८ थी। इन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया कि राष्ट्रसंघ के संगठन, शत्रुपक्ष से वसूल किये जाने वाले हरजाने की राशि का

निर्धारण, और अल्पसंख्यक जातियों की समस्या आदि प्रश्नों पर विशदरूप से विचार कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करें। पर इनकी रिपोर्ट पर भी अन्तिम रूप से निर्णय करने का कार्य सर्वोच्च शान्ति समिति ही के हाथों में था।

शान्ति परिषद् में उन सब राज्यों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया था, जिन्होंने जर्मनी और उसके साथियों के विरुद्ध युद्ध में हाथ बटाया था। परिषद् में मित्रपक्ष के राज्यों के एक से पाँच तक प्रतिनिधि लिए गये थे, यद्यपि निर्णय करते हुए प्रत्येक राज्य का एक वोट गिना जाता था। रूस का कोई प्रतिनिधि शान्ति-परिषद् में नहीं लिया गया था, क्योंकि वह १९१७ में ही महायुद्ध से पृथक् हो गया था, और कम्युनिस्टों ने वहाँ एक क्रान्तिकारी सरकार संगठित कर ली थी। साधारण विचार-विमर्श के पश्चात् परिषद् में प्रायः उन्हीं निर्णयों को स्वीकार कर लिया जाता था, जिनका प्रस्ताव सर्वोच्च शान्तिसमिति या त्रिमूर्ति द्वारा किया गया हो।

फ्रांस के प्रधान मन्त्री क्लमांसो को शान्तिपरिषद् का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को उठाना पड़ा था, और जर्मनी को परास्त करने में भी सबसे अधिक कर्तृत्व उसी का था। अतः क्लमांसो को परिषद् का अध्यक्ष बनाना युक्तिसंगत ही था। १८७० में जर्मनी ने जिस प्रकार फ्रांस को पराजित किया था और जर्मन सैनिकों द्वारा जिस ढंग से पेरिस तथा उत्तरी फ्रांस की दुर्दशा की गई थी, क्लमांसो ने उसे अपनी आँखों से देखा था। अब उसकी आयु ७७ वर्ष की हो चुकी थी। पर उसमें न शक्ति की कमी थी और, न जर्मनी से बदला लेने की भावना की। उसे फ्रांस का शेर कहा जाता था। शान्तिपरिषद् में उसका एक-मात्र ध्येय यह था, कि जर्मनी को इतना अशक्त बना दिया जाए, कि वह फिर कभी सिर न उठा सके और भविष्य में वह कभी फ्रांस के लिए खतरा न बन सके।

लायड जार्ज इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री था। वह अत्यन्त चाणाक्ष नीतिज्ञ था। यूरोप की राजनीतिक दशा और वहाँ की समस्याओं का उसे गम्भीर ज्ञान था। जर्मनी की शक्ति को कुचल डालने के लिए वह भी उत्सुक था, पर क्लमांसो के समान नहीं। उसका विचार था, कि यदि जर्मनी को सर्वथा अशक्त बना दिया जायेगा, तो यूरोप में फ्रांस की शक्ति बहुत बढ़ जायगी और रूस के कम्युनिस्ट भी जर्मनी को अपने प्रभाव में लाये बिना नहीं रहेंगे।

सर्वोच्च शान्ति-समिति का तीसरा महत्त्वपूर्ण सदस्य विल्सन था, जो संयुक्त-राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति था। महायुद्ध में मित्रपक्ष जो विजय प्राप्त कर सका था, उसका प्रधान श्रेय अमेरिका को ही था। उसी की अपार धनशक्ति और औद्योगिक बल पर जर्मनी को परास्त किया जा सका था। मुनरो सिद्धान्त का परित्याग कर अमेरिका पहली बार यूरोप के युद्ध में सम्मिलित हुआ था, और उसी के कारण इस महायुद्ध ने विश्वव्यापी संग्राम का रूप प्राप्त किया था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि शान्ति-परिषद् में अमेरिका के प्रतिनिधि को विशेष महत्त्व एवं आदर की दृष्टि से देखा

जाये। विल्सन एक आदर्शवादी राजनीतिज्ञ था। युद्ध में सम्मिलित होते हुए और महायुद्ध के दौरान में उसने जो उच्च सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे, यूरोप के रणसंतप्त लोग उन्हें आशा की दृष्टि से देखते थे और यह समझते थे, कि विल्सन द्वारा यूरोप में एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की जा सकेगी जिसका परिणाम स्थायी शान्ति होगा। पर अमेरिका के राष्ट्रपति को न यूरोप की कूटनीति का ज्ञान था, और न वहाँ की राजनयिक परम्पराओं का। इसी कारण वह पेरिस में अपने उदात्त सिद्धान्तों को क्रियान्वित करा सकने में असमर्थ रहा। क्लमांसो और लायड जार्ज जैसे मँजे हुए राजनीतिज्ञों के सम्मुख उसकी एक न चली, और उसके अपने मन्तव्यों के अनुसार जिस राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी, उस तक में अमेरिका सम्मिलित नहीं हुआ।

पेरिस की शान्ति-परिषद् में यूरोप तथा अन्य देशों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई थी, इतिहास में उसका बहुत महत्त्व है। १९१९ से १९३९ तक के बीस वर्षों में यही व्यवस्था विश्व की राजनीति को प्रभावित करती रही। विविध राज्यों के जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इस काल में विकसित हुए, उन सबमें इस व्यवस्था का प्रमुख कर्तृत्व था। निस्सन्देह, पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा किये गये निर्णयों के कारण राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों को असाधारण बल मिला था, और संसार के बहुत-से राज्यों का निर्माण इन सिद्धान्तों के अनुसार हो गया था। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर अग्रसर होने में भी इस परिषद् के निर्णयों द्वारा बहुत सहायता मिली थी। पर १९१९-२३ के काल में यूरोप तथा अन्य देशों की जो व्यवस्था शान्ति-समझौते द्वारा की गई थी, उसमें दोषों की भी कमी नहीं थी। इन्हीं के कारण १९३९ में दूसरे महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ।

(२) शान्ति-समझौते के आधारभूत तत्त्व

महायुद्ध की समाप्ति से पूर्व ही इस बात के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो गये थे, कि युद्ध का अन्त कर शान्ति की स्थापना की जाये। इस प्रयोजन से अनेक राजनीतिज्ञों तथा विचारकों ने कतिपय प्रस्ताव भी प्रस्तुत किये थे। इन प्रस्तावों व मन्तव्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों को इन्होंने अनेक प्रकार से प्रभावित किया था।

शान्तिस्थापना का पहला प्रस्ताव जर्मनी की ओर से पेश किया गया था। दिसम्बर, १९१६ में जब जर्मनी और उसके साथियों का पलड़ा भारी था, जब उन्होंने बेल्जियम, पोलैण्ड, सर्बिया और रूमानिया पर कब्जा किया हुआ था, और ऐसा प्रतीत होता था कि फ्रांस और उसके साथियों की पराजय अवश्यम्भावी है, तो जर्मनी की ओर से शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। उसने प्रस्ताव किया, कि दोनों पक्षों के प्रतिनिधि किसी तटस्थ देश में एकत्र हों और परस्पर समझौते की शर्तों को तय करें। पर मित्रपक्ष ने इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका अभी

युद्ध में शामिल नहीं हुआ था। अतः उसने जर्मनी के प्रस्ताव की उपेक्षा नहीं की। १८ दिसम्बर, १९१६ को अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने दोनों पक्षों की सरकारों के पास एक आवेदनपत्र भेजा, जिसमें यह कहा गया कि दोनों पक्ष अपनी नीति तथा उद्देश्यों को स्पष्ट कर दें, और फिर शान्तिस्थापना के लिए सबके प्रतिनिधि एक सभा में एकत्र हों। पर मित्रपक्ष के राज्यों ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। विल्सन के आवेदन-पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया, कि शान्तिस्थापना के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—(१) जर्मनी और उसके साथी राज्यों ने जिन प्रदेशों पर अधिकार किया हुआ है, उन सबको वे खाली कर दें। (२) युद्ध में धन और जन की जो हानि हुई है, जर्मनी उसके लिए हरजाना प्रदान करे। (३) वर्तमान युद्ध से पहले भी जर्मनी और उसके साथी राज्यों ने जिन प्रदेशों पर उनकी जनता की सम्मति के विरुद्ध कब्जा किया हुआ था, उन सबको भी खाली कर दिया जाये। (४) राज्यों का पुनःनिर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को आधार माना जाये। आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को दिये जायें, और त्रिएस्त (जो आस्ट्रिया-हंगरी के अधीन था) का प्रदेश इटली को। पोलैण्ड की स्वतन्त्रता को पुनःस्थापित किया जाए, तुर्की के साम्राज्य का अन्त कर अधीनस्थ देशों को स्वतन्त्र कर दिया जाए और आस्ट्रिया-हंगरी की अधीनता में स्लाव और चेक जातियों के जो प्रदेश हैं उन्हें पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए। साथ ही, जर्मनी के उपनिवेशों को भी उसकी अधीनता से मुक्त कर दिया जाए। जर्मनी और उसके साथियों के लिए इन प्रस्तावों को स्वीकृत कर सकना सम्भव नहीं था, विशेषतया उस समय में जब कि युद्ध में उन्हें निरन्तर सफलता प्राप्त हो रही थी। १९१६ के अन्त में राष्ट्रपति विल्सन ने शान्तिस्थापना के लिये जिस प्रयत्न को प्रारम्भ किया था, वह असफल रहा। पर इससे यह अवश्य स्पष्ट हो गया, कि मित्र-पत्र की दृष्टि में शान्तिस्थापना के मूल तत्त्व कौन-से हैं।

मार्च, १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति का सूत्रपात हुआ। वहाँ के क्रान्तिकारी नेता न केवल एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता के विरोधी थे, अपितु अपने देश में एक ऐसे ढंग का लोकतन्त्र शासन स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे, जो समाजवादी या कम्युनिस्ट मन्तव्यों के अनुसार हो। वे धर्म और ईसाई चर्च के भी विरुद्ध थे। इस दशा में रोम के पोप ने यह अनुभव किया, कि रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के रूप में ईसाई धर्म पर जो नयी विपत्ति आयी है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले सब राज्य आपस के इस युद्ध का अन्त कर परस्पर मिल कर अपने झगड़ों को निबटा लें। इसीलिए १ अगस्त, १९१७ को उसने दोनों पक्षों के सम्मुख एक सन्धि-प्रस्ताव रखा, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सैन्यशक्ति की अपेक्षा नैतिक बल को अधिक महत्त्व दिया जाए। (२) सब राज्य मिल कर हथियारों को कम करने का निर्णय करें।

(३) समुद्र मार्ग सब के लिये समान रूप से खुले हुए रहें। (४) आपस के झगड़ों को निबटाने के लिये पंचायत-निर्णय की पद्धति का प्रयोग किया जाए। (५) कौन-सा प्रदेश किस राज्य के अन्तर्गत हो, इसका निर्णय वहाँ के निवासियों की सम्मति के अनुसार किया जाए। (६) युद्ध के लिये किसी से कोई हरजाना न लिया जाए। (७) युद्ध से पहले जो प्रदेश जिसके पास था, वह उसे लौटा दिया जाए। पर पोप के ये प्रस्ताव भी युद्ध में व्यापृत राज्यों को स्वीकार्य नहीं हुए।

विल्सन के चौदह सिद्धान्त—१९१७ के प्रारम्भ में संयुक्त-राज्य अमेरिका भी महायुद्ध में सम्मिलित हो गया था, और उसकी ओर से जर्मनी तथा उसके साथियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गयी थी। युद्ध में शामिल होसे से पूर्व ही राष्ट्रपति विल्सन ने इस बात पर जोर देना प्रारम्भ कर दिया था, कि युद्ध की समाप्ति पर जो शान्ति स्थापित की जाए उसके लिये कतिपय निश्चित सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाना चाहिये। यदि ऐसा न किया गया, तो जो शान्ति स्थापित होगी वह कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकेगी। ये सिद्धान्त कौन-से हों, इसका स्पष्टीकरण विल्सन ने ८ जनवरी, १९१८ के दिन अमेरिका की कांग्रेस के सम्मुख भाषण देते हुए किया था। विल्सन की दृष्टि में चौदह ऐसे सिद्धान्त थे, जिन्हें आधाररूप से स्वीकार कर स्थायी शान्ति की स्थापना की जा सकती है—

(१) गुप्त सन्धियों और समझौतों का अन्त कर दिया जाए। राज्य परस्पर मिल कर जो भी सन्धियाँ या समझौते करें, वे सर्वविदित रूप में हों।

(२) राज्यों के प्रादेशिक समुद्रों और जलमार्गों को छोड़ कर समुद्रों में नौकानयन की सबको समान रूपसे स्वतन्त्रता हो। यह स्वतन्त्रता युद्ध और शान्ति दोनों समयों में बरती जाए।

(३) निर्यात-कर और आयात-कर आदि के रूप में जो आर्थिक बाधाएँ विदेशी व्यापार के क्षेत्र में विद्यमान हैं उन्हें यथासम्भव हटा दिया जाए, और सब राज्यों के लिये व्यापार की एक समान परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाएँ।

(४) इस बात की समुचित गारण्टी दी जाए कि सब राज्य अपने अस्त्र-शस्त्रों में इतनी कमी कर देंगे कि वे केवल उनका अपनी घरेलू सुरक्षा की आवश्यकता को ही पूरा कर सकें।

(५) उपनिवेशों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों के जो दावे हैं, उनका निर्णय पूर्णतया निष्पक्ष रूप से, खुले तौर पर और बिना किसी दबाव के किया जाए। ये निर्णय करते हुए इस बात को भी दृष्टि में रखा जाए, कि उपनिवेशों की जनता का हित क्या है।

(६) रूस से सब विदेशी सेनाओं को वापस लौटा लिया जाए। उस देश के साथ सम्बन्ध रखने वाले सब मामलों की व्यवस्था इस ढंग से की जाए कि उसे

संसार के अन्य राज्यों का सहयोग प्राप्त हो सके और वह अपने राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण के विषय में स्वेच्छानुसार अवसर पा सके।

(७) बेल्जियम की स्वतन्त्र सत्ता को पुनःस्थापित किया जाए और वहाँ से विदेशी सेनाएँ हटा ली जाएँ।

(८) आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को प्रदान किये जाएँ, वहाँ से विदेशी सेनाएँ वापस लौटा ली जाएँ, और फ्रांस की पूर्ण स्वतन्त्रता पुनःस्थापित की जाए।

(९) इटली की राष्ट्रीय सीमाओं का निर्धारण राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाए।

(१०) आस्ट्रिया-हंगरी के राज्यक्षेत्र में जिन विविध जातियों का निवास है, उन्हें अपने स्वायत्त विकास का पूर्णतया स्वतन्त्र अवसर प्रदान किया जाए।

(११) रूमानिया, सर्बिया और मोन्टनिग्रो से विदेशी सेनाएँ हटा ली जाएँ, इन राज्यों की स्वतन्त्रता को पुनःस्थापित किया जाए, और सर्बिया को समुद्र तक पहुँचने का मार्ग प्रदान किया जाए। बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य परस्पर क्या सम्बन्ध रखें, इस विषय में उन्हें मैत्रीपूर्ण परामर्श दिया जाए और साथ ही इस बात की अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी भी, कि ये राज्य अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता को कायम रख सकेंगे।

(१२) तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत जो ऐसे प्रदेश थे, जिनमें कि तुर्क-भिन्न जातियों का निवास था, उन्हें अपने स्वायत्त विकास का अवसर दिया जाए और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य को सब राज्यों के लिये खुला रखा जाए।

(१३) जिन प्रदेशों में पोल जाति के लोगों का निवास है, उन सबको मिलाकर एक ऐसे स्वतन्त्र पोलेण्ड राज्य का निर्माण किया जाए, जिसकी समुद्र तक पहुँच हो।

(१४) राज्यों का एक ऐसा संघ या समुदाय संगठित किया जाए, जिस द्वारा छोटे या बड़े सब राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अक्षुण्णता की गारण्टी दी जाए।

राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित इन चौदह सिद्धान्तों के आधार पर यदि दोनों पक्ष शान्ति स्थापित करने को उद्यत हो जाते, तो निस्सन्देह यूरोप की बहुत-सी समस्याएँ चिर काल के लिए हल हो जातीं। पर मित्रपक्ष के राजनीतिज्ञ भी इन्हें अविकल रूप से स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुए। सामुद्रिक मार्गों की स्वतन्त्रता सब राज्यों को समानरूप से प्राप्त रहे, यह बात ग्रेट ब्रिटेन को स्वीकार्य नहीं थी। साथ ही, ब्रिटेन की आँख जर्मनी के उपनिवेशों पर भी थी, और वह उन पर अपना आधिपत्य भी स्थापित करना चाहता था। फ्रांस और ब्रिटेन इस बात को भी महत्त्वपूर्ण समझते थे, कि जर्मनी द्वारा जिन राज्यों की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचा है, उसकी

क्षतिपूर्ति के लिये उससे हरजाना अवश्य वसूल किया जाए। महायुद्ध का अभी अन्त नहीं हुआ था, और मित्रपक्ष के राज्य स्वाभाविक रूप से विल्सन का स्पष्ट रूप से विरोध भी नहीं करना चाहते थे। अतः ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लायड जार्ज ने विल्सन के सिद्धान्तों का आंशिक रूप से समर्थन करते हुए विवादग्रस्त विषयों का युद्ध की समाप्ति पर पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा निर्णय करने की नीति का प्रतिपादन किया।

यद्यपि विल्सन के चौदह सिद्धान्तों का किसी भी पक्ष ने पूर्णरूप से समर्थन नहीं किया, पर उन्होंने उन आधारभूत तत्त्वों का प्रतिपादन बन्द नहीं किया, जिनके अनुसार उनकी सम्मति में स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव है। इसीलिए ११ फरवरी, १९१८ को उन्होंने अमेरिका की कांग्रेस में भाषण देते हुए चार मूलभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया—(१) युद्ध की समाप्ति पर जो शान्ति-समझौता किया जाए, उसके सब अंश न्याय पर आधारित होने चाहिएँ। (२) राज्य के किसी प्रदेश या जनसमूह को साधारण जमीन-जायदाद के समान नहीं समझना चाहिए, और उनको उस ढंग से हस्तान्तरित नहीं करना चाहिए जैसे कि साधारण सम्पत्ति को किया जाता है। (३) राज्यों की सीमाओं में जो भी परिवर्तन किये जाएँ, उनमें वहाँ के निवासियों के हित व कल्याण को दृष्टि में रखना चाहिए, विभिन्न राज्यों के दावों को नहीं। (४) राष्ट्रीयता की भावना की अधिकतम संतुष्टि द्वारा ही विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव है।

निस्सन्देह, विल्सन के ये सिद्धान्त उन प्रवृत्तियों के अनुरूप थे, जिनका प्रादुर्भाव फ्रांस की राज्य-क्रान्ति द्वारा हुआ था। राष्ट्रीयता, लोकतन्त्रवाद और स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त समय के अनुसार थे, और सभी राज्य सिद्धान्ततः इन्हें स्वीकार करते थे। यदि इनके अनुसार पेरिस की शान्ति परिषद् में चिर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता, तो वह अवश्य अपने उद्देश्य में सफल हो सकती थी।

गुप्त सन्धियाँ और उदात्त सिद्धान्तों की उपेक्षा—विल्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जो अविकल रूप से क्रियान्वित नहीं हो सके, उसका मुख्य कारण वे गुप्त सन्धियाँ थीं जो युद्ध के समय मित्रपक्ष के राज्यों द्वारा की गई थीं। महायुद्ध में अनेक राज्य इसलिए शामिल हुए थे, क्योंकि फ्रांस और ब्रिटेन ने उन्हें गुप्त सन्धियों द्वारा यह आश्वासन दिया था कि युद्ध की समाप्ति पर उनकी राष्ट्रीय एवं राजनीतिक आकांक्षाएँ पूर्ण कर दी जायेंगी। इटली, रूमानिया और जापान आदि विविध देशों ने इसी प्रकार के गुप्त आश्वासनों के कारण मित्रपक्ष के साथ होकर रणक्षेत्र में उतर आना स्वीकार किया था। ब्रिटेन और फ्रांस इस बात के लिए विवश थे कि वे इन आश्वासनों को पूरा करें, चाहे ये विल्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रतिकूल ही क्यों न हो। मित्रपक्ष के राज्यों की महत्त्वाकांक्षाएँ विजय प्राप्त करने के पश्चात् अत्यन्त उग्ररूप धारण कर गई थीं। ये आकांक्षाएँ तभी पूर्ण हो सकती थीं, जब कि परास्त देशों के अधिकारों और

न्याय्य माँगों की उपेक्षा की जाए। जिन गुप्त सन्धियों द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस ने अन्य राज्यों को अनुचित आश्वासन दिये थे, वे निम्नलिखित थीं—

(१) इटली के साथ लण्डन की सन्धि—हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं, कि इटली जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के साथ त्रिगुट में शामिल था। अतः महायुद्ध में उसे जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी का साथ देना चाहिए था। पर इटली इस बात के लिए भी उत्सुक था, कि इटालियन भाषा वाले जो प्रदेश आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य के अन्तर्गत हैं, वे उसे प्राप्त हो जाएँ। महायुद्ध उसके लिए अपनी इच्छापूर्ति का उत्तम अवसर था। अतः ८ एप्रिल, १९१५ के दिन इटली ने आस्ट्रिया-हंगरी से यह माँग की, कि उसके अपने देश के जो भाग अब तक भी आस्ट्रिया-हंगरी के कब्जे में हैं, उन्हें उसे दे दिया जाए। आस्ट्रिया-हंगरी की सरकार इसके लिए तैयार हो गई, और जर्मनी ने अपनी ओर से इटली को यह गारन्टी दी कि युद्ध की समाप्ति पर इटली की सब राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण कर दी जायेंगी। पर मित्रपक्ष के राज्यों की कूटनीति इटली को अपने पक्ष में सम्मिलित करने के लिए तुली हुई थी। उन्होंने २६ एप्रिल, १९१५ को लण्डन में इटली के साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसमें उन्होंने निम्नलिखित बातें स्वीकार कीं—(१) त्रेन्तिनो, त्रिएस्त और दक्षिणी टाइरोल के प्रदेश आस्ट्रिया-हंगरी की अधीनता से मुक्त कर इटली को प्रदान किये जायेंगे। (२) गोरिजियो, ग्रादिस्का, इस्त्रिया और क्वाटनेरो की खाड़ी के द्वीप भी इटली को प्राप्त होंगे। (३) उत्तरी डालमेटिया पर भी इटली का अधिकार स्वीकृत किया जायगा। (४) ईगियन सागर में विद्यमान डोडेसनीज़ द्वीपसमूह को ग्रीस की अधीनता से मुक्त करा के इटली को दे दिया जायगा। (५) अल्बानिया के अन्तर्गत वरोना के प्रदेश को इटली के संरक्षण में दिया जायगा। (६) अफ्रीका में विद्यमान जर्मनी के उपनिवेशों का एक भाग भी इटली को प्राप्त होगा। (७) जर्मनी से जो हरजाना वसूल होगा, उसमें भी इटली का हिस्सा रहेगा।

लण्डन की इस सन्धि द्वारा इटली को अनेक ऐसे प्रदेशों को भी हस्तगत करने का अवसर प्राप्त हो जाता था, जो राष्ट्रीय दृष्टि से उसके अंग नहीं थे। उदाहरण के रूप में डाल्मेटिया के प्रदेश में स्लाव लोगों का निवास था। इटली को उसे दे देना स्वीकार कर मित्रपक्ष ने स्लाव लोगों को समुचित राष्ट्रीय आकांक्षा के प्रति अन्याय किया था। पर इटली के राष्ट्रवादी देशभक्तों ने यह समझा, कि अपने देश के उत्कर्ष का यह सुवर्णीय अवसर है। इसी कारण २३ मई, १९१५ को इटली मित्रपक्ष के साथ हो कर युद्ध में सम्मिलित हो गया।

(२) तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में गुप्त समझौते—महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी का साथ दिया था। मित्र पक्ष के राज्य इससे बहुत कुपित थे। मार्च, १९१५ में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस ने आपस में एक गुप्त समझौता किया, जिसके अनुसार यह निर्णय किया गया कि तुर्क साम्राज्य के जो प्रदेश यूरोप के क्षेत्र में हैं,

महायुद्ध की समाप्ति पर उन्हें रूस को दे दिया जायगा। इस क्षेत्र से केवल एड्रियानोपल और कर्क-किलिस्सा (जो तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे) रूस को न देने का निश्चय किया गया था, ताकि इन्हें बल्गारिया को देने का लालच देकर उसे भी मित्र पक्ष में लाया जा सके। तुर्क साम्राज्य में एशिया के जो प्रदेश थे, उन्हें फ्रांस और ब्रिटेन में बाँट दिये जाने का फैसला किया गया था। इन प्रदेशों के कौन-से भाग फ्रांस को मिलें और कौन-से ब्रिटेन को, इस बात का निर्णय इन दोनों राज्यों के आपसी समझौते पर छोड़ दिया गया था।

एप्रिल, १९१६ में तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में एक अन्य गुप्त समझौता किया गया, जिसके अनुसार तुर्क आर्मीनिया के ६०,००० वर्गमील के प्रदेश को रूस को देने का निर्णय किया गया।

एक मास बाद मई, १९१६ में फ्रांस और ब्रिटेन ने मिलकर यह फैसला किया, कि तुर्क साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को वे किस ढंग से आपस में विभक्त करेंगे। यह समझौता ब्रिटेन के सर मार्क साइक्स और फ्रांस के जार्ज पीको के बीच में हुआ था, जिसके कारण यह साइक्स-पीको समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार यह निर्णय किया गया, कि सीरिया और उसके साथ के प्रदेश फ्रांस को प्राप्त हों, और उनके दक्षिण के अरब प्रदेश ब्रिटेन को।

(३) रूमानिया के साथ गुप्त सन्धि—बल्गारिया ने महायुद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी का साथ देने का निश्चय किया था, अतः बाल्कन प्रायद्वीप में मित्रपक्ष की स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी। मित्रपक्ष के राज्य इस बात के लिये उत्सुक थे कि जिस प्रकार भी सम्भव हो, रूमानिया को अपने पक्ष में लाया जाए। इस राज्य की उत्तरी सीमा रूस से मिलती थी और दक्षिणी सीमा बल्गारिया से। बाल्कन प्रायद्वीप के अन्य राज्यों के समान रूमानिया भी अपने राज्य-क्षेत्र का विस्तार करने को उत्सुक था। अगस्त, १९१६ तक वह महायुद्ध में तटस्थ रहा। पर जब उसने देखा कि मित्र-राज्य उसे बहुत बड़ी कीमत देने को तैयार हैं, तो वह उनका साथ देने को उद्यत हो गया। १७ अगस्त, १९१६ के दिन ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और इटली ने रूमानिया के साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) युद्ध की समाप्ति पर ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश रूमानिया को दे दिया जायगा। यह प्रदेश हंगरी के राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत था, और इसमें रूमानियन तथा हंगेरियन लोगों का समान संख्या में निवास था। (२) बुकोविना का प्रदेश भी रूमानिया को दिया जायगा। यह आस्ट्रिया के अन्तर्गत था, और इसमें रूमानियन लोगों की संख्या केवल एक तिहाई थी। इस सन्धि के कारण रूमानिया भी मित्रपक्ष का साथ देकर युद्ध में शामिल हो गया।

(४) तुर्की साम्राज्य के विषय में इटली से समझौता—जब इटली को यह ज्ञात हुआ कि साइक्स-पीको समझौते के अनुसार तुर्क साम्राज्य के एशियाई प्रदेश फ्रांस और ब्रिटेन में बाँट दिये गये हैं, तो उसने भी तुर्क प्रदेशों के बँटवारे में अपने हिस्से

के लिये मांग की। इटली को संतुष्ट करने के लिये सां जांद मोरियन्न नामक स्थान पर एक अन्य गुप्त समझौता किया गया, जिसके अनुसार अनेतोलिया का दक्षिणी तिहाई भाग और सिमर्ना का प्रदेश इटली को देने का निश्चय किया गया।

(५) ब्रिटेन और जापान की सन्धि—महायुद्ध में जापान मित्रपक्ष में था। प्रशान्त महासागर और चीन के क्षेत्र में जर्मनी के आधिपत्य या प्रभाव में जो प्रदेश थे, उन्हें अधिगत करने के लिये और जर्मनी की जलशक्ति को नष्ट करने के लिये जापान के सहयोग का बहुत महत्त्व था। अतः फरवरी, १९१६ में ब्रिटेन ने जापान के साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने यह स्वीकार किया कि प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के उत्तर में जो द्वीप जर्मनी के अधीन हैं, उन सब पर और चीन के शान्तुंग प्रदेश पर जापान के अधिकार का समर्थन किया जायगा।

इसी प्रकार के कतिपय अन्य भी गुप्त समझौते थे, जो मित्रपक्ष के राज्यों ने महायुद्ध के दौरान में किये थे। पेरिस की शान्ति परिषद् में एकत्र हुए राजनीतिज्ञों के लिये इनकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। उनके सम्मुख एक ओर तो राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त थे, और दूसरी ओर ये गुप्त सन्धियाँ और समझौते, जो प्रायः विल्सन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे। इन समझौतों को क्रियान्वित कर सकना तभी सम्भव था, जब कि परास्त देशों के समुचित अधिकारों और न्याय्य मांगों की सर्वथा उपेक्षा की जाए। परिणाम यह हुआ, कि शान्ति परिषद् में फ्रांस और ब्रिटेन ने खूब मनमानी की और क्लमांसो और लायड जार्ज के सम्मुख विल्सन की एक न चली। अटलाण्टिक पार का यह राजनीतिज्ञ यूरोप की कूटनीति के सम्मुख सर्वथा असहाय हो गया, और क्लमांसो की सभी शक्ति इस बात में लग गई कि बिस्मार्क ने १८७१ में फ्रांस को जिस ढंग से नीचा दिखाया था, उसका पूरी तरह से बदला ले लिया जाए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पेरिस की शान्ति परिषद् में दो परस्पर-विरोधी आधारभूत तत्त्वों में संघर्ष हो रहा था। वहाँ जो शान्ति-समझौता हुआ, वह इन दोनों प्रकार के तत्त्वों में समझौते का परिणाम था। विल्सन को अपने उदात्त सिद्धान्तों को क्रियान्वित कराने में आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त हुई, पर शान्ति स्थापना की ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकी, जिसे समुचित, न्याय्य, लोकतन्त्रवाद के अनुरूप और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आधारित कहा जा सके।

(३) जर्मनी के साथ वर्साय्य की सन्धि

पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा जर्मनी के साथ जो सन्धि की गई, वर्साय्य के राजप्रासाद के शीशमहल में उस पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर हुए थे। इसी कारण वह वर्साय्य की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि द्वारा जो व्यवस्थाएँ की गई, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—

(१) राज्यक्षेत्र-विषयक व्यवस्थाएँ—वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी की १५ प्रतिशत भूमि उसके हाथ से निकल गयी, और उसका अंग-भंग हो गया। (१) आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को दिये गये। इन प्रदेशों की बहुसंख्यक जनता फ्रेञ्च थी, और १८७०-७१ के युद्ध में जर्मनी ने इन्हें अधिगत कर लिया था। फ्रांस द्वारा इनका प्राप्त किया जाना सर्वथा उचित था, और विल्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल था। पर क्लमांसो इतने से ही संतुष्ट नहीं था। उसका विचार था, कि जर्मनी से अपने देश की रक्षा करने के लिये उसकी दक्षिण-पश्चिमी सीमा र्‌हाइन नदी को नियत किया जाना चाहिये। मार्शल फॉच कहा करता था, "कि सब से पूर्व हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि प्रकृति ने हमारी रक्षा की क्या व्यवस्था की है। जर्मनी के आक्रमण के मार्ग में प्रकृति ने एक स्वभाविक रुकावट रखी है, और यह रुकावट है र्‌हाइन नदी। अतः जर्मनी की सीमा इस नदी तक ही रखी जानी चाहिये।" इसी दृष्टि से फ्रांस द्वारा यह योजना प्रस्तुत की गयी कि र्‌हाइन नदी के बांये तट पर जर्मनी के जो प्रदेश हैं, उन्हें एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाये, जो फ्रांस की संरक्षा में हो। इस प्रदेश का क्षेत्रफल दस हजार बर्गमील है। पर ब्रिटेन और अमेरिका इस योजना को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं हुए। उनका कहना था, कि र्‌हाइनलैण्ड के पृथक् राज्य बन जाने पर फ्रेञ्च लोग वहाँ बड़ी संख्या में बस जायेंगे, और धीरे-धीरे वह भी आल्सेस-लारेन के समान एक ऐसा प्रदेश हो जायगा, जहाँ जर्मन और फ्रेञ्च दोनों जातियों के लोग बसे होंगे और यह बात भविष्य में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगी। वाद-विवाद के अनन्तर क्लमांसो ने र्‌हाइनलैण्ड के सम्बन्ध में यह व्यवस्था स्वीकार कर ली, कि कुछ वर्षों तक इस प्रदेश में मित्रपक्ष के राज्यों की सेनाएँ रहें, ताकि जर्मनी इसका उपयोग अपनी सैनिक शक्ति के लिये न कर सके। र्‌हाइनलैण्ड को तीन भागों में बांटा गया, उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी। यह निश्चय किया गया कि उत्तरी भाग पर मित्रपक्ष की सेनाओं का पांच साल तक कब्जा रहे, मध्यवर्ती भाग पर दस साल तक और दक्षिणी भाग पर पन्द्रह साल तक। साथ ही, यह भी निश्चय किया गया, कि र्‌हाइन नदी के दांये तट के साथ-साथ के ३१ मील चौड़े प्रदेश में जर्मनी कोई भी किलाबन्दी न कर सके, और उसे सर्वथा निश्शस्त्र कर दिया जाये। औद्योगिक दृष्टि से र्‌हाइनलैण्ड का प्रदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस पर मित्रपक्ष की सेनाओं का कब्जा हो जाने के कारण जहाँ जर्मनी से हरजाना वसूल कर सकना सुगम हो गया, वहाँ फ्रांस को जर्मनी की सैन्यशक्ति के भय से छुटकारा भी मिल गया।

(२) यूपेन, मल्मेडी और मोरसनेट के प्रदेश बेल्जियम को प्रदान किये गये, ताकि जर्मन आक्रमण के कारण बेल्जियम को जो हानि उठानी पड़ी थी, उसकी क्षतिपूर्ति हो सके। ये प्रदेश बेल्जियम की सीमा पर स्थित थे, और इनकी जनसंख्या ७०,००० थी। इनसे इस प्रश्न पर लोकमत भी लिया गया था कि ये जर्मनी में रहें

या बेल्जियम में। लोकमत लेने का कार्य बेल्जियम के सरकारी अफसरों को दिया गया था, किसी निष्पक्ष एजेन्सी को नहीं।

(३) जर्मनी के उत्तर-पश्चिम में श्लेश्विग का प्रदेश है, जिसे १८६४ में प्रिंस बिस्मार्क द्वारा अधिगत कर लिया गया था। यह पहले डेन्मार्क के राज्यक्षेत्र में था, और वह इसे पुनः प्राप्त करना चाहता था। श्लेश्विग की जनता से इस प्रश्न पर लोकमत लिया गया। उत्तरी श्लेश्विग डेन्मार्क के पक्ष में था, और दक्षिणी श्लेश्विग जर्मनी के। लोकमत के अनुसार उत्तरी श्लेश्विग का प्रदेश डेन्मार्क के राज्य में सम्मिलित कर दिया गया।

(४) महायुद्ध से पूर्व पोलैण्ड की कोई स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता नहीं थी। पोल लोगों द्वारा आबाद प्रदेश तीन भागों में विभक्त थे, जो क्रमशः जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और रूस के अन्तर्गत थे। वर्साय्य की सन्धि द्वारा पृथक् एवं स्वतन्त्र पोलैण्ड का निर्माण किया गया। जर्मनी के जिन प्रदेशों में पोल लोगों का निवास था, वे पश्चिमी प्रशिया और साइलीसिया थे। सम्पूर्ण पूर्वी साइलीसिया और अपर साइलीसिया का कुछ भाग तथा पश्चिमी प्रशिया पोलैण्ड के अन्तर्गत कर दिये गये। यह बात विल्सन के १४ सिद्धान्तों और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुरूप थी, और स्वतन्त्र पोलैण्ड का निर्माण राष्ट्रीय दृष्टि से सर्वथा उचित था। विल्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में यह भी कहा गया था, कि पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने की भी सुविधा होनी चाहिये। पोलैण्ड के राज्यक्षेत्र में समुद्र तट कोई प्रदेश नहीं था। अतः यह व्यवस्था की गयी कि एक गलियारे (कॉरीडोर) द्वारा पोलैण्ड का जर्मनी के समुद्र तट पर स्थित डान्ट्सिग के बन्दरगाह के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाए और यह गलियारा जर्मनी के बीच में बनाया जाए। डान्ट्सिग और उसके चारों ओर के सात सौ वर्गमील के प्रदेश को एक 'स्वतन्त्र नगर' की स्थिति प्रदान की गयी, और उसका शासन राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त एक हाईकमिश्नर के अधीन रहे, यह निर्णय किया गया। पोलैण्ड और डान्ट्सि में यह सन्धि की गयी, कि पोलैण्ड वहाँ के बन्दरगाह का पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से उपयोग कर सकेगा। डान्ट्सिग तक आने-जाने में पोलैण्ड के लोगों को कोई रुकावट नहीं थी, क्योंकि जर्मनी के बीच से हो कर जाने वाले गलियारे का वे उपयोग सकते थे।

(५) आल्सेस-लारेन के उत्तर-पूर्व में 'सार' के प्रदेश की स्थिति है। यह प्रदेश भी महायुद्ध से पूर्व जर्मनी के अन्तर्गत था। आल्सेस का प्रदेश लोहे की खानों के लिये प्रसिद्ध है, और सार कोयले की खानों के लिये। फ्रेञ्च लोग चाहते थे कि सार पर भी उनका आधिपत्य रहे, ताकि वहाँ के कोयले और आल्सेस के लोहे द्वारा वे अपनी औद्योगिक उन्नति कर सकें। पर सार की प्रायः सम्पूर्ण जनता जर्मन थी। इसका क्षेत्रफल ७२३ वर्गमील था, और जनसंख्या ६,६०,०००। अतः इस प्रदेश को फ्रांस के साथ तो सम्मिलित नहीं किया गया, पर इसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी कि इसे

राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में एक कमीशन के शासन में दे दिया जाये, और १५ वर्ष बाद लोकमत द्वारा यह निर्णय किया जाये कि सार पर किसका कब्जा रहे। यदि सार के निवासी जर्मनी के साथ रहने का निर्णय करें, तो फ्रांस ने वहाँ की खानों के लिये जो खर्च किया हो, उसकी कीमत जर्मनी अदा करे। सार के शासन के लिये जो कमीशन नियुक्त किया गया, उसमें फ्रेन्च लोगों की बहुसंख्या थी।

(६) महायुद्ध के पश्चात् चेकोस्लोवाकिया नाम से एक नये राज्य का निर्माण किया गया था। इसमें आस्ट्रिया-हंगरी राज्य के वे अनेक प्रदेश अन्तर्गत किये गये थे, जिनमें चेक और स्लोवाक जातियों का निवास था। पर जर्मनी के अन्तर्गत अपर साइलीसिया प्रदेश का भी एक भाग वर्साय्य की सन्धि द्वारा चेकोस्लोवाकिया को प्रदान किया गया, क्योंकि वहाँ जर्मनों के अतिरिक्त चेक लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे।

(२) जर्मन साम्राज्य के सम्बन्ध में व्यवस्थाएँ—यद्यपि साम्राज्यवाद की दौड़ में जर्मनी बहुत बाद में शामिल हुआ था, पर अफ्रीका और एशिया के अनेक प्रदेशों और प्रशान्त महासागर के बहुत-से द्वीपों पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के इस साम्राज्य की समाप्ति कर दी गई, और उस पर मित्रपक्ष के विविध राज्यों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पर यह अधिकार एक विशेष पद्धति के अनुसार स्थापित किया गया था, जिसे मेण्डेटरी सिस्टम (Mandatory System) कहते थे। राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्तों के अनुसार जर्मन साम्राज्य के इन प्रदेशों का भाग्य-निर्णय वहाँ के निवासियों की सम्मति के अनुसार किया जाना चाहिए था। पर जिन राज्यों में इन प्रदेशों को विभक्त किया गया, उनका इन पर इसके सिवा कोई अधिकार नहीं था कि वे विजेता थे। विल्सन को सन्तुष्ट करने के लिए मेन्डेटरी सिस्टम का आविष्कार किया गया, जिसके अनुसार यह माना जाता था, कि पिछड़े हुए प्रदेशों को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करना और उनका हित व कल्याण सम्पादित करना उन्नत देशों का पवित्र कर्तव्य है। यह तभी सम्भव है, जब कि ये पिछड़े हुए प्रदेश कुछ समय तक उन्नत देशों के शासन में रहें। इसीलिए राष्ट्रसंघ की ओर से जर्मन साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों को फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम आदि उन्नत देशों के शासन में दे दिया गया, और यह व्यवस्था की गई कि ये देश मेन्डेट के अधीन प्रदेशों की प्रगति एवं उन्नति की रिपोर्ट वार्षिक रूप से राष्ट्रसंघ को देते रहें।

(१) अफ्रीका के अनेक प्रदेश महायुद्ध से पूर्व जर्मनी के अधीन थे। इनकी जनसंख्या सवा करोड़ के लगभग थी। इनमें से टांगनीका का प्रदेश ग्रेट ब्रिटेन को मेन्डेट के अधीन दिया गया, और दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका का प्रदेश दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन को, जो कि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक औपनिवेशिक

राज्य था। कैमरून और टोगो के प्रदेश फ्रांस को प्रदान किये गये, और रूआण्डा-उरुण्डी का प्रदेश बेल्जियम को।

(२) पूर्वी एशिया के अनेक प्रदेश भी महायुद्ध से पूर्व जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। चीनके समुद्रतट पर स्थित क्याऊ-चाऊ का प्रदेश पूरी तरह से जर्मनी के अधीन था, और चीन के अन्यतम प्रान्त शान्तुंग में भी उसे अनेकविध विशेषाधिकार प्राप्त थे। महायुद्ध के दौरान में जापान ने इन पर अपना कब्जा कर लिया था। युद्ध में चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध मित्रपक्ष का साथ दिया था। इसीलिए उसके प्रतिनिधि भी पेरिस की शान्ति-परिषद् में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने माँग की, कि शान्तुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, और जिन्हें युद्ध के समय जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे अब चीन को वापस मिलें, और क्याऊ-चाऊ भी उसे प्रदान किया जाये। पर जापान के प्रतिनिधियों का यह कहना था, कि पूर्वी एशिया में जर्मनी के प्रभुत्व का अन्त करने के लिए जो कुर्बानियाँ जापान ने की थीं, उनका प्रतिफल उसे यह मिलना चाहिए कि शान्तुंग और क्याऊ-चाऊ के सम्बन्ध में उसके दावे को स्वीकार किया जाये। विल्सन जापान की इस माँग को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं थे। पर फ्रांस, ब्रिटेन और इटली ने १९१७ में जापान के साथ जो गुप्त सन्धि की थी, उसके कारण वे जापान का समर्थन करने के लिए विवश थे। परिणाम यह हुआ, कि चीन को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली, और शान्तुंग तथा क्याऊ-चाऊ पर जापान के दावे को मान लिया गया।

(३) प्रशान्त महासागर के जो बहुत-से द्वीप जर्मनी के अधीन थे, उन्हें राष्ट्रसंघ के मेन्डेट के अधीन जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में शासन के लिए बाँट दिया गया।

(३) हरजाने का प्रश्न—वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी का केवल अंग-भंग ही नहीं किया गया, अपितु उसे बहुत बड़ी मात्रा में हरजाना देने को भी विवश किया गया। फ्रांस और ब्रिटेन के प्रतिनिधि यह चाहते थे, कि जर्मनी से जहाँ उस नुकसान के लिए हरजाना लिया जाये, जो जर्मनी द्वारा इन देशों को युद्ध में पहुँचाया गया था, वहाँ साथ ही युद्ध में मित्रपक्ष के राज्यों का जो खर्च हुआ था वह भी उससे वसूल किया जाये। उनका दावा था, कि युद्ध का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व जर्मनी और उसके साथियों पर ही है। अतः युद्ध का सारा खर्च भी उन्हें ही उठाना चाहिए। पर राष्ट्रपति विल्सन को यह बात स्वीकार्य नहीं थी। वादविवाद के पश्चात् लायड जार्ज और क्लमांसो भी यह मान गये, कि जर्मनी से केवल क्षतिपूर्ति की राशि ही वसूल की जाये, युद्ध का खर्च नहीं। पर क्षतिपूर्ति की रकम कितनी हो, यह तय करना सुगम नहीं था। अतः यह कार्य एक हरजाना-कमीशन के सुपुर्द कर दिया गया। कमीशन द्वारा हरजाने की मात्रा दस हजार करोड़ रुपये के लगभग नियत की गई। साथ ही, यह भी तय हुआ कि इस राशि में से १५०० करोड़ रुपया मई, १९२१ तक जर्मनी प्रदान

कर दे, और बाद में १५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष देता रहे। पर मित्रपक्ष के राज्य इस भारी धनराशि से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। यद्यपि कोयले और लोहे की खानों के सब प्रमुख प्रदेश (यथा आल्सेस-लारेन और सार) जर्मनी से ले लिए गये थे, फिर भी यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी ७० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष फ्रांस को दे, ८० लाख टन बेल्जियम को और इतना ही इटली को। दस साल तक जर्मनी ने प्रतिवर्ष इस मात्रा में कोयला फ्रांस, बेल्जियम और इटली को प्रदान किया। बाद में इस मात्रा में कमी कर दी गई। यही नहीं, जर्मनी को अपने व्यापारी जहाजों का भी बड़ा भाग मित्रराज्यों के सुपुर्द कर देना पड़ा। इस प्रकार दिये गये जहाजों का वजन बीस लाख टन से भी अधिक था। जर्मनी के पास जो जंगी जहाज, पनडुब्बियाँ और बारूदी सुरंगें थीं, उन सबको सामयिक सन्धि के समय ही मित्रराज्यों ने अपने कब्जे में कर लिया था। जर्मनी के उत्तर में कील कैनाल जर्मन नौशक्ति का बड़ा केन्द्र थी। अब उसे सब राज्यों के लिए खुला कर दिया गया, ताकि जर्मनी फिर वहाँ अपनी सामुद्रिक किलाबन्दी न कर सके। जर्मनी की जो पूँजी मित्रपक्ष के राज्यों और उनके अधीनस्थ प्रदेशों में लगी हुई थी, उसे भी जब्त कर लिया गया।

(४) **सैन्यशक्ति पर नियन्त्रण**—महायुद्ध में जर्मनी की सेना ने अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया था। मित्र-राज्यों का विश्वास था कि जर्मनी की सैन्यशक्ति विश्व-शान्ति के लिए भारी खतरा है। स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है, कि भविष्य में कभी जर्मनी अपनी सैन्यशक्ति को इतना न बढ़ा सके कि उसके कारण अन्य राज्यों को किसी भी प्रकार का खतरा हो। अतः यह व्यवस्था की गयी, कि (१) जर्मनी की स्थल सेना में एक लाख से अधिक सैनिक न होने पाएँ। (२) जर्मनी कितनी मात्रा में अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर सके या अन्य देशों से क्रय कर सके, इसकी अधिकतम मात्रा नियत कर दी गयी। (३) जर्मनी में जो बाधित सैनिक शिक्षा एवं सेवा की पद्धति थी, उसे समाप्त कर दिया गया। (४) जर्मनी की जल सेना को भी नियन्त्रित किया गया। यह निर्धारित किया गया, कि वह छः जंगी जहाजों, छः क्रूजरों और बारह टारपीडो से अधिक न रख सके, और उनके जल-सैनिकों की संख्या १५,००० से अधिक न बढ़ने पाए। (५) जर्मनी एक भी सैनिक हवाई जहाज न रखे। (६) राइन नदी के दायें तट पर ३१ मील की दूरी तक जर्मनी किसी भी प्रकार की किलाबन्दी न कर सके।

(५) **अन्य व्यवस्थाएँ**—वर्साय्य की सन्धि की अन्य महत्त्वपूर्ण शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) मित्र-राज्यों को यह स्वतन्त्रता हो, कि वे आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गारिया, तुर्की और रूस के साथ पृथक् रूप से सन्धियाँ कर सकें। जर्मनी को इन सन्धियों से कोई वास्ता न हो। (२) मित्र-राज्यों को यह अधिकार हो कि वे सम्राट् विलियम द्वितीय और उसके प्रमुख साथियों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने के

मुकदमे चला सकें। (३) र्‌हाइन नदी के बायें तट पर और फ्रांस तथा जर्मनी की सीमा के प्रदेश में जो किलाबन्दी जर्मनी ने की हुई थी, उसे नष्ट कर दिया जाए।

(४) आस्ट्रिया के साथ साँ जमैं की सन्धि

पेरिस की शान्ति परिषद् के निर्णयों के अनुसार आस्ट्रिया के साथ जो सन्धि १० सितम्बर, १९१९ को हुई, उस पर पेरिस के समीप साँ जमैं के प्राचीन राजमहल में हस्ताक्षर हुए थे। इसी कारण वह साँ जमैं की सन्धि कहाती है। महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी का राज्य क्षेत्र बहुत विस्तृत था। शासन की दृष्टि से आस्ट्रिया और हंगरी दो पृथक् राज्य थे, यद्यपि उनका सम्राट् एक ही होता था। इसी कारण इन दोनों राज्यों से पृथक्-पृथक् सन्धि की गयी, आस्ट्रिया से साँ जमैं में और हंगरी से त्रियानो में।

आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में बहुत-से ऐसे प्रदेश भी अन्तर्गत थे, जिनके निवासी आस्ट्रियन या हंगेरियन जाति के नहीं थे। इनमें राष्ट्रीय भावना का भली-भाँति विकास हो चुका था, और युद्ध के अवसर पर इनके नेताओं ने यह अनुभव किया था कि मित्र-राज्यों की सहायता से वे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। इन प्रदेशों में ऐसे राष्ट्रीय एवं राजनीतिक संगठन भी कायम हो गये थे, जो आस्ट्रिया-हंगरी की सरकार के विरुद्ध मित्र-राज्यों की सहायता में तत्पर थे। मित्र-राज्यों ने युद्ध की समाप्ति पर इनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आश्वासन भी दिया हुआ था। पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा इन जातियों के पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर दिये गये, जिसके कारण आस्ट्रिया और हंगरी के राज्यक्षेत्र बहुत कम हो गये।

महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया का क्षेत्रफल १,१५,००० वर्ग मील था, और उसकी जनसंख्या ३ करोड़ के लगभग थी। पर साँ जमैं की सन्धि के अनुसार उसका क्षेत्रफल केवल ३२,००० वर्गमील रह गया, और उसकी आबादी केवल ६५ लाख।

आस्ट्रिया के राज्य क्षेत्र के जो प्रदेश उससे लेकर अन्य राज्यों को प्रदान किये गये, वे निम्नलिखित थे—(१) त्रिएस्त, त्रेन्तिनो, इस्त्रिया, दक्षिणी ताइरोल और डल्मातिया के तटवर्ती कतिपय द्वीप इटली को दे दिये गये। यूरोप के जिन प्रदेशों पर इटली की आँख थी, और जिन्हें प्राप्त करने की आशा से वह मित्रपक्ष का साथ देकर युद्ध में शामिल हुआ था, वे ये ही थे। (२) चेकोस्लोवाकिया नाम से जिस नये राज्य का निर्माण महायुद्ध के बाद किया गया, उसमें आस्ट्रिया के बोहेमिया, मोरेविया, नीचे के (lower) आस्ट्रिया का एक भाग और प्रायः सम्पूर्ण आस्ट्रियन साइलीसिया अन्तर्गत कर दिया गया। आस्ट्रियन साइलीसिया के चेकोस्लोवाकिया को दे देने के कारण सुडटनलैण्ड का प्रदेश भी इस नये राज्य में आ गया, जिसमें तीस लाख के लगभग जर्मन लोगों का निवास था। टेशन के उद्योग-प्रधान प्रदेश को प्राप्त करने के लिये चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड दोनों दावा कर रहे थे। उसका एक भाग भी

चेकोस्लोवाकिया को दे दिया गया। (३) पुराने आस्ट्रिया के उत्तरी प्रदेश गैलिसिया में पोल लोगों का निवास था। उसे पोलैण्ड को प्रदान कर दिया गया, जो अब एक नये पृथक् राज्य के रूप में निर्मित किया गया था। टेशन का भी एक भाग पोलैण्ड को दिया गया। (४) बुकोविना का प्रदेश रूमानिया को प्रदान किया गया। महायुद्ध में रूमानिया मित्र-राज्यों के साथ था। (५) महायुद्ध के पश्चात् युगोस्लाविया नाम से एक नये राज्य का निर्माण किया गया, जिसमें पुराना सर्बिया भी सम्मिलित था। वोस्निया, हर्जेगोविना, डल्मातिया का समुद्र तट और उसके समीप के कतिपय द्वीप इस नये राज्य को प्रदान किये गये। इस सबका परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया एक छोटा-सा राज्य रह गया, और उसकी अधीनता से वे सब प्रदेश निकल गये, जिनमें आस्ट्रियन-भिन्न जातियों का निवास था।

आस्ट्रिया-हंगरी से हाप्सबुर्ग राजवंश के राजतन्त्र शासन का अन्त महायुद्ध की समाप्ति से पूर्व ही हो गया था। ११ नवम्बर, १९१८ को सम्राट् चार्ल्स ने अपने पद का त्याग कर दिया था, और अगले दिन वहाँ रिपब्लिक की घोषणा कर दी गयी थी। सां जर्मैं की सन्धि के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया का जो छोटा-सा राज्य रह गया था, उसका शासन लोकतन्त्र था। आस्ट्रिया के निवासी जर्मन जाति के हैं। मित्र-राज्यों को आशंका थी, कि कभी आस्ट्रिया जर्मनी के साथ न मिल जाए, और इस प्रकार एक विशाल जर्मन राज्य का निर्माण न हो जाय। इसे वे यूरोप की शान्ति के लिए विघातक समझते थे। इस लिए-सां जर्मैं की सन्धि द्वारा यह भी व्यवस्था की गयी, कि आस्ट्रिया कभी जर्मनी के साथ मिल कर एक न हो सके।

आस्ट्रिया पर भी युद्ध की उत्तरदायिता का दोष लगा कर हरजाने की एक बड़ी रकम लाद दी गयी, और उसके भी सब जहाज जब्त कर लिए गये। यह भी निर्णय किया गया कि इस राज्य की सेना में तीस हजार से अधिक सैनिक न हो सकें।

(५) बल्गारिया के साथ न्योय्यी की सन्धि

२७ नवम्बर, १९१९ को बल्गारिया के साथ सन्धि की गई। यह सन्धि पेरिस के अन्यतम उपनगर न्योय्यी (Neuilly) में की गई थी। महायुद्ध के दौरान में २९ सितम्बर, १९१८ के दिन बल्गारिया ने हथियार डाल दिये थे और बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया था। इसके कुछ दिन पश्चात् (४ अक्टूबर) को वहाँ के राजा फर्डिनन्ड ने राजगद्दी का भी परित्याग कर दिया था। बल्गारिया की नई सरकार ने यह भी स्वीकार कर लिया था, कि मित्रपक्ष की सेनाएँ उसकी भूमि, रेलवे तथा आर्थिक साधनों का उपयोग आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की के विरुद्ध लड़ाई के लिये प्रयुक्त कर सकें। इस दशा में बल्गारिया के प्रतिनिधियों ने शान्ति परिषद् में यह प्रयत्न किया, कि उनके देश के प्रति शत्रुराज्य का व्यवहार न किया जाए। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई।

न्यीय्यी की सन्धि द्वारा बल्गारिया के अनेक प्रदेश उसके राज्य-क्षेत्र से निकाल कर अन्य राज्यों को दिये गये। (१) बल्गारिया और युगोस्लाविया की सीमा पर चार छोटे-छोटे प्रदेश थे, सैन्य-संचालन की दृष्टि से जिनका बहुत महत्त्व था। यद्यपि इनके बहुसंख्यक निवासी बल्गारियन जाति के थे, पर राष्ट्रीय भावना की परवाह न कर ये युगोस्लाविया को प्रदान कर दिये गये। (२) पश्चिमी थ्रेस का प्रदेश ग्रीस को दिया गया, जिसके कारण ईगियन सागर का समुद्र तट बल्गारिया के हाथ से निकल गया, और भूमध्यसागर तक पहुँचने का कोई भी जलमार्ग उसके पास नहीं रह गया। ग्रीस और बल्गारिया की सीमा में अन्य भी कुछ परिवर्तन किये गये। (३) दोब्रुद्जा का प्रदेश रूमानिया को प्रदान किया गया।

महायुद्ध के लिये बल्गारिया को भी दोषी ठहराया गया, और ४५ लाख की आबादी के इस छोटे-से राज्य पर १५० करोड़ रुपयों के हरजाने की मात्रा लाद दी गई। यह भी निश्चय किया गया, कि उसकी सेना में २० हजार से अधिक सैनिक न रह सकें।

(६) हंगरी के साथ त्रियानो की सन्धि

४ जून, १९२० को हंगरी के साथ सन्धि की गई। यह सन्धि वर्साय्य के त्रियानो राजप्रासाद में की गई थी, इसी लिये इसे त्रियानो की सन्धि कहते हैं। हंगरी के साथ सन्धि करने में जो इतनी देर हो गई, उसका कारण यह था कि हाप्सबुर्ग राजवंश के पतन हो जाने पर वहाँ अव्यवस्था मच गई थी, और राजसत्तावादी, रिपब्लिकन, समाजवादी और कम्युनिस्ट दलों के लोग राजशक्ति को प्राप्त करने के लिये संघर्ष में व्यापृत हो गये थे। मित्र-राज्य तभी हंगरी के साथ सन्धि कर सके, जब कि एडमिरल होर्थी ने वहाँ का शासन सँभाल लिया, और हंगरी में व्यवस्था स्थापित करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर ली।

त्रियानो की सन्धि द्वारा हंगरी का भी अंग भंग किया गया। (१) ट्रांसिलवेनिया और तमेस्वार के प्रदेश का दो तिहाई भाग रूमानिया को दिया गया। इन प्रदेशों में हंगेरियन लोगों की संख्या १५ लाख के लगभग थी, यद्यपि बहुसंख्यक जनता रूमानियन थी। (२) क्रोटिया, स्लोवानिया और तमेस्वार का शेष तिहाई भाग युगोस्लाविया को प्रदान किया गया। इनमें भी ५ लाख के लगभग हंगेरियन लोगों का निवास था। (३) स्लोवाकिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत किया गया। इसके निवासियों में भी दस लाख के लगभग हंगेरियन लोग थे। (४) पश्चिमी हंगरी या बुर्गनलैण्ड का प्रदेश आस्ट्रिया को दिया गया। (५) एड्रियाटिक सागर के उत्तर-पूर्व में फियूम नामक एक बन्दरगाह है, जो पहले हंगरी के राज्यक्षेत्र में था। इसके निवासियों में इटालियन लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में थे। अतः इटली का दावा था, कि यह उसे प्राप्त होना चाहिये। पर युगोस्लाविया भी इसे अपने हाथों में रखना चाहता

था। इस देश के व्यापारिक मार्गों के लिये फियूम का बहुत महत्त्व था। फियूम इटली के पास जाए या युगोस्लाविया के, इस विवाद का निर्णय पेरिस की शान्तिपरिषद् में नहीं हो सका। इसके सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया, कि इटली और युगोस्लाविया परस्पर बातचीत द्वारा इस समस्या का समाधान करें। इसीलिये पहले (१९२० में) फियूम को एक स्वतन्त्र नगर की स्थिति प्रदान की गई, और बाद में (१९२४ में) फियूम इटली को दे दिया गया, और उसके साथ लगा हुआ उपनगर सूशाक युगोस्लाविया को। हंगरी का जो यह अंगभंग हुआ, उसके परिणामस्वरूप उसका क्षेत्रफल सवा लाख वर्गमील से घट कर ३५ हजार वर्गमील रह गया, और उसकी जनसंख्या २,१०,००,००० के स्थान पर केवल ८०,००,०००। त्रियानो की सन्धि द्वारा की गई व्यवस्था के कारण ३० लाख के लगभग हंगेरियन लोग अन्य राज्यों की प्रजा बन कर रहने को विवश हो गये थे, जो बात राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत थी।

त्रियानो की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था भी की गई थी, कि हंगरी की सेना में ३५,००० से अधिक सैनिक न रह सकें। उसकी सब जल सेना उससे छीन ली गई, और कुछ थोड़े-से व्यापारी जहाज ही उसके पास रहने दिये गये। हंगरी को भी युद्ध के लिये दोषी ठहराया गया, और उसे भी हरजाने की एक बड़ी रकम मित्र-राज्यों को देने के लिये विवश किया गया।

(७) तुर्की के साथ सेव्र की सन्धि

१० अगस्त, १९२० के दिन तुर्की के साथ सन्धि की गई, जो सेव्र की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। तुर्की की ओर से इस पर वहाँ के सुलतान के सरकारी प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये थे। महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी १९२२ तक तुर्की में सुलतान का शासन कायम रहा था, और जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी तथा रूस के समान वहाँ से राजतन्त्र शासन का अन्त नहीं हो पाया था। महायुद्ध का अन्त होने पर तुर्क साम्राज्य की क्या व्यवस्था की जायगी, इसका निर्णय फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और रूस ने १९१७ में ही गुप्त समझौतों द्वारा कर लिया था। रूस में बोल्शेविक राज्यक्रान्ति हो जाने के कारण वह पहले ही युद्ध से पृथक् हो गया था, अतः पेरिस की शान्ति परिषद् में वह मित्रपक्ष के राज्यों में सम्मिलित नहीं था। तुर्क साम्राज्य के जो प्रदेश १९१७ के समझौते के अनुसार रूस को दिये जाने थे, उन्हें अब उसे प्रदान करने का प्रश्न ही नहीं था। इसीलिये तुर्की के अधीन विविध प्रदेशों का जो बँटवारा सेव्र की सन्धि द्वारा किया गया, उससे सब लाभ ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने ही प्राप्त किया।

सेव्र की सन्धि द्वारा तुर्की के सुलतान ने स्वीकार किया, कि ईजिप्ट, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलितानिया, मोरक्को और ट्युनिसिया में अब उसके कोई अधिकार न रहने पायें। अरब, पेलेस्टाइन, मेसोपोटामिया (ईराक) और सीरिया महायुद्ध के समय तक तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सुलतान ने इस सब से भी अपने आधिपत्य

का अन्त कर देने की बात स्वीकार कर ली। सेव्र की सन्धि के अनुसार यह व्यवस्था की गयी, कि (१) अरब लोगों से आबाद जो प्रदेश (सीरिया, मेसोपोटामिया आदि) तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उन्हें पृथक् राज्यों के रूप में परिवर्तित किया जाए, और उनका शासन राष्ट्रसंघ द्वारा प्रदत्त मैन्डेटों के अधीन ब्रिटेन और फ्रांस के हाथों रहे। (२) र्‌होड्स और डोडेकनीज़ द्वीप इटली के शासन में दिये जाएँ। (३) अनेतोलिया पर भी इटली का अधिकार स्थापित हो। (४) सिमर्ना, दक्षिण-पश्चिमी एशिया माइनर, पूर्वी थ्रूस और तुर्की के अधीन ईगियन सागर के विविध द्वीप ग्रीस के शासन में रहें। (५) बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रहें। इनके पूर्व की ओर समुद्र-तट के साथ-साथ के प्रदेश तुर्की के शासन में रहें, और पश्चिम की ओर के ग्रीस के शासन में। पर जलडमरूमध्यों के साथ-साथ के इन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण भी रहे। इसका प्रयोजन यह था, कि काला सागर से भूमध्य सागर को आने-जाने वाले सब राज्यों के जहाज स्वतन्त्रता के साथ इस जलमार्ग का उपयोग कर सकें। (६) कुर्दिस्तान और आर्मीनिया के नये पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य बनाये जाएँ। इन व्यवस्थाओं का यह परिणाम हुआ, कि तुर्की एक छोटा-सा राज्य रह गया, जिसका राज्यक्षेत्र अनेतोलिया के कतिपय पहाड़ी प्रदेशों और कोन्स्टेन्टिनोपल के समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया। तुर्की को भी युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहराया गया, और उस पर भी हरजाने की एक भारी रकम लाद दी गयी।

पर सेव्र की यह सन्धि क्रियान्वित नहीं हो सकी, क्योंकि कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की में राज्यक्रान्ति हो गयी, और सुलतान को पदच्युत कर वहाँ रिपब्लिकन शासन की स्थापना की गयी (१९२२)। तुर्की की नयी सरकार सेव्र की सन्धि को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हुई, और उस ने एशिया माइनर के क्षेत्र से इटालियन सेनाओं को निकालना प्रारम्भ कर दिया। इटली अनेतोलिया पर अपना अधिकार कर चुका था, पर कमालपाशा की शक्ति के सम्मुख वह नहीं टिक सका। इसी प्रकार ग्रीस के विरुद्ध भी तुर्की की क्रान्तिकारी सरकार ने युद्ध किया, और उसके कब्जे में जो तुर्क प्रदेश थे, उन्हें जीत लिया।

लोजान की सन्धि—मित्रपक्ष के राज्यों के लिये तुर्की की क्रान्तिकारी सरकार का सामना कर सकना सम्भव नहीं हुआ। अतः उसके साथ एक नई सन्धि (लोजान की सन्धि) की गयी, जिसके अनुसार पूर्वी थ्रूस, अनेतोलिया और सीलिसिया के प्रदेश पुनः तुर्की को दे दिये गये, और कुर्दिस्तान पर भी उसके आधिपत्य को स्वीकृत किया गया। साथ ही, हरजाने की जो भारी रकम तुर्की पर लादी गयी थी, उसमें भी कमी कर दी गयी। लोजान की यह सन्धि १९२३ में की गयी थी।

(८) अल्पसंख्यक जातियों के सम्बन्ध में सन्धियाँ

१९१४-१८ के महायुद्ध में जो प्रवृत्तियाँ संघर्ष कर रही थीं, राष्ट्रीयता की

भावना का उनमें प्रमुख स्थान था। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार राज्यों का पुनः निर्माण किया जाना चाहिये, यह विचार पेरिस की शान्ति परिषद् के सम्मुख विद्यमान था। पर इस विचार के क्रियान्वित होने में अनेक बाधाएँ भी थीं—

(१) पूर्वी यूरोप, बाल्कन प्रायद्वीप और पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेश इस प्रकार के थे, जिनमें एक से अधिक राष्ट्रीयता के लोगों का निवास था। आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में जर्मन जाति के बहुत-से लोग ऐसे प्रदेशों में भी आबाद थे, जो उनके अपने प्रदेश नहीं थे। चेक, स्लोवाक, पोल आदि सभी जातियाँ सदियों तक आस्ट्रिया व हंगरी की अधीनता में रही थीं। इस कारण इनके प्रदेशों में अनेक जातियों का संमिश्रण हो गया था, जिससे चेक, स्लोवाक आदि जातियों के नये राज्यों की सीमाओं का निर्धारण राष्ट्रीयता के आधार पर सुगमता से नहीं किया जा सकता था। यही बात बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्यों के सम्बन्ध में भी थी। इस प्रायद्वीप के अनेक प्रदेश चिर काल तक तुर्क सुल्तान के अधीन रहे थे, और तुर्क शासन में देर तक रहने के कारण वहाँ के निवासियों में भी विविध जातियों का संमिश्रण हो गया था।

(२) जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गारिया और तुर्की को परास्त करने में उनकी अधीनता में विद्यमान विविध जातियों ने मित्र राज्यों का साथ दिया था। जब जर्मनी और उसके साथियों के परास्त हो जाने पर इन्हें अपने पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण का अवसर मिला, तो इनका यह प्रयत्न हुआ कि वे अपने-अपने राज्यक्षेत्र को अधिक से अधिक विस्तृत करें और ऐसे अनेक प्रदेशों को भी अपने अन्तर्गत कर लें, जहाँ उनके सजातीय लोग बहुसंख्या में नहीं थे। फ्रांस इनकी इस आकांक्षा का प्रबल समर्थक था, क्योंकि उसका यह प्रयत्न था कि जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी बहुत निर्बल हो जाएँ। फ्रांस की इच्छा थी, कि पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया शक्तिशाली राज्य हों, ताकि उनसे मित्रता स्थापित कर वह जर्मनी को फिर से सिर न उठाने दे।

इसका यह परिणाम हुआ, कि महायुद्ध के बाद अल्पसंख्यक जातियों की एक नई समस्या उत्पन्न हो गयी। इस समस्या को गम्भीरता को निम्नलिखित तथ्यों से समझा जा सकता है—

(१) चालीस लाख के लगभग जर्मन-आस्ट्रियन अपनी मातृभूमि के बाहर उन राज्यों में निवास करते थे, जिनका निर्माण सॉं जर्मं की सन्धि द्वारा किया गया था। इन जर्मनों की बहुसंख्या चेकोस्लोवाकिया में आबाद थी। सुडटनलैण्ड (जो चेकोस्लोवाकिया की पश्चिमी सीमा पर था) में जर्मन लोग बहुत बड़ी संख्या में थे।

(२) जर्मनी के जो प्रदेश पोलैण्ड को दिये गये थे, उनमें बसने वाले जर्मन लोगों की संख्या दस लाख के लगभग थी। डान्ट्सिग और मेमल जैसे नगर जो विशुद्ध रूप से जर्मन थे, जर्मनी से पृथक् कर दिये गये थे।

(३) त्रियानो की सन्धि द्वारा जो अनेक प्रदेश हंगरी से ले लिये गये थे,

उनमें तीस लाख के लगभग हंगेरियन लोगों का निवास था। ये प्रदेश प्रधानतया रूमानिया और युगोस्लाविया के अन्तर्गत थे।

(४) ग्रीस को भी अनेक ऐसे प्रदेश प्राप्त हो गये, जिनमें तुर्क लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। यही बात इटली के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उसका अनेक ऐसे प्रदेशों पर अधिकार स्थापित हो गया था, जिनमें स्लाव लोगों का निवास था। वस्तुतः, पूर्वी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप में कोई भी ऐसा राज्य नहीं था, जिसमें अल्पसंख्यक जातियों की समस्या न हो।

पेरिस की शान्ति परिषद् के सम्मुख यह समस्या विकट रूप से विद्यमान थी, कि विदेशों में स्थायी रूप से बसी हुई इन अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा करने के लिए किन उपायों का आश्रय लिया जाए। इसी कारण सौं जर्मे, त्रियानो, न्यीय्यी और सेव्र की सन्धियों में ये शर्तें भी अन्तर्गत कर ली गई थीं, कि आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की की सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में बसी हुई अल्पसंख्यक जातियों की भाषा, धर्म और संस्कृति आदि की रक्षा करेंगी और इनकी राष्ट्रीय विशेषताओं को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करेंगी। इसके अतिरिक्त पोलैण्ड, रूमानिया, ग्रीस, युगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया को भी इस बात के लिए विवश किया गया, कि वे पृथक् सन्धियों द्वारा अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा की गारन्टी दें। ये राज्य इस प्रकार की गारन्टी देने के विरुद्ध थे। इनका कहना था, कि इससे न केवल उनकी सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता (Sovereignty) में बाधा पड़ती है, अपितु उनके राज्यों में विच्छृंखलता भी उत्पन्न होती है। उनकी इच्छा यह थी, कि अपने क्षेत्र में विद्यमान अल्पसंख्यक जातियों को राष्ट्रीय दृष्टि से अपना अंग बना लिया जाए। जब तक ये जातियाँ भाषा, धर्म, संस्कृति आदि में अपनी पृथक् सत्ता रखेंगी, देश में राष्ट्रीय एकता की स्थापना सम्भव नहीं होगी। पर अमेरिका और ब्रिटेन का इस बात पर बहुत जोर था कि अल्पसंख्यक जातियों की पूर्ण रूप से रक्षा की जाए। इसीलिए इन जातियों के हितों की रक्षा का भार राष्ट्रसंघ के सुपुर्द किया गया, और इस संघ द्वारा विविध राज्यों के साथ इस सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से इकरार भी किये गये। अल्पसंख्यक जातियों के सम्बन्ध में ये सन्धियाँ या इकरार चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, रूमानिया, ग्रीस, आर्मीनिया, लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया, फिनलैण्ड और अल्बानिया के साथ पृथक्-पृथक् रूप से किये गये थे, और ये सब राज्य अल्पसंख्यक जातियों के प्रति समुचित बरताव कर रहे हैं, यह देखना राष्ट्रसंघ का कार्य निश्चित किया गया था। यह व्यवस्था की गई थी, कि यदि किसी राज्य की कोई अल्प-संख्यक जाति अपने प्रति दुर्व्यवहार की कोई शिकायत राष्ट्रसंघ की सेवा में प्रस्तुत करना चाहे, तो वह उसे लिखित रूप से संघ के सचिवालय के पास भेज दे। सम्बद्ध राज्य की सरकार की टिप्पणियों के साथ इस शिकायत-पत्र को सचिवालय द्वारा संघ की कौंसिल के पास भेजा जाता था। कौंसिल का अध्यक्ष इस पर विचार कर कौंसिल

के सम्मुख प्रस्तुत करता था। यदि उचित समझे, तो कौंसिल शिकायत-पत्र को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष परामर्श के लिए पेश कर सकती थी। पर अन्तिम निर्णय राष्ट्रसंघ की एसेम्बली के हाथों में था, जिसके द्वारा यह फैसला किया जाता था कि शिकायत उचित है या नहीं, और यदि उचित है तो उसे दूर करने के लिए किन उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए। अल्पसंख्यक जातियों की समस्याओं पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ ने एक 'अल्पसंख्यक जाति-समिति' का भी संगठन किया हुआ था। पर इन सब व्यवस्थाओं के होते हुए भी अल्पसंख्यक जातियों की समस्याओं का समुचित रूप से समाधान नहीं हो सका, और द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ही ये समस्याएँ उग्ररूप से प्रगट होनी प्रारम्भ हो गईं।

विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना के प्रयोजन से पेरिस की शान्ति परिषद् ने राज्यों का एक संघ संगठित करने का भी निर्णय किया। इसे राष्ट्रसंघ (League of Nations) नाम दिया गया। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गारिया और तुर्की से जो सन्धियाँ की गईं, उन सब में इस राष्ट्रसंघ के साथ सम्बन्ध रखने वाली धाराओं का समान रूप से समावेश किया गया। इस राष्ट्रसंघ पर हम अगले अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

(९) शान्ति-समझौते का विवेचन

पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा महायुद्ध में परास्त हुए जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ जो सन्धियाँ की गईं उन्हें समुचित वा न्याय्य नहीं कहा जा सकता। वर्साय्यि की सन्धि इनमें मुख्य थी, उसके विवेचन से अन्य सन्धियों के अनौचित्य और अन्याय की बात भी स्पष्ट हो जायगी। इस सन्धि के मुख्य दोष निम्नलिखित थे—

(१) वर्साय्यि की सन्धि की शर्तों को तय करते हुए विजयी मित्र-राज्यों के सम्मुख यह विचार विद्यमान था, कि जर्मनी को इतना अशक्त बना दिया जाए कि वह भविष्य में फिर कभी अपना सिर न उठा सके। महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को हुआ था। अतः शान्तिपरिषद् में उसके प्रतिनिधियों ने यह यत्न किया, कि न केवल जर्मनी की जल, स्थल और वायु सेनाओं को सर्वथा पंगु बना दिया जाए, अपितु उसके प्रधान आर्थिक एवं औद्योगिक साधनों को भी अशक्त कर दिया जाए। अनेक ऐसे प्रदेश भी जर्मनी से ले लिये गये थे, जिनमें जर्मन लोगों की बहुसंख्या थी। रूहाइनलैण्ड में मित्रपक्ष की सेनाओं को स्थापित कर देना, सार के प्रदेश को १५ साल के लिए जर्मनी से पृथक् कर देना, डान्ट्सिग को एक स्वतन्त्र नगर के रूप में परिवर्तित करना, और जर्मनी के राज्यक्षेत्र में पोलैण्ड को एक गलियारे का प्रदान करना ऐसी बातें थीं, जो राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत थीं, और जिन द्वारा जर्मनी के साथ भारी अन्याय किया गया था। उस पर हरजाने की एक बहुत बड़ी

रकम को लाद देने का प्रयोजन यही था, कि जर्मनी आर्थिक दृष्टि से भी सर्वथा अपङ्ग हो जाये। ये सब शर्तें जर्मनी के लिये अत्यन्त अपमान जनक थीं, और इनके कारण यह आशा की ही नहीं जा सकती थी कि जर्मनी इन्हें स्थायी रूप से स्वीकार कर लेगा, और इनके प्रत्याख्यान का प्रयत्न नहीं करेगा। इन शर्तों में बदले की भावना स्पष्ट रूप से कार्य कर रही थी। जिस परिषद् का आयोजन विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना के प्रयोजन से किया गया हो, उस द्वारा ऐसी शर्तों को मानने के लिये जर्मनी को विवश करना सर्वथा अनुचित एवं असंगत था।

(२) वर्साय्य की सन्धि समानता के सिद्धान्त के आधार पर आश्रित नहीं थी। एशिया और अफ्रीका में जर्मनी की अधीनता में जो अनेक प्रदेश थे, उन्हें उससे ले लेना सर्वथा उचित था। साम्राज्य-विस्तार को किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। पर यदि साम्राज्यवाद जर्मनी के लिये अनुचित था, तो वह फ्रांस, ब्रिटेन, वेल्जियम, इटली, जापान और होलैण्ड के लिए क्यों कर उचित हो सकता था। इन राज्यों की अधीनता में जो बहुत-से प्रदेश थे, पेरिस की शान्ति परिषद् ने उनकी स्वतन्त्रता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। साथ ही, जर्मनी और तुर्की की अधीनता में जो प्रदेश थे, उनका शासन भी विजयी मित्रराज्यों के सुपुर्द कर दिया गया। यह बात और भी अधिक अनुचित थी। जर्मनी के अनेक नेताओं पर युद्ध में क्रूरता करने के अपराध पर मुकदमे भी चलाये गये। पर युद्ध में क्रूरता केवल जर्मन पक्ष के लोगों द्वारा ही नहीं की गयी थी। मित्रपक्ष के व्यक्तियों पर इस अपराध के लिये कोई मुकदमे नहीं चलाये गये। जर्मनी ओर उसके साथी राज्यों की सैन्यशक्ति को न्यूनतम रखने की व्यवस्था की गयी, पर मित्र-राज्यों की सेनाओं को कम करने के लिये कोई सफल प्रयत्न नहीं किया गया। इन सब बातों से जर्मन लोगों में यह विचार उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था, कि पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा उनके प्रति अन्याय किया गया है, और इसका एक मात्र कारण यह है कि महायुद्ध में उन की हार हुई थी। अपने प्रति किये गये इस अन्याय का प्रतिशोध करने का उन्हें यही उपाय समझ में आता था कि अपनी शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लें कि भविष्य में उन्हें परास्त न होना पड़े।

(३) वर्साय्य की सन्धि पर जर्मनी के प्रतिनिधियों ने विवशता की दशा में ही हस्ताक्षर किये थे। इस सन्धि की शर्तों को तय करने में जर्मनी का जरा भी हाथ नहीं था। विजयी मित्र-पक्ष के राज्यों ने इन्हें स्वयं निर्धारित किया, और जर्मनी के सम्मुख केवल दो विकल्प प्रस्तुत किये—या तो वह इन्हें अविकल रूप से स्वीकार कर ले और या युद्ध को जारी रखे। इस ढंग से आरोपित की गयी सन्धि के प्रति यदि जर्मनी की जनता रोष का अनुभव करे, तो यह सर्वथा स्वभाविक ही था।

(४) स्थायी शान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक था, कि परास्त राज्यों के प्रति भी न्याय किया जाये। वे तभी सन्तोष अनुभव कर सकते थे, और अन्य राज्यों के साथ सहयोग की नीति को अपना सकते थे। पर जर्मनी को राष्ट्रसंघ का

सदस्य तक नहीं बनाया गया, और इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में उस के प्रति अछूतों का सा व्यवहार किया गया। पेरिस की शान्तिपरिषद् जो विश्व में स्थायी शान्ति को स्थापित करने में असमर्थ रही, उस का एक बड़ा कारण परास्त राज्यों के प्रति अन्याय ही था।

शान्ति समझौता और विल्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त—महायुद्ध के दौरान में अमेरिका के राष्ट्रपति ने जिन चौदह सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, जर्मनी को आशा थी कि वर्साय्य की सन्धि में उनका पूर्णतया अनुसरण किया जायेगा। इस प्रश्न पर विचारकों में मतभेद है, कि शान्तिपरिषद् ने विभिन्न सन्धियों द्वारा जो व्यवस्थाएं कीं, उन में इन सिद्धान्तों का किस अंश तक पालन किया गया था। जर्मनी का कथन था, कि विराम-सन्धि के समय उसे जो आश्वासन दिये गये थे, और जो विल्सन के चौदह सिद्धान्तों पर आधारित थे, वर्साय्य की सन्धि में उन सब की पूर्णतया उपेक्षा कर दी गयी है। पर मित्र-पक्ष के राज्यों के अनेक विचारक इससे सहमत नहीं हैं। गाथोन हार्डी ने इस प्रश्न पर विशद रूप से विचार किया है। उनका कथन है, कि विल्सन के चौदह सिद्धान्तों में से चार (सिद्धान्त ५, ७ ८ और १३) का सम्बन्ध जर्मनी के साथ था, चार (सिद्धान्त ९ से १२ तक) का आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की के साथ सम्बन्ध था, छः सिद्धान्त रूप में थे, और शेष पाँच (१ से ४ तक और १४) विश्व की नई व्यवस्था के साथ सम्बन्ध रखते थे। जर्मनी की अधीनता से अफ्रीका और एशिया के प्रदेशों को मुक्त किया जाना विल्सन के पाँचवें सिद्धान्त के अनुकूल था। बेल्जियम के जिन प्रदेशों पर महायुद्ध के समय जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उन्हें खाली कर देने की बात विल्सन ने अपने सातवें सिद्धान्त में कही थी। आल्सेस-लारेन को फ्रांस को दिये जाने की बात विल्सन के आठवें सिद्धान्त में थी, और पोलैण्ड को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करने तक उसे समुद्र-मार्ग प्रदान करने की बात विल्सन के तेरहवें सिद्धान्त में थी। वर्साय्य की सन्धि द्वारा इन सब को ही क्रियान्वित किया गया था। जर्मनी को जो अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने और अपनी सेना को घटाने के लिये विवश किया गया था, वह भी विल्सन के चौथे सिद्धान्त के अनुसार था। अमेरिकन राष्ट्रपति के अन्य मन्तव्यों का प्रतिपालन भी वर्साय्य की सन्धि द्वारा समुचित अंश तक किया गया था। राष्ट्रसंघ की स्थापना भी विल्सन के चौदहवें सिद्धान्त के अनुरूप थी।

पर गम्भीरता से विचार करने पर यह स्वीकार करना होगा, कि पेरिस की शान्तिपरिषद् के परिणाम-स्वरूप जो शान्ति-समझौता हुआ, उसमें उन उदात्त सिद्धान्तों का अविकल रूप से प्रतिपालन नहीं किया गया, जिनका प्रतिपादन विल्सन द्वारा किया गया था। राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार किया जाना चाहिये, और जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी तथा तुर्की के अधीन जो विविध ऐसे प्रदेश थे जिनमें कि विजातीय लोगों का निवास था, उन्हें स्वतन्त्र एवं पृथक् राज्यों के रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिये—यह बात सर्वमान्य थी। पर इसे किस प्रकार क्रियान्वित किया

जाए, यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं था। अनेक प्रदेशों में विभिन्न जातियों के लोगों के एक साथ निवास के कारण यह समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी थी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड आदि नवनिर्मित राज्यों ने कतिपय ऐसे प्रदेश भी प्राप्त कर लिये, जिनमें जर्मन या तुर्क आदि लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और इस प्रकार जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के प्रति अन्याय हुआ, और उन्हें रुष्ट होने का अवसर मिला। सम्भवतः, कोई भी ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं थी, जिससे सबको सन्तोष हो सकता। उदाहरण के रूप में सुडटनलैण्ड को लीजिए। इस प्रदेश में जर्मन और चेक दोनों ही जातियों के लोगों का निवास था, और उनकी संख्या में भी अधिक अन्तर नहीं था। इसे चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत कर दिया गया, जिससे जर्मनी असन्तुष्ट हुआ। पर यदि इसे जर्मनी को दे दिया जाता, तो चेक लोग इस बात को अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विपरीत समझते। मैसिडोनिया के अनेक प्रदेश पहले तुर्क साम्राज्य के अधीन थे। वहाँ तुर्क और ग्रीक – दोनों जातियों के लोगों का निवास था। ये प्रदेश ग्रीस को दे दिये गये, जिसके कारण तुर्की में असन्तोष हुआ। यही बात कितने ही अन्य प्रदेशों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं, कि १९१९ में यूरोप के विविध राज्यों में विभिन्न जातियों की जिस ढंग से सत्ता थी, उसके कारण हर दशा में अनेक अल्पसंख्यक जातियों का विदेशी शासन में रहना अनिवार्य था। यह मानना ही होगा, कि कतिपय कमियों और अन्यायों के बावजूद पेरिस की शान्ति-परिषद् ने यूरोप के राज्यों के पुनःनिर्माण के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की, वह राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के बहुत कुछ अनुरूप थी, और उस द्वारा यूरोप का नकशा प्रायः राष्ट्रीयता के आधार पर बन गया था। पर जर्मनी का अंग-भंग कर उसके कतिपय प्रदेशों को पोलैण्ड में सम्मिलित कर देना और कुछ जर्मन प्रदेशों को जर्मनी के राज्यक्षेत्र से बाहर रखना ऐसी बातें थीं, जिनको किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात में जर्मनी के प्रति यह अन्याय एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

पेरिस के शान्ति-समझौते में विल्सन के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का किस अंश तक पालन किया गया, इस सम्बन्ध में डॉ० लैंग्सम ने जो विवेचन किया है, वह उल्लेखनीय है। उनके अनुसार विल्सन के चौदह मन्तव्यों में से पाँच क्रियान्वित कर दिये गये थे, पाँच की सर्वथा उपेक्षा की गई थी, और चार को इस ढंग से क्रियान्वित किया गया था कि जिससे मित्रपक्ष के राज्यों को तो लाभ हो पर परास्त राज्यों को कोई लाभ न हो पाये। जो पाँच मन्तव्य क्रियान्वित किये गये थे, उनका सम्बन्ध कतिपय ऐतिहासिक गलतियों के साथ था, जैसे आल्सेस-लारेन के प्रदेशों को जर्मनी से पृथक् कर फ्रांस को दे देना (नं० ८), पोलैण्ड के पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य की पुनःस्थापना करना (नं० १३), महायुद्ध के समय जर्मनी और उसके साथी शत्रुराज्यों ने अन्य राज्यों के जिन प्रदेशों पर कब्जा कर लिया था उन्हें उनसे खाली करवा देना (नं० ७ और ८) रूस के राज्य-

क्षेत्र से अन्य राज्यों की सेनाओं को हटा लेना (नं० ६), रूमानिया, सर्बिया और मांटीनिग्रो के राज्य-क्षेत्र से शत्रुदेशों की सेनाओं को हटा लेना और सर्बिया के राज्य-क्षेत्र को इस ढंग से पुनःनिर्मित करना कि उसे समुद्र-तट प्राप्त हो सके (नं० ११)। विल्सन के ये पाँच मन्तव्य (६, ७, ८. ११ और १३) अविकल रूप से क्रियान्वित कर दिये गये थे, यद्यपि छठे मन्तव्य के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि रूस से जर्मनी की सेनाएँ तो हटा ली गई थीं, पर रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित किये बिना ही मित्र-राज्यों ने अपनी सेनाएँ वहाँ इस प्रयोजन से भेज दी थीं कि बोल्शेविक सरकार का वहाँ से अन्त किया जा सके।

जिन चार मन्तव्यों को मित्र-राज्यों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से क्रियान्वित किया गया था, वे निम्नलिखित थे—(१) आस्ट्रिया-हंगरी के अधीन जो अन्य जातियों द्वारा आबाद प्रदेश थे, उन्हें अपने स्वतन्त्र विकास का अवसर दिया जाय, यह दसवें मन्तव्य में प्रतिपादित किया गया था। इसके अनुसार चेकोस्लोवाकिया के नये राज्य का निर्माण किया गया, स्लाव जाति द्वारा आबाद प्रदेशों को सर्बिया के साथ मिलाकर युगोस्लाविया नाम से एक नये बड़े राज्य को संगठित किया गया, और पोल लोगों के जो प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन थे उन्हें नये बने पोलैण्ड के राज्य में मिला दिया गया। ये सब बातें विल्सन के दसवें मन्तव्य के अनुरूप थीं। पर पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा इन नये राज्यों की जो सीमाएँ निर्धारित की गई थीं, उनमें केवल मित्रपक्ष के हितों को ही दृष्टि में रखा गया था, जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी के नहीं। (२) नवें मन्तव्य के अनुसार इटली की सीमाओं को पुनर्निर्धारित किया जाना था। यह किया अवश्य गया, पर कतिपय ऐसे प्रदेश भी इटली के राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत कर दिये गये, जिनमें आस्ट्रियन और हंगारियन लोग बड़ी संख्या में बसे हुए थे। ऐसा करते हुए केवल इटली के हितों को ही दृष्टि में रखा गया था, परास्त आस्ट्रिया-हंगरी के हितों का नहीं। (३) बारहवें मन्तव्य के अनुसार तुर्क साम्राज्य का अन्त कर उसकी अधीनता में विद्यमान अरब आदि जातियों को अपने स्वतन्त्र विकास का अवसर दिया जाना था। पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा तुर्क साम्राज्य का अन्त कर दिया गया था, पर उसकी अधीनता से मुक्त हुए ईराक, ट्रांस-जोर्डन, सीरिया आदि प्रदेशों को स्वतन्त्र राज्य न बना कर शासन के लिए फ्रांस और ब्रिटेन में बाँट दिया गया। ऐसा करना विल्सन के बारहवें मन्तव्य के अनुरूप नहीं था। (४) विल्सन के चौदहवें मन्तव्य द्वारा यह प्रतिपादित किया गया था, कि सब राज्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया जाये, जिसमें सब छोटे-बड़े राज्यों को किसी भी भेदभाव के बिना सदस्यता प्राप्त करने का अवसर हो। राष्ट्रसंघ के रूप में ऐसा संगठन बना अवश्य, पर जर्मनी को उसका सदस्य नहीं बनाया गया। इसी कारण प्रारम्भ में यह केवल विजेता मित्र-राज्यों का ही संघ था, सब राज्यों का नहीं।

विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्तों में पहले पाँच ऐसे थे, जिनके विषय

में यह कहा जा सकता है, कि पेरिस के शान्ति-समझौते द्वारा वे क्रियान्वित किये ही नहीं जा सके, या बहुत कम अंशों में क्रियान्वित हो पाए। कोई राज्य परस्पर गुप्त सन्धियाँ व समझौते न करें (नं० १), यह बात वर्साय्य की सन्धि में स्वीकार अवश्य कर ली गई थी, पर शक्तिशाली राज्यों ने इसका पालन नहीं किया। समुद्रों के जल-मार्गों को सब राज्यों के लिए खुला रखा जाए (नं० २), यह मन्तव्य भी क्रिया में नहीं लाया गया, क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे साम्राज्यवादी देशों को यह स्वीकार्य नहीं था। व्यापार की परिस्थितियों को सब राज्यों के लिए समान किये जाने (नं० ३) की बात भी क्रियान्वित नहीं हो पाई, और विभिन्न राज्य एक-दूसरे के माल पर अधिकाधिक तट-कर लगाने में व्यापृत रहे। विश्व में शान्ति स्थापित रखने के लिए सब राज्य अस्त्र-शस्त्रों और सेना में कमी करें, और केवल उतनी ही सैन्यशक्ति रखें जो उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य हो (नं ४), इसका भी पालन नहीं किया जा सका, यद्यपि राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के अनेक प्रयत्न किये गये। अधीनस्थ प्रदेशों और उपनिवेशों के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्थाएँ की जानी चाहिएं थी, जिनके द्वारा वहाँ के निवासियों के हितों की रक्षा हो सके (नं० ५)। यह मन्तव्य भी अविकल रूप से क्रियान्वित नहीं किया गया, क्योंकि जर्मनी और तुर्की की अधीनता से मुक्त हुए विभिन्न प्रदेशों और उपनिवेशों को स्वतन्त्र न कर उन्हें अन्य साम्राज्यवादी राज्यों के सुपुर्द कर दिया गया।

इसमें सन्देह नहीं, कि पेरिस के शान्ति समझौते में अनेक कमियाँ रह गई थीं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि महायुद्ध में विजयी हुए राज्यों से यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि वे परास्त देशों के प्रति पूर्ण न्याय करें। इसी का यह परिणाम हुआ, कि विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी, और केवल बीस साल पश्चात् एक ऐसे युद्ध का प्रारम्भ हो गया, जो १९१४-१८ के महायुद्ध की अपेक्षा भी अधिक व्यापक था। मानव समाज की प्रगति का यही ढंग है। वह धीरे-धीरे ही उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

(१०) महायुद्ध के बाद का संसार और उसकी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ

पेरिस के शान्ति-समझौते द्वारा संसार में एक नई व्यवस्था की स्थापना हुई थी। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(१) पुराने एकतन्त्र शासनों का अन्त होकर बहुत-से नये रिपब्लिकन राज्यों का निर्माण हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में लोकतन्त्र शासनों का सूत्रपात हो गया था। पर १९१४ तक वहाँ केवल तीन बड़े (फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड और पोर्तुगाल) और दो छोटे (सन मरीनो और अन्दोरा) राज्य ही ऐसे थे, जिनमें वंश-क्रमानुगत राजाओं का शासन न होकर रिपब्लिकन शासनों की सत्ता थी। महायुद्ध के पश्चात् और उसके दौरान में जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस और तुर्की के प्राचीन वंश-

क्रमानुगत राजशासनों का अन्त हुआ, और यूरोप में रिपब्लिकों की बाढ़-सी आ गई। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया, फिनलैण्ड और युक्रेनिया—ये दस नई रिपब्लिकें अब यूरोप में स्थापित हुईं। रिपब्लिकों की नई लहर केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रही। एशिया और अफ्रीका में भी उसका प्रवेश हुआ, और कुछ समम पश्चात् तुर्की और ईजिप्ट आदि में भी रिपब्लिकन शासन कायम हुए।

(२) फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में जिन नई प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था, राष्ट्रीयता की भावना भी उनमें एक थी। महायुद्ध के बाद राष्ट्रीयता को बहुत बल मिला। इसी कारण चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, पोलैण्ड, लिथुएनिया, लैट-निया, फिनलैण्ड, एस्थोनिया और हंगरी के नये राज्य कायम हुए, जिनका आधार राष्ट्रीयता थी। इन राज्यों के निर्माण के कारण यूरोप का नकशा बहुत कुछ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार बन गया था। पर अभी राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनेक ऐसी समस्याएँ बच रही थीं, जिनका हल होना बाकी था। यूरोप की इन समस्याओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी ये समस्याएँ विद्यमान थीं। आयरलैण्ड अब तक भी ब्रिटेन का एक प्रदेशमात्र था। भारत, ईजिप्ट आदि अनेक देश अभी तक भी ब्रिटेन के अधीन थे। इन्डोनीसिया हालैण्ड के अधीन था, और इन्डोचायना फ्रांस के। अफ्रीका का विशाल महाद्वीप फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम आदि देशों में बँटा हुआ था। चीन पर से भी विदेशी राज्यों के स्वामित्व का अभी पूर्णतया अन्त नहीं हुआ था। जब तक इनके सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था न की जाए, जो राष्ट्री-यता के सिद्धान्त के अनुसार हो, विश्व में शान्ति स्थापित नहीं रह सकती थी।

(३) नये रिपब्लिकन राज्यों की स्थापना के साथ ही लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हो गया। महायुद्ध के परिणामस्वरूप जिन आर्थिक, औद्योगिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का सामना विभिन्न राज्यों को करना पड़ रहा था, उनका समाधान करने में नये रिपब्लिकन राज्य असमर्थ रहे। इसी कारण बोल्शेविज्म (समाजवाद), फासिज्म और नाजीज्म के नये आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, और कुछ समय के लिये यूरोप के बहुत-से राज्यों में लोकतन्त्रवाद का अन्त होकर अधि-नायकवाद (Dictatorship) का प्रारम्भ हुआ।

(४) यूरोप के विविध राज्यों के आपेक्षिक महत्त्व में परिवर्तन हुआ। आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की का जो महत्त्व महायुद्ध से पहले था, उसमें बहुत कमी आ गई, और कुछ समय के लिये रूस और जर्मनी का भी पहले के समान महत्त्व नहीं रह गया। इसके विपरीत पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के नये राज्यों का महत्त्व बहुत बढ़ गया, और ये राज्य भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तथा यूरोप की नई गुटबन्दियों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। साथ ही, अनेक छोटे राज्यों के निर्माण के कारण यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जटिलता आने लगी।

(५) पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा युद्धों का अन्त कर स्थायी शान्ति स्थापित करने का जो प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हुआ। शान्ति परिषद् ने कुछ घावों की चिकित्सा करने में सफलता अवश्य प्राप्त की थी। पर उसने नये घाव भी उत्पन्न कर दिये थे। इसी कारण नई गुटबन्दियों का प्रारम्भ हुआ, और सब राज्य अपनी सैन्य-शक्ति की वृद्धि में तत्पर हो गये। सेना की वृद्धि के लिये उनमें एक प्रकार की होड़-सी प्रारम्भ हो गई। शान्ति परिषद् का प्रयत्न तो यह था, कि सैनिकों की संख्या में कमी की जाए, पर १९२२ में यूरोप के विविध राज्यों की स्थायी सेनाओं में ४० लाख से भी अधिक सैनिक थे। सैनिकवाद का यह भयंकर रूप विश्व में शान्ति स्थापित होने की आशा के सर्वथा विपरीत था।

(६) महायुद्ध के पश्चात् जो नई प्रवृत्तियाँ बल पकड़ने लगीं, अन्तर्राष्ट्रीयता का उनमें प्रमुख स्थान था। राष्ट्रसंघ के रूप में जो नया अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित हुआ था, उसकी महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर इस संघ को विभिन्न राज्यों से वह सहयोग प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी आवश्यकता थी और जिसे प्राप्त कर के ही यह संघ अपने उद्देश्यों को पूर्ण कर सकता था।

(७) अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही प्रगट नहीं हुई, अपितु मजदूर आन्दोलन, युवक आन्दोलन आदि के रूप में भी वह प्रगट हुई। महायुद्ध के पश्चात् के काल में मजदूरों की दशा के सुधार के लिये और युवकों में नई चेतना को उत्पन्न करने के लिये जिन आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ, और इन प्रयोजनों से जो संगठन संगठित हुए, उनका स्वरूप भी अन्तर्राष्ट्रीय था। इसी प्रकार बौद्धिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। वस्तुतः, संसार के विभिन्न देश अब एक दूसरे के अधिक समीप आते जा रहे थे।

(८) पुरुषों और स्त्रियों की समानता, रंग व नसल का भेदभाव किये बिना सब जातियों को एक समान मानना और धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति अनास्था—ये कतिपय अन्य प्रवृत्तियाँ थीं, जो महायुद्ध के पश्चात् के काल में विकसित होने लगी थीं।

तीसरा अध्याय

राष्ट्र-संघ

(League of Nations)

(१) राष्ट्रसंघ का निर्माण और उसके उद्देश्य

पेरिस की शान्ति परिषद् का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्रसंघ को संगठित करना था। अन्तर्राष्ट्रीय भावना का यूरोप में किस प्रकार विकास हो रहा था, और अनेक विचारक किस प्रकार यह प्रतिपादित कर रहे थे कि चिरस्थायी शान्ति के लिए विभिन्न राज्यों का एक संगठन में संगठित हो जाना आवश्यक है, इस पर हम इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। महायुद्ध में मनुष्यों और सम्पत्ति का जिस अमानुषिक ढंग से विनाश हो रहा था, उसे दृष्टि में रख कर अनेक विचारकों ने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि किसी ऐसे साधन का आविष्कार किया जाये जिसके द्वारा राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को शान्तिमय उपायों से निबटाया जा सके। महायुद्ध के पहले दो वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका तटस्थ नीति का अनुसरण कर रहा था। यूरोप में होने वाले जन और धन के ध्वंस से चिन्तित हो कर वहाँ के शान्तिप्रिय लोगों ने अनेक ऐसे समुदाय बनाने प्रारम्भ किये, जिन का उद्देश्य युद्ध को समाप्त कर शान्ति की स्थापना करना था। इन में शस्त्रशक्ति को मर्यादित करने के लिए निर्मित अमेरिकन संघ (American Leaguc to limit Armaments), सैनिकवादके विरुद्ध अमेरिकन संघ (American Union aganist Militarism), महिला शान्ति दल (Women's Peace Party) और शान्ति-स्थापना संघ (League to Enforce Peace) उल्लेखनीय हैं। शान्ति-स्थापना संघ में अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के अनेक प्रमुख राजनीतिक नेता सम्मिलित थे। १९१६ में इस संघ ने युद्धों को रोकने और राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटाने के प्रयोजन से एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ के निर्माण की योजना भी तैयार की थी। राष्ट्रपति विल्सन ने इस योजना का सार्वजनिक रूप से स्वागत किया था और अपने १४ सिद्धान्तों में इसे स्थान भी दिया था। इसी समय लार्ड फिलिमोर के नेतृत्व में अनेक ब्रिटिश विधानशास्त्रियों ने भी एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का मसविदा तैयार किया। इस में सन्देह नहीं, कि विभिन्न राज्यों का लोकमत राज्यों के पारस्परिक संगठन की स्थापना के विचार के अनुकूल था, और सब कोई यह अनुभव करने लगे थे कि एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के बिना विश्व में स्थायी शान्ति को स्थापित कर सकना सम्भव नहीं है।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और संगठन का स्वरूप तैयार करने के लिए पेरिस की शान्ति-परिषद् ने एक समिति की नियुक्ति की, जिस के १९ सदस्य थे। विल्सन को इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया, और इस के सदस्यों में राबर्ट सेसिल, लेओ बूर्जुआ, ओर्लाण्डो, मकिनो और स्मट्स प्रमुख थे। १४ फरवरी, १९१९ को इस समिति ने राष्ट्रसंघ विषयक व्यवस्थाओं का प्रारूप तैयार कर लिया, और कुछ परिवर्तनों के साथ २८ एप्रिल, १९१९ के दिन उसे शान्तिपरिषद् द्वारा स्वीकृत कर लिया गया। राष्ट्र-संघ सम्बन्धी इस इकरार (Covenant) को जर्मनी आदि सभी राज्यों के साथ की गई सन्धियों में सम्मिलित किया गया। निस्सन्देह, यह इकरार इन सन्धियों का एक महत्त्वपूर्ण अंग था।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य—जिन उद्देश्यों को सम्मुख रख कर राष्ट्रसंघ का संगठन किया गया था, वे इस इकरार को प्रस्तावना द्वारा भली-भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। यह प्रस्तावना इस प्रकार थी—

हम इकरार करने वाले पक्ष

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिये और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के प्रयोजन से,

यह आज्ञानुवर्तिता (Obligation) स्वीकार करके कि युद्ध का आश्रय नहीं लिया जायगा,

यह निर्धारण करके कि राज्यों में न्याय्य और सम्मानास्पद सम्बन्ध स्थापित किये जायेंगे,

यह स्थापित करके कि सरकारों के पारस्परिक व्यवहार के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून समुचित आधार है, और

यह मान करके कि राज्य के रूप में संगठित मनुष्यों को आपस के बरताव में सन्धियों का अविकल रूप से पालन तथा न्याय आवश्यक है,

राष्ट्र संघ के इस इकरार को स्वीकार करते हैं।

यह स्पष्ट है कि राष्ट्र संघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, किसी भी दशा में युद्ध का आश्रय न लेना, राज्यों में न्याय्य और सम्मानास्पद सम्बन्धों को स्थापित करना, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को मानना और परस्पर की गई सन्धियों का पालन करना था। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने निम्नलिखित बातों को स्वीकार किया था—(१) राज्य की रक्षा के लिए जो न्यून-तम अस्त्र-शस्त्र आवश्यक हों और जिन का निर्धारण राष्ट्र संघ द्वारा किया किया हो, उन से अधिक अस्त्र-शस्त्र संघ की कौंसिल की अनुमति के बिना न रखना। (२) राज्य के अस्त्र-शस्त्रों, जल, स्थल और वायु सेना के सैनिकों की संख्या तथा युद्ध का सामान तैयार करने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में सही-सही सूचनाएँ अन्य राज्यों को देते रहना। (३) राष्ट्र-संघ के सब सदस्य-राज्यों के राज्य-क्षेत्र तथा सीमाओं का आदर करना और

सब की राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करना। (४) राज्यों के जिन आपसी झगड़ों के कारण शान्तिभंग की सम्भावना हो, उन का निर्णय कराने के लिए पंच-निर्णय या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णय का आश्रय लेना और या संघ को कौंसिल के सम्मुख उन्हें विचारार्थ प्रस्तुत करना। (५) राज्यों के आपसी झगड़ों के सम्बन्ध में जो भी निर्णय किया जाये, उसे स्वीकार करना और किसी भी दशा में उसे स्वीकार कर लेने वाले राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषित न करना। (६) विभिन्न राज्य जो भी सन्धियाँ या समझौते करें, उन्हें राष्ट्र-संघ के पास रजिष्ट्री कराने के लिए भेजना, और संघ के सचिवालय द्वारा उन्हें प्रकाशित किया जाना। (७) जिन राज्यों को कोई प्रदेश राष्ट्र-संघ के मैन्डेट के अधीन शासन के लिये दिये गये हों, उन के शासन की रिपोर्ट प्रतिवर्ष संघ के पास भेजना। (८) पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों द्वारा किये जाने वाले श्रम के लिए मानवोचित परिस्थितियों को उत्पन्न करना। (९) विभिन्न राज्यों के राज्य-क्षेत्र में वहाँ की जिन मूल जातियों का निवास हो, उन के प्रति न्याय्य व्यवहार करना। (१०) स्त्रियों और बच्चों के व्यापार को रोकने के लिए जो इकरार किये गये हों, तथा अफीम एवं अन्य नशीली वस्तुओं के विक्रय तथा अस्त्र-शस्त्रों के व्यापार को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में जो समझौते हुए हों उनका पालन ठीक तरह किया जा रहा है या नहीं, इस पर राष्ट्रसंघ के निरीक्षण को स्वीकार करना। (११) आवागमन और सञ्चार की स्वतन्त्रता को कायम रखना और महामारियों के प्रसार को रोकने की व्यवस्था करना।

सदस्यता—यह व्यवस्था की गयी थी कि वर्साय्य की सन्धि व अन्य सन्धियों पर जिन राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षर किये जाएं, उन्हें राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो। अन्य राज्य भी संघ के दो तिहाई सदस्यों की सहमति से राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्तकर सकें, बशर्ते कि वे राज्य पूर्णतया स्वशासित हों और संघ द्वारा निर्धारित जिम्मेवारियों को स्वीकार करने के लिये उद्यत हों। प्रारम्भ (१० जनवरी, १९२०) में राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या २४ थी, जो १९२० के अन्त तक बढ़ कर ४१ हो गयी थी। १९२४ में यह संख्या ५० तक और १९३४ में ६२ तक पहुँच गयी थी। १९४६ में जब राष्ट्रसंघ का अन्त हुआ, तो उसके सदस्य केवल ४६ ही रह गये थे। राष्ट्रसंघ जो अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो सका, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि अनेक शक्तिशाली राज्यों ने उसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की थी। संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन द्वारा ही राष्ट्रसंघ का विचार प्रस्तुत किया गया था और उन्हीं के प्रयत्न से यह संघ संगठित हुआ था, पर अमेरिका स्वयं संघ का सदस्य नहीं बना। १९२६ तक जर्मनी को भी संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हुई थी। रूस १९३४ में संघ का सदस्य बना था, पर तब तक जापान और जर्मनी उससे पृथक् हो चुके थे। १९३९ में रूस को भी संघ से बहिष्कृत कर दिया गया था। अनेक शक्तिशाली राज्यों के संघ से पृथक् रहने के कारण वह कभी पर्याप्त रूप से शक्ति नहीं प्राप्त कर सका, और निस्सन्देह यह उसकी बड़ी निर्बलता थी।

(२) राष्ट्रसंघ का संगठन

राष्ट्र संघ के तीन प्रधान अंग थे, एसेम्बली, कौंसिल और सचिवालय (Secretariat)। इन तीन के अतिरिक्त उसके दो अन्य भी अंग थे, जिनकी स्थिति पृथक् एवं स्वायत्त संगठनों की थी। ये अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (The Permanent Court of International Justice) और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (International Labour Organisation) थे। अपने कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए राष्ट्र संघ द्वारा कतिपय अन्य समितियों, कमीशनों व समुदायों का भी निर्माण किया गया था। राष्ट्रसंघ के संगठन को भलीभाँति समझने के लिये पहले उसके तीन प्रधान अंगों पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा—

(१) एसेम्बली—इस में राष्ट्रसंघ के सब सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि रहते थे। किस राज्य से कितने प्रतिनिधि एसेम्बली में लिये जाएँ, यह उस राज्य की महत्ता के अनुसार निर्धारित किया जाता था। प्रत्येक राज्य से एक से तीन तक प्रतिनिधि लिये जाते थे। पर जब वोट लेने का समय आए, तब एक राज्य का केवल एक वोट माना जाता था। एसेम्बली का वार्षिक अधिवेशन सितम्बर मास के प्रथम सोमवार को जिनीवा में होता था। जनता उसमें दर्शक रूप से सम्मिलित हो सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर सितम्बर के अतिरिक्त अन्य समय भी एसेम्बली के विशेष अधिवेशन हो सकते थे। जब एसेम्बली का अधिवेशन हो, तो शुरू में वह व्यक्ति उसके सभापति पद को ग्रहण करता था, जो उस समय राष्ट्रसंघ की कौंसिल का अध्यक्ष हो। बाद में एसेम्बली अपने सभापति तथा छः उपसभापतियों का निर्वाचन करती थी। सभापति का चुनाव हो जाने पर वही एसेम्बली के सभापति पद को ग्रहण कर लेता था। सभापति और छः उपसभापतियों के अतिरिक्त छः स्थायी समितियों का भी एसेम्बली द्वारा चुनाव किया जाता था। ये स्थायी समितियाँ निम्नलिखित छः विषयों के लिये होती थीं—(१) संवैधानिक और कानूनी प्रश्नों पर विचार, (२) विशिष्ट मामलों के लिए जो अन्य समुदाय या संघ बनाये गये हों, उनकी समस्याओं पर विचार, (३) अस्त्र-शस्त्रों को कम करने के प्रश्न पर विचार, (४) बजट और राष्ट्रसंघ का आन्तरिक प्रशासन, (५) सामाजिक समस्याओं पर विचार, और (६) राजनीतिक समस्याओं पर विचार। इन छः स्थायी समितियों के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की एसेम्बली अन्य अनेक विशेष समितियों का भी चुनाव करती थी, जिन्हें किसी विशेष समस्या पर विचार करने का कार्य दिया जाता था।

एसेम्बली के अधिवेशनों में सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि किसी भी ऐसे प्रश्न को प्रस्तुत कर सकते थे, जो राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और प्रयोजनों के साथ सम्बन्ध रखता हो। वे अपनी शिकायतों, आकांक्षाओं और मन्तव्यों को वहाँ प्रगट कर सकते थे, और अन्य राज्यों की नीति की आलोचना भी कर सकते थे। साथ ही, एसेम्बली राष्ट्रसंघ के बजट को स्वीकार करती थी, जो नये राज्य संघ के सदस्य बनना चाहें उनके आवेदन-

पत्रों पर विचार करती थी, कौंसिल के उन सदस्यों का चुनाव करती थी जो अपने अधिकार से कौंसिल के स्थायी सदस्य नहीं होते थे, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्त करती थी। कौंसिल द्वारा जिस व्यक्ति को राष्ट्रसंघ के प्रधान सचिव (Secretary General) पद के लिये मनोनीत किया गया हो, उसकी अन्तिम स्वीकृति भी एसेम्बली द्वारा दी जाती थी। एसेम्बली की कार्य-प्रक्रिया और संघ के नये सदस्यों के प्रवेश के अतिरिक्त अन्य सब मामलों का निर्णय एसेम्बली द्वारा प्रायः सर्व-सम्मति से किये जाने की व्यवस्था की।

(२) कौंसिल—शुरू में यह व्यवस्था की गई थी, कि कौंसिल के नौ सदस्य हों। इनमें से पाँच स्थायी हों ओर चार अस्थायी। संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान को कौंसिल की सदस्यता स्थायी रूप से प्राप्त रहे, और शेष चार सदस्य एसेम्बली द्वारा निर्वाचित किये जाया करें। क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना, अतः १९२२ तक कौंसिल में केवल आठ सदस्य रहे। १९२६ में जब जर्मनी भी संघ का सदस्य बन गया, तो उसे भी स्थायी रूप से कौंसिल में स्थान प्रदान कर दिया गया। कौंसिल के कुल सदस्यों की संख्या अब दस कर दी गयी, जिनमें से पाँच प्रमुख राज्यों (ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और जर्मनी) के प्रतिनिधि होते थे, और शेष पाँच एसेम्बली द्वारा निर्वाचित।

कौंसिल राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी समिति थी, और उसके साल में तीन अधिवेशन नियमित रूप से हुआ करते थे, जनवरी, मई और सितम्बर में। कौंसिल के सदस्य बारी-बारी से उसका अध्यक्ष पद ग्रहण करते थे। यह आवश्यक था कि उसके सब निर्णय (कार्यक्रम और कार्यविधि के अतिरिक्त) सर्वसम्मति द्वारा किये जाया करें। जब किसी ऐसे राज्य का मामला कौंसिल के सम्मुख पेश हो जो उस समय कौंसिल का सदस्य न हो, तो उसे अवसर दिया जाता था कि उसका प्रतिनिधि कौंसिल के अधिवेशन में उपस्थित हो कर विचार-विमर्श में भाग ले सके।

कौंसिल के मुख्य कार्य निम्नलिखित थे—(१) विभिन्न राज्यों के अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध-सामग्री में कमी करने के लिये क्रियात्मक योजनाएं तैयार करना। (२) जिन प्रदेशों का शासन राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा अन्य राज्यों के सुपुर्द किया गया था, उनके शासन की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करना। (३) राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों पर कोई अन्य राज्य आक्रमण न करे और उनकी राजकीय सीमाएँ अक्षुण्ण बनी रहें, इस बात पर ध्यान देना और इसके लिये क्रियात्मक उपायों का प्रयोग करना। (४) जो अन्तर्राष्ट्रीय विवाद राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किये जाएँ, उन पर बारीकी के साथ विचार करना और उनके सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट एसेम्बली में पेश करना। (५) यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर युद्ध की सम्भावना हो, तो राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों को यह आदेश देना कि उस विवाद का अन्त करने के लिये उन्हें किन साधनों का प्रयोग करना होगा। ये साधन सैनिक कार्यवाही के रूप में भी हो सकते थे। (६)

जर्मनी आदि परास्त राज्यों के साथ जो सन्धियाँ की गयी थीं, उनके अनुसार कतिपय विशिष्ट कार्य राष्ट्रसंघ के सुपुर्द किये गये थे, जैसे कि डान्ट्सिग के बन्दरगाह के शासन के लिये हाई कमिश्नर की नियुक्ति। ये कार्य भी कौंसिल द्वारा ही किये जाते थे।

सचिवालय—राष्ट्रसंघ का सचिवालय (Secretariat) जिनीवा में स्थित था। संघ के कार्य-कलाप की व्यवस्था और पत्रव्यवहार आदि कार्य इस सचिवालय द्वारा किये जाते थे। इसके लिये एक प्रधान सचिव (Secretary General) की नियुक्ति की जाती थी, जो कौंसिल की सहमति से अन्य कर्मचारियों को नियुक्त करता था। पहला प्रधान सचिव सर जेम्स एरिक ड्रमण्ड था, और राष्ट्रसंघ के संविधान में ही यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि इस पद पर उनकी नियुक्ति की जायगी। उनके बाद इस पद पर नियुक्ति किस ढंग से की जायगी, इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी थी कि एसेम्बली की स्वीकृति से कौंसिल द्वारा नये प्रधान सचिव को नियुक्त किया जाया करे। १९३३ तक सर ड्रमण्ड इस पद पर रहे, बाद में श्री जोसफ आवनोल को इस पद पर नियुक्त किया गया, और १९४० में श्री सियेन लैस्टर को।

प्रधान सचिव की अधीनता में जो कर्मचारी राष्ट्रसंघ के सचिवालय में कार्य करते थे, उनकी संख्या ७०० के लगभग थी। ये राष्ट्रसंघ के विविध सदस्य-राज्यों से लिये जाते थे। भाषा, धर्म, नस्ल, संस्कृति आदि की भिन्नता के होते हुए भी ये साथ मिल कर राष्ट्रसंघ के सचिवालय में काम करते थे। सचिवालय को कार्य की दृष्टि से ११ विभागों में विभक्त किया गया था। इनमें मुख्य निम्नलिखित थे—मैन्डेट के अधीन शासित प्रदेश, निःशस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, अल्पसंख्यक जातियों के प्रश्न और आर्थिक समस्याएँ। राष्ट्रसंघ के प्रधान सचिव का एक मुख्य कार्य यह भी था कि वह उन सब सन्धियों को रजिस्टर्ड करें, जो कि संघ के विविध सदस्य-राज्यों द्वारा की गयी हों। युद्ध का एक प्रधान कारण यह माना जाता था, कि विविध राज्य गुप्त सन्धियाँ व समझौते कर के गुटबन्दी का प्रयत्न करते हैं। यदि सब सन्धियों एवं समझौतों को राष्ट्रसंघ में रजिस्टर्ड करा लिया जाए और उन्हें प्रकाशित भी करा दिया जाए, तो गुटबन्दी की प्रवृत्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है। इसीलिये इन सन्धियों को अँगरेजी और फ्रेञ्च भाषाओं में प्रकाशित कर दिया जाता था। सन् १९४१ तक जो संधियाँ संघ के सचिवालय में रजिस्टर्ड करायी गयीं, उनकी संख्या ४७३३ थी।

राष्ट्रसंघ के सचिवालय के तत्त्वावधान में कतिपय सहायक एवं स्वायत्त संगठनों की भी सत्ता थी। इन संगठनों का निर्माण कतिपय विशेष प्रयोजनों के लिये किया गया था, जैसे कुष्ठ रोग के सम्बन्ध में शोध करने के लिये, बौद्धिक सहयोग के लिये, और शरणार्थियों की समस्याओं के लिये।

(३) अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—राष्ट्रसंघ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्वायत्त अंग अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय था, जिसे 'पर्मनेन्ट कोर्ट ऑफ इन्टरनेशनल जस्टिस' (अन्तर्राष्ट्रीय

न्याय का स्थायी न्यायालय) कहते थे। फरवरी, १९२० में राष्ट्रसंघ की कौंसिल द्वारा विधान शास्त्र के पण्डितों की एक समिति नियुक्त की गयी, और उसे इस न्यायालय के संगठन का कार्य सुपुर्द किया गया। समिति के अधिवेशन हेग में हुए, और छः सप्ताहों के निरन्तर प्रयत्न द्वारा इसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधान, कार्य-विधि तथा संगठन के कार्य को पूर्ण किया। कतिपय संशोधनों के साथ राष्ट्रसंघ की कौंसिल और एसेम्बली ने समिति के निर्णयों को स्वीकार कर लिया। साथ ही, यह भी निश्चय किया गया कि जब संघ के सदस्य-राज्यों की बहुसंख्या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन की बात को स्वतन्त्र रूप से भी स्वीकार कर ले, तो हेग में इसकी स्थापना कर दी जाए। सितम्बर, १९२१ तक संघ के बहुसंख्यक सदस्य-राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की विधिवत् स्थापना कर दी गयी। अनुमान किया गया कि इस न्यायालय पर प्रति वर्ष तीस लाख के लगभग रुपया खर्च हुआ करेगा। इसे राष्ट्रसंघ के बजट में शामिल कर लिया गया, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

शुरू में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या ग्यारह नियत की गई थी। इन के अतिरिक्त चार उपन्यायाधीश भी नियुक्त किये गये थे। इन सब की नियुक्ति राष्ट्रसंघ की एसेम्बली द्वारा नौ वर्ष के लिए की गयी थी। इन न्यायाधीशों ने न्यायालय के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का स्वयं चुनाव किया, और यह व्यवस्था की गई कि प्रति तीन साल बाद अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का नया चुनाव हुआ करे। बाद में इस न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या १५ कर दी गयी थी (१९२९)। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कार्यविधि प्रायः उसी ढंग की थी, जैसी कि अन्य अदालतों की होती है। उसके सम्मुख बाकायदा दावा-अर्जी पेश की जाती थी; गवाह पेश होते थे, अन्य प्रकार से भी साक्षी प्रस्तुत की जाती थी, और वादी तथा प्रतिवादी—दोनों को मामले पर बहस करने का अवसर प्रदान किया जाता था। बहस समाप्त हो जाने पर न्यायाधीश परस्पर मिलकर मामले पर विचार करते थे, और उनकी बहुसंख्या के मत के अनुसार फैसला किया जाता था।

केवल राज्यों को (व्यक्तियों को नहीं) ही यह अधिकार था कि वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख अपने दावे व मुकदमे को पेश कर सकें। राष्ट्रसंघ की कौंसिल और एसेम्बली को भी यदि किसी कानूनी प्रश्न पर परामर्श की आवश्यकता हो, तो उसे इस न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाता था। कौंसिल और एसेम्बली के लिये यह अनिवार्य नहीं था कि वे इसकी सम्मति व परामर्श को अवश्य ही स्वीकार करें। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इसकी सम्मति को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र दो प्रकार का था, ऐच्छिक (Voluntary) और अनिवार्य (Campulsory)। जब दो या अधिक राज्य अपने झगड़े को स्वेच्छापूर्वक इस न्यायालय के समक्ष निर्णय के लिये प्रस्तुत करते थे, तो ऐसे वाद

ऐच्छिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आते थे। पर कतिपय राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधान की एक वैकल्पिक (Optional) धारा भी स्वीकार कर ली थी, जिसके अनुसार वे इस बात के लिये विवश थे कि सन्धियों की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को पालन न करना और इसके लिये हरजाना प्रदान करना—सदृश विषयों पर विवाद होने की दशा में ऐसे मामलों को अनिवार्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करें। यह इस न्यायालय का अनिवार्य अधिकार-क्षेत्र था। इस क्षेत्र के वादों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय जो भी निर्णय करे, उसे स्वीकार करना इन राज्यों के लिये आवश्यक था। जिन राज्यों ने इस वैकल्पिक धारा को स्वीकार किया हुआ था, सितम्बर, १९३९ में उनकी संख्या ३९ थी। महायुद्ध के अनन्तर कतिपय राज्यों ने परस्पर मिल कर जो अनेक सन्धियाँ की थीं, उनके अनुसार भी अपने विवादग्रस्त विषयों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णीत करने की बात उन्होंने स्वीकार की हुई थी।

१८९९ में हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई थी, जो हेग में स्थित था, और इसी कारण जिसे "हेग ट्रिब्युनल" कहा जाता था। इस ट्रिब्युनल में १३२ विधान शास्त्रियों की एक सूची रखी रहती थी, और हेग के समझौते (Hague Convention) पर जिन राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे, उन्हें यह अवसर था कि अपने झगड़ों को निवटाने के लिये इन १३२ विधानशास्त्रियों में से कतिपय को चुन कर वे एक न्यायालय का निर्माण कर सकें। राष्ट्रसंघ द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा हेग ट्रिब्युनल का अन्त नहीं हो गया। वह भी मई, १९४० तक कायम रहा। पर हेग ट्रिब्युनल कोई स्थायी संस्था नहीं थी। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थायी था, और वह हेग में स्थित न होकर जिनीवा में स्थित था।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ—लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद के आन्दोलनों के कारण इस समय सर्वत्र मजदूर वर्ग का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। यही कारण है, कि पेरिस की शान्ति परिषद् में जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रयोजन से राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी, वहाँ साथ ही मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' का भी निर्माण किया गया, ताकि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य परस्पर सहयोग द्वारा अपने मजदूरों की दशा को उन्नत कर उन्हें संतुष्ट रख सकें। जो राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य हों, वे अपने अधिकार से इस मजदूर संघ के भी सदस्य हो जाते थे। पर यह आवश्यक नहीं था, कि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का सदस्य होने के लिये कोई राज्य राष्ट्रसंघ का भी सदस्य हो। जर्मनी उस समय भी इस संघ का सदस्य था, जब उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हुई थी। इसी प्रकार ब्राजील और संयुक्तराज्य अमेरिका इस संघ के सदस्य रहे, यद्यपि वे राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बने थे।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का प्रधान कार्यालय भी जिनीवा में स्थित था। उसका संगठन राष्ट्रसंघ के ही सदृश था, जिसके मुख्य अंग निम्नलिखित थे—(१) जनरल

कान्फरेन्स—इसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य को चार प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इनमें से एक मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था, एक कारखानों के मालिकों का और दो प्रतिनिधि सरकार के होते थे। जनरल कान्फरेन्स को यह अधिकार नहीं था कि वह कोई ऐसा नियम बना सके, जिसे स्वीकार करना सब सदस्य-राज्यों के लिये अनिवार्य हो। पर वह अपने प्रस्तावों द्वारा सदस्य-राज्यों का ध्यान उन बुराइयों की ओर आकृष्ट कर सकती थी, जो किसी राज्य में मजदूरों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कानूनों में विद्यमान हों। दो तिहाई वोट से यह कान्फरेन्स ऐसे प्रस्ताव भी स्वीकार कर सकती थी, जिनमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो, जिनके अनुसार विविध राज्यों को अपने मजदूर-सम्बन्धी कानूनों का निर्माण करना चाहिए। ये प्रस्ताव राष्ट्र-संघ के प्रधान सचिव द्वारा विविध सदस्य-राज्यों के पास भेज दिये जाते थे, और यह अनिवार्य माना जाता था कि इन प्रस्तावों को विविध राज्य अपने-अपने विधान-मण्डलों के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत करें। सदस्य-राज्यों से आशा की जाती थी, कि वे इन्हीं के अनुसार अपने मजदूर-सम्बन्धी कानूनों का निर्माण करेंगे। (२) गवर्निंग बॉडी—इसके ३२ सदस्य होते थे, जिनमें ८ मजदूरों के, ८ मालिकों के और १६ सरकारों के प्रतिनिधि होते थे। बेल्जियम, फ्रांस, कनाडा, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, भारत, इटली और जापान—इन आठ राज्यों को यह अधिकार दिया गया था कि उनकी सरकारों का एक-एक प्रतिनिधि स्थायी रूप से गवर्निंग बॉडी का सदस्य रहे। औद्योगिक क्षेत्र में इन राज्यों का बहुत महत्त्व था। इसी कारण इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की गवर्निंग बॉडी में स्थायी सदस्यता का अधिकार प्रदान किया गया था। बाद में जब रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका भी इस संघ के सदस्य बन गये, तो उन्हें भी यह अधिकार दिया गया, और उन्हें गवर्निंग बॉडी में स्थान प्रदान करने के लिये बेल्जियम और कनाडा से स्थायी सदस्यता का अधिकार ले लिया गया। गवर्निंग बॉडी के जो आठ अन्य सरकारी सदस्य होते थे, उनका चुनाव जनरल कान्फरेन्स के उन सरकारी सदस्यों द्वारा किया जाता था, जिन्हें गवर्निंग बाडी में स्थायी सदस्यता का अधिकार नहीं था। गवर्निंग बॉडी में जो सदस्य मजदूरों व मालिकों का प्रतिनिधित्व करते थे, वे जनरल कान्फरेन्स के मजदूर तथा मालिक सदस्यों द्वारा चुने जाते थे। (३) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय—यह जिनीवा में स्थित था और इसमें प्रारम्भ में ३०० के लगभग कर्मचारी काम करते थे। राष्ट्रसंघ के सचिवालय के कर्मचारियों के समान इन्हें भी सब सदस्य-राज्यों से लिया जाता था। जिनीवा में स्थित इस मजदूर कार्यालय का यह कार्य था, कि सब देशों के औद्योगिक जीवन और मजदूरों के सम्बन्ध में सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करें, और संसार में जहाँ कहीं भी मजदूरों की दशा को उन्नत करने के लिये सभा-समितियाँ विद्यमान हो उनके साथ सम्पर्क स्थापित करे। इस कार्यालय की ओर से जहाँ 'इन्टरनेशनल लेबर रिव्यू' और 'आफिसियल बुलेटिन' जैसे पत्र प्रकाशित होते थे, वहाँ साथ ही मजदूरों की समस्याओं के सम्बन्ध म अनेक

विज्ञप्तियां, पुस्तिकाएँ एवं रिपोर्टें भी छपती थीं।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ द्वारा यह प्रयत्न किया गया कि सब राज्यों में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घण्टों में कमी की जाए, बीमारी की दशा में मजदूरों को परेशानी न हो इस प्रयोजन से उनका बीमा कराया जाए, स्त्री और बालक मजदूरों के विषय में विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की जाए, कारखाने में काम करते हुए मजदूर को यदि चोट लग जाए या उसकी मृत्यु हो जाए तो उसकी क्षतिपूर्ति की जाए, और कारखानों में काम करने की परिस्थितियाँ ऐसी न हों जो उनके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हों। साथ ही, यह भी प्रयत्न किया गया कि विभिन्न राज्य मजदूरों के संघों (Trade Unions) में संगठित होने के अधिकार को स्वीकृत करें। इन सब बातों को क्रियान्वित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ ने जो बहुत-से प्रस्ताव स्वीकृत किये थे, या जो अनेक निर्णय किये थे, उनके अनुसार विविध राज्यों ने जो व्यवस्थाएँ की, और जिन्हें उन्होंने राष्ट्रसंघ में रजिस्टर्ड कराया था, जनवरी, १९४१ तक उनकी संख्या ८७९ तक पहुँच गयी थी।

(४) राष्ट्रसंघ के विविध कार्य—राज्यों के झगड़ों का निबटारा

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिमय उपायों द्वारा निर्णय—राष्ट्रसंघ की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य यह था कि संसार में शान्ति कायम रखे, और विभिन्न राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा निबटाने का प्रयत्न करे। इसके लिये यह व्यवस्था की गयी कि जब राष्ट्रसंघ के किन्हीं सदस्य-राज्यों में झगड़ों का कोई कारण उपस्थित हो, तो उसे राष्ट्रसंघ की कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत किया जाए, और राष्ट्रसंघ ऐसे झगड़ों का जो निर्णय करे वह दोनों पक्षों को मान्य हो। जो पक्ष राष्ट्रसंघ के निर्णय से स्वीकार करने को उद्यत हो, अन्य सब सदस्य-राज्य उसकी सहायता करें। जो पक्ष राष्ट्रसंघ के निर्णय को मानने को उद्यत न हो, उसके विरुद्ध कार्यवाही करने की भी व्यवस्था की गयी। यह कार्यवाही प्रधानतया आर्थिक बहिष्कार के रूप में थी। सदस्य-राज्यों से यह अनुरोध किया जाता था, कि वे राष्ट्रसंघ के निर्णय को न मानने वाले राज्य के साथ व्यापार का व कोई अन्य आर्थिक सम्बन्ध न रखें। यदि आर्थिक बहिष्कार उस राज्य को वश में लाने में अपर्याप्त सिद्ध हो, तो राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य-राज्यों को उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग करने के लिये भी कहा जा सकता था। उस राज्य को वश में लाने के लिये जिस स्थल, जल व वायुसेना की आवश्यकता हो, उस में सब सदस्य-राज्य हिस्सा बटाएँ—यह भी उनसे कहा जाता था। यदि कोई भी ऐसा राज्य संसार की शान्ति में बाधक हो, जो राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, तो उसके विरुद्ध भी संघ के सदस्य-राज्य इन दोनों (आर्थिक बहिष्कार और शस्त्रशक्ति) उपायों का प्रयोग कर सकते थे। राष्ट्रसंघ द्वारा ऐसी व्यवस्थाएँ की गयी थीं, जिनके कारण सदस्य-राज्यों के युद्ध छेड़ने के अधिकार को नियन्त्रित किया जा

सकता था, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय शान्तिमय उपायों द्वारा कर सकना सम्भव था, और किसी राज्य द्वारा राष्ट्रसंघ के आदेशों का अतिक्रमण करने की दशा में उसके विरुद्ध आर्थिक व सैनिक कार्यवाइयाँ की जा सकती थीं।

राष्ट्रसंघ के इकरार (Covenant) के अनुसार प्रत्येक सदस्य-राज्य ने कतिपय जिम्मेवारियों को स्वीकार किया था, और इन जिम्मेवारियों की संख्या ३४ थी। इनमें से १६ का सम्बन्ध विश्व में शान्ति को कायम रखने के साथ था। राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों ने यह जिम्मा लिया था, कि वे सब सदस्य-राज्यों की राजनीतिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय सीमाओं को अक्षुण्ण रखेंगे। यदि कोई राज्य इसका अतिक्रमण करे, तो उसके विरुद्ध जो कार्यवाही की जानी हो, उसका निर्णय सर्वसम्मति से किया जाता था, जिसके कारण किसी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्य राज्य का आर्थिक बहिष्कार करने या उसके खिलाफ सैन्यशक्ति का प्रयोग करने के लिये विवश नहीं किया जा सकता था। यदि संसार में कहीं लड़ाई शुरू हो जाए या लड़ाई छिड़ जाने को सम्भावना हो, चाहे इस लड़ाई या लड़ाई की सम्भावना का संघ के किसी भी सदस्य-राज्य के साथ सम्बन्ध न हो, तो भी प्रत्येक सदस्य-राज्य को यह अधिकार था कि वह इस मामले को एसेम्बली या कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इस प्रकार प्रस्तुत किये गये मामलों का निर्णय करने के तीन ढंग थे—पंच निर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय और संघ की कौंसिल द्वारा की गयी जाँच।

ऑलैण्ड द्वीपों का मामला—इसमें सन्देह नहीं, कि विश्व में शान्ति-स्थापना के कार्य में राष्ट्रसंघ को अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में सफलता प्राप्त हुई। विशेषतया, छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटा सकने में वह सफल हुआ। जिन मामलों को उस के द्वारा सफलतापूर्वक निबटाया गया, उनकी संख्या चालीस थी। इनमें पहला मामला आलैण्ड द्वीपों के सम्बन्ध में था। ये द्वीप स्वीडन और फिनलैण्ड के बीच में स्थित हैं, और बोथ्निया की खाड़ी को जाने का जलमार्ग इन्हीं के समीप से होकर जाता है। १९१७ तक ये द्वीप रूस के अधीन थे, पर जब फिनलैण्ड रूस की अधीनता से मुक्त हो गया, तो इन द्वीपों पर भी उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पर आलैण्ड द्वीपों के बहुसंख्यक निवासी स्वीडिश जाति के थे, अतः उनमें फिनलैण्ड की अधीनता से मुक्त हो कर स्वीडन के राज्यक्षेत्र में सम्मिलित हो जाने का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। फिनलैण्ड इस आन्दोलन को नहीं सह सका, और उसने इसका दमन करने के लिये एक सेना भेज दी। १९२० में यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत हुआ, और उसकी कौंसिल ने अपना निर्णय फिनलैण्ड के पक्ष में दिया, और उसे दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि फिनलैण्ड और स्वीडन दोनों ही उस समय में राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे, पर फिर भी ग्रेट ब्रिटेन ने इस मामले को राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया था। इसका निबटारा करने के लिये जो कमीशन राष्ट्रसंघ ने नियत किया था, उसमें बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के एक-एक सदस्य लिये गये थे। आलैण्ड द्वीपों

पर फिनलैण्ड के प्रभुत्व को स्वीकार करते हुए राष्ट्रसंघ ने यह व्यवस्था भी की थी, कि इन द्वीपों में स्वायत्त शासन स्थापित किया जाए, और वहाँ के स्वीडिश निवासियों को अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त रहे।

ग्रीस और बल्गारिया का मामला—१९२५ में ग्रीस और बल्गारिया में झगड़ा प्रारम्भ हुआ। इसका कारण सीमा सम्बन्धी विवाद था। दो ग्रीक सन्तरियों की हत्या को निमित्त बना कर ग्रीक सेना ने बल्गारिया पर हमला कर दिया। इस पर बल्गारिया ने राष्ट्रसंघ की कौंसिल के समक्ष ग्रीस की शिकायत पेश की, और कौंसिल ने दोनों राज्यों को यह आदेश दिया, कि वे अपनी-अपनी सेनाएँ सीमावर्ती प्रदेशों से वापस हटा लें। ग्रीस और बल्गारिया कौंसिल के आदेश का भलीभाँति पालन कर रहे हैं या नहीं इसकी देख-रेख करने के लिये सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी, जो फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और इटली से लिये गये थे। ग्रीस कौंसिल के आदेशों को मानने के लिये उद्यत नहीं हुआ। इस पर उसे आर्थिक बहिष्कार की धमकी दी गयी, और उसे युद्ध बन्द करने के लिये विवश किया गया। लड़ाई के समाप्त हो जाने पर राष्ट्रसंघ द्वारा पाँच व्यक्तियों का एक कमीशन मामले की जाँच के लिये नियुक्त किया गया। कमीशन ने ग्रीस को अपराधी ठहराया, और उसके हमले से जो क्षति बल्गारिया को पहुँची थी, उसकी पूर्ति करने के लिये ग्रीस को विवश किया।

मोसल का मामला—तुर्की और ईरान के सीमा-सम्बन्धी विवाद का निबटारा करने में भी राष्ट्रसंघ को सफलता हुई। सेव्र की सन्धि के अनुसार ईराक का प्रदेश राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ग्रेट ब्रिटेन को शासन के लिये दिया गया था। पर ईराक और तुर्की के मध्य की सीमा का प्रश्न विवादग्रस्त था। लोजान की सन्धि (१९२३) द्वारा यह तय किया गया था, कि यह सीमा ब्रिटेन और तुर्की परस्पर बात-चीत द्वारा निर्धारित करेंगे। पर यदि ये राज्य नौ मास के अन्दर-अन्दर इसे निर्धारित न कर सकें, तो यह मामला राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सुपुर्द कर दिया जायगा। तुर्की और ब्रिटेन में विवाद का प्रधान विषय मोसल प्रान्त के सम्बन्ध में था। महायुद्ध के दौरान में इस प्रान्त के दक्षिणी एक तिहाई भाग पर ब्रिटेन ने कब्जा कर लिया था, और बाद में उसकी सेनाएँ ९५ मील और उत्तर की ओर बढ़ गयी थीं। ब्रिटेन का दावा था, कि मोसल का सम्पूर्ण प्रान्त उसे प्राप्त होना चाहिये, और ईराक के समान इस पर भी उसका शासन रहना चाहिये। जब तुर्की और ब्रिटेन परस्पर बात-चीत द्वारा मोसल के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके, तो यह मामला राष्ट्रसंघ के सुपुर्द कर दिया गया (६ अगस्त, १९२४)। कौंसिल ने इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया, और सामयिक रूप से एक सीमा निर्धारित कर दी। तुर्की और ब्रिटेन दोनों को यह आदेश दिया गया, कि वे अपने-अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखें। स्थायी रूप से सीमा को निर्धारित करने के लिये कौंसिल ने अपने प्रयत्न को जारी रखा, पर तुर्की और ब्रिटेन के झगड़े को निबटाने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

सकता था, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय शान्तिमय उपायों द्वारा कर सकना सम्भव था, और किसी राज्य द्वारा राष्ट्रसंघ के आदेशों का अतिक्रमण करने की दशा में उसके विरुद्ध आर्थिक व सैनिक कार्यवाइयाँ की जा सकती थीं।

राष्ट्रसंघ के इक़रार (Covenant) के अनुसार प्रत्येक सदस्य-राज्य ने कतिपय जिम्मेवारियों को स्वीकार किया था, और इन जिम्मेवारियों की संख्या ३४ थी। इनमें से १६ का सम्बन्ध विश्व में शान्ति को कायम रखने के साथ था। राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों ने यह जिम्मा लिया था, कि वे सब सदस्य-राज्यों की राजनीतिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय सीमाओं को अक्षुण्ण रखेंगे। यदि कोई राज्य इसका अतिक्रमण करे, तो उसके विरुद्ध जो कार्यवाही की जानी हो, उसका निर्णय सर्वसम्मति से किया जाता था, जिसके कारण किसी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्य राज्य का आर्थिक बहिष्कार करने या उसके खिलाफ सैन्यशक्ति का प्रयोग करने के लिये विवश नहीं किया जा सकता था। यदि संसार में कहीं लड़ाई शुरू हो जाए या लड़ाई छिड़ जाने की सम्भावना हो, चाहे इस लड़ाई या लड़ाई की सम्भावना का संघ के किसी भी सदस्य-राज्य के साथ सम्बन्ध न हो, तो भी प्रत्येक सदस्य-राज्य को यह अधिकार था कि वह इस मामले को एसेम्बली या कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इस प्रकार प्रस्तुत किये गये मामलों का निर्णय करने के तीन ढंग थे—पंच निर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय और संघ की कौंसिल द्वारा की गयी जाँच।

ओलैण्ड द्वीपों का मामला—इसमें सन्देह नहीं, कि विश्व में शान्ति-स्थापना के कार्य में राष्ट्रसंघ को अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में सफलता प्राप्त हुई। विशेषतया, छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटा सकने में वह सफल हुआ। जिन मामलों को उस के द्वारा सफलतापूर्वक निबटाया गया, उनकी संख्या चालीस थी। इनमें पहला मामला आलैण्ड द्वीपों के सम्बन्ध में था। ये द्वीप स्वीडन और फिनलैण्ड के बीच में स्थित हैं, और बोथ्निया की खाड़ी को जाने का जलमार्ग इन्हीं के समीप से होकर जाता है। १९१७ तक ये द्वीप रूस के अधीन थे, पर जब फिनलैण्ड रूस की अधीनता से मुक्त हो गया, तो इन द्वीपों पर भी उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पर आलैण्ड द्वीपों के बहुसंख्यक निवासी स्वीडिश जाति के थे, अतः उनमें फिनलैण्ड की अधीनता से मुक्त हो कर स्वीडन के राज्यक्षेत्र में सम्मिलित हो जाने का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। फिनलैण्ड इस आन्दोलन को नहीं सह सका, और उसने इसका दमन करने के लिये एक सेना भेज दी। १९२० में यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत हुआ, और उसकी कौंसिल ने अपना निर्णय फिनलैण्ड के पक्ष में दिया, और उसे दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि फिनलैण्ड और स्वीडन दोनों ही उस समय में राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे, पर फिर भी ग्रेट ब्रिटेन ने इस मामले को राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया था। इसका निबटारा करने के लिये जो कमीशन राष्ट्रसंघ ने नियत किया था, उसमें बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के एक-एक सदस्य लिये गये थे। आलैण्ड द्वीपों

पर फिनलैण्ड के प्रभुत्त्व को स्वीकार करते हुए राष्ट्रसंघ नें यह व्यवस्था भी की थी, कि इन द्वीपों में स्वायत्त शासन स्थापित किया जाए, और वहाँ के स्वीडिश निवासियों को अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त रहे।

ग्रीस और बल्गारिया का मामला—१९२५ में ग्रीस और बल्गारिया में झगड़ा प्रारम्भ हुआ। इसका कारण सीमा सम्बन्धी विवाद था। दो ग्रीक सन्तरियों की हत्या को निमित्त बना कर ग्रीक सेना ने बल्गारिया पर हमला कर दिया। इस पर बल्गारिया ने राष्ट्रसंघ की कौंसिल के समक्ष ग्रीस की शिकायत पेश की, और कौंसिल ने दोनों राज्यों को यह आदेश दिया, कि वे अपनी-अपनी सेनाएँ सीमावर्ती प्रदेशों से वापस हटा लें। ग्रीस और बल्गारिया कौंसिल के आदेश का भलीभांति पालन कर रहे हैं या नहीं इसकी देख-रेख करने के लिये सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी, जो फ्रांस, ग्रेट, ब्रिटेन और इटली से लिये गये थे। ग्रीस कौंसिल के आदेशों को मानने के लिये उद्यत नहीं हुआ। इस पर उसे आर्थिक बहिष्कार की धमकी दी गयी, और उसे युद्ध बन्द करने के लिये विवश किया गया। लड़ाई के समाप्त हो जाने पर राष्ट्रसंघ द्वारा पाँच व्यक्तियों का एक कमीशन मामले को जाँच के लिये नियुक्त किया गया। कमीशन ने ग्रीस को अपराधी ठहराया, और उसके हमले से जो क्षति बल्गारिया को पहुँची थी, उसकी पूर्ति करने के लिये ग्रीस को विवश किया।

मोसल का मामला—तुर्की और ईरान के सीमा-सम्बन्धी विवाद का निबटारा करने में भी राष्ट्रसंघ को सफलता हुई। सेव्र की सन्धि के अनुसार ईराक का प्रदेश राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ग्रेट ब्रिटेन को शासन के लिये दिया गया था। पर ईराक और तुर्की के मध्य की सीमा का प्रश्न विवादग्रस्त था। लोजान की सन्धि (१९२३) द्वारा यह तय किया गया था, कि यह सीमा ब्रिटेन और तुर्की परस्पर बात-चीत द्वारा निर्धारित करेंगे। पर यदि ये राज्य नौ मास के अन्दर-अन्दर इसे निर्धारित न कर सकें, तो यह मामला राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सुपुर्द कर दिया जायगा। तुर्की और ब्रिटेन में विवाद का प्रधान विषय मोसल प्रान्त के सम्बन्ध में था। महायुद्ध के दौरान में इस प्रान्त के दक्षिणी एक तिहाई भाग पर ब्रिटेन ने कब्जा कर लिया था, और बाद में उसकी सेनाएँ ९५ मील और उत्तर को ओर बढ़ गयी थीं। ब्रिटेन का दावा था, कि मोसल का सम्पूर्ण प्रान्त उसे प्राप्त होना चाहिये, और ईराक के समान इस पर भी उसका शासन रहना चाहिये। जब तुर्की और ब्रिटेन परस्पर बात-चीत द्वारा मोसल के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके, तो यह मामला राष्ट्रसंघ के सुपुर्द कर दिया गया (६ अगस्त, १९२४)। कौंसिल ने इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया, और सामयिक रूप से एक सीमा निर्धारित कर दी। तुर्की और ब्रिटेन दोनों को यह आदेश दिया गया, कि वे अपने-अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखें। स्थायी रूप से सीमा को निर्धारित करने के लिये कौंसिल ने अपने प्रयत्न को जारी रखा, पर तुर्की और ब्रिटेन के झगड़े को निबटाने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

अन्त में सामयिक सीमा को ही स्थायी रूप से स्वीकार कर लिया गया, जिससे तुर्की बहुत असन्तुष्ट हुआ। कौंसिल के इस निर्णय से प्रायः सारा मोसल प्रान्त ब्रिटेन को प्राप्त हो गया था।

कोलम्बिया और पेरू का मामला—१९३२ में कोलम्बिया और पेरू में झगड़ा हुआ। पेरू की सेनाओं ने कोलम्बिया की सीमा पर स्थित एक नगर पर कब्जा कर लिया था। राष्ट्रसंघ ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। यह नगर कोलम्बिया को वापस दिला दिया गया, और पेरू ने अपनी अनुचित हरकत के लिये बाकायदा क्षमाप्रार्थना की।

संघ द्वारा अनिर्णीत मामले—इसी प्रकार के अन्य भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का राष्ट्रसंघ द्वारा निर्णय किया गया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि इन विवादों में दोनों पक्षों के राज्य छोटे-छोटे थे। उनका यह साहस नहीं हो सकता था, कि वे राष्ट्रसंघ का विरोध कर सकें। यदि राष्ट्रसंघ बड़े राज्यों के झगड़ों को भी इसी प्रकार निबटा सकता, तो विश्वशान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या सदा के लिये हल हो जाती। पर जब कभी बड़े शक्तिशाली राज्यों में किसी प्रश्न पर झगड़ा हुआ, तो राष्ट्रसंघ ने अपने को असहाय पाया।

विल्ना का मामला—१९२३ में पोलैण्ड ने लिथुएनिया के प्रसिद्ध नगर विल्ना पर कब्जा कर लिया था। इस पर लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। पर फ्रांस पोलैण्ड की पीठ पर था। ब्रिटेन और इटली भी उसके खिलाफ कोई कार्यवाही करने के विरोधी थे। इस दशा में राष्ट्रसंघ की कौंसिल लिथुएनिया के प्रति न्याय करने में असमर्थ रही। उसने पोलैण्ड और लिथुएनिया की सीमा के सम्बन्ध में जो निर्णय किया, उसमें विल्ना नगर पर पोलैण्ड के आधिपत्य को स्वीकार किया गया, यद्यपि वहाँ बहुसंख्या लिथुएनियन लोगों की थी।

इटली और ग्रीस का मामला—१९२३ में ही इटली और ग्रीस में झगड़ा हुआ। अल्बानिया और ग्रीस की सीमा को निर्धारित करने के लिये राष्ट्र-संघ द्वारा एक कमीशन नियुक्त किया गया था, जिस के कतिपय सदस्य इटालियन थे। कुछ ग्रीक क्रान्तिकारियों ने उन की हत्या कर दी। इस पर इटली ने कॉर्फू के टापू पर हमला कर दिया, और ग्रीक सरकार से हरजाने की एक बड़ी रकम प्रदान करने की माँग की। इस पर ग्रीस ने राष्ट्र संघ से अपील की, पर इस मामले में इटली राष्ट्र संघ की कोई भी बात सुनने के लिए उद्यत नहीं हुआ। उस का कहना था कि यह इटली की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न है। उसने ग्रीस पर बम्ब वर्षा भी की, और कोर्फू पर अपने कब्जे को कायम रखा। आखिर, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने बीच में पड़ कर समझौता कराया। इटली ने उन के बीच-बचाव को इस लिये स्वीकार कर लिया, क्योंकि वे उस के समकक्ष राज्य थे। पर राष्ट्र संघ की बात मानने को वह तैयार नहीं हुआ।

बोलीविया और परागुए का मामला—दक्षिणी अमेरिका में बोलीविया और परागुये नामक दो राज्य हैं। चाको के प्रदेश के सम्बन्ध में इन राज्यों में झगड़ा था।

यह प्रदेश २८०० वर्गमील के लगभग है, और यद्यपि यह दलदलों में परिपूर्ण है पर यह समझा जाता था कि इस में तेल की सत्ता है। इसी लिए इस के सम्बन्ध में चिर काल से बोलीविया और परागुये में संघर्ष जारी था। दिसम्बर, १९२८ में इन राज्यों में लड़ाई शुरू हो गई, और ऐसा प्रतीत होने लगा कि शीघ्र ही वहाँ युद्ध की अग्नि भड़क उठेगी। यद्यपि किसी भी राज्य ने दक्षिणी अमेरिका के इस मामले को राष्ट्र-संघ के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया था, पर कौंसिल ने स्वयं ही इस पर विचार किया और बोलीविया तथा परागुये को यह स्मरण दिलाया कि संघ की सदस्यता के कारण विश्व में शान्ति स्थापित रखने और आपसी झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय न लेने की जो जिम्मेदारी उन्होंने स्वीकार की हुई है, उस का पालन उन्हें करना ही चाहिये। दोनों राज्यों ने यह बात स्वीकार कर ली, और अपने झगड़े को निबटाने का कार्य पंच निर्णय की सर्व-अमेरिकन कान्फरेन्स (Pan-American Conferance on Arbitration) के सुपुर्द कर दिया। पर इस कान्फरेन्स को अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इस पर राष्ट्र-संघ की कौंसिल द्वारा एक जाँच कमीशन चाको भेजा गया। साथ ही, कौंसिल ने यह भी व्यवस्था की, कि कोई राज्य इन दोनों देशों को अस्त्र-शस्त्र न भेजे। जाँच कमीशन ने जो रिपोर्ट तैयार की, उसे बोलीविया ने तो स्वीकार कर लिया, पर परागुये उसे स्वीकृत करने को उद्यत नहीं हुआ। इस पर राष्ट्र-संघ ने बोलीविया को अस्त्र-शस्त्र भेजने पर से प्रतिबन्ध हटा लिया, जिस से नाराज हो कर परागुये ने संघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। अनेक राज्यों ने भी संघ के आदेश का पालन नहीं किया, और परागुये कई देशों से अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करता रहा। इस स्थिति में राष्ट्र-संघ इस झगड़े से पृथक् हो गया, और दक्षिणी अमेरिका के इस विवाद का अन्त करने में वह सफलता प्राप्त नहीं कर सका। अन्त में इस झगड़े का निबटारा ब्राजील, अर्जन्टिना, पेरू, चिली और संयुक्त-राज्य अमेरिका द्वारा किया गया, और जून, १९३५ में बोलीविया तथा परागुये ने यह निश्चय किया कि वे समझौता करने के लिए बातचीत प्रारम्भ करें। तीन साल पश्चात् जुलाई, १९३८ में उन में सन्धि हो गयी, जिस के द्वारा चाको का बड़ा भाग परागुये ने प्राप्त किया। दक्षिणी अमेरिका के इस झगड़े का निबटारा करने में राष्ट्र-संघ को सफलता प्राप्त नहीं हुई, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उस का महत्त्व कम हो गया।

चीन-जापान में संघर्ष—मञ्चूरिया का प्रदेश चीन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस में जापान के पूँजीपतियों ने बहुत-सी पूँजी लगा रखी थी, और वह इस प्रदेश को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में ले आने के लिए प्रयत्नशील था। पर चीन में राष्ट्रीयता की भावना निरन्तर प्रबल होती जा रही थी, और वहाँ के निवासी यह नहीं चाहते थे कि जापान किसी भी प्रकार उन के अन्यतम प्रदेश में हस्तक्षेप करे। यह मामला इतना बढ़ा कि १९३१ में जापानी सेनाओं ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और उस की राजधानी मुकदन पर कब्ज़ा कर लिया। इस पर चीन ने राष्ट्र-संघ से अपील की।

३० सितम्बर, १९३१ के दिन राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया, कि जापान यथासम्भव शीघ्र अपनी सेनाएँ मुकदन से वापस बुला ले। किन्तु जापान इस के लिए उद्यत नहीं हुआ, और उसने मंचूरिया की विजय को जारी रखा। इस पर चीन ने एक बार फिर राष्ट्र-संघ से सहायता के लिए अपील की। कौंसिल की बैठक में फिर से इस प्रश्न पर विचार किया गया, और यह चाहा कि एक प्रस्ताव द्वारा जापान को यह आदेश दिया जाये कि वह १६ नवम्बर से पूर्व अपनी सेनाएँ मंचूरिया से हटा ले। पर जापान कौंसिल का स्थायी सदस्य था, और उसे कौंसिल के किसी भी निर्णय को वीटो कर देने का अधिकार था। जापान के विरोध के कारण यह प्रस्ताव कौंसिल में स्वीकृत नहीं हो सका। पर वह इस बात के लिए तैयार हो गया, कि मंचूरिया के सम्बन्ध में एक जाँच कमीशन की नियुक्ति की जाये। कौंसिल द्वारा इस के लिए जो कमीशन बनाया गया, उस के अध्यक्ष लार्ड लिटन थे। कमीशन अभी अपना कार्य कर ही रहा था, कि जापान ने सारे मंचूरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, और मंचूकुओ नाम से उसे एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह राज्य नाम को तो अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखता था, पर वस्तुतः जापान की अधीनता में था। मंचुकुओ राज्य की स्थापना १८ फरवरी, १९३२ के दिन की गयी थी। नवम्बर में लिटन कमीशन की रिपोर्ट भी तैयार हो गयी। कमीशन का विचार था, कि मंचूरिया चीन का अंग है, और उसे चीन के अन्तर्गत ही रहना चाहिए, यद्यपि उसे चीन के अन्तर्गत एक स्वायत्त राज्य की स्थिति प्राप्त होना समुचित होगा। लिटन कमीशन की रिपोर्ट पर राष्ट्र-संघ की एसेम्बली ने विचार किया, और उसे स्वीकृत कर लिया। संघ के ४४ सदस्य-राज्यों में से ४२ ने रिपोर्ट की स्वीकृति के पक्ष में वोट दिया था, जापान का वोट उस के विरुद्ध था, और सियाम तटस्थ रहा था। एसेम्बली के प्रस्ताव द्वारा सदस्य-राज्यों से यह भी अनुरोध किया गया था, कि वे मंचुकुओ राज्य की सत्ता को स्वीकार न करें। इस पर जापान राष्ट्र संघ से पृथक् हो गया। यदि इस अवसर पर राष्ट्र-संघ अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता, तो उसे पहले जापान का आर्थिक बहिष्कार करना चाहिए था, और यदि बहिष्कार द्वारा जापान काबू में न आता, तो उस के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की व्यवस्था करनी थी। पर राष्ट्र-संघ जापान जैसे शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध कदम उठाने में संकोच करता था।

बड़े एवं शक्तिशाली राज्यों के जो भी मामले राष्ट्र-संघ के समक्ष प्रस्तुत हुए, उन्हें निबटा सकने में वह सफलता नहीं प्राप्त कर सका। जब इटली ने अबीसीनिया को अधिगत करने के लिए उस पर आक्रमण किया (१९३४-३६) तब राष्ट्रसंघ इटली के विरुद्ध कोई ऐसी कार्यवाही नहीं कर सका, जिस द्वारा अबीसीनिया की स्वतन्त्रता की रक्षा हो सकती। स्पेन के गृह-युद्ध (१९३६-३९) में भी राष्ट्र-संघ को असफलता का सामना करना पड़ा। चीन और जापान के युद्ध (१९३७-४५) में भी राष्ट्र संघ कोई ऐसे पग नहीं उठा सका, जिस से इस युद्ध का अन्त किया जा सकता। वस्तुतः, इस

समय तक यह दशा आ गयी थी कि कोई भी राज्य केवल राष्ट्र संघ के भरोसे अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्त नहीं रह सकता था। राष्ट्र संघ के रूप में संसार ने अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पग अवश्य उठाया था, पर किसी भी राज्य को पूर्णतया यह भरोसा नहीं था, कि वह केवल राष्ट्र-संघ पर भरोसा कर के अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर सकता है। यही कारण है, कि विश्व के विविध राज्य अपनी सुरक्षा के लिए अन्य उपायों की तलाश में तत्पर हो गये। •अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण, स्पेन के गृह-युद्ध और चीन-जापान युद्ध पर हम इस ग्रन्थ में यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) राष्ट्र संघ के कार्य—मैन्डेट के अधीन राज्यों का शासन

जर्मनी और तुर्की के अधीन जो बहुत-से प्रदेश एशिया और अफ्रीका में थे, वर्साय्य और सेव्र की सन्धियों द्वारा उन का शासन राष्ट्रसंघ के सुपुर्द किया गया था। मित्र पक्ष के राज्यों का यह विचार था, कि ये प्रदेश अभी स्वशासन के योग्य नहीं हुए हैं, शिक्षा, औद्योगिक उन्नति आदि के दृष्टि से ये बहुत पिछड़े हुए हैं, और उन्नत देशों का यह कर्तव्य है कि इन्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर होने में सहायता करें। इसी लिए राष्ट्र संघ ने इन्हें विविध मित्र-राज्यों के सुपुर्द कर दिया था, जो संघ के मैन्डेट (आदेश) के अधीन इन पर शासन करते थे। राजनीतिक विकास, भौगोलिक स्थिति और आर्थिक उन्नति की दशा को दृष्टि में रख कर इन प्रदेशों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया था—(१) 'ए' वर्ग के प्रदेश—इन में ईराक, पैलेस्टाइन, ट्रांस-जोर्डन, सीरिया और लेबेनान के प्रदेश अन्तर्गत थे। ये सब पहले तुर्की के अधीन थे। इन के सम्बन्ध में यह समझा गया था, कि ये विकास की इस दशा तक पहुँच गये हैं कि इन्हें पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, यद्यपि अभी कुछ समय के लिये इन पर नियन्त्रण रखने और शासन कार्य में परामर्श एवं सहायता देने की आवश्यकता है। (२) 'बी' वर्ग के प्रदेश—मध्य अफ्रीका में जर्मनी की अधीनता में जो अनेक प्रदेश थे, उन्हें इस वर्ग में रखा गया था। इन्हें इस योग्य नहीं समझा गया, कि ये अपना शासन स्वयं कर सकें। अतः इन्हें पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के रूप में परिणत नहीं किया गया, और इन के विषय में यह निश्चय किया गया कि इन्हें मित्र राज्यों के शासन में रखा जाये। (३) 'सी' वर्ग के प्रदेश—दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका में भी कतिपय प्रदेश जर्मनी की अधीनता में थे, और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर भी जर्मनी का कब्जा था। इन में या तो आबादी बहुत कम थी, और या ये द्वीप बहुत छोटे-छोटे थे। भौगोलिक दृष्टि से इन द्वीपों की जो स्थिति थी, उस के कारण सभ्य एवं उन्नत संसार के साथ इन का सम्बन्ध भी बहुत कम था। इन के विषय में यह समझा गया, कि पृथक् राज्य के रूप में इन की सत्ता सम्भव ही नहीं है। अतः इन का शासन भी ऐसे मित्र-राज्यों को देने का निश्चय किया गया, जो भौगोलिक दृष्टि से इन के समीप हों और इन के सुशासन तथा

उन्नति पर समुचित ध्यान दे सकें। इन तीनों वर्गों के प्रदेशों को जिन राज्यों को शासन के लिए दिया गया था, उन के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रतिवर्ष इन के शासन की रिपोर्ट राष्ट्र-संघ की सेवा में भेजते रहें। राष्ट्र-संघ इन के शासन पर अपना निरीक्षण रख सके, इस प्रयोजन से १९२० का अन्त होने से पूर्व ही एक स्थायी मैन्डेट्स कमीशन (Permanent Mandates' Commission) का भी संगठन कर दिया गया था, जिस के ११ सदस्य होते थे।

राष्ट्र-संघ के संविधान में उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया गया था, जिन के अनुसार जर्मनी और तुर्की की अधीनता से मुक्त हुए प्रदेशों का वर्गीकरण किया जाना था और जिन के अनुसार उन का शासन संघ के मैन्डेट के अधीन विविध राज्यों को प्रदान किया जाना था। पर कौन-से प्रदेशों को किस वर्ग में रखा जाये, और शासन के लिए उन्हें किन राज्यों के सुपुर्द किया जाये, इस का निर्धारण बाद में किया गया। 'ए' वर्ग के प्रदेशों में से ईराक, पैलेस्टाइन और ट्रांस-जोर्डन को ब्रिटेन के मैन्डेट में रखा गया, और सीरिया तथा लेबनान को फ्रांस के। 'सी' वर्ग के प्रदेशों में टाँगनीका (जर्मन ईस्ट अफ्रीका), टोगोलैण्ड का एक तिहाई भाग और कैमेरुन का एक छोटा भाग ब्रिटेन के सुपुर्द किये गये, और रुआन्डा-उरुण्डी बेल्जियम को प्रदान किया गया। टोगोलैण्ड का ५/६ भाग और कैमरून का २/३ भाग फ्रांस के शासन में दिया गया। 'सी' वर्ग के प्रदेशों में जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका दक्षिणी अफ्रीका के ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य को दिया गया, समोआ द्वीप (प्रशान्त महासागर में) न्यूजीलैण्ड को मिला, और नोरू द्वीप-समूह ब्रिटेन को। इन के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में जर्मनी की अधीनता में जो बहुत-से छोटे-छोटे द्वीप थे, उन के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी कि जिन द्वीपों की स्थिति भूमध्य रेखा के दक्षिण में है, उन्हें आस्ट्रेलिया को प्रदान किया जाये और जो भूमध्य रेखा के उत्तर में हैं, वे जापान को।

मैन्डेट द्वारा शासित राज्यों में 'ए' वर्ग के प्रदेश सब से अधिक उन्नत थे। इन में प्रधानतया अरब लोगों का निवास था। महायुद्ध के समय में मित्र पक्ष के राज्य यह प्रतिपादित कर रहे थे, कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के उदात्त सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिये ही वे रणक्षेत्र में उतरे हैं। इस में सन्देह नहीं, कि तुर्क साम्राज्य राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत था, और अरबों पर तुर्की सुलतान के शासन को न्यायोचित नहीं कहा जा सकता था। अरबों की आशा थी, कि महायुद्ध की समाप्ति पर उन्हें अपने स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य को स्थापित करने का अवसर मिलेगा। पर राष्ट्र-संघ द्वारा उन का शासन फ्रांस और ब्रिटेन के सुपुर्द कर दिया गया था। इस से उन में बहुत असन्तोष हुआ, और वे अपने नये शासकों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर हो गये। ईराक में तो राष्ट्र-संघ के अधीन ब्रिटेन का शासन क्रियान्वित हो ही नहीं सका। १९२२, १९२६ और १९३० में ब्रिटेन ने ईराक के साथ ऐसी सन्धियाँ कीं, जिन के परिणाम-स्वरूप इस राज्य की स्थिति मेन्डेटरी राज्य की न रह कर संरक्षित राज्य (Protecto-

rate) की हो गई, और वहाँ फैज़ल प्रथम का शासन स्थापित हुआ।

मैन्डेट के अधीन राज्यों के शासन की वार्षिक रिपोर्ट स्थायो मैन्डेट्स कमीशन के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। वहाँ इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया जाता था कि शासन राष्ट्र संघ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल हैं या नहीं, और उस द्वारा वहाँ की जनता का किस अंश तक हित व कल्याण सम्पन्न हो रहा है। कमीशन अपने विचार अपनी सिफारिशों के साथ राष्ट्र-संघ की कौंसिल के समक्ष उपस्थित करता था। कौंसिल को ही यह अधिकार था, कि वह इन राज्यों के सम्बन्ध में कोई आदेश दे सके। कमीशन के सदस्य न मैन्डेटरी प्रदेश में जा कर स्वयं वहाँ की दशा देख सकते थे, और न उन के सम्मुख वहाँ के निवासियों द्वारा अपनी शिकायतें ही पेश की जा सकती थीं। इस कारण कमीशन की कोई विशेष उपयोगिता नहीं थो। क्रियात्मक दृष्टि से ये प्रदेश उन शक्तिशाली राज्यों के साम्राज्यों के अंग रूप हो गये थे, जिन्हें कि राष्ट्र-संघ ने इन का शासन सुपुर्द किया हुआ था। पर मैन्डेट की पद्धति से यह लाभ अवश्य हुआ, कि संसार के लोकमत को इन प्रदेशों के शासन के सम्बन्ध में अपने विचार बनाने का अवसर प्राप्त हो गया। ब्रिटेन, फ्रांस आदि शक्तिशाली राज्य इन का मनमाने ढंग से शोषण कर सकने में असमर्थ रहे, और राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य उनके शासन पर निरीक्षण रख सके। मेण्डेटरी राज्य पिछड़े हुए प्रदेशों के ट्रस्टी हैं, यह एक नया सिद्धान्त था, और इस द्वारा विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नये तत्त्व का अवश्य प्रवेश हुआ।

(६) राष्ट्रसंघ के अन्य कार्य

कतिपय प्रदेशों का शासन—वर्साय्य की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी, कि जर्मनी के सार प्रदेश और डान्ट्सिग नगर का शासन राष्ट्रसंघ के हाथों में रहे। इसके अनुसार सार का शासन करने के लिए एक कमीशन की नियुक्त की गयी, जिस के पाँच सदस्य थे (२५ फरवरी, १९२०)। इन पाँच सदस्यों में एक फ्रेञ्च था, एक सार का निवासी था और शेष तीन ऐसे व्यक्ति थे जो न फ्रेञ्च थे और न जर्मन। इन की नियुक्ति एक साल के लिए की गयी थी, पर साल की समाप्ति पर उनकी सदस्यता को अगले साल के लिए बढ़ाया जा सकता था। कमीशन के अध्यक्ष-पद पर विक्टर रॉल (Victor Rault) को नियत किया गया था, जो फ्रांस के प्रतिनिधि थे। सार के निवासियों में से अल्फ्रेड फॉन बोश को कमीशन में लिया गया था, और इनके अतिरिक्त जो तीन अन्य सदस्य थे, वे क्रमशः बेल्जियम, डेन्मार्क और कनाडा के थे। सार प्रदेश के सब निवासी जर्मन थे, और वस्तुतः वह जर्मनी का ही अंग था। पर वर्साय्य की सन्धि द्वारा आर्थिक दृष्टि से उसे फ्रांस के साथ जोड़ दिया गया था। वहाँ फ्रेञ्च सिक्के चलते थे, उसकी कोयले की खानों का प्रबन्ध फ्रेञ्च लोगों के हाथों में था, और उसका कोयला फ्रेञ्च कारखानों के काम में लाया जाता था। सार की कोयले की खानों में काम करने

के लिए बहुत से फ्रेंच लोग सपरिवार वहाँ पहुँच गये थे, और उनके बच्चों की शिक्षा के लिए वहाँ ऐसे स्कूल खोल दिये गये थे जिनमें सब शिक्षा फ्रेंच भाषा में दी जाती थी। फ्रांस का यह प्रयत्न था, कि जर्मन बच्चे भी इन स्कूलों में प्रविष्ट हों, और धीरे-धीरे सार के प्रदेश को फ्रेंच प्रभाव में ले आया जाये, ताकि १५ साल बाद १९३५ में जब वहाँ लोकमत लिया जाये, तो वहाँ के बहुसंख्यक निवासियों के वोट सार को फ्रांस के साथ रखने के पक्ष में प्राप्त हो सकें। राष्ट्रसंघ द्वारा जो कमीशन सार के शासन के लिए नियुक्त किया गया था, उसमें फ्रेंच लोगों का जोर था। उसका अध्यक्ष फ्रेंच था, और बेल्जियम का जो नागरिक उसका सदस्य नियत किया गया था, उसकी भाषा भी फ्रेंच थी। डेन्मार्क का प्रतिनिधि चिरकाल से पेरिस का निवासी था, और स्वाभाविक रूप से उसकी सहानुभूति फ्रांस के साथ थी। कनाडा से भी एक फ्रेंच भाषा भाषी व्यक्ति ही कमीशन में लिया गया था। इस दशा में फ्रांस के लिए अपनी नीति को क्रियान्वित कर सकना जरा भी कठिन नहीं था। कमीशन की नीति से परेशान हो कर फॉन वाश ने त्यागपत्र दे दिया, और उनके स्थान पर जो सार निवासी व्यक्ति कमीशन का सदस्य बनाया गया, वह फ्रांस का विरोध करने का साहस नहीं कर सका।

सार के निवासियों में कमीशन की नीति के कारण जो असन्तोष उत्पन्न हो रहा था, उसका दमन करने के लिए यह आज्ञा जारी की गयी, कि जनता को गुमराह करने और शान्ति को भंग करने के यदि कोई प्रयत्न किये गये, तो उनका पूर्ण निर्भयता के साथ दमन किया जायगा, और किसी भी प्रकार की हिंसा, षड्यन्त्र व सत्याग्रह को सहन नहीं किया जायगा। वर्साय्य की सन्धि द्वारा कमीशन को इतनी शक्ति दे दी गयी थी, कि किसी भी उग्र एवं हिंसात्मक प्रतिरोध की परवाह किये बिना वह अपने कार्य को सम्पन्न कर सके। राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त सार-कमीशन का शासन वस्तुतः फ्रांस का ही शासन था। इसीलिए कमीशन के शासन से सार के जर्मन निवासियों में बहुत अधिक असन्तोष था। अनेक बार उन्होंने संघ की कौंसिल के सम्मुख अपनी शिकायतों को पेश करने का प्रयत्न किया, पर वे अपनी शिकायतों को सीधे कौंसिल की सेवा में नहीं भेज सकते थे। यह आवश्यक था, कि वे अपनी शिकायतों को कमीशन द्वारा ही प्रस्तुत करें। इसका परिणाम यह होता था, कि सार के निवासी समुचित न्याय प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं हो पाते थे। संघ की कौंसिल प्रायः कमीशन का ही समर्थन किया करती थी। इसी कारण कई बार सार में विद्रोह भी हुए, जिन्हें फ्रेंच सेनाओं ने कुचल दिया।

१९३५ में जब सार में लोकमत लेने का समय आया, तब तक जर्मनी राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कर चुका था, और वहाँ नाजी दल का भी भलीभाँति उत्कर्ष हो गया था। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में राष्ट्रीय भावना उग्र रूप धारण कर चुकी थी, और वहाँ का शासन भी नाजियों के हाथों में आ गया था। यूरोप के सब जर्मन लोग राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर विशाल एवं शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र की स्थापना के

लिए कटिबद्ध थे। लोकमत शान्तिपूर्वक लिया जा सकेगा, इसकी कोई सम्भावना नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि ३००० सैनिकों की एक सेना राष्ट्रसंघ की ओर से सार में भेज दी गयी। इस सेना में ब्रिटिश, इटालियन, स्वीडिश और डच सैनिक थे। जर्मन लोगों की दृष्टि में इस लोकमत का इतना अधिक महत्त्व था, कि सार के जो जर्मन-निवासी महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जर्मनी, फ्रांस और अमेरिकन महाद्वीप में जा बसे थे, वे भी अपने वोट देने के लिए सार आये। लोकमत लेने से पूर्व दिसम्बर, १९३४ में ही यह भी तय कर लिया गया कि यदि सार का लोकमत जर्मनी के पक्ष में हुआ, तो ९०,००,००,००० फ्रान्क सार में फ्रेंच दावों को पूरा करने के लिये फ्रांस को प्रदान कराये जायेंगे। लोकमत लेने पर सार के निवासियों ने बहुत बड़ी संख्या में जर्मनी के पक्ष में वोट दिया। ९० प्रतिशत वोट (कुल वोटों की संख्या ५,२५,००० थी) जर्मनी के पक्ष में आये, ४६,५०० वोट संघ के शासन को जारी रखने के पक्ष में आये, और केवल २१०० वोट फ्रांस के पक्ष में प्राप्त हुए। परिणाम यह हुआ, कि १ मार्च, १९३५ को सार का प्रदेश जर्मनी के अन्तर्गत कर दिया गया।

वर्साय्य की सन्धि द्वारा डान्ट्सिग को एक स्वतन्त्र नगर बना दिया गया था, जिसका शासन राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर के सुपुर्द था, और उसकी आर्थिक व्यवस्था पोलैण्ड के हाथों में थी। यद्यपि डान्ट्सिग के सब निवासी जर्मन थे और उस का जर्मनी के अन्तर्गत रहना ही समुचित था, पर यह व्यवस्था केवल इस प्रयोजन से की गयी थी, कि पोलैण्ड का समुद्रतट के साथ सम्बन्ध रहे और उसे अपने सामुद्रिक व्यापार के लिए एक बन्दरगाह भी प्राप्त हो जाये। पर क्योंकि डान्ट्सिग की स्थिति एक स्वतन्त्र नगर की थी, अतः स्वशासन के लिए वहाँ एक संविधान का भी निर्माण किया गया था, जिसके अनुसार वहाँ एक लोकसभा (Volkstag) और एक सीनेट का भी संगठन कर दिया गया था। डान्ट्सिग के स्वतन्त्र नगरकी विधायिका शक्ति इन विधान सभाओं के हाथों में थी, और शासनशक्ति राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर के। यदि किसी प्रश्न पर डान्ट्सिग के शासन और पोलैण्ड में विवाद हो, तो उसका निर्णय हाई कमिश्नर द्वारा किया जाता था, यद्यपि दोनों पक्षों को संघ की कौंसिल के समक्ष उसके निर्णय के विरुद्ध अपील करने का अधिकार दिया गया था। वर्साय्य की सन्धि द्वारा यह भी व्यवस्था कर दी गयी थी, कि डान्ट्सिग के वैदेशिक सम्बन्धों का निर्धारण पोलैण्ड द्वारा किया जाया करे, और यह स्वतन्त्र नगर अपने क्षेत्र में आने-जाने वाले माल पर जो आयात कर व निर्यात-कर लगाये, उन पर भी पोलैण्ड का नियन्त्रण रहे। आयात-निर्यात करों के निर्धारण के लिए एक बोर्ड की स्थापना की गयी थी, जिस के ११ सदस्य थे। इन में से ५ डान्ट्सिग के प्रतिनिधि होते थे, ५ पोलैण्ड के, और एक तटस्थ राज्य का व्यक्ति जो बोर्ड का अध्यक्ष भी होता था। डान्ट्सिग को यह अधिकार नहीं दिया गया था, कि वह अपने क्षेत्र में कोई सैनिक या नाविक अड्डे बना सके। इस नगरी के शासन की स्थिति यह थी, कि उसका आर्थिक एवं वैदेशिक

जीवन पोलैण्ड के नियन्त्रण में था, यद्यपि आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में वह स्वतन्त्र स्थिति रखता था।

यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि डान्ट्सिग और पोलैण्ड के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो। बात-बात पर उनमें मतभेद और झगड़े होते रहते थे, और उनका निबटारा राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर को करना होता था। दिसम्बर, १९२७ तक संघ की कौंसिल की एक भी ऐसी बैठक नहीं हुई, जिसके एजेण्डा में डान्ट्सिग का कोई न कोई मामला विचारार्थ न रखा गया हो। कतिपय मामलों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख भी निर्णयार्थ प्रस्तुत किया गया। इन विवादों का प्रधान कारण यह था, कि कौन-सी बातें राजनीतिक होने के कारण डान्ट्सिग के स्वतन्त्र नगर के शासन-क्षेत्र में हैं, और कौन-सी आर्थिक नीति के साथ सम्बन्ध रखने के कारण पोलैण्ड के अधिकार-क्षेत्र में हैं, यह निर्धारित कर सकना बहुत कठिन था। डान्ट्सिग के जर्मन निवासियों के लिए यह भी असह्य था, कि एक विदेशी राज्य उनके शासन एवं नीति-निर्धारण में कोई भी दखल दे। अपने सामुद्रिक व्यापार में डान्ट्सिग के स्वायत्त शासन द्वारा किसी प्रकार की बाधा प्रस्तुत किये जाने की सम्भावना न रहे, इस बात को दृष्टि में रख कर पोलैण्ड ने यह निश्चय किया, कि डान्ट्सिग के उत्तर-पश्चिम में कुछ मील की दूरी पर ग्डिनिया (Gdynia) नाम से एक नये बन्दरगाह का विकास किया जाये। फ्रेंच पूँजीपतियों ने इस योजना में पोलैण्ड की सहायता की। १९२० में ग्डिनिया में मछियारों की कुछ झोपड़ियों की ही सत्ता थी। पर १९३४ तक वहाँ एक समृद्ध नगर का विकास हो गया, जिसकी जनसंख्या ५०,००० से भी अधिक थी। पोलैण्ड ने यहाँ जो नया बन्दरगाह बनाया, उसमें १९३० तक २२०० से भी अधिक जहाज माल लाने और ले जाने का काम करने लगे। १९३३ में २३ राज्यों के ७२०० जहाजों ने (जिनका वजन ५६, ७०,००० टन था) इस बन्दरगाह का उपयोग किया। १९३३ तक यह स्थिति आ गयी थी, कि ग्निडिया का सामुद्रिक व्यापार डान्ट्सिग के व्यापार से भी अधिक हो गया था। यह स्वाभाविक था, कि डान्ट्सिग के स्वतन्त्र नगर की सरकार इस स्थिति से चिन्ता अनुभव करे। इस बीच में जर्मनी में हिटलर की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी, और जर्मन लोगों को यह सह्य नहीं था, कि उनके अपने एक प्रदेश में पोलैण्ड जैसे विदेशी राज्य का किसी भी प्रकार दखल हो। मई, १९३३ में डान्ट्सिग की सीनेट और लोकसभा का जो चुनाव हुआ, उसमें नाजी दल के उम्मीदवारों को बहुमत प्राप्त हो गया। फिर भी सीनेट के अध्यक्ष डा० हरमान्न रॉशनिग ने पोलैण्ड के प्रति शान्ति की नीति का प्रयोग करने का निश्चय किया, और वारसा जाकर पोलैण्ड की सरकार के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार सामुद्रिक व्यापार का ४५ प्रतिशत डान्ट्सिग द्वारा हो और ५५ प्रतिशत ग्डिनिया द्वारा —यह निर्णय किया गया। पर इससे डान्ट्सिग और पोलैण्ड के बीच की तनातनी का अन्त नहीं हो सका। समुद्रतट तक पहुँचने के लिए जो गलियारा वर्साय्य की सन्धि

द्वारा पौलैण्ड को प्रदान किया गया था, वह जर्मनी के बीच से होकर जाता था, और उसके कारण पूर्वी प्रशिया का बड़ा भाग शेष जर्मनी से पृथक् पड़ गया था। हिटलर और नाजी सरकार अपने देश के इस अंगभंग को सहन नहीं कर सकती थी। यह गलियारा २६० मील लम्बा और ८० मील तक चौड़ा था, और यह विस्तुला नदी के साथ-साथ होकर गया था। वर्साय्य की सन्धि में इसे पोलैण्ड को देते हुए इस तर्क का आश्रय लिया गया था, कि इस गलियारे के कारण जर्मनी का जो भाग शेष देश से पृथक् पड़ जाता है, उसकी जनसंख्या केवल २० लाख है, अतः इन कुछ लाख व्यक्तियों के हितों की अपेक्षा पोलैण्ड जैसे बड़े देश के हितों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। पर जर्मन लोग इस तर्क को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं थे। उनका कहना था, कि जर्मनी के दो भागों में स्थल मार्ग द्वारा कोई भी सम्बन्ध न रहना न केवल राष्ट्रीय दृष्टि से अपमानजनक है, अपितु साथ ही जर्मनी के आर्थिक हितों के लिए भी बाधक है। पूर्वी प्रशिया (जो गलियारे के कारण शेष जर्मनी से पृथक् पड़ गया था) से स्थल-मार्ग द्वारा वहाँ के माल को विक्रय के लिए जर्मनी में ला सकना इसके कारण सम्भव नहीं रह गया है, और जर्मनी के उत्तर में स्थित बाल्टिक सागर के प्रदेश में वह अपने प्रभाव का भी विस्तार नहीं कर सकता। इस समस्या को हल करने के लिए यह व्यवस्था की गयी, कि गलियारे के बीच में से होकर पूर्वी प्रशिया के व्यक्तियों और माल को शेष जर्मनी में लाया और ले जाया जा सके। पर इससे भी जर्मन लोगों ने संतोष अनुभव नहीं किया। वे कहते थे, कि पोलैण्ड इस गलियारे के प्रदेश में पोल लोगों को आबाद करने में तत्पर है, जिसके कारण वहाँ जर्मनों की संख्या निरन्तर कम होती जा रही है, और वह समय दूर नहीं है जब कि वहाँ पोल लोग जर्मनों से संख्या में अधिक हो जायेंगे। इसमें सन्देह नहीं, कि पोलैण्ड और जर्मनी के सम्बन्धों में निरन्तर कटुता बढ़ती जा रही थी, और १९३३ में प्रसिद्ध ऐतिहासिक एच. जी. वेल्स यह भविष्य-वाणी करने में समर्थ हुआ था, कि अगला महायुद्ध इस गलियारे की समस्या को लेकर ही प्रारम्भ होगा।

अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा—राष्ट्रसंघ को यह कार्य भी सुपुर्द किया गया था, कि वह मध्य और पूर्वी यूरोप के विविध राज्यों में जिन अल्पसंख्यक जातियों का निवास है, उनके हितों और अधिकारों की रक्षा करे। विश्व में शान्ति स्थापित रखने के लिए पेरिस की शान्ति परिषद् ने जिन सिद्धान्तों का अनुसरण किया था, राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण भी उनमें एक था। इसीलिए वर्साय्य, सां जर्मे, त्रियानो और न्यीय्यी की सन्धियों द्वारा विभिन्न राज्यों की जो सीमाएँ निर्धारित की गई थीं, या जिन नये राज्यों का संगठन किया गया था, उनके निर्माण में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को दृष्टि में रखा गया था। पर फिर भी मध्य और पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी राज्यों के राज्यक्षेत्रों में अनेक अल्पसंख्यक जातियों का समावेश हो गया था। जर्मन लोग पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के राज्य-क्षेत्रों में आ गये थे, हंगारियन लोग रूमानिया के, और

तुर्क लोक ग्रीस के। यही बात अन्य भी अनेक जातियों के सम्बन्ध में थी। वस्तुतः, ऐसे राज्यों का निर्माण कर सकना सम्भव ही नहीं था, जिसमें किसी भी अल्पसंख्यक जाति का प्रदेश अन्तर्गत न हो। इसके कारण ऐतिहासिक थे। आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की के पुराने साम्राज्यों में अनेक जातियों का संमिश्रण हो गया था, और अनेक प्रदेशों में एक से अधिक जातियां बसी हुई थीं। इन साम्राज्यों का अन्त हो जाने पर जो नये राष्ट्रीय राज्य शान्ति परिषद् द्वारा संगठित किये गये, स्वाभाविक रूप से उनमें ऐसे देश भी अन्तर्गत हो गये जिनमें अल्पसंख्यक जातियों का निवास था। इन जातियों का राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण कर सकना कठिन था। जिन राज्यों में इन जातियों की सत्ता थी, उनकी सरकारें भी स्वाभाविक रूप से यह चाहती थीं, कि इन्हें अपनी राष्ट्रीयता का अंग बना लिया जाये और इनको पृथक् सत्ता का अन्त करने का प्रयत्न किया जाये। इसीलिए राष्ट्रपति विल्सन का कहना था कि अल्पसंख्यक जातियों के प्रति यदि समुचित बरताव न किया गया, तो यह बात विश्वशान्ति के मार्ग में सब से बड़ी बाधा होगी। शान्ति परिषद् ने इसी कारण आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ जो सन्धियाँ कीं, उनमें अल्पसंख्यक जातियों की विशेषताओं और हितों की रक्षा की भी व्यवस्था की गई।

पर अल्पसंख्यक जातियों की समस्या केवल उन राज्यों में ही नहीं थी, जो महायुद्ध में जर्मनी के साथ थे। पोलैण्ड, रूमानिया, ग्रीस, युगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया के राज्यक्षेत्रों में भी अनेक ऐसी जातियों का निवास था। इसीलिए इन राज्यों को भी ऐसी सन्धियाँ करने के लिए विवश किया गया, जिनमें अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा की गारण्टी दी गई थी। ये राज्य इन सन्धियों के लिए उद्यत नहीं थे। उनका कहना था, कि इन गारण्टियों से हमारी प्रभुसत्ता में बाधा उपस्थित होती है, और हमारे देश के निवासियों में पृथक्त्व की प्रवृत्तियों को बल मिलता है। पर अमेरिका, फ्रान्स और ब्रिटेन सदृश शक्तिशाली राज्यों ने उन्हें ऐसी सन्धियाँ करने को विवश किया। बाद में लिथुएनिया, लैटविया, एस्टोनिया, फिनलैण्ड और अल्बानिया को भी इसी ढंग की सन्धियाँ करनी पड़ी, क्योंकि उनके राज्यक्षेत्रों में भी अनेक अल्पसंख्यक जातियों का निवास था।

अल्पसंख्यक जातियों के सम्बन्ध में की गई इन सब सन्धियों में यह व्यवस्था समान रूप से की गयी थी, कि धर्म, भाषा, नसल आदि की परवाह न कर सब जातियों के जीवन, सत्ता और स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखा जायेगा; सब कोई को अपने विश्वासों के अनुसार पूजा-पाठ व धार्मिक अनुष्ठान की स्वतन्त्रता रहेगी, बशर्ते कि ये नैतिकता के प्रतिकूल न हों, और सब कोई अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वतन्त्र रूप से कारोबार करने के अवसर प्राप्त कर सकेंगे।

अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा की उत्तरदायिता राष्ट्रसंघ पर थी। इस उत्तरदायिता को पूर्ण करने के लिए राष्ट्रसंघ जिन साधनों का उपयोग करता था,

उनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। उन्हें यहाँ पुनः उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं है।

(७) राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण संसार के विविध राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आते जा रहे थे। इसीलिए उनमें परस्पर सम्पर्क निरन्तर बढ़ता जाता था, और अपने सर्वसामान्य हितों के साधन के लिए वे अनेकविध अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने में भी तत्पर थे। मानव जीवन की नई परिस्थियों में अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास अवश्यम्भावी था। राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण कदम था, और उस द्वारा संसार के बहुत-से राज्यों ने परस्पर सहयोग द्वारा कार्य करने और अपने झगड़ों को शान्तिमय उपायों से निवटाने का प्रयत्न किया था। पर अपने उद्देश्यों में राष्ट्रसंघ सफल नहीं हो सका। महायुद्ध की समाप्ति के कुछ समय पश्चात् ही विविध राज्यों ने यह अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया, कि वे अपनी सुरक्षा के लिए केवल राष्ट्रसंघ पर ही निर्भर नहीं रह सकते। इसी कारण उन्होंने नई गुटबन्दियाँ प्रारम्भ कर दीं, और संघ से बाहर अन्यत्र सुरक्षा की खोज के लिए प्रयत्न शुरू कर दिया। जिन अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटा सकने में राष्ट्रसंघ सफल हुआ, वे छोटे-छोटे राज्यों के बीच के थे। पर जब बड़े शक्तिशाली राज्यों के झगड़े प्रारम्भ हुए, तो उन्होंने राष्ट्रसंघ की परवाह न कर अपनी शस्त्र-शक्ति और गुटबन्दी पर भरोसा किया। चीन और जापान के मञ्चूरिया-सम्बन्धी झगड़े (१९३१), इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण (१९३५), स्पेन के गृहयुद्ध (१९३६-३९) और चीन-जापान युद्ध (१९३७-४५) के मामलों में युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापित करने में राष्ट्रसंघ को जरा भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। इस समय भी राष्ट्रसंघ विद्यमान था, और जिनीवा में उसका सचिवालय भी यथापूर्व अपने कार्य में तत्पर था। पर युद्ध की अग्नि को विश्व भर में फैल जाने से वह नहीं रोक सका। वस्तुतः, इस समय तक राष्ट्रसंघ इतना निर्बल हो चुका था, कि वह राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निबटा सकने में सर्वथा असमर्थ था। १९४३ में उसका अन्त हो गया।

राष्ट्रसंघ की विफलता के कारण—(१) राष्ट्रसंघ की निर्बलता और असफलता का एक मुख्य कारण यह था, कि संयुक्त राज्य अमेरिका शुरू से ही उसमें सम्मिलित नहीं हुआ था। संघ की स्थापना का प्रधान श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन को था। महायुद्ध में शामिल होने से पूर्व जिन चौदह सिद्धान्तों का उन्होंने प्रतिपादन किया था, राष्ट्रसंघ की स्थापना उनके अन्तर्गत थी। पेरिस की शान्तिपरिषद् में विल्सन ने प्रमुख रूप से भाग लिया था, और संघ के संविधान को तैयार करने में उनका बड़ा हाथ था। पर अमेरिका की जनता ने उनके कार्य का अनुमोदन नहीं किया। अमेरिका में दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं, डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन। विल्सन डेमोक्रेटिक-पार्टी के

नेता थे। रिपब्लिकन पार्टी विल्सन की नीति के विरुद्ध आन्दोलन करने में तत्पर थी। उसका कहना था, कि वर्साय्य की सन्धि उन चौदह सिद्धान्तों के विपरीत है, जिन्हें क्रियान्वित कराने के प्रयोजन से अमेरिका युद्ध में शामिल हुआ था। विल्सन यूरोप की कूटनीति के सम्मुख असहाय हैं, और इसीका यह परिणाम हुआ है कि वर्साय्य की सन्धि न्याय और औचित्य के अनुरूप नहीं है। विल्सन के विरोधी यह भी कहते थे, कि राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होने का अभिप्राय है, यूरोप के झगड़ों में फँस जाना और उनके लिए अमेरिका के धन तथा जन का विनाश करना। फ्रान्स और ब्रिटेन ने महायुद्ध के बाद अनेक नये प्रदेशों को अपने-अपने साम्राज्यों में सम्मिलित कर लिया है। क्या अमेरिका के धन-जन का उपयोग इस प्रकार के साम्राज्य-विस्तार के लिए करना उचित है ? दो साल तक यह विवाद जारी रहा। अमेरिका की सीनेट में रिपब्लिकन दल का बहुमत था। अमेरिका के शासन-विधान के अनुसार सब विदेशी सन्धियों और समझौतों का सीनेट द्वारा संपुष्ट होना आवश्यक है। पर सीनेट राष्ट्रसंघ के संविधान और वर्साय्य की सन्धि को संपुष्ट करने के लिए उद्यत नहीं हुई। वह उनमें संशोधन करना चाहती थी, और ये संशोधन राष्ट्रपति विल्सन को स्वीकार्य नहीं थे। नवम्बर, १९२० में अमेरिका के राष्ट्रपति का नया निर्वाचन हुआ। इसमें रिपब्लिकन पार्टी की विजय हुई, और उसके उम्मीदवार वारेन हार्डिंग राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो गये। रिपब्लिकन दल की यह नीति थी, कि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य न बने। मार्च, १९२१ में कांग्रेस के सम्मुख भाषण देते हुए हार्डिंग ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी, कि अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् रहेगा। अमेरिका संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में है। महायुद्ध में मित्रराज्यों की विजय का एक प्रधान कारण अमेरिका का उनके पक्ष में शामिल हो जाना ही था। यदि वह राष्ट्रसंघ में भी शामिल रहता, और अपनी शक्ति व प्रभाव का प्रयोग यूरोप के आपसी झगड़ों को निबटाने में करता, तो सम्भवतः राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हो सकता। पर रिपब्लिकन पार्टी की विजय के कारण अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक रहा और अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में मानव-समाज का यह पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास यथोचित बल प्राप्त नहीं कर सका। अमेरिका के राष्ट्रसंघ से पृथक् रहने का एक परिणाम यह भी हुआ, कि फ्रान्स अपनी सुरक्षा के लिए अत्यधिक चिन्तित हो गया। शान्ति परिषद् में फ्रेञ्च सरकार ने यह माँग की थी, कि र्‌हाइन नदी के पश्चिमी तट के जर्मन प्रदेशों को एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, ताकि यह राज्य जर्मनी और फ्रान्स के बीच में एक अन्तर्वर्ती (बफर) स्टेट का कार्य कर सके। अमेरिका की गारण्टी पर ही उसने इस माँग का परित्याग कर दिया था, और उसे यह आशा हो गयी थी, कि जर्मनी के आक्रमण के समय वह अमेरिका की सहायता पर भरोसा कर सकेगा। पर जब अमेरिका ने यूरोप के झगड़ों से पृथक् रहने का निर्णय कर लिया, तो फ्रान्स ने अपनी सुरक्षा के प्रयोजन से चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड आदि के साथ गुटबन्दी करना प्रारम्भ कर दिया। यूरोप के अन्य

राज्यों में भी फ्रान्स का अनुसरण किया, जिसके कारण राष्ट्रसंघ निरन्तर निर्बल होता गया।

(२) अमेरिका के समान संसार के अन्य भी अनेक राज्य राष्ट्रसंघ से पृथक् रहे। प्रारम्भ में न जर्मनी संघ का सदस्य था, और न रूस। जर्मनी १९२६ में संघ का सदस्य बना, और रूस १९३४ में। पर रूस के राष्ट्रसंघ में शामिल होने से पूर्व ही १९३३ में जर्मनी संघ से पृथक् हो गया था, और जापान ने भी इसी समय उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था। वस्तुतः, राष्ट्रसंघ के जीवन-काल में कोई भी ऐसा समय नहीं आया, जब कि सब प्रमुख एवं शक्तिशाली राज्य उसके सदस्य हों। परिणाम यह हुआ, कि राष्ट्र-संघ कतिपय राज्यों का ही संघ बना रहा, सब राज्यों का नहीं। रूस, जर्मनी और जापान जैसे शक्तिशाली राज्यों का विभिन्न समयों में संघ से पृथक् रहना इस अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की भारी निर्बलता थी।

(३) जिन राज्यों ने राष्ट्रसंघ के संविधान पर हस्ताक्षर कर उसकी सदस्यता स्वीकार की थी, उन्हें भी उसके उद्देश्यों और कार्यविधि पर पूर्ण विश्वास नहीं था। उन्हें यह भरोसा नहीं था, कि वे केवल राष्ट्रसंघ पर आश्रित रह कर अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर सकते हैं। इसी लिये वे गुटबन्दियाँ बनाने में तत्पर थे, और अपने हितों को दृष्टि में रख कर राष्ट्रसंघ की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते थे। साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा से जब इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया (१९३५), तो अबीसीनिया की अपील पर राष्ट्रसंघ ने यह तय किया, कि कोई राज्य इटली को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री प्रदान न करे, इटली को कोई धनराशि कर्ज न दी जाए, और इटली के तैयार माल का बहिष्कार किया जाए। राष्ट्रसंघ के इस निर्णय का सब सदस्य-राज्यों को ईमानदारी के साथ पालन करना चाहिये था। पर इससे पूर्व ही फ्रांस और इटली एक समझौता कर चुके थे, जिसके अनुसार फ्रांस ने यह वचन दिया था कि वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे मुसोलिनी को असन्तोष हो। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी की शक्ति जिस ढंग से बढ़ रही थी, फ्रांस उससे बहुत चिन्तित था। इसी कारण वह इटली के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था, और राष्ट्रसंघ के आदेश का पालन करने का उसकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। इटली जो अबीसीनिया को जीत कर अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार कर सका, और राष्ट्रसंघ उसे ऐसा करने से रोकने में सर्वथा असमर्थ रहा, उसका एक कारण फ्रांस और इटली का यह समझौता भी था। अबीसीनिया की विजय में ब्रिटेन भी जो तटस्थ रहा, उसका कारण भी यह था कि फ्रांस के समान ब्रिटेन भी जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित था, और कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता था, जिससे मुसोलिनी असन्तुष्ट हो। इसी लिये फ्रांस और ब्रिटेन ने भी आपस में एक समझौता कर लिया था, जिसके परिणामस्वरूप इटली को अफ्रीका में मनमानी करने की पूरी छूट मिल गई थी।

(४) राष्ट्रसंघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य राज्यों के झगड़ों को शान्तिमय

उपायों द्वारा निबटाना था। पर उसमें सम्मिलित राज्यों का यह प्रयत्न रहता था, कि वे उसे अपनी सुरक्षा तथा स्वार्थ-साधन के लिये प्रयुक्त करें। फ्रांस की दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी, कि जर्मनी फिर कभी इतनी शक्ति प्राप्त न कर ले कि उसकी अपनी सुरक्षा के लिये खतरा बन जाए। राष्ट्रसंघ का उपयोग उसकी दृष्टि में केवल यह था, कि वर्साय्य की सन्धि का अविकल रूप से पालन होता रहे और जर्मनी अपना सिर न उठा सके। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन का स्वार्थ इस बात में था कि उसका विश्वव्यापी साम्राज्य अक्षुण्ण रहे, अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग सुरक्षित रहें, और उसके विदेशी व्यापार में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। वर्साय्य की सन्धि के अनुसार हरजाने की एक भारी रकम जर्मनी द्वारा मित्र-राज्यों को प्रदान की जानी थी। इसे वह नकद मुद्रा द्वारा तो दे नहीं सकता था। इसे अदा करने का यही तरीका था, कि अपने तैयार माल को वह अधिक से अधिक मात्रा में अन्य देशों में बेचने का प्रयत्न करे। यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी का माल सस्ता हो। हरजाने की अदायगी के प्रयोजन से जो माल जर्मनी विदेशों में भेजता था, उसकी कीमत ब्रिटिश माल की तुलना में बहुत सस्ती होती थी। जर्मनी के सिक्के की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में भी निरन्तर कमी होती जा रही थी, जिसके कारण वहाँ से माल खरीदने में अन्य देशों को बहुत लाभ था। यह दशा ब्रिटेन के विदेशी व्यापार के लिए बहुत हानिकारक थी। परिणाम यह हुआ, कि अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर ब्रिटेन ने जर्मनी के प्रति ऐसी नीति का सूत्रपात किया, किसका प्रयोजन हरजाने की मात्रा में कमी करना, उसकी अदायगी के सम्बन्ध में अनेकविध सुविधाएँ देना, और जर्मनी को औद्योगिक व आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा करना था। फ्रांस को यह नीति पसन्द नहीं थी। वह जर्मनी को सदा के लिए पंगु व निःशक्त बनाये रखने में ही अपना हित समझता था। ये दोनों शक्तिशाली राज्य राष्ट्रसंघ के माध्यम से ही अपनी-अपनी नीति को क्रियान्वित करने में तत्पर थे। इनके हितों के परस्पर-विरोध के कारण राष्ट्रसंघ किसी एक स्थायी नीति का अनुसरण कर सकने में असमर्थ था। इटली, जापान आदि अन्य शक्तिशाली राज्य भी राष्ट्रसंघ द्वारा अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही प्रयत्नशील रहते थे, और इनके ये हित बहुधा एक-दूसरे के प्रतिकूल भी होते थे।

(५) महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के अनेक राज्यों में नयी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं का विकास हुआ। बोल्शेविक राज्यक्रान्ति के कारण रूस ने समाजवादी व्यवस्था को अपनाया, और हिटलर तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में जर्मनी और इटली ने नाजी और फासिस्ट व्यवस्था को। इन नई व्यवस्थाओं के कारण यूरोप के विविध राज्यों के स्वरूप एवं संगठन में बहुत अन्तर आ गया, और उनके लिए परस्पर सहयोग द्वारा कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा।

(६) पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा यह सिद्धान्त स्वीकृत किया गया था, कि विविध राज्य केवल उतनी ही सेनाएँ रखें, जो उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य हों।

राज्य अधिकतम कितनी सेनाएँ व अस्त्र-शस्त्र रख सकें, इसका निर्धारण करना राष्ट्र-संघ के सुपुर्द किया गया था। पर यह कार्य सुगम नहीं था। सब राज्य यह समझते थे, कि उनकी सेना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक है, और उसमें कोई भी कमी नहीं की जा सकती, पर अन्य राज्यों की सेनाएँ उनकी आवश्यकता से अधिक है। ब्रिटेन का कहना था, कि फ्रांस और पोलैण्ड को अपनी सेनाओं में कमी करनी चाहिए। फ्रांस इसका यह उत्तर देता था, कि हम अपनी सेनाओं में कमी करने को तैयार हैं, पर ब्रिटेन को पहले यह गारण्टी देनी चाहिए कि यदि जर्मनी फ्रांस या पोलैण्ड पर हमला करे, तो ब्रिटेन उनकी सहायता करेगा। यदि फ्रांस और पोलैण्ड अपनी सेनाओं में कमी कर लें, तो इस बात का क्या भरोसा है कि जर्मनो वर्साय्य की सन्धि को ठुकरा कर उनके प्रदेशों को आक्रान्त नहीं कर लेगा। राष्ट्रीय सुरक्षा की इससे बड़ी गारण्टी क्या हो सकती है, कि प्रत्येक राज्य अपनी सेना को तैयार रखे और यदि कोई अन्य राज्य उस पर आक्रमण करे, तो शस्त्र-शक्ति से उसका मुकाबला करे? प्रायः सभी राज्यों का यही मनोवृत्ति होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रों और सेना में कमी करने के अनेक प्रयत्न हुए। हम इन पर यथास्थान प्रकाश डालेंगे। पर ये प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हो सके। विश्व के विविध राज्यों में अस्त्र-शस्त्र और सैन्य-शक्ति की वृद्धि के लिए प्रतिस्पर्धा जारी रही, और राष्ट्रसंघ शान्तिमय उपायों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटा सकने में सफल नहीं हो सका।

(७) राष्ट्रसंघ के संविधान में भी कतिपय ऐसी कमियाँ थीं, जिनके कारण वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति सुचारु रूप से नहीं कर सकता था। उस द्वारा जो निर्णय किये जायें, उनका विविध सदस्य-राज्यों से पालन कराने के लिए जो शक्ति अपेक्षित थी, वह उसके पास नहीं थी। न उसके पास कोई सेना थी, और न कोई पुलिस ही। राष्ट्र-संघ के आदेश का पालन कर युद्ध बन्द न करनेवाले राज्य को काबू में लाने के लिए संघ के पास दो ही उपाय दे, उसका आर्थिक बहिष्कार और उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग। पर कोई राज्य आर्थिक बहिष्कार की नीति को अपनाये या नहीं, यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर था। क्योंकि राष्ट्रसंघ के पास अपनी कोई सेना नहीं थी, अतः वह अपने सदस्य-राज्यों से ही यह अनुरोध कर सकता था कि वे अपनी सेनाएँ उस राज्य के विरुद्ध प्रयुक्त करें। पर राज्य संघ के इस अनुरोध को स्वीकार करें या नहीं, यह भी उनकी अपनी इच्छा पर ही निर्भर था।

(८) पेरिस की शान्तिपरिषद् से जर्मनी के साथ न्याय नहीं किया गया था। यदि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर जर्मनो का पुनःनिर्माण किया जाता, तो हिटलर को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर न मिलता। जर्मनी का अंग-भंग किसी भी प्रकार से न्याय्य नहीं था। पोलैण्ड, चेकोस्लावाकिया और युगोस्लाविया को भी कतिपय ऐसे प्रदेश दे दिये गये थे, जो वस्तुतः इन राज्यों के अन्तर्गत नहीं होने चाहिये थे। द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ होने में वर्साय्य और सेव्र आदि की सन्धियों द्वारा किये गये

अन्याय भी महत्त्वपूर्ण कारण थे। राष्ट्रसंघ जो विश्व में शान्ति स्थापित करने में असमर्थ रहा, उसका एक कारण यह भी था कि पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा किये गये निर्णय अनेक अंशों में अनुचित और अन्याय्य थे।

(९) ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, बेल्जियम और इटली विशाल साम्राज्यों के स्वामी थे। हालैण्ड का भी अच्छा बड़ा साम्राज्य था। इसके विपरीत जर्मनी का कोई भी साम्राज्य नहीं था। इटली और जापान की साम्राज्य-विषयक भूख भी पूरी तरह से शान्त नहीं हुई थी। एक ओर ब्रिटेन और फ्रांस अपनी असाधारण शक्ति को कायम रखने के लिए कटिबद्ध थे, और दूसरी ओर जर्मनी, इटली और जापान साम्राज्य-विस्तार की चिन्ता में थे। उनके प्रयत्न तभी सफल हो सकते थे, जब कि उनकी सैन्यशक्ति में वृद्धि हो। फ्रांस और ब्रिटेन अपनी सैन्यसक्ति को इस लिए बढ़ाना चाहते थे, ताकि कोई अन्य राज्य उनके साम्राज्य को किसी भी प्रकार नुकसान न पहुँचा सके। सैन्यवृद्धि की इस होड़ में राष्ट्रसंघ कैसे सफलता प्राप्त कर सकता था ?

(१०) राष्ट्रीयता की भावना से उत्पन्न हुई आकांक्षाएँ विश्व के सब छोटे-बड़े राज्यों को परेशान कर रही थीं। मध्य और पूर्वी यूरोप का कोई भी राज्य अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में संतुष्ट नहीं था। उनकी परस्पर-विरोधी आकांक्षाओं के संघर्ष के सम्मुख राष्ट्रसंघ सर्वथा असहाय हो गया था।

(११) बड़े शक्तिशाली राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी ऐसी नीति को अपना सकने में असमर्थ थे, जो सबको समान रूप से स्वीकार्य हो। राष्ट्रसंघ तभी सफल हो सकता था, जब कि सब राज्य परस्पर सहयोग से एक निश्चित नीति का निर्धारण करें, और ईमानदारी के साथ उसका अनुसरण करें। पर उनकी राष्ट्रीय या साम्राज्य-विषयक आकांक्षाएँ और परस्पर-विरोधी स्वार्थ उन्हें किसी एक नीति को निर्धारित नहीं करने देते थे। चीन भी राष्ट्रसंघ का सदस्य था, और जापान भी। पर मञ्चूरिया में उनके हित आपस में टकराते थे। इसी प्रकार इटली भी संघ का सदस्य था, और अबीसीनिया भी। पर इटली अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये प्रयत्नशील था। इसीलिये वह अबीसीनिया को अपनी अधीनता में ले आने के लिये उस पर आक्रमण करने को प्रवृत्त हुआ। जब राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों में ही इस प्रकार के विरोधों की सत्ता हो, तो उसकी सफलता की आशा ही कैसे की जा सकती थी।

राष्ट्रसंघ का कर्तृत्व और सफलता—राष्ट्रसंघ शान्तिमय उपायों द्वारा राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निबटा सकने और विश्व में शान्ति को स्थापित रखने के अपने प्रधान उद्देश्य में सफल नहीं हुआ, और इसी कारण १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ। पर यह मान सकना सम्भव नहीं है, कि संघ सर्वथा निष्फल ही रहा। निस्सन्देह, राष्ट्रसंघ के रूप में मानव समाज ने अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पग उठाया था। यदि आदर्शवादियों की दृष्टि से देखा जाए, तो राष्ट्रसंघ को अवश्य असफल कहा जायगा। वे इस संघ से जो आशाएँ रखते थे, वे इससे

पूर्ण नहीं हो सकीं। पर यदि ऐतिहासिक और क्रियात्मक दृष्टि से विचार किया जाए, तो राष्ट्रसंघ को असफल मान सकना सम्भव नहीं होगा। मानव समाज एक जीवित जागृत शरीर के समान होता है, जो धीरे-धीरे प्रगति करता है। मानव समाज एक इमारत या पुल के समान नहीं होता, जिसका निर्माण किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार किया जा सके। नये वैज्ञानिक आविष्कारों और यातायात तथा संचार के नवीन साधनों के कारण विश्व के विविध राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आते जा रहे थे। यह अनिवार्य था, कि उनमें परस्पर सहयोग की वृद्धि हो, और वे अपने झगड़ों को निबटाने के प्रयोजन से शान्तिमय उपायों का प्रयोग करने में प्रवृत्त हों। इसके लिये जो अनेक प्रयत्न उन्नीसवीं सदी में किये गये थे, उनकी तुलना में राष्ट्रसंघ की योजना बहुत विकसित और समुन्नत थी। पर मानव समाज से यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि वह अकस्मात् एक ऐसे साधन को आविष्कृत कर ले जो सर्वथा पूर्ण एवं आदर्श हो। संघ की कमियों और निर्बलताओं का यही मुख्य कारण था। पर यह स्वीकार करना होगा, कि विश्व के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब कि संसार के बहुसंख्यक राज्य परस्पर मिल कर एक स्थान पर एकत्र होते थे, और आपस के सहयोग द्वारा अपनी समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न करते थे। राष्ट्रसंघ की बैठकों में उपस्थित होकर उन्हें यह अनुभव करने का अवसर मिलता था, कि संसार में केवल हमारी ही सत्ता नहीं है, केवल हमारे अपने ही राष्ट्रीय हित नहीं हैं, और हम अकेले ही रह कर अपनी कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकते। वे अब सम्पूर्ण संसार की परिस्थितियों तथा समस्याओं को दृष्टि में रख कर विचार विमर्श करने में प्रवृत्त होने लगे, और यह समझने लगे कि हमारे अपने राज्य-क्षेत्र से बाहर भी दुनिया की सत्ता है और उसकी उपेक्षा कर हम केवल अपने ही स्वार्थों का साधन नहीं कर सकते। राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विचार नया नहीं था। पहले भी अनेक विचारकों ने इसका प्रतिपादन किया था, और इसे क्रियान्वित करने के लिये भी अनेक प्रयत्न हुए थे। पर यह पहला अवसर था, जब कि इस विचार ने एक ठोस रूप प्राप्त किया। यद्यपि राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकने में सफल नहीं हुआ, पर इस संस्थान ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कल्पना को जो मूर्तरूप प्रदान किया था, वह द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में और भी अधिक शक्तिशाली होकर सम्मुख आया, और उसने उन्हीं सिद्धान्तों व उद्देश्यों को अपनाया जो कि राष्ट्रसंघ के थे। इसलिये राष्ट्रसंघ को सर्वथा असफल मान सकना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि राष्ट्रसंघ शान्तिमय उपायों द्वारा राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निबटा सकने में सफल नहीं हुआ, पर अपने अनेक अन्य उद्देश्यों को पूर्ति में उसने अच्छी सफलता भी प्राप्त की। महायुद्ध के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया और हंगरी जैसे देश आर्थिक दृष्टि से दिवालिया हो गये थे। उनकी आर्थिक दशा को संभालने के कार्य में राष्ट्रसंघ ने बहुत सहायता पहुँचाई। छोटे राज्यों के झगड़ों को भी इस द्वारा शान्तिमय उपायों से

निबटाया गया। महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण जो बहुत-से लोग स्थानभ्रष्ट हो गये थे, उन्हें फिर से बसाने के सम्बन्ध में भी राष्ट्रसंघ ने अत्यन्त उपयोगी कार्य किया। जर्मनी में नाजी पार्टी के उत्कर्ष के कारण और रूस की बोल्शेविक राज्यक्रान्ति के परिणामस्वरूप जो हजारों लाखों व्यक्ति अपने घर बार का परित्याग करने के लिये विवश हो गये थे, उनके पुनर्वास के लिये भी राष्ट्रसंघ द्वारा प्रयत्न किया गया। शरणार्थियों को बसाने के लिये जो अनेक संगठन दो महायुद्धों के बीच के काल (१९२१-३९) में संगठित हुए, वे राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में ही कार्य करते थे। मजदूरों की दशा को सुधारने, महामारियों को फैलने से रोकने, अफीम अदि नशीली वस्तुओं के प्रचार को रोकने, स्त्रियों के अनैतिक व्यापार को बन्द करने और विभिन्न राज्यों में स्वास्थ्य की दशा को उन्नत करने के सम्बन्ध में जो कार्य राष्ट्रसंघ ने किये, उनका महत्त्व भी कम नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सञ्चार और यातायात को अधिक सुगम बनाना और विभिन्न वैज्ञानिक तथा शोध-सम्बन्धी संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना भी राष्ट्रसंघ के ऐसे कार्य थे, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में बहुत सहायता मिली। ये सब ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें राष्ट्रसंघ को सफल माना जा सकता है।

चौथा अध्याय

आर्थिक संकट

(१) हरजाने की समस्या

महायुद्ध के कारण विश्व की राजनीतिक परिस्थितियों में ही भारी अन्तर नहीं आया, अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी बड़ी उथल पुथल हुई। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् कुछ ही वर्षों में सर्वत्र एक आर्थिक संकट उपस्थित हो गया, जो महायुद्ध की तुलना में किसी भी प्रकार कम गम्भीर नहीं था। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल के इस संकट का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसने विभिन्न राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी अनेक प्रकार से प्रभावित किया। सम्भवतः, इसी के कारण अनेक राज्यों की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं में भी आमूलचूल परिवर्तन आया, और अनेक नई विचारधाराओं का विकास हुआ। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) से पूर्व विश्व के राज्यों की जो नई गुटबन्दियाँ बनीं, यह आर्थिक संकट उनके निर्माण मे एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

हरजाने का प्रश्न—महायुद्ध के कारण मित्र-पक्ष के राज्यों को धन व जन की जो भारी क्षति उठानी पड़ी थी, उसके लिये जर्मनी और उसके साथियों को उत्तरदायी ठहराया गया था। फ्रांस, बेल्जियम और ब्रिटेन आदि राज्य यह समझते थे कि उन्हें अपनी क्षति की पूर्ति के लिये जिस धनराशि की आवश्यकता है, वह सब जर्मनी और उसके साथी राज्यों से वसूल की जानी चाहिये। लड़ाई के समय यूरोप के राज्यों को बहुत बड़ी रकमें अन्य राज्यों से कर्ज लेनी पड़ी थीं। पहले संयुक्तराज्य अमेरिका युद्ध में शामिल नहीं हुआ था, पर उसने मित्र राज्यों को भारी रकमें कर्ज में दी थीं। शुरू-शुरू में ग्रेट ब्रिटेन ने भी अन्य राज्यों को कर्ज दिये, पर ज्यों-ज्यों लड़ाई अधिक उग्र रूप धारण करती गई, ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं रहा कि वह दूसरे देशों को कर्ज दे सके। वह स्वयं अमेरिका से कर्ज लेने को विवश हुआ। महायुद्ध के समाप्त होने पर स्थिति यह थी कि यूरोप के बहुत-से राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के कर्जदार थे, और ब्रिटेन स्वयं अमेरिका का ऋणी था। प्रश्न यह था कि इस कर्ज को कैसे अदा किया जाए? फ्रांस, बेल्जियम, इटली और अन्य मित्र राज्य कहते थे, कि हम कर्ज को तभी अदा कर सकते हैं, जब हमें जर्मनी तथा उसके साथियों से हरजाना वसूल करने का अवसर मिले। इन्हीं दो कारणों से—युद्ध में हुई क्षति को पूर्ण करने तथा कर्ज की अदायगी के लिये—पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा जर्मनी और उसके साथियों पर हरजाने की भारी रकमें लाद दी गई थीं, और इन्हें प्रदान करने की बात उन्हें स्वीकार

करनी पड़ी थी। पर समस्या यह थी, कि परास्त राज्यों से ये रकमें वसूल कैसे की जाएं आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गारिया युद्ध के पश्चात् अत्यन्त निर्बल हो गये थे, और उनके प्रमुख औद्योगिक प्रदेश उनके राज्यक्षेत्रों से निकल कर नये स्वतन्त्र राज्यों के अन्तर्गत कर दिये गये थे। इन निर्बल राज्यों से कोई अच्छी बड़ी रकम वसूल कर सकने की आशा सर्वथा निरर्थक थी। उनकी आर्थिक दशा सम्भल सके, इसके लिये उन्हें तो स्वयं ही कर्ज की आवश्यकता थी। इस दशा में हरजाने की अदायगी का बड़ा बोझ अकेले जर्मनी पर पड़ गया था। जर्मनी से जो कुछ वसूल किया जा सके उसे मित्र-राज्य किस प्रकार आपस में बाँटें, इस बात का फैसला कर सकना अधिक कठिन नहीं था। १९२० में स्पा में हुई एक कान्फरेन्स में मित्र-राज्य इस निर्णय पर पहुँच गये थे कि जर्मनी से जो कुछ प्राप्त हो, उसका ५२ प्रतिशत फ्रांस को, २२ प्रतिशत ग्रेट ब्रिटेन को, ८ प्रतिशत बेल्जियम को, १० प्रतिशत इटली को और शेष ८ प्रतिशत अन्य मित्र-राज्यों में विभक्त कर दिया जाए। अब प्रश्न यह था, कि जर्मनी से क्या कुछ और किस प्रकार वसूल किया जाए। जर्मनी से वसूल की जाने वाली हरजाने की राशि का निर्धारण पेरिस की शान्ति परिषद् ने स्वयं नहीं किया, अपितु इसके लिये एक हरजाना कमीशन (Reparations Commission) की नियुक्ति कर दी (१९२१), जिसमें संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधि लिये गये। इन चार मुख्य राज्यों के अतिरिक्त अन्य मित्र राज्यों की ओर से भी कमीशन में प्रतिनिधि लेने की व्यवस्था की गई। यह भी निश्चय किया गया कि जब तक यह कमीशन जर्मनी से वसूल किये जाने वाले हरजाने की पूरी रकम निर्धारित न कर दे, तब तक जर्मनी अन्तरिम रूप से ५०० करोड़ डालर हरजाना खाते में जमा कर दे। इस बीच में हरजाना कमीशन अपने कार्य में तत्पर रहा, और २८ एप्रिल, १९२१ के दिन उसने यह निर्धारित किया, कि जर्मनी से वसूल किये जाने वाले हरजाने की कुल रकम ३२०० करोड़ डालर (सूद के साथ) होनी चाहिये। साथ ही, कमीशन द्वारा यह भी तय किया गया कि इस रकम को जर्मनी ५० करोड़ डालर की वार्षिक किस्तों में अदा करे।

हरजाने की अदायगी में कठिनाइयाँ—पहले यह यत्न किया गया कि जर्मनी माल की शक्ल में हरजाना अदा करे। वह अपने इंजन, कल-कारखानों की मशीनें, कोयला, लोहा और इसी प्रकार का अन्य औद्योगिक माल देकर हरजाने के अच्छे बड़े भाग को अदा कर सकता था। जर्मनी ने इस तरह बहुत-सा माल दिया भी। पर इसका यह परिणाम हुआ, कि जर्मनी के माल से फ्रांस, ब्रिटेन और अन्य देशों के बाजार भर गये, और उसके मुकाबले में अपने देश का माल बिक सकना कठिन हो गया। मुफ्त में आया हुआ जर्मनी का माल बाजार में बहुत सस्ती कीमत पर बिकने लगा। परिणाम यह हुआ कि मित्र-पक्ष राज्यों के पूँजीपतियों ने इस प्रकार माल की शक्ल में हरजाना वसूल करने के खिलाफ आवाज उठाई, और मित्र राज्यों ने यह तय किया कि हरजाने को माल के रूप में न लेकर नकद लिया जाए। पर जर्मनी नकदी तभी दे सकता था,

जब उसके निर्यात माल की मात्रा आयात माल के मुकाबले में अधिक रहे। इसके विना कोई अन्य उपाय नहीं था, जिससे कि जर्मनी हरजाने की रकम को नकद दे सकता। पर प्रश्न यह था, कि जर्मनी अपने माल को कहाँ बेचे ? महायुद्ध से पूर्व जर्मन माल के मुख्य बाजार रूस और मध्य यूरोप के देशों में थे। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो चुकी थी। वहाँ ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं, कि जर्मनी पूर्ववत् वहाँ अपने माल को बेच सके। मध्य और पूर्वी यूरोप में जो नये राज्य महायुद्ध के पश्चात् कायम हुए थे, वे सब अपनी औद्योगिक उन्नति में तत्पर थे। विदेशी माल के मुकाबले में अपने तैयार माल की रक्षा के लिये वे संरक्षण नीति का अनुकरण करने में तत्पर थे, और भारी आयात-करों के कारण जर्मनी के लिये यह सम्भव नहीं था कि उन राज्यों में अपने माल को बेच सके। इस दशा में अधिक मात्रा में अपने माल को बेच कर हरजाना दे सकना भी जर्मनी के लिये सम्भव नहीं था। जर्मनी के उपनिवेश भी उससे छिन चुके थे। इस दशा में उसके पास यही उपाय शेष रहते थे कि टैक्सों में वृद्धि करे, सरकारी खर्च में कमी करे, और मुद्रास्फीति की नीति का आश्रय ले। मुद्रास्फीति से विदेशी विनिमय में जर्मनी के सिक्के की कीमत गिरेगी, सिक्के की कीमत के गिरने से विदेशों में जर्मनी का माल सस्ता पड़ेगा और इस प्रकार जर्मनी के लिये यह सम्भव हो जायगा कि वह अपना अधिक से अधिक माल दूसरे देशों में बेच सके और उससे जो धन प्राप्त हो, उसे हरजाने की अदायगी के लिए प्रदान कर सके। जर्मनी ने इसी नीति का अनुसरण किया। जर्मन सिक्के मार्क की कीमत को निरन्तर गिराया गया और जर्मनी का माल विदेशों में सस्ती कीमत पर बिकने लगा। हालत यहाँ तक पहुँच गई कि ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका में दूर देश से आया हुआ जर्मन माल अपने देश के माल के मुकाबले में सस्ता बिकने लगा। उद्योगपतियों को फिर शिकायत का मौका मिला, और उन्होंने अपनी सरकारों को इस बात के लिये विवश किया कि संरक्षण-नीति का प्रयोग कर विदेशी माल पर भारी आयात-कर लगाये जाएँ। संरक्षण-कर की नई दीवार के कारण जर्मन माल की विदेशों में बिक्री बन्द हो गई, और हरजाने की अदायगी का यह उपाय भी उसके लिये निरर्थक हो गया।

जर्मनी के पास अब केवल ये उपाय शेष रह गये कि कर्ज ले और मुद्रा का और अधिक प्रसार करे। विदेशों से कर्ज लेना सुगम नहीं था, और अमेरिका के अतिरिक्त कोई अन्य देश इस स्थिति से था भी नहीं कि जर्मनी को कर्ज दे सके। जर्मनी के अपने राज्यक्षेत्र में युद्ध के कारण सब कल-कारखाने चौपट हो चुके थे और जो शेष बचे थे उनके मालिक भी इस दशा में नहीं थे कि राज्य को कर्ज दे सकते। अमेरिका भी किस भरोसे जर्मनी को कर्ज देने के लिए तैयार होता ? परिणाम यह हुआ कि जर्मनी ने मुद्रास्फीति के उपाय का ही आश्रय लिया, जिसके कारण मार्क की कीमत निरन्तर गिरती गई। पहले एक पौंड के २० मार्क आते थे। १९२० में एक पौंड में २५० मार्क आने लगे थे, और १९२२ में एक पौंड दे कर ३४,००० मार्क प्राप्त किये

जा सकते थे। बाद में तो मार्क की कीमत इतनी गिर गई, कि एक पौंड को प्राप्त करने के लिए लाखों और फिर करोड़ों मार्कों की आवश्यकता होने लगी। इससे जर्मनी का आर्थिक जीवन सर्वथा अस्त-व्यस्त हो गया। जर्मनी को जो हरजाना प्रदान करना था, उसे इन कागजी मार्कों में नहीं दिया जा सकता था। उसकी अदायगी पौंड या डालर में और या सोने के मार्कों में ही की जा सकती थी। सब कठिनाइयों के बावजूद हरजाने की पहली छमाही किस्त (२५ करोड़ डालर) जर्मनी ने अदा कर दी थी, यद्यपि इसके कारण मार्क की कीमत को गिराने और मुद्रास्फीति करने की उसे आवश्यकता हुई थी। पर अगली किस्तों को समय पर अदा कर सकना जर्मनी के लिए सम्भव नहीं हुआ। अतः उसने यह माँग की, कि १९२४ के अन्त तक हरजाने की अदायगी को स्थगित रखा जाए।

ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद—हरजाने की वसूली को स्थगित किया जाये या नहीं, इस प्रश्न पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद उत्पन्न हो गया। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री मि० लायड जार्ज का मत था, कि जर्मनी की इस माँग को स्वीकार कर लेना चाहिए। जर्मनी के सस्ते माल के कारण ब्रिटेन के कल-कारखानों को भारी नुकसान पहुँच रहा था, और अपने माल को बेच सकना उनके लिए सम्भव नहीं रहा था। महायुद्ध से पहले के काल में ब्रिटिश माल जर्मनी में बड़ी मात्रा में बिका करता था। पर इस समय जर्मनी की जो आर्थिक दुर्दशा हो गई थी, उसके कारण वह ब्रिटेन के माल को खरीदने में असमर्थ था। लायड जार्ज चाहता था, कि जर्मनी का यह बाजार ब्रिटेन को फिर प्राप्त हो जाए। यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी की आर्थिक दशा में सुधार हो और वह इस स्थिति में आ जाए कि ब्रिटिश माल का क्रय कर सके। पर फ्रांस की नीति इससे सर्वथा भिन्न थी। फ्रांस के प्रधानमन्त्री पोअन्कारे का कहना था, कि महायुद्ध में जर्मनी द्वारा फ्रांस का जिस बुरी तरह से विनाश किया गया था, उसे फिर से ठीक करने के लिए फ्रांस को प्रति मिनट ५००० डालर खर्च करने पड़ रहे हैं, जब कि हरजाने के रूप में उसे जर्मनी से जो रकम प्राप्त होती है, उसकी मात्रा केवल ३८१ डालर प्रति मिनट है। फ्रांस हरजाने की अदायगी को स्थगित करने के लिए केवल इस दशा में तैयार था, जब कि उसे ऐसी गारण्टी दी जाए जिससे वह जर्मनी से क्षतिपूर्ति कराने में समर्थ रहे। र्‌हाइनलैण्ड में जो खाने और रंग के कारखाने हैं, उन पर फ्रांस का अधिकार स्थापित करा देने से ही उसे वह उत्पादक गारन्टी (Productive Guarantee) प्राप्त हो सकती है, जिससे वह हरजाने की अदायगी को स्थापित करने की बात से सहमत हो सकेगा। १९२२ के अन्त तक फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी में इस सम्बन्ध में पत्रव्यवहार होता रहा। पर जब कोई परिणाम नहीं निकला, तो पोअन्कारे ने सख्ती से काम लेने का निश्चय किया।

रूह्‌र पर कब्जा—वर्साय्य की सन्धि के अनुसार यह व्यवस्था भी की गई थी, कि यदि जर्मनी सन्धि के अधीन अपनी जिम्मेवारियों को पूरा करने में जान बूझ कर

प्रमाद करे, तो मित्रपक्ष के राज्य उसके विरुद्ध कार्रवाई कर सकें। पोअन्कारे के लिए इस प्रकार के बहाने ढूँढ निकाल सकना कठिन नहीं था। एक साधारण सी बात को निमित्त बना कर फ्रांस ने हरजाना कमीशन से अपील की, कि जर्मनी को दोषी ठहराया जाय। ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने कमीशन के समक्ष फ्रांस की माँग का घोर विरोध किया, और जर्मनी की सरकार ने भी यह आश्वासन दिया कि शीघ्र ही वह अपनी जिम्मेवारी को पूरा कर देगा। पर कमीशन में फ्रांस का जोर था। उसने फ्रांस की बात को स्वीकार कर जर्मनी को दोषी मान लिया, और जनवरी, १९२३ में फ्रांस, बेल्जियम और इटली की सेनाओं ने डार्टमुण्ड तक के रूहर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया। ब्रिटेन की दृष्टि में यह कार्य न केवल अनुचित था, अपितु अवैध भी था। इसीलिए उसकी सेनाओं ने रूह्र के कब्जे में हाथ नहीं बटाया था। रूह्र का यह प्रदेश क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत बड़ा नहीं था। पर यह जर्मन उद्योगों का प्रधान केन्द्र था। जर्मनी में कुल मिला कर जितना भी कोयला, लोहा और इस्पात उत्पन्न किया जाता था, उसका ८० प्रतिशत भाग रूह्र के कल-कारखाने ही उत्पन्न करते थे। उस पर कब्जा कर लेने का अभिप्राय जर्मनी के औद्योगिक जीवन को हस्तगत कर लेना था। जर्मनी सैन्य-शक्ति से फ्रान्स और उसके साथियों का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था। अतः उसने निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का अवलम्बन किया। जर्मन मजदूरों ने विदेशियों से असहयोग किया, जिसके कारण रूह्र के सब कल-कारखाने बन्द हो गये। फ्रान्स और उसके साथी राज्यों का प्रतिरोध करने के कार्य में जर्मनी की सम्पूर्ण जनता और सब राजनीतिक दल मिल कर एक हो गये। इसी कारण एक प्रमुख जर्मन को यह कहने का अवसर मिला, कि दो व्यक्तियों ने जर्मनी को एक सूत्र में संगठित किया है, १८७१ में बिस्मार्क ने और १९२३ में पोअन्कारे ने।

निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का अवलम्बन केवल जर्मन मजदूर ही नहीं कर रहे थे, पर रूह्र के अन्य सब निवासी भी उसका अनुसरण करने में तत्पर थे। परिणाम यह हुआ, कि वहाँ टेलीफोन, टैलिग्राफ और रेलवे के विभागों ने अपने काम बन्द कर दिये, समाचारपत्रों ने फ्रान्स और उसके साथियों के सैनिक आदेशों को प्रकाशित करने से इनकार कर दिया, और रूह्र के सरकारी कर्मचारियों ने भी उनके आदेशों की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। विदेशी सैनिकों ने इस दशा में दमन की नीति का प्रयोग किया। बहुत-से जर्मन जेलखानों में डाल दिये गये। पर दमन-नीति से निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन बन्द नहीं हुआ। जिन जर्मन मजदूरों ने हड़ताल की हुई थी, उनके भोजन और वेतन की जिम्मेवारी जर्मन सरकार ने अपने ऊपर ले ली, और उसने मित्र-राज्यों को हरजाने की किस्तें प्रदान करना भी बन्द कर दिया। पर फ्रान्स इस पर भी घबराया नहीं। उसने और भी अधिक कठोर उपायों का आश्रय लिया। जर्मन सरकार और जर्मन नागरिकों की रूह्र में जो भी सम्पत्ति थी, उसे जब्त कर लिया गया, और प्रतिरोध किये जाने पर गोलियाँ भी चलाईं, जिनके कारण सैकड़ों जर्मन हताहत हुए।

पर जर्मन सरकार को भी इस समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। रूह्‌र पर विदेशी सेनाओं का कब्जा हो जाने के कारण उसकी आर्थिक दशा बहुत दयनीय हो गयी थी। दिसम्बर, १९२३ में मार्क की कीमत इतनी अधिक गिर गयी थी कि एक पौण्ड के बदले में १९,००,०००,००० मार्क प्राप्त किये जा सकते थे। सिक्के की कीमत इस अंश तक गिर जाने के कारण जर्मनी में सर्वत्र असन्तोष एवं बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। सरकार इस स्थिति को नहीं सँभाल सकी। अगस्त, १९२३ में स्ट्रास्समान जर्मनी के नये प्रधान मन्त्री बने, और उन्होंने रूह्‌र में निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का परित्याग करने का निर्णय किया। साथ ही, उन्होंने यह भी घोषित किया कि जर्मनी अपने सामर्थ्य के अनुसार हरजाने की किस्तें भी देने को तैयार है; पर इस बात का निर्णय करने के लिए कि हरजाना देने की जर्मनी की कितनी सामर्थ्य है, एक निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति की जानी चाहिए। यह कमीशन हरजाने की समस्या पर विशद रूप से विचार-विमर्श कर अपनी रिपोर्ट प्रदान करे, और उसके अनुसार भावी कार्रवाई की जाये।

डावस योजना—संसार का लोकमत इस समय जर्मनी के साथ हो गया था, और ब्रिटेन फ्रान्स की नीति का उग्र रूप से विरोध करने में तत्पर था। फ्रान्स देर तक अपनी बात पर अड़े नहीं रह सका। जर्मनी द्वारा दिये जाने वाले हरजाने के पूर्णरूप से स्थगित हो जाने के कारण फ्रान्स को भी आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था, और उसके सिक्के फ्रांक की कीमत भी निरन्तर गिरने लग गयी थी। इस दशा में उसने समझौते की नीति को स्वीकार कर लेने में ही अपना हित समझा। हरजाने के प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त करने की बात को उसने स्वीकार कर लिया, और १९२३ का अन्त होने से पूर्व ही इस कमीशन की नियुक्ति कर दी गयी। अमेरिका के मि० डावस इस कमीशन के अध्यक्ष थे, और ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली तथा बेल्जियम के प्रतिनिधि इसमें सदस्य रूप से लिये गये थे। मई, १९२४ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली, और जुलाई में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन लण्डन में हुआ, जिसमें कुछ परिवर्तनों के साथ डावस-योजना को सब ने स्वीकार कर लिया। इस योजना की प्रधान बातें निम्नलिखित थीं—(१) जर्मनी की आर्थिक स्वतन्त्रता व प्रभुसत्ता को पुनः स्थापित किया जाये, और इस प्रयोजन से रूह्‌र के प्रदेश से विदेशी सेनाओं को हटा लिया जाये। (२) जर्मनी में एक नये राजकीय बैंक (Reichsbank) की स्थापना की जाये। इसका संचालन करने के लिए जो बोर्ड बनाया जाये, उसके १४ सदस्य हों, जिनमें से ७ जर्मन और ७ विदेशी विशेषज्ञ हों। बोर्ड का अध्यक्ष विदेशी विशेषज्ञों में से नियुक्त किया जाये। पचास वर्ष तक पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार केवल इस बैंक के हाथों में रहे, और हरजाने की जो रकमें जर्मनी द्वारा प्रदान की जानी हों, वे भी इसी बैंक में जमा करायी जाया करें। (३) पहले साल जर्मनी हरजाने के रूप में २५ करोड़ डालर प्रदान करे, और फिर धीरे-धीरे इस रकम

को बढ़ा कर ६२॥ करोड़ डालर वार्षिक तक कर दिया जाये। (४) चार वर्ष के पश्चात् हरजाने की रकम कितनी हो, इसका निर्धारण जर्मनी की आर्थिक समृद्धि के सूचक-अंकों (Index number) के आधार पर किया जाया करे। (५) जर्मनी की आर्थिक दशा का सुधार करने के लिए उसे तुरन्त २० करोड़ डालर कर्ज दिया जायें। (६) जर्मनी ठीक समय पर हरजाने की किस्तें अदा करता रहेगा इस प्रयोजन से उसकी राजकीय आमदनी के कतिपय स्रोत अमानत के रूप में रहें। ये स्रोत परिवहन (यथा रेलवे) पर टैक्स आल्कोहल, तमाखू और चीनी पर टैक्स तथा तट-कर हों। यदि जर्मन सरकार स्वयं समय पर हरजाने की किस्त अदा न करे, तो इन आमदनियों से वह किस्त वसूल की जा सके। (७) डावस-योजना का जर्मनी द्वारा अविकल रूप से पालन किया जा रहा है या नहीं, इस पर देख-रेख रखने के लिए हरजाना कमीशन की ओर से एक विदेशी व्यक्ति को एजेण्ट-जनरल नियुक्त किया जाये, और उसकी सहायता के लिए कतिपय अन्य विदेशी कमिशनरों की नियुक्ति की जाये।

मार्क की कीमत सँभालने और जर्मनी की मुद्रा-पद्धति में फिर से जान डालने के लिए नयी मुद्रा-पद्धति को शुरू किया गया। इस नये सिक्के का नाम रीशमार्क रखा गया, और इसकी कीमत एक शिलिंग रखी गयी। यह सिक्का रीशबैंक द्वारा जारी किया जाता था, जर्मन सरकार द्वारा नहीं।

डावस-योजना द्वारा यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नयी नीति का सूत्रपात हुआ। अब तक जर्मनी से बदला लेने और उसे सर्वथा अशक्त बना देने की भावना प्रबल थी। पर अब समय बदल रहा था। महायुद्ध की कटु स्मृतियाँ अब मन्द पड़ने लग गयी थीं। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री इस समय रामज़े मैकडानल्ड थे, और वहाँ मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बन गया था। फ्रान्स में मई, १९२४ में जो नया चुनाव हुआ, उसके परिणामस्वरूप पोअन्कारे का मन्त्रिमण्डल पदच्युत हो गया और उनके स्थान पर हेरियो प्रधान मन्त्री बने। हेरियो फ्रान्स की रेडिकल पार्टी के नेता थे, और जर्मनी के प्रति उदार नीति के अनुसरण के पक्षपाती थे। मैकडानल्ड और हेरियो के प्रगतिशील विचारों के कारण ही डावस-योजना स्वीकृत हो सकी थी, और उस द्वारा जर्मनी की दशा के सँभलने में बहुत सहायता मिली।

यद्यपि डावस-योजना द्वारा जर्मनी को अनेक सुविधाएँ दी गयी थीं और उससे जर्मनी को आर्थिक दशा के सुधरने में मदद भी मिली थी, पर उससे उसकी सब कठिनाइयाँ दूर नहीं हो सकीं। हरजाना कमीशन ने जर्मनी से वसूल की जाने वाली जो भारी रकम (३२०० करोड़ डालर) नियत की थी, डावस कमीशन ने उसमें कोई कमी नहीं की थी। यह सन्दिग्ध था कि जर्मनी कभी भी इस रकम को अदा कर सकेगा। डावस-योजना के अनुसार वार्षिक किस्तों की राशि में कमी अवश्य कर दी गयी थी, पर ये किस्तें जर्मनी को कब तक देते रहना होगा, यह निर्धारित नहीं किया गया था। ३२०० करोड़ डालर की रकम पर जर्मनी को सूद भी देना होता था। सूद

के साथ मूलधन की अदायगी में कितना समय लगता, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। हरजाने के सम्बन्ध में विदेशी नियन्त्रण की जो व्यवस्था डावस-योजना द्वारा की गयी थी, उससे भी जर्मनी में असन्तोष था। इस नियन्त्रण के लिए नियुक्त एजेण्ट-जनरल गिल्बर्ट ने ठीक ही कहा था, कि जब तक जर्मनी को विदेशी नियन्त्रण से मुक्त कर अपनी जिम्मेवारी पर काम करने का अवसर नहीं दिया जायगा, हरजाने की समस्या कभी समुचित रूप से हल नहीं हो पायेगी। र्‌हाइनलैंड पर जो मित्र-पक्ष के राज्यों की सेनाओं का कब्जा था, उससे भी जर्मन लोग बहुत असन्तुष्ट थे।

यंग कमीशन को योजना—धीरे-धीरे यूरोप की राजनीति में परिवर्तन आ रहा था, और ब्रिटेन, फ्रान्स आदि देशों के राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे थे कि जर्मनी को सर्वथा कुचल देने की अपेक्षा उसके प्रति सहयोग की नीति को अपनाना अधिक श्रेयस्कर है। इसी कारण १९२८ में जब राष्ट्रसंघ की नवीं बैठक जिनीवा में हो रही थी, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली, बेल्जियम और जापान के प्रतिनिधि एक स्थान पर एकत्र हुए और उन्होंने यह निर्णय किया कि हरजाने की समस्या को स्थायी रूप से सुलझाने के लिए एक नयी कमेटी की नियुक्ति की जाये। बाद में संयुक्त-राज्य अमेरिका को भी इस कमेटी में शामिल होने के लिए निमन्त्रित किया गया। यही यंग कमीशन नाम से विख्यात है, क्योंकि इसके अध्यक्ष अमेरिका के मि० ओवन डी० यंग थे। यंग कमीशन की पहली बैठक ११ फरवरी, १९२९ के दिन पेरिस में शुरू हुई, और सतरह सप्ताह तक निरन्तर परिश्रम करने के अनन्तर इसने एक नयी योजना पेश की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) जर्मनी को हरजाने के रूप में जो कुल राशि प्रदान करनी थी, उसकी मात्रा को ३२०० करोड़ डालर से घटा कर ८०३,३२,००,००० डालर कर दिया जाये। (२) इस राशि को जर्मनी ५८½ सालाना किस्तों में अदा करे। (३) जर्मनी के आर्थिक जीवन पर कोई नियन्त्रण न रहे। (४) पहले ३७ वर्षों में सालाना किस्त की राशि ५१ करोड़ डालर हो, और बाद में ३९ करोड़। किस्त का एक भाग माल के रूप में भी दिया जा सके।

यंग कमीशन की इस योजना को हरजाना कमीशन और सम्बद्ध राज्यों के सम्मुख उपस्थित किया गया, और बाद में इस पर विचार करने के लिए हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स आयोजित की गयी। इस कान्फरेन्स ने जो निर्णय किये, वे निम्नलिखित थे—(१) फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, इटली और जापान—इन पाँच राज्यों में से कोई भी चार राज्य जब इस योजना को स्वीकृत कर लें, तब इसे क्रियान्वित कर दिया जाए। (२) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक (Bank of International Settlement) कायम किया जाए, जिसका प्रमुख कार्य यह हो कि वह हरजाने की सालाना किस्त को वसूल कर सब राज्यों में समुचित रूप से विभक्त कर दे। (३) र्‌हाइनलैण्ड के प्रदेशों को मित्र-राज्यों की सेनाएँ शीघ्र खाली कर दें। (४) यदि किन्हीं कारणों से यह वाञ्छनीय समझा जाए कि जर्मनी से

वसूल की जाने वाली सालाना किस्तों की वसूली को सामयिक रूप से स्थगित करना आवश्यक है, तो उन्हें अधिक से अधिक दो वर्षों तक के लिये स्थगित किया जा सके। पर किसी भी अवस्था में सालाना किस्त को पूर्ण रूप से स्थगित न किया जाए। सालाना किस्त का एक तिहाई भाग अनिवार्य रूप से जर्मनी से प्रति वर्ष अवश्य ही वसूल किया जाया करे, और जब कभी सालाना किस्त की वसूली को स्थगित करना जरूरी समझा जाए, तो उसका जो एक तिहाई भाग वसूल किया जाए, उसका ७५ प्रति शत फ्रांस को प्रदान किया जाए।

लोज़ान कान्फरेन्स—यंग-योजना को स्वीकृत हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था कि संसारव्यापी आर्थिक संकट का प्रारम्भ हो गया। १९२९ में सर्वत्र कीमतें गिरनी शुरू हो गई थीं। यह प्रक्रिया १९३० और १९३१ में जारी रही। १९३१ तक कीमतें इस हद तक गिर गई थीं कि कारखानों को भारी नुकसान होने लग गया था। जर्मनी भी आर्थिक संकट के इस तूफान में फँस गया। डावस-योजना के कारण जर्मनी की आर्थिक दशा सँभलनी शुरू हो गई थी। १९२९ में जर्मनी से जो माल अन्य देशों में बिकने के लिये गया, उसकी कीमत २७५ करोड़ डालर के लगभग थी। पर १९३२ में जर्मनी के निर्यात माल की कीमत घट कर १०० करोड़ डालर रह गई थी। पहले जर्मनी के लिये विदेशों में कर्ज ले सकना सुगम था, और अमेरिका व ब्रिटेन के पूँजोपतियों ने उसे भारी रकमें कर्ज में प्रदान भी की थीं। पर आर्थिक मन्दी के दिनों में जर्मनी के लिये कहीं से भी कर्ज ले सकना कठिन हो गया। जर्मनी के कल-कारखाने चौपट हो रहे थे और बेकारों की संख्या में वहाँ निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। इस दशा में जर्मनी के लिये हरजाने की सालाना किस्त को अदा कर सकना सम्भव नहीं रह गया। उसने किस्तों की अदायगी स्थगित करने के लिये मित्र-राज्यों से प्रार्थना की। हरजाने की समस्या पर विचार करने के लिये मित्र-राज्यों के प्रतिनिधि फिर एक बार १९३२ में एकत्र हुए। उनकी यह नई कान्फरेन्स लोजान में हुई। वहाँ एकत्र प्रतिनिधियों ने अनुभव किया, कि जर्मनी के लिये हरजाने की किस्त का अदा कर सकना सचमुच असम्भव है। एक विचार यह प्रस्तुत किया गया कि हरजाने की कुल रकम को घटा कर ७५ करोड़ डालर कर दिया जाए। फ्रांस आदि राज्य परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर इसके लिये भी तैयार हो गये, पर उनका कहना था कि उन्होंने स्वयं जो रकम अमेरिका और ब्रिटेन को देनी है, उसमें भी इसी हिसाब से कमी कर दी जाए। अमेरिका इसके लिये तैयार नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि लोज़ान की कान्फरेन्स असफल हो गई।

हरजाने की अदायगी का अन्त—पर इसके बाद न जर्मनी ने कोई हरजाना मित्रराष्ट्रों को दिया, और न अमेरिका ही अपने कर्ज की रकम को अन्य राज्यों से वसूल कर सका। जर्मनी में अब नाजी पार्टी जोर पकड़ने लग गई थी, और उसके नेता हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी थी कि वह हरजाने की कोई भी

रकम अदा करने को तैयार नहीं है। वर्साय्य की सन्धि के अनुसार जर्मनी ने जो हरजाना मित्र-राज्यों को देना था, उसका कोई भी भाग १९३२ के बाद जर्मन सरकार ने नहीं दिया। साथ ही, अमेरिका और ब्रिटेन ने यूरोप के विविध राज्यों से कर्जों की वसूली द्वारा जो कुछ प्राप्त करना था, वह भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। हरजाने की समस्या स्वयमेव हल हो गई, और जर्मनी तथा यूरोप के अन्य राज्य अपनी-अपनी देनदारियों से मुक्त हो गये। यूरोप की आर्थिक दशा और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ इस समय इतनी जटिल होती जा रही थीं कि हरजाने और राष्ट्रीय देनदारियों की समस्या उनके सम्मुख उपेक्षणीय प्रतीत होने लगी थी।

हरजाने की जो रकम जर्मनी ने १९३२ तक मित्र-राज्यों को प्रदान कर दी थी, उसकी कुल मात्रा ५५० करोड़ डालर थी।

हरजाने की समस्या और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—१९१९ से १९३२ तक के तेरह वर्षों में हरजाने की समस्या यूरोप की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बहुत अधिक प्रभावित करती रही। हरजाने की वसूली के प्रश्न पर सब मित्र-राज्य एक नीति के अनुयायी नहीं थे। विशेषतया, ब्रिटेन और फ्रांस में इस प्रश्न पर भारी मतभेद था। फ्रांस चाहता था कि वर्साय्य की सन्धि का अविकल रूप से पालन किया जाए, और जर्मनी को सर्वथा अशक्त एवं पंगु बना दिया जाए। पर ब्रिटेन का हित इस बात में था कि जर्मनी की आर्थिक दशा में सुधार हो। इसी कारण उसके पूँजीपतियों ने जर्मनी के उद्योग-धन्धों में रुपया लगाया और उसे कर्ज भी दिया। अमेरिका ने भी बहुत बड़ी मात्रा में जर्मनी को कर्ज दिया, और जर्मनी की वह दुर्दशा नहीं होने पायी जो फ्रांस को अभीष्ट थी। जब फ्रांस ने यह देखा कि जर्मनी के प्रति उसकी नीति सफल नहीं हो रही है, और उसका पड़ोसी यह देश फिर से अपनी शक्ति को बढ़ाने में तत्पर है, तो उसे अपनी सुरक्षा के लिये न पेरिस के शान्ति समझौते पर भरोसा रह गया और न राष्ट्रसंघ पर। इसीलिये वह नई गुटबन्दियाँ बनाने में प्रवृत्त हुआ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियाँ

महायुद्ध में जब तक संयुक्तराज्य अमेरिका मित्रराज्यों का पक्ष लेकर शामिल नहीं हुआ था, फ्रांस, इटली, रूस, बेल्जियम और अन्य मित्रराज्यों ने अरबों रुपया ब्रिटेन से कर्ज लिया था। महायुद्ध की लड़ाइयाँ यूरोप के क्षेत्र में ही लड़ी गई थीं, और ब्रिटेन के राज्यक्षेत्र में प्रायः युद्ध ने प्रवेश नहीं किया था। इसी कारण वह अन्य मित्रराज्यों की जी खोल कर आर्थिक सहायता करता रहा। यद्यपि शुरू में अमेरिका युद्ध में तटस्थ था, पर मित्रराज्यों से उसकी सहानुभूति थी। इसी कारण यूरोप के मित्रपक्ष के राज्यों को उसने निःसंकोच रूप से कर्ज दिये थे। जब वह महायुद्ध में शामिल हो गया, तब तो उसने जी खोल कर मित्रराज्यों को आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका की काँग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसके अनुसार

५ प्रतिशत सूद पर ३०० करोड़ डालर मित्रराज्यों को कर्ज देने की व्यवस्था की गई। युद्ध के दौरान में और उसकी समाप्ति के पश्चात् भी अमेरिका मित्रराज्यों को निरन्तर कर्ज देता रहा। इस कर्ज की कुल मात्रा १०,३३,८०,००,००० डालर तक पहुँच गई थी। इस कर्ज का सब से बड़ा भाग (४,२६,६०,००,०००) अकेले ब्रिटेन को दिया गया था। फ्रांस को दिये गये कर्ज की मात्रा ३४० करोड़ डालर थी, और इटली की १६४ करोड़ के लगभग। ब्रिटेन, फ्रांस और इटली अमेरिका के प्रमुख अधमर्ण थे, और थोड़ी-थोड़ी देनदारी बेल्जियम, रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया आदि अन्य राज्यों की भी थी।

पर अमेरिका के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह अपने कर्जदारों से इस भारी रकम को वसूल कर सके। १९२२ तक अमेरिका न तो कर्ज के मूलधन का ही कोई अंश अपने कर्जदारों से प्राप्त कर सका था, और न उसका सूद ही उसे मिला था। कर्ज और सूद की वसूली के लिये अमेरिका ने १९२२ में एक 'महायुद्ध विदेशी कर्ज कमीशन' (World War Foreign Debt Commission) की नियुक्ति की, जिसे अधमर्ण राज्यों के साथ कर्ज की अदायगी के सम्बन्ध में समझौते करने का कार्य सुपुर्द किया गया। १९२३ से १९३० तक इस कमीशन ने अधमर्ण राज्यों के साथ अनेक इस प्रकार के समझौते किये, जिन द्वारा उन्होंने कर्ज की मात्रा तथा सूद को ६२ वर्षों में अदा कर देना स्वीकार किया। जब तक मित्रराज्य जर्मनी से हरजाने की रकमें प्राप्त करते रहे, अमेरिका को भी वे इन समझौतों के अनुसार कर्ज की किस्तें चुकाते रहे। पर १९३१ में जब जर्मनी द्वारा दी जाने वाली हरजाने की किस्त को स्थगित कर दिया गया, तो अमेरिका के कर्जों की अदायगी भी स्वयमेव बन्द हो गई। १९३२ के बाद न जर्मनी ने हरजाने की कोई रकम मित्र राज्यों को दी, और न मित्रराज्यों ने कर्ज की कोई किस्त अमेरिका को। अधमर्ण मित्रराज्यों से कर्ज वसूल किया जाए या नहीं, इस प्रश्न पर अमेरिका का लोकमत एक नहीं था। जो लोग कर्ज की वसूली के पक्ष में थे, उनका कहना था कि पारस्परिक लेन देन की नैतिकता के अनुसार कर्जदार राज्यों का कर्तव्य है कि वे समझौतों के द्वारा निर्धारित रकम यथासमय प्रदान करते रहें। कर्ज को वसूल न करना अमेरिका के करदाताओं के प्रति अन्याय होगा, और यूरोप के राज्यों की साख को कायम रखने के लिये भी यह आवश्यक है कि वे कर्ज को अदा करने में प्रमाद न करें।

जो लोग कर्ज की वसूली के विरुद्ध थे, उनकी अपने पक्ष में यह युक्ति थी कि अमेरिका महायुद्ध में बहुत देर में शामिल हुआ था, उसके बहुत कम सैनिक युद्ध में काम आये थे और उसने स्वयं युद्ध में बहुत थोड़ा खर्च किया था, अतः उसे यह मान कर सन्तोष कर लेना चाहिये कि जो धन उसने मित्रराज्यों को कर्ज में दिया था, वह उसने महायुद्ध में मित्रपक्ष की सफलता के लिये खर्च किया है। महायुद्ध के अवसर पर अमेरिका की आर्थिक व औद्योगिक समृद्धि में बहुत सहायता मिली थी। मित्रराज्यों को

युद्ध के लिये जिन अस्त्र-शस्त्रों तथा अन्य युद्ध-सामग्री की आवश्यकता होती थी, उसे वह प्रधानतया अमेरिका से ही प्राप्त करते थे और उनके कर्ज मुख्यतया इसी सामग्री को प्राप्त करने के कारण हुए थे। अतः उसे यह सन्तोष कर लेना चाहिये कि युद्ध की परिस्थितियों से उसे जो लाभ हुए हैं, वे मित्र-पक्ष के राज्यों को दिये गये कर्ज की तुलना में कहीं अधिक है। व्यापारिक लेन देन की नैतिकता की बात को भी इस मामले में लाना उचित नहीं है, क्योंकि अमेरिका ने जो कर्ज मित्रराज्यों को दिये थे वे विशुद्ध व्यापारिक दृष्टि से न दिये जाकर राजनीतिक दृष्टि से दिये गये थे। अमेरिका का अपना लाभ भी इसी में है, कि वह इन कर्जों को वसूल न करे। यूरोप के राज्य इस कर्ज को नकद या सोने की शकल में तो दे ही नहीं सकते। वे अपने माल को अमेरिका भेज कर ही कर्ज की अदायगी कर सकते हैं। यदि उन्होंने माल की शकल में कर्ज अदा किया, तो उसका परिणाम यह होगा कि विदेशी माल से अमेरिका के बाजार भर जायेंगे, और उससे अमेरिका के कल-कारखानों को भारी नुकसान पहुँचेगा। साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि अमेरिका कर्ज की वसूली के लिए आग्रह करेगा, तो यूरोप के राज्यों की उसके प्रति सद्भावना नहीं रह जायगी। इसके विपरीत यदि वह स्वेच्छापूर्वक अपने दावे का परित्याग कर देगा तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जायगी। फ्रांस और ब्रिटेन आदि कर्जदार राज्य यह भी कहते थे, कि वे अपने कर्जों को तभी अदा कर सकते हैं, जब कि वे जर्मनी से हरजाने की किस्तों को समय पर प्राप्त करते रहें।

१९३०–३१ में यूरोप में घोर आर्थिक संकट का प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व कर्जदार मित्रराज्य अमेरिका के कर्ज को उसी आधार पर चुकाते रहे थे, जिस पर कि वे जर्मनी से हरजाने की किस्तें प्राप्त करते थे। पर विश्वव्यापी आर्थिक संकट के कारण न केवल जर्मनी के लिए हरजाने की सालाना किस्तों को अदा कर सकना सम्भव नहीं रह गया, अपितु मित्रराज्य भी अपनी देनदारियों को अदा कर सकने में असमर्थ हो गये। नाज़ी पार्टी के शक्ति प्राप्त कर लेने पर जब जर्मनी ने हरजाने की रकम की अदायगी से एकदम इन्कार कर दिया, तब तो अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी को अदा कर सकना किसी भी राज्य के लिए सम्भव नहीं रह गया।

(३) आर्थिक संकट का प्रादुर्भाव

आर्थिक संकट के कारण—महायुद्ध की समाप्ति के दस साल बाद न केवल यूरोप में अपितु सम्पूर्ण संसार में आर्थिक संकट के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। यह संकट असाधारण मन्दी और बेरोजगारी के रूप में प्रगट हुआ था। १९२९ के बाद सर्वत्र मुद्रा की कमी हो गई, कीमतें गिरने लगीं, कारखानों तथा अन्य कारोबारों में नुकसान होने लगा, बहुत-सी कम्पनियाँ फेल हो गईं, और लाखों मजदूर बेरोजगार हो गये। बाजार माल से भरे पड़े थे, पर उसे खरीदने वाला कोई नहीं था। लोगों

को सब प्रकार के माल की जरूरत थी, पर उसे खरीदने के लिए उनकी जेबों में पैसा नहीं था। सरकारी आय कम हो गई थी, क्योंकि टैक्स वसूल नहीं होते थे। राजकीय बजटों में घाटे दिखाये जाने लगे थे। आर्थिक संकट का यह भयावह रूप था। हरजाने और अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों पर इसका जो प्रभाव पड़ा, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इसके प्रभाव बहुत व्यापक थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी इसने बहुत प्रभावित किया। इससे पूर्व कि इन प्रभावों का उल्लेख किया जाय, यह उपयोगी होगा कि आर्थिक संकट के कारणों का भी संक्षेप से विवेचन कर दिया जाए।

(१) युद्ध के समय की आवश्यकताओं के कारण उद्योग-धन्धों और कल-कारखानों का असाधारण रूप से विकास हो जाता है। युद्ध के लिए न केवल अस्त्र-शस्त्र चाहिये, अपितु सैनिकों के लिए भोजन और वस्त्र भी चाहिए। उन्हें रणक्षेत्रों तक ले जाने के लिए सवारियों का भी प्रबन्ध होना चाहिएँ। नई सड़कों और पुलों के निर्माण की भी युद्ध के समय आवश्यकता हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि सब प्रकार के औद्योगिक तथा कृषिजन्य पदार्थों की माँग बढ़ जाती है। कल-कारखाने रात-दिन काम करने लगते हैं, उनका मुनाफ़ा बढ़ जाता है और मजदूरों की मजदूरी में भी वृद्धि हो जाती है। सेना में नई भरती के कारण मानव-श्रम की कमी होने लगती है, और कल-कारखानों की समृद्धि के साथ-साथ बेकारी की समस्या स्वयमेव हल हो जाती है। युद्ध के परिणामस्वरूप धन और जन का जो विनाश होता है, उसके कारण युद्ध के बाद के भी कुछ वर्षों में बेकारी और मन्दी की समस्याएँ उत्पन्न नहीं होने पातीं। युद्ध द्वारा जो इमारतें और पुल आदि नष्ट हो जाते हैं, उनके पुनःनिर्माण के लिए लोगों को काम मिलता है, और कल-कारखाने भी युद्ध के समय के समान रात-दिन काम करते रहते हैं। युद्ध में कितने ही जहाज़ डूब जाते हैं, कितने ही नगर उजड़ जाते हैं, और कितने ही कल-कारखाने नष्ट हो जाते हैं। इन सबको पुनः बनाने के लिए आर्थिक उत्पादन तेजी के साथ जारी रहता है। पर बाद में? ये सब कार्य अकस्मात् बन्द होने लगते हैं। कारखानों में माल का उत्पादन तो अब भी होता रहता है, पर उसकी खपत कहाँ हो? उसे क्रय कौन करे? युद्ध समाप्त हो जाने पर सैनिकों को भी सेवामुक्त करना शुरू कर दिया जाता है। ये सैनिक अब कहाँ नौकरी करें या मजदूरी प्राप्त करें। परिणाम यह होता है कि मन्दी और बेरोजगारी का प्रारम्भ हो जाता है। उन्नीसवीं सदी के बड़े युद्धों के बाद भी प्रायः यह स्थिति आयी थी, और १९१४–१८ के महायुद्ध के बाद तो यह परिस्थिति अत्यन्त भयंकर आर्थिक संकट के रूप में प्रगट हुई।

(२) युद्ध के समय नये वैज्ञानिक आविष्कारों और उन्नत उपकरणों व मशीनरी के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। जनता के बड़े भाग के सैनिक आदि के रूप में युद्ध-कार्य में व्यापृत हो जाने के कारण कल-कारखानों, खानों और खेतों में मजदूरों की कमी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप मालिक श्रम के बजाय यन्त्रों पर अधिक भरोसा करने लगते हैं। कल-कारखानों के वैज्ञानिकीकरण (Rationalization)

और कृषि के लिए यन्त्रों के प्रयोग का प्रारम्भ हो जाता है, जिसके कारण मजदूरों की अधिक जरूरत नहीं रह जाती। महायुद्ध के समय में भी यह सब कुछ हुआ था। पर युद्ध की समाप्ति पर जब सैनिक सेवामुक्त हो गये, तो कल-कारखानों और खेतों में उनकी पहले के समान आवश्यकता नहीं रह गई। बेकारी को उत्पन्न करने में यह बात बहुत सहायक हुई। युद्ध की समाप्ति पर कुछ वर्षों तक बेरोजगारी की समस्या ने उग्र रूप धारण नहीं किया, क्योंकि ध्वंस हुए नगरों और कल-कारखानों का पुनः निर्माण करने के लिए मजदूरों की बड़ी संख्या में आवश्यकता थी। पर १९२९-३० तक ये कार्य समाप्त हो चुके थे।

(३) युद्ध के समय बेरोजगारी की समस्या नहीं रहती। लोगों की जेब में पर्याप्त पैसा आ जाता है, जिससे उनकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। वे कल-कारखानों और खेतों में उत्पन्न हुए माल को बड़ी मात्रा में खरीदने लगते हैं। सरकार को भी युद्ध का संचालन करने के लिये सब प्रकार के माल की बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है, जिसके कारण औद्योगिक एवं खेती के माल की माँग में बहुत वृद्धि हो जाती है। माँग के बढ़ने का यह स्वाभाविक परिणाम होता है कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ें। इसी कारण महायुद्ध के समय में और उस के कुछ समय बाद तक कीमतें बहुत ऊँची उठी रहीं। पर बाद के काल में ? जब बेरोजगारी बढ़ने लगी और सरकारों को भी युद्ध के लिये माल की आवश्यकता नहीं रह गई, तो माँग में कमी होने लगी। पर कल-कारखानों के उत्पादन में कमी नहीं आई। नये वैज्ञानिक यन्त्रों को प्रयुक्त कर वे पहले के समान ही अधिक उत्पादन में तत्पर रहे। यही बात अनाज आदि के उत्पादन के सम्बन्ध में भी हुई। माँग और क्रय शक्ति की कमी और माल की प्रचुरता के कारण यह अवश्यम्भावी था कि कीमतें नीचे गिरने लगें और मन्दी के युग का प्रारम्भ हो जाए। १९२९ में यही हुआ।

(४) महायुद्ध के बाद के काल में संसार का सोना (एवं सोने पर आश्रित मुद्राएँ) बहुत बड़ी मात्रा में अमेरिका और फ्रांस में एकत्र हो गया था। युद्ध के समय अमेरिका को अपनी औद्योगिक उन्नति का अपूर्व अवसर हाथ लगा था। पहले वह लड़ाई में शामिल नहीं हुआ, और अपना तैयार माल, भोजन-सामग्री और अस्त्र-शस्त्र मित्र-राज्यों को देता रहा। जब वह लड़ाई में शामिल हो गया, तो भी वह रणक्षेत्र से बहुत दूर रहा। महायुद्ध का कोई ध्वंसकारी असर उसके आर्थिक उत्पादन पर नहीं पड़ा। उसके कल-कारखाने पूरे जोर के साथ काम करते रहे, और अन्य देशों को बहुत बड़ी मात्रा में माल देते रहे। अन्य देश उसके कर्जदार होते गये। इस कर्ज की मात्रा १०,३३,४०,-००,००० डालर थी। बाद में इसका अच्छा बड़ा अंश रद्द कर दिया गया था। पर कर्ज की अदायगी में १९३१ तक जो धन अमेरिका ने प्राप्त किया, उसकी राशि भी बहुत पर्याप्त थी। यह धन माल की शकल में अमेरिका को नहीं दिया जा सका था, क्योंकि इससे अमेरिका के कल-कारखानों को नुकसान पहुँच सकता था और अमेरिका के माल

के मुकाबले में अपने माल को सस्ती कीमत कर बेच सकना भी कर्जदार राज्यों के लिये सम्भव नहीं था। यह रकम अमेरिका ने सोने या सोने पर आश्रित मुद्राओं के रूप में ही प्राप्त की। इस कारण उसके पास संसार का बहुत-सा सोना संचित हो गया। फ्रांस ने युद्ध में बहुत नुकसान उठाया था। अतः जर्मनी से जो भी हरजाना वसूल हो सका, उसका आधे से भी अधिक भाग फ्रांस ने ही प्राप्त किया। परिणाय यह हुआ कि फ्रांस के पास भी सोना एकत्र होने लगा। अनुमान किया गया है, कि १९३० के अन्त तक रूस के अतिरिक्त संसार के अन्य सब देशों के पास जितना कुल सोना था, उसका ६० प्रतिशत अमेरिका और फ्रांस के पास था। सोना मुद्रापद्धति का आधार होता है, और मुद्रा की कीमत उसी से मापी जाती है। जब कि विभिन्न देशों के पास सोने की कमी हो गई, तो उनकी मुद्रापद्धति सोने पर आधारित नहीं रह सकी। ब्रिटेन तक को सुवर्णमान का परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ा। यह दशा भी आर्थिक संकट के प्रादुर्भाव में सहायक हुई।

(५) महायुद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल मिला था। यूरोप के जिन अनेक नये राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर किया गया था, वे सब अपनी राष्ट्रीय उन्नति और उत्कर्ष के लिये तत्पर थे। अपनी सुरक्षा और उन्नति के लिये वे यह भी आवश्यक समझते थे कि आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में भी वे आत्मनिर्भर हो जाएँ। वे सब नये कल-कारखानों की स्थापना में तत्पर थे, और अपनी आवश्यकता के तैयार माल का स्वयं उत्पादन करने को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उपयोगी मानते थे। पर अपने कल-कारखानों को उन्नत कर सकना उनके लिये तभी सम्भव था, जब कि विदेशी मुकाबले से वे अपने नये उद्योगों की रक्षा करें। इसके लिये उन्होंने संरक्षण नीति का आश्रय लिया, और विदेशी माल पर भारी आयात-कर लगाये। इस का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन जैसे उन्नत देशों के लिये अपने तैयार माल को मध्य और पूर्वी यूरोप के देशों में बेच सकना सम्भव नहीं रह गया। विदेशों के बाजार इन राज्यों के लिये बन्द होने लगे, और उनके तैयार माल की माँग बहुत कम हो गई। इसी कारण अमेरिका और ब्रिटेन आदि में आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, और उसका प्रभाव अन्यत्र भी पड़ा।

(६) अमेरिका में न सोने की कमी थी और न धन की। वहाँ तो इनकी इतनी अधिक प्रचुरता थी कि अमेरिका के सरकारी खजाने और बैंक सोने से भरपूर थे। पर महायुद्ध के समय अमेरिका की उत्पादन-क्षमता में जो असाधारण वृद्धि हो गई थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। वहाँ के तैयार माल को खपाया कहाँ जाए, यह प्रश्न अत्यन्त विकट था। यह माल अमेरिका में नहीं खप सकता था, क्योंकि वह उसकी अपनी ज़रूरत से बहुत अधिक था। इसे दूसरे देशों में ही खपाया जा सकता था। पर अन्य देश संरक्षण नीति का अनुसरण कर अमेरिकन माल के मार्ग में दीवारें खड़ा करने में तत्पर थे। साथ ही, अन्य देशों के पास इसे खरीदने के लिये जो सिक्का या सोना

अपेक्षित था, उसका भी अभाव था। इस दशा में अमेरिका के माल की खपत मुश्किल हो गई। वहाँ जो आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, वह सिक्के की कमी से न होकर माल की अधिकता के कारण हुआ। इसीलिए अमेरिका में भी माल की कीमतें गिरने लगीं। १९२९ में वहाँ विभिन्न वस्तुओं की कीमतें आधी रह गई थीं। कारखानों को जबर्दस्त घाटे का सामना करना पड़ रहा था, और शेयर बाजार में कम्पनियों के शेयरों की कीमतें गिरने लग गई थीं।

(६) यदि इस समय संसार के विविध राज्य आर्थिक क्षेत्र में भी परस्पर सहयोग से काम करने का प्रयत्न करते, तो वे इस स्थिति को सँभाल सकते थे। पर आर्थिक सहयोग की स्थापना का कोई प्रयत्न इस काल में नहीं किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग का इस काल में इतना अधिक अभाव था कि जब यूरोप में लाखों आदमी बेकार थे, अमेरिका ने बाहर से आकर बसने वाले लोगों के मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित कर दीं। १९०१ से १९१० तक के दस वर्षों में ९० लाख के लगभग आदमी यूरोप से अमेरिका में बसने के लिये गये थे। अगले दस सालों (१९११-२०) में बाहर से आकर अमेरिका में बसने वाले लोगों की संख्या ६० लाख थी। पर १९२१ से इस संख्या में निरन्तर कमी आती गई। अमेरिका की सरकार ने अनेक कानून पास किये, जिन द्वारा अमेरिका जाकर बसने वाले लोगों की संख्या १,५०,००० वार्षिक नियत कर दी गई। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी, इटली आदि यूरोपियन राज्यों से बहुत कम लोग अमेरिका जा सके। यदि ये कानून न बनते, तो यूरोप के लाखों बेकार आदमी इस समय अमेरिका जा बसते। इससे दो लाभ होते—(क) अमेरिका के कल-कारखाने बहुत बड़ी मात्रा में जो माल तैयार कर रहे थे, उसके खरीदार उन्हें अपने देश में ही मिल जाते और वहाँ कीमतों में बहुत कमी न आने पाती (ख) यूरोप में बेकारों की संख्या कम हो जाती। वहाँ न केवल आर्थिक संकट कम उग्र होता, अपितु इटली आदि देशों में उपनिवेशों की प्राप्ति और साम्राज्य विस्तार के लिये जो घोर बेचैनी पैदा हो रही थी, वह भी न होती।

(८) डावस-योजना द्वारा जर्मनी को अन्य देशों से कर्ज लेने का अवसर दिया गया था। अनुमान किया गया है कि डावस-योजना के स्वीकृत होने के बाद के पाँच सालों (१९२३-२८) में जर्मनी ने ३५० करोड़ डालर के लगभग धन विदेशों से कर्ज के रूप में प्राप्त किया था। इस कर्ज के कारण जर्मनी में आर्थिक समृद्धि का प्रारम्भ हुआ था, और वहाँ के कल-कारखाने समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर होने लग गये थे। फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन आदि मित्र-राज्यों को तो अमेरिका पहले से ही कर्ज देने में तत्पर था, और ये देश अमेरिका से धन प्राप्त कर अपनी आर्थिक दशा को सुधारने में तत्पर थे। पर जब १९२९ में सर्वत्र आर्थिक संकट के चिह्न प्रकट होने शुरू हुए, और अमेरिका को अपने कर्जों की वसूली कठिन प्रतीत होने लगी, तो उसने नये कर्ज देना बन्द कर दिया। यूरोप की आर्थिक दशा पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उसके लिये अपनी

आर्थिक स्थिति को सँभाल सकना कठिन हो गया, और अनेक बैंकों एवं कम्पनियों को दिवालिया हो जाने के लिये विवश हो जाना पड़ा। अनेक राज्यों के सिक्कों की कीमतें गिरने लगीं, और आर्थिक संकट उपस्थित हो गया।

आर्थिक संकट दूर करने के प्रयत्न—यूरोप के अनेक राजनीतिज्ञ इस प्रश्न पर विचार करने में तत्पर थे कि विभिन्न राज्य किस प्रकार परस्पर सहयोग द्वारा इस आर्थिक संकट को दूर कर सकते हैं। १९२९ की ग्रीष्म ऋतु में फ्रान्स के श्री ब्रियां ने घोषित किया कि अब वह समय आ गया है, जब कि यूरोप के सब राज्यों को मिल कर अपना एक संघ (United States of Europe) बना लेना चाहिए, जो न केवल उनके राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित करे, अपितु उनमें आर्थिक सहयोग भी स्थापित करे। श्री ब्रियां के इस विचार को राष्ट्रसंघ की एक उपसमिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया गया, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला। पर ब्रियां के इस प्रस्ताव से निर्देश लेकर जर्मनी ने यह योजना बनाई कि आस्ट्रिया के साथ मिल कर वह एक आर्थिक संघ बना ले, जिससे कि ये दोनों राज्य राजनीतिक दृष्टि से पृथक् सत्ता रखते हुए भी एक-सदृश आर्थिक नीति का अनुसरण कर सकें। दोनों राज्य पारस्परिक व्यापार में रियायती आयात-कर की नीति को अपनायें और पड़ोस के अन्य राज्यों को भी इस संघ में सम्मिलित हो जाने के लिए निमन्त्रित करें। चेकोस्लोवाकिया इस संघ में सम्मिलित होने को तैयार था, क्योंकि उसका विदेशी व्यापार प्रधानतया जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ था। डैन्यूब नदी के तटवर्ती अन्य राज्य भी इस संघ में शामिल होना अपने लिए हितकर समझते थे, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से उनका जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। पर फ्रान्स ने जर्मनी की आर्थिक संघ की इस योजना का घोर विरोध किया, क्योंकि वह समझता था कि जर्मनी इस द्वारा अपने राजनीतिक उत्कर्ष के लिए मैदान तैयार कर रहा है। फ्रान्स के विरोध के कारण जर्मनी के आर्थिक संघ का विचार क्रियान्वित नहीं हो सका।

हरजाने की समस्या और अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों के प्रश्न को हल करने के लिए जो प्रयत्न इस काल में हुए, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर १९२९ में जिस आर्थिक संकट का प्रारम्भ हुआ था, उसका निराकरण अत्यन्त महत्त्व की बात थी। अतः राष्ट्रसंघ द्वारा यह निश्चय किया गया कि संसार के सब राज्यों का एक विश्व-सम्मेलन लण्डन में बुलाया जाये, जिसमें आर्थिक संकट को दूर करने के उपायों पर सब राज्य परस्पर मिल कर विचार-विमर्श करें। यह सम्मेलन १९३३ में लण्डन में हुआ, और इसमें ६४ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सम्मेलन के प्रारम्भ होने के समय विविध राज्यों में आर्थिक संकट ने कितना उग्र रूप धारण कर लिया था, इसका अनुमान राष्ट्रसंघ द्वारा तैयार की गयी उस रिपोर्ट से किया जा सकता है, जो सम्मेलन के प्रतिनिधियों के सम्मुख उपस्थित की गयी थी। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) संसार के विविध राज्यों में बेकार मजदूरों की संख्या कम से कम

तीन करोड़ है। (२) दुनिया के बाज़ारों में कच्चे माल की क़ीमतों में ५० से ६० प्रतिशत तक की कमी आ गयी है। (३) विभिन्न देशों की मुद्रा-पद्धतियों के अस्त-व्यस्त हो जाने और अनेक देशों द्वारा संरक्षण-कर की नीति को अपना लेने से विदेशी व्यापार की मात्रा में भारी कमी आ गयी है। (४) माल की क़ीमतें गिर जाने से उत्पादकों को भारी नुकसान पहुँच रहा है, और इस कारण सरकारी आमदनी में भी बहुत कमी आ गयी है। (५) बहुसंख्यक राज्यों ने अपनी मुद्रा-पद्धति से सुवर्ण के साथ सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया है, ताकि अपने खर्च को मुद्रा-स्फीति द्वारा पूरा कर सकें। (६) अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों का अदा कर सकना सम्भव नहीं रह गया है।

लण्डन-कान्फरेन्स के सम्मुख निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये गये—(१) विदेशी व्यापार के क्षेत्र में संरक्षण-नीति का अन्त कर परस्पर सहयोग की नीति का अनुसरण किया जाये, ताकि विविध देशों के माल को सुगमता के साथ खपाया जा सके। (२) मुद्रा-स्फीति की नीति का अनुसरण किया जाये, ताकि कीमतें ऊँची उठ सकें, और कल-कारखानों के नुकसान को दूर कर बेकारी को भी समाप्त किया जा सके। कान्फरेन्स में दोनों विचारों पर खूब विचार-विमर्श हुआ, पर कोई ठोस परिणाम नहीं निकल सका।

पर इस समय तक आर्थिक संकट दूर होना प्रारम्भ हो गया था। जर्मनी में नाज़ी सरकार की स्थापना हो चुकी थी, और हिटलर ने यह घोषणा कर दी थी कि जर्मनी को हरजाने की कोई रकम अदा नहीं करनी है। अनेक देशों ने मुद्रा-स्फीति की नीति का अवलम्बन कर अपने सिक्के की कीमत को भी गिरा दिया था। इससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगी थीं। कल-कारखाने देर से बन्द पड़े हुए थे, अतः तैयार माल की मात्रा में भी कमी आ गयी थी। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि आर्थिक संकट की उग्रता कम होने लग गयी, और नाज़ी तथा फासिस्ट पार्टियों के शक्ति प्राप्त कर लेने के कारण यूरोप में युद्ध के बादल फिर से घिरने लग गये। अब विभिन्न राज्यों की शक्ति अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि तथा अन्य युद्ध सामग्री के उत्पादन में लग गयी। सैनिकों की संख्या में भी वृद्धि की जाने लगी, जिससे बेकारी के दूर होने में भी सहायता मिली।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर आर्थिक संकट के प्रभाव

आर्थिक संकट ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। ये प्रभाव विश्व के विविध राज्यों की राजनीतिक दशा में परिवर्तन आने के कारण उत्पन्न हुए थे।

(१) लोकतन्त्र शासनों के प्रति आस्था में इस समय कमी आने लगी। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति द्वारा लोकतन्त्रवाद की जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसके अनुसार राजनीतिक दृष्टि से सब नागरिकों को एक समान माना जाता था। सबके राजनीतिक एवं नागरिक अधिकार एक समान थे, और सबको वोट द्वारा अपने मनचाहे व्यक्तियों

को विधान सभाओं में चुनवा सकने या स्वयं चुने जाने का एक समान अवसर था। पर आर्थिक संकट के कारण यह विचार ज़ोर पकड़ने लगा कि राजनीतिक लोकतन्त्रवाद ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्रवाद और आर्थिक समानता का होना भी आवश्यक है। इसी कारण समाजवाद के विविध आन्दोलन प्रारम्भ हुए और प्रायः सभी देशों में समाजवादी पार्टियाँ किसी न किसी रूप में संगठित होने लगीं। जनता यह समझने लगी कि बेकारी और भुखमरी की समस्यायें पुराने ढंग के लोकतन्त्रवाद से हल नहीं की जा सकतीं। लोकतन्त्र शासनों में धनी पूँजीपति जनता से वोट प्राप्त कर अपनी सत्ता को स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं, और सर्वसाधारण जनता के हितों की उपेक्षा कर स्वार्थ-साधन में तत्पर रहते हैं। अतः ऐसी राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए, जिससे कि जन-साधारण के प्रति न्याय हो सकना और उसकी उन्नति होना सम्भव हो। ग्रेट ब्रिटेन में जो मजदूर दल का उत्कर्ष हुआ और यह पार्टी अपना मन्त्रिमण्डल बना सकने में समर्थ हुई (१९२९), आर्थिक संकट का सूत्रपात भी उसमें महत्त्वपूर्ण कारण था। फ्रान्स में भी आर्थिक संकट के काल में रेडिकल पार्टी ने ज़ोर पकड़ा और ऐसे मन्त्रिमण्डल बने, जिनमें वामपक्षी पार्टियों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। १९३२–३३ में वहाँ पाँच ऐसे मन्त्रिमण्डल बने, जिनमें कम्युनिस्ट तथा अन्य समाजवादी दल भी सम्मिलित थे। जिन राज्यों में वामपक्ष की पार्टियों की सरकारें थीं उनमें सहयोग होना अधिक स्वाभाविक था। चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड जैसे नये राज्यों में भी समाजवादी दलों का प्रभाव बढ़ने लगा, और इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नये तत्त्व का प्रवेश हुआ, जिसके प्रभाव से विविध राज्य परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए जहाँ अपने राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखते थे, वहाँ साथ ही अपनी विचारधारा द्वारा भी प्रभावित होते थे।

(२) लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का एक रूप नाज़ी और फासिस्ट पार्टियों का उत्कर्ष था। जर्मनी में नाजीज्म और इटली में फासिज्म का विकास हुआ, और धीरे-धीरे राजकीय समाजवाद की इस विचारधारा ने यूरोप के अनेक राज्यों को व्याप्त कर लिया। जहाँ नाज़ी या फासिस्ट सरकारें कायम नहीं भी हुईं, वहाँ भी इन पार्टियों का संगठन शुरू हो गया, और यूरोप में प्रायः सर्वत्र ये पार्टियाँ जोर पकड़ने लगीं। स्वाभाविक रूप से विविध राज्यों की ये पार्टियाँ परस्पर सम्पर्क रखती थीं, और अपने राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इस ढंग से संचालित करने का प्रयत्न करती थीं, जिस द्वारा सर्वत्र एक ऐसी आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हो जाये जो नाज़ी या फासिस्ट सिद्धान्तों के अनुरूप हो।

(३) आर्थिक संकट ने अनेक राज्यों को इस बात के लिए भी प्रेरित किया कि वे उद्योग-धन्धों, विदेशी व्यापार और मुद्रा-पद्धति आदि आर्थिक मामलों के सम्बन्ध में संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनायें। महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीयता की जिस प्रवृत्ति को असाधारण शक्ति प्राप्त हुई थी, और जिसके कारण संसार के विविध राज्य

एक-दूसरे के साथ सहयोग करने को प्रवृत्त हुए थे, आर्थिक संकट द्वारा उसे बड़ा आघात लगा। बजाय इसके कि विविध राज्य राष्ट्रसंघ के माध्यम से परस्पर सहयोग द्वारा इस आर्थिक संकट का निवारण करने का प्रयत्न करते, उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में अकेलेपन की नीति को अपनाया और अपने उद्योग-धन्धों की रक्षा एवं उन्नति के लिए संरक्षण-करों का आश्रय लिया।

(४) आर्थिक संकट के कारण अनेक राज्यों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। जापान और इटली जैसे देशों के लिए यह सम्भव नहीं रह गया था कि वे अपने आभ्यन्तर साधनों का उपयोग कर जनता की दशा को उन्नत कर सकें। अतः स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान साम्राज्य-विस्तार की ओर गया। इसी लिए इटली ने अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के प्रयोजन से अबीसीनिया पर आक्रमण किया (१९३६), और जापान के मंचूरिया को हस्तगत करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया (१९३२)। इटली के बेकार लोग इस काल में अमेरिका जाकर नहीं बस सकते थे, क्योंकि वहाँ की सरकार ने बाहर से आने वाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। इटली अपने तैयार माल को अन्य देशों में नहीं बेच सकता था, क्योंकि प्रायः सब राज्य संरक्षण-नीति का अनुसरण कर रहे थे और उसका अपना कोई ऐसा साम्राज्य नहीं था, जहाँ वह अपने माल को निश्चिन्त होकर बेच सके और जहाँ से उसे कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त हो सके। अफ्रीका के विशाल महाद्वीप में उस समय केवल दो ही राज्य ऐसे थे जो किसी अन्य राज्य की अधीनता में न होकर स्वतन्त्र थे—अबीसीनिया और लिबेरिया। इटली के अधिनायक मुसोलिनी का विचार था कि अबीसीनिया इटली के साम्राज्य-विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र है, क्योंकि उसके दोनों ओर के प्रदेश—सोमालीलैण्ड और अरिट्रिया—इटली की अधीनता में थे। आर्थिक संकट की परिस्थितियों ने मुसोलिनी को प्रेरित किया कि वह अबीसीनिया को जीत कर इटली के अधीन कर ले। यही बात जापान को भी साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रेरित कर रही थी। जापान में आबादी निरन्तर बढ़ती जा रही थी, और साथ ही बेकारी भी। औद्योगिक क्षेत्र में जापान यूरोपियन राज्यों से किसी भी प्रकार कम नहीं था। पर उसके लिए यह कठिन था कि विदेशों में अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सके। चीन की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठा कर उसने मंचूरिया में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार प्रारम्भ किया और केवल इसी प्रदेश से सन्तुष्ट न रह कर चीन में और अधिक आगे बढ़ना शुरू कर दिया। इसी कारण चीन-जापान के युद्ध का सूत्रपात हुआ (१९३७)। विश्व के विविध राज्य जो इस काल में राष्ट्रसंघ की परवाह न कर अपने-अपने साम्राज्यों के विस्तार में तत्पर हुए और जिसके परिणामस्वरूप १९३९ में दूसरे महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ, उसका एक आधारभूत एवं प्रधान कारण आर्थिक संकट से उत्पन्न परिस्थितियाँ ही थीं।

पाँचवाँ अध्याय

विश्व के विविध राज्य और उनकी राजनीतिक प्रगति

(१) जर्मनी में रिपब्लिकन सरकार का शासन

बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का अन्त सन् १९१८ में हुआ था, और लगभग २१ वर्ष पश्चात् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया था। दो महायुद्धों के इस काल में विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उन्हें भलीभांति समझने के लिए यह उपयोगी होगा कि संसार के विविध राज्यों की राजनीतिक प्रगति का संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया जाये। १९१९–१९३९ के बीस वर्षों में विभिन्न राज्यों में जो आन्तरिक प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं, उन्हें जाने बिना इस काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझ सकना कठिन होगा।

जर्मनी में राजसत्ता का अन्त—महायुद्ध में जब जर्मनी की निरन्तर पराजय होने लगी और वहाँ की जनता में भी क्रान्ति के चिह्न प्रगट होने लगे, तो परिस्थितियों से विवश होकर ९ नवम्बर, १९१८ के दिन सम्राट् विलियम द्वितीय ने स्वयमेव राज-सिंहासन का परित्याग कर दिया। इस दशा में जर्मनी की समाजवादी पार्टी के नेता फ्रीडरिख एबर्ट ने शासन का सूत्र अपने हाथों में ले लिया, और उसी द्वारा दो दिन बाद ११ नवम्बर, १९१८ को मित्रराज्यों के साथ युद्ध बन्द करने के लिए सामयिक सन्धि कर ली गयी। अब जर्मनी से राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, और एबर्ट उसके प्रथम चान्सलर (प्रधानमन्त्री) बने। इस समय दो पार्टियाँ ऐसी थीं, जो एबर्ट के लोकतन्त्र शासन के विरोध में थीं। एक वह राजसत्तावादी पार्टी जो होहेन्ट्-सोलर्न राजवंश के शासन को पुनः स्थापित करना चाहती थी, दूसरे वे उग्र साम्यवादी और कम्युनिस्ट दल जो जर्मनी में रूस के ढंग की क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील थे। इन्हें काबू में रखने के लिए एबर्ट की सरकार को घोर संघर्ष करना पड़ा। आखिर, वह अपने प्रयत्न में सफल हुई, और जब जनवरी, १९१९ में जर्मनी की नई राष्ट्रीय महा-सभा का चुनाव हुआ, तो उसमें एबर्ट के समाजवादी दल और उसकी पक्षपाती अन्य पार्टियों को बहुमत प्राप्त हो गया। ६ फरवरी, १९१९ को राष्ट्रीय महासभा का अधि-वेशन वाइमर में प्रारम्भ हुआ। इस महासभा ने देश के लिए एक नया संविधान स्वीकृत किया, जिसके अनुसार एक सामयिक सरकार की स्थापना की गयी। इस सरकार में एबर्ट को राष्ट्रपति नियुक्त किया गया, और शीडमान को चांसलर। वर्साय्य की सन्धि

इसी सरकार द्वारा स्वीकृत की गयी थी, और उसी के प्रस्ताव पर जर्मनी की राष्ट्रीय महासभा ने भी उसे स्वीकार कर लिया था। क्योंकि राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन वाइमर में हुए थे, इस कारण उस द्वारा जो रिपब्लिक जर्मनी में स्थापित की गयी, वह वाइमर रिपब्लिक के नाम से विख्यात है।

वाइमर रिपब्लिक का शासन—वाइमर की राष्ट्रीय महासभा का कार्य देश के लिए नये संविधान को तैयार करना था। यह कार्य उसने १९१९ में ही सम्पन्न कर लिया था। अब इस महासभा को बर्खास्त कर संविधान के अनुसार पार्लियामेण्ट—जिसमें दो सदन रखे गये थे, राज्यसभा (रीशराट) और लोकसभा (रीशटाग)—का चुनाव किया जाना चाहिए था। पर यह नहीं किया गया। वाइमर की महासभा ने ही पार्लियामेण्ट का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया, और १९२४ तक राज्यसभा और लोकसभा के चुनाव नहीं हुए। इसका कारण यह था, कि इस समय जर्मनी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। वहाँ ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो राजसत्ता के पक्षपाती थे। विशेषतया, पुराने जागीरदार और सैनिक रिपब्लिकन शासन से बहुत असन्तुष्ट थे। वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी को जिन अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करना पड़ा था, उन्हें निमित्त बना कर ये लोग रिपब्लिक के विरुद्ध आन्दोलन करने में तत्पर थे। इन्हें काबू में रखने के लिए एबर्ट की सरकार को बहुत कठिनाई हुई। महायुद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी की आर्थिक दशा बुरी तरह से अस्त-व्यस्त हो गयी थी और हरजाने की भारी रकम भी उस पर लाद दी गयी थी। देश की आर्थिक व्यवस्था को सँभाल सकना बहुत ही कठिन था। पिछले अध्याय में मार्क की दुर्दशा, रूह्‌र पर मित्रराज्यों की सेनाओं का कब्जा, डावस-योजना द्वारा हरजाने की अदायगी के सम्बन्ध में व्यवस्थाएँ, और मुद्रा-पद्धति का नये ढंग से संचालन आदि जिन बातों का उल्लेख किया जा चुका है, वे सब वाइमर रिपब्लिक के शासन काल में ही हुई थीं। उनका यहाँ फिर से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। १९२४ तक जर्मनी का रिपब्लिकन शासन देश की दशा को सुधारने में बहुत कुछ सफल हो गया था, और अमेरिका से भारी मात्रा में कर्ज प्राप्त कर अपनी आर्थिक व औद्योगिक दशा को भी उसने पर्याप्त अंश में सँभाल लिया था।

१९२४ में वाइमर की महासभा द्वारा निर्मित संविधान के अनुसार जर्मनी की पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ। जर्मनी में किसी एक या दो राजनीतिक दलों का अभाव था। वहाँ बहुत-सी राजनीतिक पार्टियों की सत्ता थी, जिन्हें वामपन्थी, दक्षिणपन्थी और मध्यपक्षी वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एबर्ट के नेतृत्व में जिस सरकार के हाथों में अब तक जर्मनी का शासन था, वह मध्यपक्षी पार्टियों की थी। पर १९२४ के चुनाव में दक्षिणपक्ष और वामपक्ष की पार्टियों के उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। परिणाम यह हुआ कि कोई ऐसा मन्त्रिमण्डल नहीं बन सका जो सरकार का संचालन कर सके। १९२४ का अन्त होने से पूर्व ही लोकसभा का दुबारा चुनाव

कराया गया, जिसमें मध्यपक्षी दलों के उम्मीदवार अच्छी बड़ी संख्या में चुने गये। १९२४ से १९२८ तक जर्मनी में अनेक मन्त्रिमण्डल बने, पर राजशक्ति प्रायः मध्यपक्षी पार्टियों के ही हाथों में रही।

फरवरी, १९२५ में एबर्ट की मृत्यु हो गयी। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव सर्वसाधारण जनता के वोटों द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गयी थी, और वही व्यक्ति इस पद पर चुना जा सकता था जो ५० प्रतिशत से अधिक वोट प्राप्त कर सके। नये राष्ट्रपति के चुनाव में दक्षिणपक्षी राष्ट्रीय दल के उम्मीदवार हिन्डनवर्ग को सफलता प्राप्त हुई। महायुद्ध के समय हिन्डनवर्ग जर्मन सेना के प्रधान सेनापति थे, और वहाँ की जनता उनके वीर कृत्यों को अत्यन्त आदर व गौरव की दृष्टि से देखती थी। जनता को आशा थी कि उन जैसे वीर सेनानी के नेतृत्व में जर्मनी फिर से अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर सकेगा। पर जर्मनी की लोकसभा में अब भी बहुत-से राजनीतिक दलों की सत्ता थी, और कोई भी मन्त्रिमण्डल स्थायी रूप से देश का शासन कर सकने में समर्थ नहीं हो पाता था। इस काल में जिन राजनीतिक नेताओं ने जर्मनी की सरकार का सञ्चालन किया, उनमें स्ट्रेसमान का नाम उल्लेखनीय है। यह जनता पार्टी (People's Party) के नेता थे, जिसे जर्मनी की दक्षिण-पक्षी दलों के अन्तर्गत किया जा सकता है। कुछ समय के लिये स्ट्रेसमान प्रधानमन्त्री के पद पर भी रहे थे, पर उनका प्रधान कर्तृत्त्व विदेश सचिव के रूप में था। १९२९ तक जर्मनी में जो भी मन्त्रिमण्डल बने, प्रायः उन सबमें वह विदेश सचिव के पद पर रहे। इस युग में जर्मनी की राजनीति प्रायः वैदेशिक सम्बन्धों पर आधारित रहती थी, क्योंकि हरजाने की अदायगी, रूह्‌र पर कब्जा और र्‌हाइनलैण्ड की समस्या आदि का सम्बन्ध अन्य राज्यों के ही साथ था। स्ट्रेसमान ने जर्मनी के विदेशी सम्बन्धों में अनुपम योग्यता प्रदर्शित की, और फ्रांस के ब्रियाँ तथा ग्रेट ब्रिटेन के चेम्बरलेन के साथ सहयोग कर अपने देश की वैदेशिक नीति के निर्धारण तथा आभ्यन्तर शान्ति की स्थापना में अनुपम सफलता प्राप्त की। इन्हीं के प्रयत्न से जर्मनी राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने में भी समर्थ हो सका (१९२६)।

नाज़ी पार्टी का अभ्युदय—जिस समय जर्मनी की रिपब्लिकन सरकार वर्साय्य की सन्धि के अनुसार दी जाने वाली हरजाने की अदायगी के बारे में सुहूलियतें प्राप्त करने के लिये मित्र-राज्यों से समझौते करने में तत्पर थी, जर्मनी में एक नयी शक्ति का अभ्युदय हो रहा था। इस शक्ति ने न केवल वर्साय्य की सन्धि को पैरों तले कुचल दिया, अपितु जर्मनी को एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य के रूप में भी परिवर्तित कर दिया। यह शक्ति हिटलर के रूप में प्रगट हुई थी, जिसने नाज़ी पार्टी का संगठन कर अन्य सब राजनीतिक दलों को सर्वथा अगण्य व अशक्त बना दिया था। हिटलर का जन्म १८८९ में आस्ट्रिया में हुआ था। यद्यपि राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह आस्ट्रियन था, पर महायुद्ध शुरू होने पर वह जर्मनी की सेना में भरती हो गया था। लड़ाई में उसने

अच्छी वीरता दिखाई, और सेना में उच्च पद भी प्राप्त किये। जब युद्ध में जर्मनी परास्त हो गया और उसके नेताओं ने मित्र-राज्यों के साथ सन्धि कर ली, तो उसका खून खौलने लगा। उसका विचार था कि जर्मनी में अब भी इतनी शक्ति है कि वह अपने शत्रुओं को नीचा दिखा सकता है, पर उसके नेता हिम्मत हार गये हैं। युद्ध की समाप्ति पर हिटलर ने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया, और जर्मन जाति का जो घोर अपमान वर्साय्य की सन्धि द्वारा हुआ था, उसका प्रतिशोध करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रयोजन से उसने एक नई पार्टी का संगठन किया जो नाज़ी (राजकीय समाजवादी) कहाती है। इस पार्टी के कार्यक्रम में निम्नलिखित बातें थीं—(१) वर्साय्य की सन्धि को रद्द कराया जाए। (२) जर्मन भाषा बोलने वाले जर्मन जाति के लोग जिन प्रदेशों में निवास करते हैं, उन सब को मिलाकर एक विशाल जर्मन राज्य का निर्माण किया जाए। (३) महायुद्ध से पहले एशिया और अफ्रीका में जो प्रदेश जर्मनी के अधीन थे, उन्हें फिर से प्राप्त किया जाए। (४) जर्मनी की सैन्यशक्ति को क्षीण कर देने के लिये जो व्यवस्थाएँ वर्साय्य की सन्धि में की गई हैं, उन्हें हटा दिया जाए और जर्मनी फिर से अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाने में तत्पर हो। (५) यहूदी लोग जर्मन नहीं हैं। महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के प्रधान कारण ये यहूदी लोग ही थे जो जर्मनी में निवास करते हुए भी जर्मन नहीं हैं। इन यहूदियों से जर्मन नागरिकता के सब अधिकार छीन लिये जाएँ, और उचित तो यह होगा कि उन्हें जर्मनी से निकाल दिया जाए। (६) जो समाचारपत्र और संस्थाएँ देशभक्ति की भावना के विपरीत प्रचार करती हैं, उन्हें बन्द कर दिया जाए। (७) कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त व कम्युनिज्म राष्ट्रीय उन्नति के लिये विघातक हैं, क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्व देते हैं। कम्युनिज्म का विरोध किया जाए, और जर्मनी राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के लिये तत्पर हो। हिटलर अपने विचारों के प्रचार में बड़ी तेजी के साथ तत्पर था। इसे रिपब्लिकन सरकार नहीं रोक सकी। १९२३ में उसे गिरफ़्तार कर लिया गया, और एक साल कैद की सजा दी गई। हिटलर के विरुद्ध मुकदमे के समय उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई, और जब वह जेल से छूटा तो जनता ने उत्साहपूर्वक उसका स्वागत किया। सर्वत्र नाजी पार्टी की शाखाएँ स्थापित की गयीं। हिटलर ने एक स्वयंसेवक सेना भी संगठित की, जिसके सदस्य सैनिक पोशाक पहनते थे। हिटलर को यहूदियों से अपार द्वेष था। वह कहता था, जर्मन लोग विशुद्ध आर्य जाति के हैं, और यहूदी सेमेटिक जाति के। आर्यों का प्राचीन चिह्न स्वस्तिक था। इसीलिये अपनी स्वयंसेवक सेना के लिये जो पोशाक हिटलर ने निर्धारित की, उस में लाल रंग की पट्टी पर स्वस्तिक के चिह्न को अंकित किया गया।

शीघ्र ही हिटलर और उसकी नाजी पार्टी की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई, कि १९३० के लोकसभा के चुनाव में १०७ नाजी उम्मीदवार निर्वाचित हुए। लोकसभा के सदस्यों की कुल संख्या ५७६ थी। उनमें १०७ स्थान प्राप्त कर लेना कोई

साधारण बात नहीं थी। १९३२ में जर्मनी के राष्ट्रपति का नया चुनाव हुआ। इसमें हिटलर हिन्डनवर्ग के मुकाबले में खड़ा हुआ। कुल मिला कर जितने वोट पड़े, उनमें से ५३ प्रतिशत हिन्डनवर्ग को मिले, और ३७ प्रतिशत हिटलर को। हिन्डनवर्ग जैसे गौरवशाली एवं प्रतिष्ठित प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले में ३७ प्रतिशत वोट प्राप्त कर लेना भी बहुत बड़ी बात थी। १९३२ में ही लोकसभा का पुनः निर्वाचन हुआ। इसमें नाजी पार्टी के २३० उम्मीदवार सफल हुए। यद्यपि लोकसभा में नाजी पार्टी स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी, पर अन्य किसी भी पार्टी की तुलना में उसके उम्मीदवार अधिक संख्या में निर्वाचित हुए थे। परिणाम यह हुआ, कि हिटलर को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। पर वह इतने से संतुष्ट नहीं था। लोकसभा को बर्खास्त कर नये चुनाव की व्यवस्था की गई। नये चुनाव में नाजी पार्टी ने ४४ प्रतिशत स्थान प्राप्त कर लिये। राष्ट्रीय विचारों की अन्य पार्टियों के साथ मिल कर अब हिटलर स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सकने में समर्थ हो गया। २३ मार्च, १९३३ के दिन हिटलर ने लोकसभा के सम्मुख एक नया कानून प्रस्तुत किया, जिसे 'राज्य और जनता के संकट के निवारण का कानून' (Law to Combat the Misery of People and Reich) कहते हैं। इसके अनुसार १९१९ के संविधान को स्थगित कर देने और सब राज्य शक्ति हिटलर के हाथों में केन्द्रित कर देने की व्यवस्था की गई थी। लोकसभा में यह कानून स्वीकृत हो गया। ४४१ वोट इसके पक्ष में आए और केवल ६४ विरोध में। अब जर्मन सरकार की सम्पूर्ण शक्ति हिटलर के हाथों में आ गई थी। २ अगस्त, १९३४ को हिन्डनवर्ग की मृत्यु हो गई। हिटलर के मन्त्रिमण्डल ने तुरन्त यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के पदों को मिला कर एक कर दिया जाए। हिटलर प्रधानमन्त्री तो था ही, अब वह जर्मनी का राष्ट्रपति भी बन गया। इस प्रस्ताव पर जनता का लोकमत भी लिया गया। जनता ने ८८ प्रतिशत वोटों द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन किया। हिटलर को 'राष्ट्रपति' शब्द पसन्द नहीं था। वह अपने को फ्यूहरर (नेताजी) कहलाना चाहता था। इस समय से वह जर्मनी का फ्यूहरर बन गया, और अधिनायक (Dictator) के रूप में जर्मनी का शासन करने के लिये प्रवृत्त हुआ।

स्ट्रेसमान द्वारा फ्रांस सौर ब्रिटेन के साथ सहयोग कर जर्मनी की उन्नति करने की जिस नीति का सूत्रपात किया गया था, उसका अब अन्त हो गया। हिटलर के सम्मुख अब एकमात्र यही विचार था कि जर्मनी की सैन्यशक्ति को बढ़ाया जाए और वह संसार में अपना समुचित स्थान प्राप्त करे। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारी परिवर्तन आया, और उसने ऐसी नीति का अवलम्बन करना प्रारम्भ किया, जिसके कारण द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ।

(२) फ्रांस की आन्तरिक राजनीति

महायुद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने पर फ्रांस यूरोप में सबसे शक्तिशाली राज्य हो गया था। आस्ट्रिया-हंगरी और रूस के साम्राज्यों के भग्नावशेषों पर जिन

नये राज्यों का निर्माण हुआ था, वे सब फ्रांस को अपना सहायक एवं मित्र मानते थे। फ्रांस उनका नेतृत्व करता था, कर्ज आदि देकर उनके आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता करता था, और अपने सैनिक अफसर भेज कर उनकी राष्ट्रीय सेनाओं का संगठन करता था। ये राज्य अपनी सुरक्षा के लिए फ्रांस पर भरोसा रखते थे। हरजाने के रूप में जर्मनी से जो भारी धनराशि फ्रांस प्राप्त कर रहा था, उसके कारण उसकी आर्थिक समृद्धि भी खूब हो रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और यूरोप के राज्यों में उसकी स्थिति बहुत ऊँची थी।

पर फ्रांस को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था, वे भी कम विकट नहीं थीं। महायुद्ध के समय उसे भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। उसके जिन उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर महायुद्ध में जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उनकी जन-संख्या ४८ लाख के लगभग थी। लड़ाई की समाप्ति पर यह घट कर केवल २० लाख रह गई थी। इन प्रदेशों के कल-कारखानों, खानों, खेतों और इमारतों का भी बुरी तरह से विनाश हो गया था। महायुद्ध में फ्रांस को जो अन्य प्रकार से नुकसान पहुँचा था, उसे पूरा करना भी बहुत कठिन था। इसीलिए फ्रांस के आन्तरिक शासन को इन कठिनाइयों ने अनेक प्रकार से प्रभावित किया, और वहाँ भी समाजवादी एवं वामपक्षी पार्टियों का विकास हुआ। महायुद्ध के समय में फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लमांसो थे। युद्ध का संचालन उन्हीं द्वारा किया गया था, और उन्होंने ही पेरिस की शान्तिपरिषद् की अध्यक्षता की थी। पर १९२० में उन्होंने अपने पद का परित्याग कर दिया था। १९२४ तक फ्रांस में अनेक मन्त्रिमण्डल बने। फ्रांस की पार्लियामेंट में इङ्गलैण्ड के समान दो या तीन राजनीतिक दल नहीं होते थे। वहाँ बहुत-सी पार्टियों की सत्ता थी, जिनमें से कुछ मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाने में समर्थ हो जाते हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जब कुछ दल मन्त्रिमण्डल की नीति से असहमत होने के कारण उससे पृथक् हो जाते थे, तो दलों की नई गुटबन्दी बनती थी और नया मन्त्रिमण्डल शासन-कार्य को सँभाल लेता था। १९२४ तक फ्रांस में जो मन्त्रिमण्डल बने, वे राष्ट्रीय गुट के थे। इस गुट में सम्मिलित दल राष्ट्रीय दृष्टि से परस्पर सहयोग द्वारा काम करने में तत्पर थे, और उनके प्रयत्न से फ्रांस की आन्तरिक समृद्धि में बहुत सहायता मिली। क्लमांसो के बाद १९२० में मिय्यराँ प्रधानमन्त्री बने, और १९२२ में जब वह राष्ट्रपति पद पर चुन लिये गये, तो पोअन्कारे ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। ये दोनों फ्रांस के राष्ट्रीय गुट के नेता थे, और इनके समय में वे दल ही सरकार बनाने में समर्थ रहे जो इस गुट में शामिल थे।

१९२४ में राष्टीय गुट भंग हो गया। इस समय यूरोप में समाजवाद की लहर जोर पकड़ रही थी। फ्रांस पर भी उसका प्रभाव पड़ा। १९२४ के चुनाव में समाजवादी दलों के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में चुने गये, और उन्होंने वाम पक्ष के एक नये गुट का निर्माण किया। पोअन्कारे को त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा,

और रेडिकल दल के नेता हेरियो ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय ग्रेट ब्रिटेन में भी मजदूर पार्टी का मन्त्रिमण्डल कायम हो चुका था। हेरियो का मत था कि विदेशी राजनीति में फ्रांस को ब्रिटेन के साथ सहयोग से काम करना चाहिए। पर यह तभी सम्भव था, जब जर्मनी के प्रति कठोर नीति का परित्याग कर दिया जाए। पोअन्कारे के समय में रूह्र के प्रदेश पर फ्रेंच सेनाओं के कब्जा कर लेने के कारण जर्मनी में बहुत रोष था। हेरिमो ने रूह्र से फ्रेंच सेनाओं को वापस बुला लिया, और लोकार्नो की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ एक नया समझौता किया (१६ अक्टूबर, १९२५), जिसके अनुसार जर्मनी ने वर्साय्य की सन्धि द्वारा निर्धारित सीमाओं को स्थायी रूप से स्वीकार कर लिया, और उनको परिवर्तित कराने का कोई प्रयत्न न करने का वचन दिया। लोकार्नो की सन्धि के परिणामस्वरूप ही जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हुई। इसमें सन्देह नहीं, कि हेरियो की समाजवादी सरकार यूरोप में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न कर रही थी।

पर शीघ्र ही फ्रांस में भी आर्थिक संकट के चिह्न प्रगट होने शुरू हो गये। फ्रेंच सरकार की आमदनी जर्मनी से प्राप्त होने वाली हरजाने की रकम पर बहुत कुछ निर्भर करती थी। लोकार्नो की सन्धि द्वारा इस रकम में कमी कर दी गई थी। अपने खर्च को पूरा करने के लिए हेरियो की सरकार ने मुद्रास्फीति की नीति का आश्रय लिया, जिसके कारण फ्रांक की कीमत निरन्तर गिरने लगी, और वस्तुओं की कीमतें बढ़नी शुरू हो गईं। इससे जनता में बहुत असन्तोष हुआ। स्थिति को काबू न कर सकने के कारण हेरियो के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। वामपक्ष के विभिन्न समाजवादी दलों ने नये-नये ग्रुप बना कर एक के बाद एक कई मन्त्रिमण्डल बनाए, पर किसी को भी समस्या को हल करने में सफलता नहीं हुई। आखिर, हेरियो और उसके रेडिकल दल ने समाजवादी ग्रुप का साथ छोड़ दिया, और पोअन्कारे के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना। दक्षिण, मध्य और वाम पक्षों के अनेक दल अपने भेदभावों को भुला कर इस मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए। इसीलिए पोअन्कारे के इस मन्त्रिमण्डल को 'संयुक्त राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल' कहा जाता है। फ्रांक की कीमत को गिरने से बचाने में पोआन्कारे को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। १९२८ के चुनाव में इस राष्ट्रीय ग्रुप में सम्मिलित पार्टियों के उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। स्वास्थ्य खराब होने के कारण १९२९ में पोआन्कारे ने तो प्रधानमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, पर राष्ट्रीय दल अपने पद पर आरूढ़ रहा। १९३२ तक फ्रांस पर राष्ट्रीय दल की सरकार का ही शासन रहा, यद्यपि प्रधानमन्त्री बदलते रहे। पहले ब्रियाँ प्रधानमन्त्री बने, फिर तारदियू और उनके पश्चात् लवाल। १९३२ के नये चुनाव में समाजवादी दलों को सफलता प्राप्त हुई, और दक्षिणी एवं मध्य पक्षों के दलों की पराजय हुई। परिणाम यह हुआ कि हेरियो के नेतृत्व में वामपक्ष का मन्त्रिमण्डल पुनः कायम हुआ। पर इस बार हेरियो की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। वामपक्षी दलों में कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार

भी अच्छी बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए थे, और उनकी सहायता के बिना हेरियो का अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं था। दिसम्बर, १९३२ में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। अगले चौदह महीनों में वामपक्ष के पाँच मन्त्रिमण्डल एक के बाद एक करके बने और भंग हुए। अन्त में परेशान होकर हेरियो की रेडिकल पार्टी दक्षिणी और मध्य पक्ष के दलों के साथ मिल गई, और १९३४ में दूमेर्ग के नेतृत्व में नया मन्त्रि-मण्डल कायम किया गया। उसने पोअन्कारे के राष्ट्रीय सम्मिलित दल के पदचिह्नों का अनुसरण करने का प्रयत्न किया। पर शीघ्र ही रेडिकल पार्टी का उससे मतभेद हो गया। १९३५ में दूमेर्ग ने भी त्यागपत्र दे दिया। १९३६ के चुनाव में वामपक्ष की पार्टियों ने मिलकर काम किया। इस पक्ष में तीन मुख्य दल थे—रेडिकल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट। इन तीनों ने पोपुलर फ्रण्ट नाम से एक संयुक्त मोरचे का संगठन किया और चुनाव में इसे असाधारण सफलता प्राप्त हुई। पार्लियामेण्ट के ६० प्रतिशत सदस्य इस संयुक्त मोरचे की दलों के चुने गये। सोशलिस्ट पार्टी के नेता ब्लम प्रधान-मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुए और पोपुलर फ्रण्ट के मन्त्रिमण्डल ने उत्साह के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया।

इस समय यूरोप में नाजी और फासिस्ट पार्टियाँ बहुत जोर पकड़ रही थीं। जर्मनी और इटली में इन पार्टियों के शासन स्थापित हो चुके थे और इंगलैण्ड तथा फ्रांस में भी इस नई विचारधारा का सूत्रपात होने लग गया था। फासिज्म को अपने देश में न आने दिया जाये और लोकतन्त्र शासन की रक्षा की जाये, इसीलिए फ्रांस की जनता ने वामपक्ष का साथ दिया था। अतः ब्लम की सरकार ने ऐसे आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों का प्रारम्भ किया जिनसे सर्वसाधारण जनता को संतोष हो सके। इसीलिए उसने मजदूर वर्ग की सुख-सुविधा के लिए अनेक नये कानून बनाए। पर इसके बावजूद भी ब्लम का मन्त्रिमण्डल देर तक कायम नहीं रह सका। वामपक्ष की सरकार से फ्रांस के पूँजीपति बहुत चिन्तित थे। उन्होंने अपनी पूँजी को फ्रांस से बाहर अमेरिका, ब्रिटेन आदि में भेजना प्रारम्भ कर दिया। इससे फ्रांक की कीमत फिर गिरने लग गई, और एक बार फिर आर्थिक संकट के चिह्न प्रगट होने लगे। मजदूरों को अत्यधिक सुविधाएँ दे देने के कारण आर्थिक उत्पत्ति कम होने लगी, और पैदावार के घटने से वस्तुओं की कीमतें निरन्तर अधिक-अधिक बढ़ती गई। इस दशा को सँभाल सकने में अपने को असमर्थ पाकर १९३७ में ब्लम ने त्यागपत्र दे दिया। पर पोपुलर फ्रण्ट अभी कायम रहा। रेडिकल पार्टी के नेतृत्व में कई मन्त्रिमण्डल बने, पर कोई भी देर तक कायम नहीं रह सका। आखिर, १९३८ में रेडिकल पार्टी पोपुलर फ्रण्ट से अलग हो गई। इस समय यूरोप के क्षितिज में युद्ध के बादल फिर से मँडराने लग गये थे। युद्ध को अवश्यम्भावी समझ कर जनता ने यह अनुभव किया कि सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के विवादग्रस्त प्रश्नों की उपेक्षा कर देश में एक ऐसी सरकार का निर्माण होना चाहिए जो युद्ध की दशा में फ्रांस की रक्षा कर सके। इसीलिए मध्य

और दक्षिणी पक्षों की पार्टियाँ रेडिकल पार्टी के साथ मिल गईं, और दलादिये के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। १९३९ में जब बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, फ्रांस में दलादिये का यही मन्त्रिमण्डल विद्यमान था।

(३) महायुद्ध के बाद ब्रिटेन की प्रगति

महायुद्ध के समाप्त होने के समय ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लायड जार्ज थे। उनके मन्त्रिमण्डल में सब दलों के व्यक्ति सम्मिलित थे, क्योंकि युद्ध के समय में सब दलों के लिए परस्पर मिलकर काम करना उपयोगी था। युद्ध की समाप्ति पर लायड जार्ज की सरकार को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। ब्रिटेन का तैयार माल पहले भारत तथा अन्य एशियन देशों में बड़ी मात्रा में बिका करता था, पर महायुद्ध की परिस्थितियों में भारत ने भी औद्योगिक क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर ली थी, और जापान ने एशिया के बाजारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। दक्षिण अमेरिका के बाजार अब संयुक्तराज्य अमेरिका के हाथों में चले गये थे। जर्मनी से हरजाने के रूप में जो माल फ्रांस और इटली आदि को प्राप्त होता था, उसे ये देश अन्य राज्यों को सस्ती कीमत पर बेच देते देते थे। इस दशा में ब्रिटेन के तैयार माल का विदेशों में बिक सकना कठिन हो गया, और उसके बहुत-से कल-कारखाने बन्द होने लग गये। १९२१ में बीस लाख से भी अधिक मजदूर ब्रिटेन में बेकार थे। आर्थिक दुर्दशा का निवारण करने के लिए लायड जार्ज की सरकार ने अनेक उपाय किये। संरक्षण-नीति का आश्रय लिया, और करों में वृद्धि की गई। सरकार की इस नई नीति से सब लोग संतुष्ट नहीं थे। अतः लायड जार्ज ने त्यागपत्र दे दिया, और बोनर लॉ के नेतृत्व में कन्जर्वेटिव पार्टी ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया (अक्टूबर, १९२२)। कुछ समय बाद बीमारी के कारण बोनर लॉ ने त्यागपत्र दे दिया, और बाल्डविन प्रधान-मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुए। संरक्षण-कर की नीति के वे प्रबल समर्थक थे। उनका विचार था कि इसी नीति का आश्रय लेकर ब्रिटेन के उद्योग-धन्धों की रक्षा की जा सकती है। पर लिबरल और मजदूर दलों के लोग इससे सहमत नहीं थे। उग्र विरोध को दृष्टि में रख कर बाल्डविन ने पार्लियामेण्ट को भंग कर दिया और नया चुनाव कराया। यह चुनाव प्रधानतया मुक्तद्वार वाणिज्य और संरक्षण की नीतियों को सम्मुख रख कर ही लड़ा गया था। १९२३ के इस चुनाव के परिणामस्वरूप पार्लियामेण्ट में विविध दलों की स्थिति इस प्रकार थी—कन्जर्वेटिव २३६, मजदूर दल १९१ और लिबरल पार्टी १५९। कन्जर्वेटिव दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने के कारण बाल्डविन ने त्यागपत्र दे दिया, और मजदूर दल के नेता रामजे मेकडानल्ड ने लिबरल पार्टी के समर्थन से अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। इस चुनाव में मजदूर दल को जो इतनी सफलता प्राप्त हुई थी, उसका कारण यह था कि महायुद्ध के बाद सर्वत्र समाजवाद का जोर होने लग गया था और ब्रिटेन भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा था। पर रामजे

मैकडानल्ड भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सके। उनका विचार था कि यूरोप में शान्ति स्थापित रखने के लिए रूस की बोल्शेविक सरकार से सम्बन्ध स्थापित करना उपयोगी है। पर लिबरल लोग रूस के बहिष्कार को जारी रखना चाहते थे। अक्टूबर, १९२४ में फिर नया निर्वाचन हुआ। इसमें कन्जर्वेटिव पार्टी की विजय हुई। मजदूर दल जो इस चुनाव में असफल रहा, उसका प्रधान कारण रूस के प्रति उसका रुख ही था। १९२४ से १९२९ तक बाल्डविन का कन्जर्वेटिव मन्त्रिमण्डल कायम रहा। इस काल में उसने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। संरक्षण-नीति में इस ढंग से परिवर्त्तन किया गया, जिससे आयात-कर द्वारा अच्छी आमदनी तो होती रहे, पर कच्चे माल को प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो। पर इसी काल में विश्वव्यापी आर्थिक संकट का प्रादुर्भाव हो रहा था, जिसके कारण मजदूरी की समस्या बहुत विकट होती जा रही थी। मन्दी के कारण रोजगार प्राप्त करना कठिन हो गया था और सर्वत्र असन्तोष व्याप्त होने लगा था। १९२९ में जब पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ, तो कन्जर्वेटिव पार्टी की हार हो गई, और अन्य पार्टियों की तुलना में मजदूर दल के उम्मीदवार अधिक संख्या में निर्वाचित हुए। रामज़े मेकडानल्ड ने एक बार फिर मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। पर संसार के अन्य देशों के समान ग्रेट ब्रिटेन भी इस समय आर्थिक संकट में फँस गया था। इस राष्ट्रीय विपत्ति का सामना करने के प्रयोजन से मेकडानल्ड ने अन्य पार्टियों को भी मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया, और इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में भी मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार कायम हुई (१९३१)। अगस्त, १९३१ से १९३९ तक ब्रिटेन में किसी एक पार्टी का शासन न होकर सब दलों का संयुक्त शासन रहा, यद्यपि १९३५ में प्रधान मन्त्री का पद कन्जर्वेटिव पार्टी के नेता बाल्डविन ने प्राप्त कर लिया था, और १९३७ में चेम्बरलेन ने। इस राष्ट्रीय सरकार ने संरक्षण नीति का अवलम्बन कर देश की आर्थिक एवं औद्योगिक दशा को सुधारने में अच्छी सफलता प्राप्त की, और यूरोप की विगड़ती हुई दशा को निगाह में रखते हुए सैन्यशक्ति की वृद्धि पर भी बहुत ध्यान दिया।

(४) रूस में बोल्शेविक शासन

महायुद्ध में रूस मित्र-राज्यों के पक्ष में सम्मिलित था। पर अभी युद्ध पूरे जोरों पर था कि मार्च, १९३७ में वहाँ राज्यक्रान्ति हो गई। सम्राट् निकोलस द्वितीय को राजसिंहासन का परित्याग कर देने के लिए विवश होना पड़ा, और प्रिंस ल्वोव के नेतृत्त्व में एक सामयिक सरकार की स्थापना हुई। रूस की इस राज्यक्रान्ति के कारणों पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है कि रूस का शासन लोकतन्त्रवाद पर आश्रित न होकर एकतन्त्र एवं स्वेच्छाचारी था। ज़ार (सम्राट्) की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए वहाँ लोकतान्त्रिक संस्थाओं का सर्वथा अभाव था। पर स्वतन्त्रता और समानता की जिन भावनाओं का

प्रादुर्भाव फ्रान्स की राज्यक्रान्ति द्वारा हुआ था, रूस भी उनसे अछूता नहीं बचा था। वहाँ की शिक्षित मध्य श्रेणी के लोग उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये आन्दोलन करने में तत्पर थे, और किसान-मजदूर जनता कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी विचारों से प्रभावित होती जा रही थी। महायुद्ध के शुरू में रूसी सेना ने अच्छी क्षमता प्रदर्शित की थी। पर दो साल तक निरन्तर युद्ध करते हुए उसमें शिथिलता के चिह्न प्रगट होने प्रारम्भ हो गये थे। रूस की सेना वीर अवश्य थी, पर उसमें देशभक्ति और राष्ट्रीयता की उन भावनाओं का अभाव था, जो बलिदान और मर मिटने की प्रेरणा देती हैं। यही दशा वहाँ की नौकरशाही की भी थी। रूस के राज-कर्मचारी यह नहीं समझते थे कि वे देश की उन्नति और राष्ट्रसेवा के लिए नियुक्त हैं। उनका आदर्श यही था कि सम्राट् को प्रसन्न कर अपनी उन्नति करते जाएँ। जब महा-युद्ध लम्बा होता गया और दो साल के निरन्तर युद्ध के अनन्तर भी विजय के कोई चिह्न प्रगट नहीं हुए, तो रूस की सेना और नौकरशाही घबरा गई। रिश्वतखोरी और विकृति आदि रूस में पहले से ही विद्यमान थीं। अब यह स्थिति आ गई कि सर्वत्र अशान्ति और असन्तोष व्याप्त होने लगे। इसी समय ईंधन, अनाज और कपड़े में कमी होने लगी। कीमतें ऊँची उठ गईं, और जनता के लिए अपना निर्वाह कर सकना कठिन हो गया। आखिर, ७ मार्च, १९१७ को स्थिति काबू से बाहर हो गई, और क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया।

प्रिंस ल्वोव की सामयिक सरकार ने लोकतन्त्रवाद के आधार पर रूस के लिए संविधान तैयार करने की व्यवस्था की। ल्वोव का विचार था कि रूस में भी फ्रान्स के समान लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जानी चाहिए, और इस प्रकार जो नई सरकार स्थापित हो, उसे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध को जारी रखना चाहिए। पर जनता युद्ध से तंग आ चुकी थी। उसे लड़ाई को जारी रखने से कोई लाभ प्रतीत नहीं होता था। साथ ही, समाजवादी लोग इस प्रयत्न में लगे थे कि रूस में एक ऐसी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था कायम की जाये, जो कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुरूप हो। वे युद्ध के विरुद्ध थे। उन्होंने प्रिंस ल्वोव और उसकी सामयिक सरकार की कोई परवाह नहीं की, और देहातों, खेतों तथा कारखानों में सोवियतों (पंचायतों) का संगठन प्रारम्भ कर दिया। क्योंकि ये सोवियतें भलीभाँति संगठित थीं और इनके सदस्यों के सम्मुख सुनिश्चित आदर्श विद्यमान थे, अतः इनका महत्त्व निरन्तर बढ़ता गया। मई, १९१७ में इन सोवियतों की एक अखिल रूसी कांग्रेस का अधिवेशन मास्को में हुआ। इसमें स्पष्ट रूप से यह घोषित किया गया कि रूसी जनता केवल राजनीतिक क्रान्ति से ही संतुष्ट नहीं हैं, राजनीतिक क्रान्ति के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति का होना भी आवश्यक है। बोल्शेविक (समाज-वादी) लोग अब रूस में इतना जोर पकड़ते जा रहे थे, कि प्रिंस ल्वोव के लिये पूँजी-वाद पर आधारित लोकतन्त्र शासन को वहाँ स्थापित कर सकना सम्भव नहीं रह

गया। उसने त्यागपत्र दे दिया, और करेन्स्की के नेतृत्व में नई सामयिक सरकार का संगठन किया गया। अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की देश की सरकार में कोई स्थिति नहीं थी, पर वास्तविक शक्ति अब उसी के हाथों में आती जाती थी। प्रिंस ल्वोव के समान करेन्स्की भी रूस में लोकतन्त्र सरकार को कायम कर सकने में असमर्थ रहा, और शीघ्र ही उसने भी प्रधान मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया (६ नवम्बर, १९१७)। करेन्स्की जो अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका, उसका एक कारण यह भी था कि अभी रूस महायुद्ध से पृथक् नहीं हुआ था। जर्मन सेनाएँ रूस में निरन्तर आगे बढ़ती जा रही थीं, और रूसी सेनाएँ उनके सम्मुख सर्वथा असहाय थीं। इस कारण सेना में असन्तोष बढ़ रहा था, और वह भी बोल्शेविकों के प्रभाव में आती जा रही थी।

कम्युनिज़्म (बोल्शेविज़्म) की नई विचारधारा का किस प्रकार प्रारम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में संक्षेप के साथ भी यहाँ लिखना अनावश्यक है। कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इस विचारधारा के अनुयायियों को रूस में भी कमी नहीं थी। वहाँ कम्युनिस्टों के प्रधान नेता लेनिन थे। मार्च, १९१७ में जब रूस में पहली राज्यक्रान्ति हुई, तो लेनिन ज्यूरिच में थे। उन्होंने समझा, अपने विचारों को क्रियान्वित करने का अवसर अब उपस्थित हो गया है, और वे रूस लौट आये। उन्हीं के प्रयत्न से करेन्स्की के पतन के बाद रूस में दूसरी राज्यक्रान्ति हुई, और बोल्शेविकों ने राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया। बोल्शेविक लोग युद्ध को जारी रखना निरर्थक समझते थे। उन्होंने जर्मनी और उसके साथी राज्यों से सन्धि कर ली, जो ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि (३ मार्च, १९१८) के नाम से प्रसिद्ध है। अब रूस महायुद्ध से पृथक् हो गया था, और इस कारण मित्र-राज्य उससे बहुत अधिक रुष्ट थे।

बोल्शेविक सरकार की स्थापना तो रूस में सुगमता से हो गई थी, पर उसके विरोधियों की भी कमी नहीं थी। अभी रूस में ऐसे लोग भी थे, जो पुराने रोमनोव राजवंश के एकतन्त्र शासन के पक्षपाती थे। उनके अतिरिक्त लोकतन्त्रवादी लोग भी वहाँ विद्यमान थे, जो अपने देश में फ्रान्स या अमेरिका के ढंग के लोकतन्त्र शासन को स्थापित करना चाहते थे। बोल्शेविक पार्टी में भी ऐसे लोगों की सत्ता थी, जो समाजवाद के पक्षपाती होते हुए भी देश के आर्थिक संगठन को एकदम बदल डालना उचित नहीं समझते थे। मित्रराज्य बोल्शेविकों के इन विरोधियों की पीठ पर थे। लेनिन ने जर्मनी के साथ सन्धि कर के युद्ध की समाप्ति कर दी थी, इस कारण जर्मनी पूर्वी और उत्तरी रणक्षेत्रों से निश्चिन्त होकर अपनी सब सैन्यशक्ति पश्चिमी और दक्षिणी रणक्षेत्रों में लगा देने में समर्थ हो गया था। मित्रराज्य इससे बहुत नाराज़ थे। उनका प्रयत्न था कि रूस से बोल्शेविक शासन का अन्त होकर एक ऐसी सरकार वहाँ कायम हो जाए, जो जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई को जारी रखे। अतः मित्र-राज्यों की सहायता बोल्शेविज़्म के विरोधियों को प्राप्त थी। इसी लिए रूस के विभिन्न क्षेत्रों में बोल्शेविक सरकार के

विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गये। एडमिरल कोचक ने साइबीरिया में, जनरल डेनिकिन ने दक्षिण में, युडेनिख ने उत्तर में और रेनाल ने दक्षिण-पश्चिम में सेनाएँ एकत्र कर बोल्शेविकों के विरुद्ध लड़ाई प्रारम्भ कर दी, और मित्र-राज्य उनकी सब प्रकार से सहायता करने के लिए मैदान में आ गये। इतना ही नहीं, फ्रान्स के जंगी जहाजों ने ओडेसा पर गोलावारी भी शुरू कर दी। पर इस संघर्ष में बोल्शेविकों की विजय हुई, और १९२१ के अन्त तक न केवल रूस में आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई, अपितु फ्रान्स, ग्रीस और पोलैण्ड आदि ने भी यह भलीभाँति अनुभव कर लिया कि बोल्शेविकों को परास्त कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं है।

बोल्शेविक सरकार राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकार करती थी। इसी लिए उसने उन प्रदेशों को अपने स्वतन्त्र एवं पृथक् राज्य स्थापित करने का अवसर दिया, जिनमें रूसी लोगों से भिन्न जातियों का निवास था। पुराना रूसी साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। फिनलैण्ड, लैटविया, एस्थोनिया और लिथुएनिया उसके अन्तर्गत थे। ये सब रूस के उत्तर-पश्चिम में बाल्टिक सागर के तट पर स्थित थे। इन सब को पृथक् राज्यों के रूप में परिणत कर दिया गया, और ये रूस से पृथक् व स्वतन्त्र हो गये।

रूस में बोल्शेविक व्यवस्था को स्थापित करने का प्रधान श्रेय लेनिन को है। उसी के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि रूस जैसे विशाल देश में समाजवादी विचार-धारा के अनुसार एक नये समाज का निर्माण हुआ। जनवरी, १९२४ में लेनिन की मृत्यु हो गयी, और बोल्शेविकों में मतभेदों ने उग्ररूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया। इस समय बोल्शेविक पार्टी में दो वर्ग थे, जिनके नेता क्रमशः ट्राटस्की और स्टालिन थे। ट्राटस्की का मत था कि बोल्शेविकों को विश्व भर में समाजवादी क्रान्ति के लिए अपने प्रयत्न को जारी रखना चाहिए, क्योंकि पूँजीवाद की परिस्थितियों में अकेले रूस में समाजवादी व्यवस्था फल-फूल नहीं सकेगी। अन्य पूँजीवादी देश सैनिक हस्तक्षेप और आर्थिक बहिस्कार द्वारा रूस के समाजवादी राज्य को कायम नहीं रहने देंगे। पर स्टालिन का मत इससे भिन्न था। उसकी दृष्टि में यदि एक देश में समाजवादी व्यवस्था को सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया जाये, तो अन्य देश स्वयं ही उसका अनुकरण करने के लिए उत्साहित होंगे। ट्राटस्की और स्टालिन के इस मतभेद ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया, पर अन्त में स्टालिन की विजय हुई। १९२९ में ट्राटस्की रूस को छोड़ कर विदेश चले जाने के लिए विवश हुआ, और बोल्शेविक रूस की सब शक्ति स्टालिन के हाथों में आ गयी। स्टालिन ने रूस में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में अनुपम कर्तृत्त्व प्रदर्शित किया, और अपने विरोधियों का दमन करने के लिए उसने अत्यन्त कठोर उपायों का आश्रय लिया।

ट्राटस्की के पतन के बाद रूस की बोल्शेविक सरकार ने संसार भर में समाज-वादी व्यवस्था स्थापित करने के विचार का परित्याग कर दिया था। स्टालिन की यह नीति थी कि पूँजीवादी देशों के साथ राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध कायम किये

जायँ, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस अन्य राज्यों के साथ सहयोग से काम करे। स्टालिन के उदय से बहुत पहले लेनिन के समय में भी बोल्शेविकों ने अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। पर ये प्रयत्न सफल नहीं हो सके थे। पूँजीपति राज्य रूस के आर्थिक बहिष्कार को समाप्त कर देने की बात को भी स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुए थे। पर रूस देर तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहिष्कृत नहीं रहा। सबसे पूर्व जर्मनी ने रूस के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया। मई, १९२२ में जर्मनी ने बोल्शेविक सरकार को रूस की वैध सरकार स्वीकृत कर लिया। इससे पूर्व रूस के फिनलैण्ड, एस्थोनिया, लैटविया, तुर्की, लिथुएनिया, ईरान और अफगानिस्तान के साथ ही राजनीतिक सम्बन्धों की सत्ता थी। पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन छोटे राज्यों का विशेष महत्त्व नहीं था। पर किसी बड़े यूरोपियन राज्य ने १९२२ में पूर्व रूस के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था। जब जर्मनी ने रूस के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया, तो अन्य राज्यों के लिए भी मार्ग साफ हो गया। फरवरी, १९२४ में ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बना, और रामजे मैकडानल्ड ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। नई ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी कि रूस के बहिष्कार का अन्त कर उसके साथ भी राजनीतिक सम्बन्ध कायम किये जाएँ, ताकि यूरोप में स्थायी शान्ति के लिये मैदान तैयार हो सके। १९२४ की ग्रीष्म ऋतु में दोनों देशों में सुलहनामे के लिये बातचीत जारी रही, और इसी साल ब्रिटेन ने रूस के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसके बाद फ्रांस, इटली और जापान ने भी रूस के साथ सन्धियाँ कीं। स्टालिन की नीति के कारण यूरोप के राज्यों के लिये यह सम्भव हो गया था, कि वे रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध को विकसित कर सकें। १९२६ में रूस के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रसंघ की आर्थिक परिषदों में उपस्थित होना प्रारम्भ किया। वह अभी तक राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना था, पर अमेरिका के समान (अमेरिका भी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था) रूस के प्रतिनिधि भी राष्ट्रसंघ के विविध कार्यों में सहयोग देने लग गये थे। निःशस्त्रीकरण आदि विभिन्न प्रयोजनों से जिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्सों का आयोजन इस काल में राष्ट्रसंघ की ओर से किया गया, उनमें रूस के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए, और अन्त में १९३४ में रूस राष्ट्रसंघ में पूरी तरह से हाथ बटाने लग गया, और संघ की सदस्यता भी उसे प्राप्त हो गई। अब प्रायः सभी राज्यों के साथ उसके राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, और १९१८ में उसका जो बहिष्कार किया गया था, वह अब समाप्त हो गया था।

(६) इटली में फासिज्म का प्रारम्भ

महायुद्ध में इटली मित्र राज्यों के पक्ष में सम्मिलित था। इटली को आशा थी कि युद्ध की समाप्ति पर वह न केवल आस्ट्रिया-हंगरी के उन प्रदेशों के प्राप्त कर लेगा, जिन पर राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह अपना अधिकार समझता था, अपितु अफ्रीका

में भी अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकेगा। पर उसे निराश होना पड़ा। यूरोप में कुछ नये प्रदेश उसे अवश्य मिले, पर अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार करने की उसकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकी। लीबिया और सोमालीलैण्ड (अफ्रीका में) पहले से ही इटली के अधीन थे। अब उनके साथ लगते हुए कुछ थोड़े-से प्रदेश उसे और मिल गये। पर फ्रांस और ब्रिटेन के मुकाबले में इटली को प्राप्त हुए ये अफ्रीकन प्रदेश बहुत ही कम थे। इटली के राष्ट्रवादी लोग पेरिस की शान्तिपरिषद् के निर्णय से बहुत असन्तुष्ट थे। जिस आकांक्षा से इटली महायुद्ध में मित्रपक्ष की ओर से सम्मिलित हुआ था, वह पूर्ण नहीं हो पायी थी।

महायुद्ध के पश्चात् इटली की सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसकी आर्थिक दशा बहुत बिगड़ गई। फ्रांस और ब्रिटेन के समान इटली समृद्ध कभी भी नहीं था। युद्ध में उसे अस्त्र-शस्त्र और सेना पर बहुत खर्च करना पड़ा था। इसी कारण वह कर्ज से लद गया था। अब युद्ध की समाप्ति पर उसके लिए अपने आय-व्यय को बराबर कर सकना सम्भव नहीं रह गया। समाजवाद की जो लहर रूस से प्रारम्भ होकर यूरोप के अन्य राज्यों में भी प्रवेश कर रही थी, इटली भी उसके प्रभाव में आ गया। शहरों के मजदूर बहुत बड़ी संख्या में बेकार थे। कार्ल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों की ओर वे आकृष्ट होने लगे, और इटली में भी समाजवादी दलों की शक्ति बढ़ने लग गई। नवम्बर, १९१९ में इटली की पार्लियामेंट का जो चुनाव हुआ, उसमें समाजवादी दलों के १५३ उम्मीदवार सफल हुए। सदस्यों की कुल संख्या ५७४ थी। समाजवादी चाहते थे कि इटली में भी रूस के समान कम्युनिस्ट क्रान्ति हो जाए।

महायुद्ध की समाप्ति के समय इटली की पार्लियामेण्ट में लिबरल पार्टी का प्राधान्य था और उसके नेता जिओलेत्ती प्रधानमन्त्री थे। लिबरल पार्टी के लोग लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती थे, और संवैधानिक उपायों से देश की उन्नति एवं आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने की नीति में विश्वास रखते थे। यदि महायुद्ध के बाद इटली को असाधारण रूप से आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता, और पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को प्रबल आघात न लगता, तो लिबरल पार्टी अपनी राजनीतिक स्थिति को कायम रखने में अवश्य समर्थ हो सकती थी। पर इटली की तत्कालीन परिस्थितियों में जहाँ एक ओर कम्युनिस्ट व अन्य समाजवादी दल जोर पकड़ने लगे, वहाँ दूसरी ओर ऐसी राजनीतिक पार्टियों का प्रादुर्भाव हुआ जो कम्युनिज्म के विरुद्ध थीं। इन पार्टियों में दो मुख्य थीं, फासिस्ट पार्टी और कैथोलिक पोपुलर पार्टी। फासिस्ट पार्टी का नेता मुसोलिनी था, और कैथोलिक पार्टी का लुइजी स्तूर्जो। १९१९ के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त कैथोलिक दल के उम्मीदवार भी अच्छी संख्या में निर्वाचित हुए थे। लिबरल पार्टी को इस चुनाव में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो सका था। १९२१ में जिओलेत्ती ने पार्लियामेण्ट

को भंग कर नया चुनाव कराया, जिसमें लिबरल पार्टी के १२२, कैथोलिक पोपुलर पार्टी के १०६, फ़ासिस्ट पार्टी के ३५ और कम्युनिस्ट दल के १६ प्रतिनिधि निर्वाचित हुए। इस पर जिओलेत्तो ने त्यागपत्र दे दिया। पर कोई भी दल इस स्थिति में नहीं था कि पार्लियामेन्ट के बहुमत को अपने साथ रख सके। अतः मन्त्रिमण्डलों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते रहे।

पर इटली के भाग्य में लोकतन्त्र शासन नहीं लिखा था। महायुद्ध की समाप्ति को अभी पाँच साल भी नहीं हुए थे कि वहाँ मुसोलिनी का आधिपत्य स्थापित हो गया। मुसोलिनी फ़ासिस्ट पार्टी का संस्थापक व प्रधान नेता था। शुरू में वह समाजवादी था और कम्युनिज्म में उसकी आस्था थी। अपने कम्युनिस्ट विचारों के कारण १९०८ और १९१२ में उसे जेल की सजा भी भुगतनी पड़ी थी, पर महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर कम्युनिस्ट पार्टी से उसका मतभेद शुरू हो गया। कम्युनिस्टों का विचार था कि युद्ध में इटली को शामिल नहीं होना चाहिए। पर मुसोलिनी का कहना था कि युद्ध में सम्मिलित होकर इटली न केवल अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा कर सकता है, अपितु समाजवादी व्यवस्था भी वहाँ स्थापित की जा सकती है। इटली के युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर मुसोलिनी स्वयं भी सेना में भरती हो गया। १९१६ में वह घायल होकर घर वापस लौट आया। इस समय रूस में राज्यक्रान्ति हो चुकी थी। इटली के कम्युनिस्ट समझते थे कि यह विश्वव्यापी समाजवादी क्रान्ति का श्रीगणेश है। इस कारण युद्ध को जारी रखने का वे विरोध करने लगे थे। धीरे-धीरे मुसोलिनी की शक्ति बढ़ने लगी, और वह एक राजनीतिक नेता बन गया। मार्च, १९१९ में उसने अपने अनुयायियों की एक सभा संगठित की, जिसे 'फ़ासिओ' कहते थे। इस फ़ासिओ का उद्देश्य यह था कि कम्युनिज्म का विरोध किया जाए और एक ऐसे समाजवाद का प्रचार किया जाए जो राष्ट्रीय हितों को सब से ऊपर समझता हो। इस समय रूस के समाजवाद का रूप अन्तर्राष्ट्रीय था। मुसोलिनी कहता था, कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म इटली के राष्ट्रीय हितों के लिए विघातक है। पहला फ़ासिओ मिलानो में कायम हुआ था। अगले दो वर्षों में इटली के प्रायः सभी बड़े नगरों में फ़ासिओ की स्थापना की गई। १९२० में फ़ासिओ की संख्या ११८ थी, और १९२२ में उनकी संख्या बढ़ कर २२०० तक पहुँच गई थी। सर्वत्र उनका जाल-सा बिछ गया था। मुसोलिनी के प्रयत्न से उसकी फ़ासिस्ट पार्टी १९२२ में इटली की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्ति बन गई थी। मुसोलिनी केवल एक नई राजनीतिक पार्टी का संगठन करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गया। उसने एक स्वयंसेवक दल का भी संगठन किया, जिसके सदस्य एक निश्चित वर्दी पहनते थे, सैनिक कवायद करते थे, और कठोर नियन्त्रण में रहते थे। उनका अपना पृथक् झण्डा होता था, और काली कमीज पहनने के कारण वे काली कुरती (Black Shirts) भी कहाते थे। अक्तूबर, १९२२ में फ़ासिस्ट पार्टी की एक काँग्रेस नेपल्स में हुई। इसमें चालीस हजार से भी अधिक स्वयंसेवक सैनिक वर्दी में एकत्र

हुए। २७ अक्तूबर, १९२२ को जिओलेत्ती के लिबरल मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया था। इसके बाद इटली में कोई भी ऐसा मन्त्रिमण्डल नहीं बन सका, जो शक्तिशाली हो। मुसोलिनी ने इस दशा से लाभ उठाया, और अपनी फासिस्ट सेना के साथ रोम की ओर प्रस्थान कर दिया। इटली के राजा विक्टर एमेनुएल तृतीय को अब यह समझने में देर नहीं लगी, कि मुसोलिनी का सामना कर सकना असम्भव है। उसने उसे ही मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द कर दिया (३० अक्तूबर, १९२२)। प्रधानमन्त्री बन कर मुसोलिनी ने पार्लियामेण्ट में निर्वाचन-सम्बन्धी एक नया कानून पेश किया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि चुनाव में जिस पार्टी को सब से अधिक वोट मिलें, उसके पार्लियामेण्ट में दो तिहाई सदस्य रहें, और बाकी एक तिहाई स्थान उन पार्टियों में उस अनुपात से बाँट दिये जाएँ, जिसमें कि उन्हें वोट प्राप्त हुए हों। इस कानून के अनुसार पहला चुनाव एप्रिल, १९२४ में हुआ। क्योंकि सब से अधिक वोट फासिस्ट पार्टी को मिले, अतः पार्लियामेण्ट में दो तिहाई स्थान इसी पार्टी को दे दिये गये। शेष एक तिहाई स्थान कम्युनिस्ट, लिबरल आदि पार्टियों को प्राप्त हुए। अब मुसोलिनी का पार्लियामेन्ट में एकाधिपत्य स्थापित हो गया था, और वह इटली में फासिस्ट व्यवस्था स्थापित करने में तत्पर था। अपने विरोधियों के प्रति उसने कठोर नीति का प्रयोग किया, और वह इटली का एकाधिपति (Dictator) बन गया। देश की आर्थिक, औद्योगिक व राजनीतिक उन्नति करने में मुसोलिनी को बहुत सफलता प्राप्त हुई। उसके सम्मुख एकमात्र यही आदर्श था, कि इटली को एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया जाए और उसकी सरकार का संचालन राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रख कर किया जाए। वह कम्युनिज्म का घोर विरोधी था, और पूँजीपतियों तथा मजदूरों, जमींदारों और किसानों, तथा समाज के सब वर्गों में इस ढंग से सहयोग स्थापित करने की नीति का पक्षपाती था, जिससे सब मिल कर राष्ट्रीय उन्नति के लिये प्रयत्न कर सकें। सैन्यशक्ति के बढ़ाने पर भी उसने विशेष ध्यान दिया, और इस शक्ति का उपयोग साम्राज्य विस्तार के लिये किया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली की स्थिति को सुरक्षित करने के लिये उसने यूरोप में नये गुटों का निर्माण करने का प्रयत्न किया, जिन पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। राष्ट्रसंघ की कोई भी परवाह न कर उसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर अफ्रीका में अपने साम्राज्य का निर्माण करने में वह समर्थ हुआ।

(७) संयुक्तराज्य अमेरिका की राजनीति

संयुक्तराज्य अमेरिका में दो मुख्य पार्टियाँ हैं, डेमोक्रेट और रिपब्लिकन। इनके पृथक्त्व का आधार कोई सुनिश्चित राजनीतिक सिद्धान्त या विचारधारा न होकर वे पृथक् संगठन हैं जो वहाँ विकसित हो गये हैं। अध्यक्षात्मक या राष्ट्रपति के अधीन शासन-पद्धति (Presidential System) के कारण वहाँ के शासन में राष्ट्रपति

की शक्ति बहुत अधिक है, और उसी द्वारा आभ्यन्तर तथा बाह्य नीति का निर्धारण किया जाता है। महायुद्ध के समय संयुक्त-राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन थे, जो डेमोक्रेट पार्टी के थे। पेरिस की शान्तिपरिषद् में उन्होंने उदात्त सिद्धान्तों के अनुसार शान्ति-समझौता कराने का प्रयत्न किया, और राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों को अपने उदात्त सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने में उन्हें अधिक सफलता नहीं हुई। अमेरिका की जनता पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा किये गये निर्णयों से संतुष्ट नहीं थी। इसीलिये अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य तक नहीं बना था। १९२० में राष्ट्रपति का नया चुनाव हुआ, जिसमें डेमोक्रेट पार्टी हार गई और रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार हार्डिंग राष्ट्रपति चुन लिये गये। उनका विचार था कि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य अमेरिका के प्रस्तावों पर समुचित ध्यान नहीं देंगे, अतः उन्होंने इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की सर्वथा उपेक्षा की, और छः मास तक संघ के प्रधानसचिव के किसी पत्र का उत्तर तक भी नहीं दिया। पर १९२२ से राष्ट्रसंघ के प्रति अमेरिकन सरकार के रुख में परिवर्तन आना शुरू हुआ, और संघ द्वारा आयोजित ऐसे सम्मेलनों में, जिनमें किसी ऐसे विषय पर विचार होता था जिसका अमेरिका के साथ भी सम्बन्ध हो, उसने अपने पर्यवेक्षक भेजना प्रारम्भ किया। राष्ट्रपति हार्डिंग का यह भी विचार था, कि शान्तिपरिषद् द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी अमेरिका को स्थान प्राप्त करना चाहिये। इससे पूर्व कि अमेरिका की सीनेट इस सम्बन्ध में कोई निर्णय कर सके, हार्डिंग की मृत्यु हो गई (२ अगस्त, १९२३)। उनकी मृत्यु हो जाने पर उपराष्ट्रपति कूलिज ने राष्ट्रपति पद ग्रहण कर लिया, और १९२४ के चुनाव में वही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो गये। अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में उन्होंने उसी नीति का अनुसरण किया, जिसका प्रारम्भ हार्डिंग द्वारा किया गया था। १९२८ के चुनाव में भी रिपब्लिकन पार्टी को सफलता मिली, और उसके उम्मीदवार हर्बर्ट क्लार्क हूवर राष्ट्रपति चुने गये। इस प्रकार १९२० से १९३२ तक बारह साल निरन्तर रिपब्लिकन पार्टी का अमेरिका में शासन रहा। इस सुदीर्घ काल में यूरोप के विविध राज्यों के सम्मुख जो समस्याएँ उपस्थित हुईं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जर्मनी और उसके साथियों से लिया जाने वाला हरजाना, अमेरिका के कर्ज़ की देनदारी की समस्या, आर्थिक संकट और नाज़ीज़्म, फासीज़्म तथा कम्युनिज़्म का विकास—ये ऐसी बातें थीं जिनमें अमेरिका के लिये पूर्ण तटस्थ रह सकना सम्भव नहीं था। इसी कारण अमेरिका राष्ट्रसंघ के कार्य-कलाप की भी उपेक्षा नहीं कर सका। हरजाने की अदायगी और अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों की वसूली के सम्बन्ध में जो अनेक सम्मेलन राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित किये गये, उनमें अमेरिका के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। डावस कमीशन और यंग कमीशन के निर्णयों में अमेरिका का प्रमुख कर्तृत्व था। इसी प्रकार निःशस्त्रीकरण के प्रयोजन से जो प्रयत्न राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये और जिन कान्फरेन्सों का आयोजन किया गया, अमेरिका ने उनमें भी

भाग लिया। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे। राष्ट्र-संघ की व्यवस्था को स्वीकार कर अमेरिका ने उन सन्धियों व समझौतों को भी संघ के सचिवालय में रजिस्टर्ड कराया, जो उसने भिन्न-भिन्न समयों में विदेशों के साथ किये थे।

१९३२ के चुनाव में डेमोक्रेट पार्टी की विजय हुई, और उसके उम्मीदवार फ्रांकलिन रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये। १९२९-३१ में जिस आर्थिक संकट ने विश्व के प्रायः सभी देशों को व्याप्त कर लिया था, अमेरिका भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका था। बेकारी वहाँ भी बढ़ गई थी, और बेरोज-गारों की संख्या १,३०,००,००० तक पहुँच गयी थी। अमेरिका की राजकीय आमदनी में भी ५० प्रतिशत की कमी हो गई थी, और बहुत-से कल-कारखाने बन्द हो गये थे। आर्थिक संकट के इस समय में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया। अनेक ऐसे कानून जारी किये गये, जिन द्वारा बेरोजगारों को आर्थिक सहायता देने, सरकारी खर्च में कमी करने, और किसानों तथा कल-कारखानों को सहायता देने की व्यवस्था की गई। जून, १९३३ में रूजवेल्ट द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कानून पास कराया गया, जिसे 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनःनिर्माण कानून' (National Industrial Recovery Act) कहते हैं। यही संक्षिप्त रूप से 'नीरा' (NIRA) के नाम से प्रसिद्ध है। इस कानून द्वारा अमेरिका के उद्योग-धन्धों में जान डालने और बेरोजगारी को दूर करने का गम्भीर प्रयत्न किया गया। बेरोजगारी के दूर करने के लिये कल-कारखानों में काम करने के घण्टों में कमी की गई, किसानों को कर्ज देकर उनकी दुर्दशा को दूर किया गया, और सरकारी आमदनी को बढ़ाने के लिए समृद्ध लोगों पर नये टैक्स लगाये गये। बेकारों को काम दिलाने के लिये अनेक सार्वजनिक कार्य प्रारम्भ किये गये, जिनके लिये चालीस करोड़ डालर खर्च करने की व्यवस्था की गयी। जब इतने धन से बेकारी की समस्या हल नहीं हुई, तो सार्वजनिक कामों पर खर्च की जाने वाली राशि को और अधिक बढ़ा दिया गया। एप्रिल, १९३५ में रूजवेल्ट ने इन कामों पर व्यय किये जानेवाले धन की राशि बढ़ाकर ४८८ करोड़ डालर तक कर दी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक कार्य रूजवेल्ट की सरकार द्वारा किये गये, जिनके परिणामस्वरूप अमेरिका की आर्थिक दशा बहुत कुछ संभल गयी। १९३६ के चुनाव में रूजवेल्ट दुबारा राष्ट्रपति चुने गये, और १९४० में जब फिर नये चुनाव का अवसर आया तो भी डेमोक्रेट पार्टी ने उन्हीं को अपना उम्मीदवार बनाया। तीसरी बार भी रूजवेल्ट को ही चुनाव में सफलता प्राप्त हुई। १९३९ में जब बीसवीं सदी के दूसरे महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो रूजवेल्ट ही अमेरिका के राष्ट्रपति थे। अपने सुदीर्घ शासन काल में रूजवेल्ट ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य राज्यों के साथ सहयोग की नीति को जारी रखा। इसी कारण १९३३ में रूस के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया गया, और अगस्त, १९३४ में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ का भी सदस्य बन गया।

अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों की वसूली का भी इसी काल में अन्त किया गया (१९३४), और निःशस्त्रीकरण के लिये जो अनेक सम्मेलन यूरोप में हुए उनमें भी अमेरिका ने भाग लिया। फिलिप्पीन द्वीपसमूह अमेरिका की अधीनता में थे। उनमें स्वायत्त शासन स्थापित करने के लिये भी रूज़वेल्ट की सरकार ने एक कानून पास किया गया, जिसके अनुसार फिलिप्पीन को आन्तरिक शासन में पर्याप्त अधिकार प्राप्त हुए। अमेरिकन महाद्वीप के विविध राज्यों में सहयोग स्थापित करने और उनकी सुरक्षा के सम्बन्ध में सामूहिक व्यवस्था करने के प्रयोजन से १९३६ में एक अमेरिकन सामूहिक सुरक्षा समझौता किया गया, जिस के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि यदि अमेरिकन महाद्वीप के राज्यों में कोई झगड़ा हो, तो उसका निबटारा पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा ही किया जायगा। इसी काल में एक तटस्थता एक्ट (Neutrality Act) स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि यदि किन्हीं विदेशी राज्यों में कोई ऐसा विवाद प्रस्तुत हो जाए या किसी एक राज्य में कोई ऐसा गृहयुद्ध शुरू हो जाए जिसके कारण संयुक्तराज्य अमेरिका में भी शान्तिभंग होने की सम्भावना हो, तो राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह ऐसी परिस्थिति की घोषणा कर सके। इस घोषणा के हो जाने पर युद्ध या गृह-कलह में व्यापृत किसी भी राज्य को युद्ध-सामग्री प्रदान करना या उसके सरकारी काग़ज़ों (Securities) को क्रय करना, उसके जहाज़ों द्वारा यात्रा करना तथा किसी भी व्यापारिक माल को उस देश को प्रदान करना ग़ैरकानूनी होगा। ऐसी घोषणा के हो जाने पर युद्ध में व्यापृत किसी देश के जंगी जहाज, पनडुब्बियाँ और व्यापारी जहाज अमेरिका के किसी भी बन्दरगाह में आश्रय नहीं ले सकेंगे। पर इस कानून के बावजूद भी अमेरिका द्वितीय महायुद्ध से अपने को पृथक् नहीं रख सका। जब पर्ल हार्बर में जापान ने अमेरिका के सामुद्रिक अड्डे पर आक्रमण किया, तो अमेरिका भी महायुद्ध में सम्मिलित हो गया।

(८) मध्य और पूर्वी यूरोप के राज्य

महायुद्ध में परास्त होने पर जिस प्रकार जर्मनी से होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का अन्त हुआ, उसी प्रकार आस्ट्रिया-हंगरी से हाप्सबुर्ग वंश की समाप्ति हुई। हाप्सबुर्ग राजवंश के राजा आस्ट्रिया और हंगरी दोनों के अधिपति हुआ करते थे। मित्रराज्यों की विजय के कारण न केवल इस प्राचीन राजवंश का अन्त हुआ, अपितु हंगरी और आस्ट्रिया एक दूसरे से पृथक् हो गये और उनकी अधीनता में जो अनेक प्रदेश थे, वे भी स्वतन्त्र हो गये। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के भग्नावशेषों पर चार राज्यों का निर्माण हुआ—आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया।

आस्ट्रिया—११ नवम्बर, १९१८ के दिन आस्ट्रिया-हंगरी के सम्राट् चार्ल्स ने अपने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था। अगले दिन आस्ट्रिया में रिपब्लिक की घोषणा कर दी गयी। सामयिक रूप से एक सरकार का संगठन कर लिया गया,

और आस्ट्रिया के लिए नया संविधान तैयार करने के प्रयोजन से एक संविधान-परिषद् का निर्माण किया गया। परिषद् के सदस्यों का चुनाव करने के लिए सब बालिग़ स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया था। चुनाव में सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टियों को बहुमत प्राप्त हुआ। इन दलों की प्रवृत्तियाँ समाजवादी थीं। मित्र-राज्यों के साथ सां जर्मे की सन्धि इसी संविधान परिषद् द्वारा की गई थी। इस परिषद् ने आस्ट्रिया के लिए जो संविधान तैयार किया, वह १ अक्टूबर, १९२० से लागू हुआ। नया संविधान लोकतन्त्रवाद पर आश्रित था, और उसके अनुसार मन्त्रि-मण्डल को पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रखा गया था। १७ अक्टूबर, १९२० को संविधान के अनुसार पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ, जिसमें सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टियों का बहुमत रहा। आस्ट्रिया के पहले राष्ट्रपति डॉ० माइकेल हैनिश चुने गये, जिन्हें पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा चुना गया था।

आस्ट्रियन रिपब्लिक की सरकार के सम्मुख अनेक विकट समस्याएँ थीं। आस्ट्रिया अब एक छोटा-सा राज्य रह गया था। पुराने आस्ट्रिया के जो भी औद्योगिक केन्द्र थे, जो भी कोयले व लोहे की खानें थीं, वे सब उससे ले ली गई थीं। महायुद्ध के लिए दोषी ठहरा कर हरजाने की एक भारी रकम भी उस पर लाद दी गई थी। परिणाम यह हुआ कि उसकी आर्थिक दशा इतनी बिगड़ गयी कि राष्ट्रसंघ को उसे सहायता देने के लिए विवश होना पड़ा। उसे तेरह करोड़ डालर कर्ज़ देने की व्यवस्था की गयी, ताकि वह अपनी आर्थिक दशा को सँभाल सके। इस कर्ज की अदायगी के लिए आस्ट्रिया की रेलवे ओर आयात-निर्यात करों की आमदनी को जमानत के रूप में रखा गया (१९२२)।

आस्ट्रिया एक छोटा-सा राज्य था, जिसकी जनसंख्या ६५ लाख के लगभग थी। राष्ट्रीय दृष्टि से आस्ट्रियन लोग भी जर्मन थे। अतः यह विचार विकसित होना शुरू हुआ कि आस्ट्रिया और जर्मनी को मिल कर एक राज्य हो जाना चाहिए। इसके लिए आन्दोलन ने बहुत ज़ोर पकड़ लिया, और आस्ट्रिया के कतिपय प्रदेशों में इस सम्बन्ध में जनता का मत भी लिया गया। पर मित्र-राज्यों और राष्ट्रसंघ के विरोध के कारण यह विचार क्रियान्वित नहीं किया जा सका। इस बीच में आस्ट्रिया की आर्थिक दशा निरन्तर बिगड़ती जा रही थी, और कर्ज़ के रूप में जो राशि प्राप्त कर सकने में वह समर्थ हुआ था, वह उसकी समस्याओं का हल करने के लिए पर्याप्त नहीं थीं। १९२० से १९२७ तक अनेक मन्त्रि-मण्डल आस्ट्रिया में बने, पर उनमें से कोई भी वहाँ की आर्थिक दुर्दशा को दूर करने में समर्थ नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया में दो नये राजनीतिक संगठनों का निर्माण हुआ, जिन्हें हाइमवेह्र (Heimwehr) और शुट्ज़-बुण्ड (Schutzbund) कहते थे। हाइमवेह्र का मत था कि समाजवादियों की शक्ति का अन्त कर आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला दिया जाना चाहिए। इस समय तक जर्मनी में नाज़ी पार्टी और हिटलर ने ज़ोर पकड़ना शुरू कर दियो था। हाइम-

वेह्‌र का झुकाव जर्मनी की नाज़ी पार्टी की ओर था। १९३१ तक इस संगठन में ६० हजार के लगभग व्यक्ति सम्मिलित हो चुके थे, जो नाजियों के समान सैनिक वर्दी पहनते थे और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहते थे। इसके विपरीत शुट्‌जबुण्ड के सदस्य समाजवाद के अनुयायी थे, और अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। सोशल डेमोक्रेट पार्टी का समर्थन इन्हें प्राप्त था। शुट्‌जबुण्ड ने भी अपनी स्वयंसेवक सेना का संगठन कर लिया था, और १९३१ तक उसके सदस्यों की संख्या ९० हज़ार तक पहुँच गयी थी। १९२७ में ही इन प्रतिस्पर्धी 'सेनाओं' में संघर्ष का सूत्रपात हो गया था। वैध आन्दोलन को ताक में रख कर इन्होंने हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन किया, जिसके कारण अनेक स्थानों पर विद्रोह शुरू हो गये। आस्ट्रियन सरकार के लिए यह सुगम नहीं था कि वह इन दो सुसंगठित 'सेनाओं' को काबू में रख सके। पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा आस्ट्रिया की सेना में तीस हज़ार से अधिक सैनिक न रखने की व्यवस्था की गई थी। यह छोटी-सी सरकारी सेना हाइम-वेह्‌र और शुट्‌जबुण्ड के सम्मुख असहाय थी।

१९२९ और १९३० में हाइमवेह्‌र सेना ने अनेक बार यह प्रयत्न किया कि वीएना पर आक्रमण कर देश के शासन पर उसी ढंग से कब्ज़ा कर ले, जैसे कि फ़ासिस्ट सेना ने रोम को अपने अधिकार में कर लिया था। पर उसे सफलता नहीं हो सकी। पर इसमें सन्देह नहीं कि हाइमवेह्‌र और शुट्‌जबुण्ड के परस्पर विरोध के कारण आस्ट्रिया में अशान्ति और अव्यवस्था में निरन्तर वृद्धि होती गई।

आस्ट्रिया की आन्तरिक राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि जर्मनी के साथ मिल कर एक शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र का निर्माण किया जाय या नहीं। जर्मनी और आस्ट्रिया के इस सम्मिलन को आनश्लुस्स (Anschluss) कहते थे। फ्रान्स, इटली, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्य इस सम्मिलन के विरुद्ध थे। वे अपने पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ पेश करते थे—(१) अकेले जर्मनी का क्षेत्रफल फ्रान्स की तुलना में कम है, पर आस्ट्रिया के साथ मिल जाने पर वह फ्रान्स से अधिक हो जायेगा। (२) जर्मनी और आस्ट्रिया के एक हो जाने पर इस नये जर्मन राज्य की जन-संख्या फ्रान्स के मुकाबले में पौने दो गुना हो जायगी। (३) चेकोस्लोवाकिया में तीस लाख जर्मनों का निवास था। आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ मिल कर एक हो जाने पर चेकोस्लोवाकिया दो ओर से जर्मनी द्वारा घेर लिया जायगा। (४) आस्ट्रिया की सीमा इटली के साथ लगती थी। आस्ट्रिया जैसे निर्बल राज्य से इटली को कोई भय नहीं था। पर उसके जर्मनी के साथ मिल कर एक हो जाने पर जर्मनी की सीमा इटली के साथ आ लगेगी, जिससे इटली की स्थिति निरापद नहीं रह सकेगी। (५) फ्रान्स ने अपनी सुरक्षा के प्रयोजन से जो सन्धियाँ चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के साथ की हुई थीं, सैनिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं रह जायगा, क्योंकि जर्मनी और आस्ट्रिया के एक हो जाने पर यूरोप के मध्य में एक शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र का निर्माण हो जायगा। (६) आस्ट्रिया

में लोहा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। जर्मनी इस सब को प्राप्त कर लेगा, जिसके कारण उसकी आर्थिक व औद्योगिक शक्ति बहुत बढ़ जायगी। जर्मनी में भी ऐसे लोग थे, जो आस्ट्रिया के साथ मिलने के विरोध में थे। आस्ट्रिया के लोग रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयायी हैं, और जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट चर्च के। इन दो सम्प्रदायों के अनुयायियों के लिए एक साथ रह सकना सुगम नहीं था, पर दोनों ही राज्यों में अनेक ऐसे संगठन संगठित हुए, जिनका उद्देश्य जर्मनी और आस्ट्रिया को मिला कर एक करना था। पर मित्र-राज्यों के विरोध के कारण ये अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सके। १९३३ में जब हिटलर ने जर्मनी में राजशक्ति प्राप्त कर ली, तो आस्ट्रिया की राजनीति में भी भारी परिवर्तन आया। १९३० से पूर्व ही आस्ट्रिया में भी नाजी पार्टी का संगठन हो चुका था, अब इस पार्टी की शक्ति बहुत बढ़ गई। हिटलर ने दिल खोल कर उसकी सहायता की। बहुत-से जर्मन नाजी स्वयंसेवक आस्ट्रिया में आ गये। उनका प्रयत्न यह था कि आस्ट्रियन पार्लियामेण्ट के नये चुनाव में नाज़ी पार्टी की विजय हो, और फिर जर्मनी और आस्ट्रिया को मिला कर एक कर दिया जाये।

१९३४ में आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री डॉक्टर डाल्फस था। वह क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी का प्रधान नेता था, और अपने देश की आन्तरिक दशा को देख कर यह अनुभव करने लगा था कि वहाँ लोकतन्त्र शासन का सफल हो सकना कठिन है। वह समझता था कि आस्ट्रिया में ऐसी सरकार ही सफल हो सकती है, जो विविध पार्टियों का दमन कर सब शासन-शक्ति अपने हाथों में ले ले। इसी लिए उसने विभिन्न पार्टियों को भंग कर देने का आदेश जारी कर दिया। सोशलिस्ट डेमोक्रेट पार्टी ने इसका विरोध किया, जिस पर डाल्फस के आदेश पर हाइमवेह्र सेना ने सोशलिस्ट डेमोक्रेट पार्टी के प्रधान केन्द्र पर हमला कर दिया। सोशलिस्ट डेमोक्रेट पार्टी ने उसका डट कर मुकाबला किया, पर अन्त में उसकी हार हुई। डाल्फस की सरकार ने अपने विरोधियों को बुरी तरह से कुचला। कितने ही समाजवादी नेताओं को प्राण-दण्ड दिया गया, और हज़ारों की संख्या में सोशल डेमोक्रेट कैद में डाल दिये गये। डाल्फस ने १९२० के संविधान का अन्त कर एक नये संविधान का भी निर्माण किया, जिसके अनुसार कानून बनाने का कार्य एक संघ सभा (Federal Diet) के सुपुर्द किया गया, जिसके सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गयी थी।

डॉ० डाल्फस जिस ढंग से सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले रहा था, उससे आस्ट्रिया की नाजी पार्टी भी चिन्तित हुई। उसे आशंका थी कि सोशलिस्ट डेमोक्रेट पार्टी के समान नाजी पार्टी को भी कुचल दिया जायगा। हिटलर से प्रोत्साहन पाकर आस्ट्रिया के नाजी भी विद्रोह के लिए तैयार हो गये, और जुलाई, १९३४ में उन्होंने षड्यन्त्र कर डाल्फस की हत्या कर दी। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा कि जर्मनी के समान आस्ट्रिया में भी नाजी पार्टी सरकार पर कब्जा कर लेगी। पर हाइमवेह्र सेना की शक्ति इस समय नाजियों के विरुद्ध थी। इसीलिए नाजी पार्टी अपने प्रयत्न में

सफल नहीं हो सकी। अब शुशनिग आस्ट्रिया का प्रधानमन्त्री बना, और उसने डाल्फस की नीति का पूर्णरूप से अनुसरण किया। इस समय यदि हिटलर आस्ट्रिया की नाजी पार्टी की खुल कर सहायता करने के लिए तत्पर हो जाता, तो वह राजशक्ति को अपने हाथों में ले सकती थी। पर इटली के विरोध के कारण उसने अभी चुप रहना ही उचित समझा। पर नाजी पार्टी आस्ट्रिया में निरन्तर शक्ति प्राप्त करती जा रही थी। केवल चार साल बाद ही वहाँ इस दल की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई कि हिटलर ने बिना किसी कठिनता के आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलाकर एक विशाल एवं शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र के निर्माण में सफलता प्राप्त कर ली। आन्श्लुश की इस सफलता पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

हंगरी—पेरिस की शान्तिपरिषद् के निर्णयों के अनुसार हंगरी को आस्ट्रिया से पृथक् कर एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित किया गया था, और हाप्सबुर्ग वंश के सम्राट् चार्ल्स के पदत्याग कर देने के कारण वहाँ भी लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी। पर हंगरी की स्वतन्त्र रिपब्लिक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मार्च, १९१९ में कम्युनिस्ट पार्टी वहाँ बहुत प्रबल हो गई और बेलाकुन के नेतृत्व में हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट पर कम्युनिस्टों ने कब्जा कर लिया। राष्ट्रपति काउण्ट कोरोल्यी (ये हंगरी के प्रथम राष्ट्रपति थे) को देश छोड़ कर अन्यत्र चले जाने के लिए विवश होना पड़ा, और कम्युनिस्टों ने रूस के ढंग की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को अपने देश में स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। इससे पड़ोसी राज्य बहुत चिन्तित हुए। परिणाम यह हुआ कि रूमानिया ने हंगरी पर आक्रमण कर दिया। रूमानिया ने ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश हंगरी से प्राप्त किया था। वहाँ हंगारियन लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। रूमानिया को भय था, कि ट्रांसिलवेनिया में भी कहीं कम्युनिस्टों का जोर न हो जाये। इसी कारण उसने हंगरी पर आक्रमण किया था। हंगरी के कम्युनिस्ट रूमानियन सेना का मुकाबला नहीं कर सके। वे परास्त हो गये, और रूमानिया की सेना ने हंगरी से कम्युनिस्ट शासन का अन्त कर दिया।

पर रूमानियन सेनाओं ने हंगरी को स्थायी रूप से अपनी अधीनता में रखने का प्रयत्न नहीं किया। एक बार फिर वहाँ रिपब्लिकन शासन की स्थापना हुई, और एडमिरल होर्थी राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित किये गये। होर्थी कम्युनिज्म का विरोधी था, और उसकी सरकार में जागीरदारों तथा प्रतिक्रियावादी लोगों का प्रभुत्व था। नई सरकार देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में अवश्य सफल हुई, पर सर्वसाधारण जनता की आर्थिक दशा को समुन्नत करने में वह समर्थ नहीं हो सकी। हंगरी एक कृषिप्रधान देश था, और उसके निवासियों का आर्थिक-जीवन कृषि पर ही निर्भर था। पर वहाँ के किसानों का खेतों पर स्वत्व नहीं था, और प्रायः सारी कृषियोग्य भूमि बड़े-बड़े जागीरदारों की मिल्कियत में थी। पर होर्थी की सरकार के सम्मुख केवल

गरीबी की ही समस्या नहीं थी। राष्ट्रीयता की भावना भी वहाँ निरन्तर प्रबल होती जा रही थी। पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा ऐसे अनेक प्रदेश रूमानिया को प्रदान कर दिये गये थे, जिनमें हंगारियन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। हंगरी के राष्ट्रवादी देशभक्त लोग चाहते थे कि इन प्रदेशों को पुन: प्राप्त किया जाये, और त्रियानो की सन्धि द्वारा उनके देश के साथ जो अन्याय किया गया था, उसका प्रतिशोध किया जाये। जब जर्मनी में नाजी पार्टी ने जोर पकड़ा और उसने वर्साय्य की सन्धि के विरुद्ध आन्दोलन करना प्रारम्भ किया, तो हंगारियन लोगों में भी आशा का संचार हुआ। हंगरी में भी एक नाजी पार्टी संगठित हो गई, और वह जर्मनी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आन्दोलन करने लगी। प्रारम्भ में होर्थी इस आन्दोलन के विरुद्ध था। पर अगस्त, १९३८ में उसने जर्मनी की यात्रा की, और वहाँ हिटलर से मिलने के कारण उसके विचारों में परिवर्तन हो गया। अब वह अपने देश का हित इसी में समझने लगा, कि जर्मनी के साथ मैत्री की जाये और हिटलर की नीति का समर्थन किया जाये।

चेकोस्लोवाकिया—आस्ट्रिया-हंगरी के खण्डहरों पर जिन नये राज्यों का निर्माण हुआ, चेकोस्लोवाकिया उनमें प्रधान था। इसमें दो जातियों का निवास था, चेक और स्लोवाक। चेक लोगों का प्रदेश बोहेमिया कहाता है, और पहले यह आस्ट्रिया के अन्तर्गत था। स्लोवाक लोग स्लोवाकिया में रहते हैं, और यह प्रदेश पहले हंगरी के राज्य में था। २९ फरवरी, १९२० के दिन चेकोस्लोवाकिया का नया संविधान बन कर तैयार हुआ, जिसके अनुसार वहाँ लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की गई। प्रोफेसर मैसिरिक इस नई रिपब्लिक के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। इस नये राज्य की जनसंख्या १,३६,११,००० थी। पर ये सब चेक व स्लोवाक ही नहीं थे। इनमें ३१,२३,००० जर्मन, ७५,८०० पोल, ७,४६,००० हंगारियन और ४,६१,००० रूथेनियन लोग भी थे। चेकोस्लोवाकिया की यह बहुत बड़ी कमजोरी थी, कि उसके राज्य-क्षेत्र में विजातीय लोगों का भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर चेक और स्लोवाक लोगों ने अपने जिस नये राज्य का निर्माण किया था, उसमें इतनी बड़ी संख्या में उग्र जर्मन लोगों को शामिल करके उन्होंने भारी भूल की थी। हिटलर ने इन्हीं जर्मन निवासियों का सहारा लेकर बीस साल बाद इस नये राज्य को दबोच कर अपने पैरों के नीचे कुचल डालने में सफलता प्राप्त की थी।

पुराने आस्ट्रिया-हंगरी में लोहे और कोयले की जो खानें थीं, उनका आधे से भी अधिक भाग चेकोस्लोवाकिया में आ गया था। इस कारण इस नये राज्य की खूब औद्योगिक उन्नति हुई। जिस समय जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी आदि राज्य आर्थिक संकट के शिकार होकर दुर्दशा को प्राप्त हो रहे थे, चेकोस्लोवाकिया निरन्तर औद्योगिक उन्नति में तत्पर था। इसीलिए उसे आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उसका महत्त्व बढ़ता गया। अपनी सुरक्षा के प्रयोजन से फ्रांस

ने जिन गुटों का निर्माण किया, चेकोस्लोवाकिया भी उनमें सम्मिलित था।

१९२० से १९३५ तक प्रोफेसर मैसेरिक ही चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति रहे। जनता उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती थी, और उन्हें अपने "राष्ट्र का पिता" मानती थी। उनके नेतृत्व में चेकोस्लोवाकिया में लोकतन्त्र शासन को अच्छी सफलता मिली और सभी क्षेत्रों में उसने उन्नति की। पर १९३५ के बाद वहाँ भी नाजी पार्टी ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया। वहाँ जो जर्मन लोग थे, वे इस पार्टी में शामिल हो गये। ये जर्मन चाहते थे, कि चेकोस्लोवाकिया से पृथक् होकर जर्मन राज्य के अन्तर्गत हो जाए। जर्मनों की देखा-देखी पोल, हंगारियन आदि अन्य अल्पसंख्यक लोगों ने भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये, और चेकोस्लोवाकिया की सरकार के लिए देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रख सकना सम्भव नहीं रह गया। मार्च, १९३८ में जब हिटलर की नाजी सेना ने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया, तो चेकोस्लोवाकिया के नाजियों की हिम्मत बढ़ गई। इसका यह परिणाम हुआ, कि सितम्बर, १९३८ में चेकोस्लोवाकिया का भी अंग-भंग हुआ और मार्च, १९३९ तक इस नये स्वतन्त्र लोकतन्त्र राज्य का सर्वथा अन्त हो गया।

युगोस्लाविया—पुराने सर्बिया राज्य के राज्यक्षेत्र का विस्तार कर युगोस्लाविया का निर्माण किया गया था। इस नये राज्य में निम्नलिखित प्रदेश सम्मिलित किये गये थे—सर्बिया, क्रोटिया, माण्टिनिग्रो, स्लोवानिया, डाल्मेटिया, बोस्निया और हर्जेगोविना। महायुद्ध से पूर्व इनमें से सर्बिया और मान्टिनिग्रो पृथक् राज्य थे। शेष सब आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सर्बिया के राजा को ही नये युगोस्लाविया का राजा बनाया गया था। इस नये राज्य की जनसंख्या १,३५,००,००० थी। १९२१ में युगोस्लाविया का नया संविधान बनाया गया, जिस द्वारा वहाँ वैध राजसत्ता की स्थापना की गई। युगोस्लाविया में प्रधानतया तीन जातीय क्षेत्र थे—सर्ब, क्रोट और स्लोवन। एक ही स्लाव जाति की विभिन्न शाखाएँ होते हुए भी इनमें भाषा, सम्प्रदाय और संस्कृति की भिन्नता थी। इसीलिए संविधान का निर्माण करते समय कुछ लोगों का विचार था, कि युगोस्लाविया का संविधान स्विट्जरलैण्ड के समान संघात्मक होना चाहिए, ताकि इन तीनों जातियों के प्रदेशों में अपना पृथकत्त्व कायम रहे, और उनकी विशेषताओं का पृथक् रूप से विकास हो सके। इस विचार के प्रधान नेता रेडिष थे। पर यह विचार संविधान परिषद् में स्वीकृत नहीं हुआ, और युगोस्लाविया में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना कर दी गई। पर नये संविधान से क्रोट और स्लोवन लोगों को सन्तोष नहीं हुआ। वे समझते थे कि राज्य में सर्ब लोगों की प्रधानता है, और उन्हें उनके अधीन एवं वशवर्ती बना दिया गया है। क्रोट लोगों में अपने पृथक्त्व के लिए आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया, जिसका दमन करने के लिए सरकार ने कठोर उपायों का आश्रय लिया। क्रोट नेता रेडिष को गिरफ्तार कर लिया गया, और क्रोट किसान पार्टी को भंग करने की आज्ञा दे दी गई (१९२४)। पर दमनकारी उपायों से सरकार

के विरुद्ध आन्दोलन में कमी नहीं हुई। आखिर विवश होकर छः महीने बाद न केवल रेडिष को जेल से मुक्त कर दिया गया, अपितु उन्हें मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होने के लिए भी निमन्त्रण दिया गया। रेडिष ने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, और वह शिक्षामन्त्री के पद पर नियुक्त हुए। पर यह संयुक्त सरकार भी देश में राष्ट्रीय भावनाओं के आपसी विरोध की समस्या को हल नहीं कर सकी। क्रोट लोगों का कहना था, कि हमारा अपना पृथक् राज्य होना चाहिए। हम सर्ब लोगों से केवल इतना सम्बन्ध रखना चाहते हैं, कि विदेशी मामले और सन्धि-विग्रह के विषय ही एक संघ सरकार के हाथों में रहे।

क्रोट लोगों के इस आन्दोलन ने बहुत उग्र रूप प्राप्त कर लिया। १९२८ में उनके कुछ नेताओं की पार्लियामेंन्ट के अधिवेशन में हत्या कर दी गई। अब क्रोट लोगों ने न केवल पार्लियामेंन्ट का बहिष्कार ही किया, अपितु हिंसात्मक उपायों का भी अवलम्बन प्रारम्भ कर दिया। इस दशा में युगोस्लाविया के राजा अलेक्ज़ेण्डर ने शासन-विधान को स्थगित कर शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया और दमन नीति का प्रयोग आरम्भ किया। पर इससे भी समस्या हल नहीं हो पाई। १९३४ में जब अलेक्ज़ेण्डर पेरिस में यात्रा के लिये गया हुआ था, कुछ क्रोट क्रान्तिकारियों ने उसकी हत्या कर दी। अन्त में क्रोट लोगों की माँग स्वीकार कर ली गई, पर यह बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य उस समय (१९३९) किया गया, जब यूरोप के क्षितिज पर महायुद्ध के बादल मंडराने लग गये थे। १९१९ से १९३९ तक के बीस साल में युगोस्लाविया में तीन स्लाव जातियों के आन्तरिक आपसी झगड़े भयंकर रूप से चलते रहे, और वहाँ के राजनीतिज्ञ उन्हें निबटा सकने में असमर्थ रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युगोस्लाविया फ्रांस के साथ रहा। वह भी चेकोस्लोवाकिया के समान फ्रांस के गुट में सम्मिलित था, और अपनी सुरक्षा के लिये उस पर निर्भर रहता था। १९१९ से १९२४ तक पाँच साल युगोस्लाविया का इटली के साथ फ़ियूम के बन्दरगाह के सम्बन्ध में झगड़ा रहा। अन्त में २७ जनवरी, १९२४ को दोनों देशों में समझौता हो गया, जिसके अनुसार फ़ियूम को इटली के अन्तर्गत मान लिया गया, पर युगोस्लाविया को यह अधिकार प्रदान किया गया कि उसके नागरिक इस बन्दरगाह का स्वतन्त्रता के साथ उपयोग कर सकें।

रूमानिया—महायुद्ध में रूमानिया ने मित्र-राज्यों का साथ दिया था। इसीलिये पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा उसके राज्यक्षेत्र को दुगना कर दिया गया, और ट्रांसिलवेनिया, बकोविना और बेस्सेरेबिया के प्रदेश उसे प्राप्त हुए। बेस्सेरेबिया का प्रदेश उसे रूस से मिला था और अन्य प्रदेश पुराने आस्ट्रिया-हंगरी से। रूमानिया में रिपब्लिक स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। पुराना राजवंश ही वहाँ शासन करता रहा, यद्यपि पार्लियामेंन्ट की वहाँ भी सत्ता थी। रूमानिया में दो प्रमुख पार्टियाँ थीं—लिबरल और राष्ट्रीय किसान पार्टी। लिबरल पार्टी में धनी पूँजीपतियों

का जोर था, और राष्ट्रीय किसान पार्टी सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थी। पर इस पार्टी के प्रयत्न सफल नहीं हो सके। पहले वहाँ का शासन लिबरल पार्टी के हाथों में रहा, जो मनमाने ढंग से पालियामेन्ट का चुनाव करके स्वेच्छापूर्वक शासन करने में समर्थ थी। बाद में वहाँ भी नाजी पार्टी का संगठन हुआ, जिसे 'लौह रक्षक दल' (Iron Guards) कहते थे। इस पार्टी का प्रधान नेता आक्टेवियन गोगा था। १९३७ में इस पार्टी ने सरकार पर अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। पर गोगा का मन्त्रिमण्डल भी देर तक कायम नहीं रह सका। रूमानिया के अन्य दल नाजियों के विरुद्ध थे। मार्च, १९३८ में वहाँ के राजा कैरोल ने गोगा के मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया, सब शासनशक्ति अपने हाथों में ले ली, और सब राजनीतिक दलों को अवैध घोषित कर दिया। १७ एप्रिल, १९३८ को लौह रक्षक दल के सब नेता गिरफ्तार कर लिये गये। राजा कैरोल ने सब राजशक्ति अपने हाथों में लेकर रूमानिया में एक नये प्रकार के अधिनायकवाद को स्थापित किया। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय रूमानिया में राजा कैरोल के एकतन्त्र शासन की ही सत्ता थी।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूमानिया भी फ्रांस का मित्र और अनुयायी था।

पोलैण्ड—वर्साय्य की सन्धि द्वारा पोलैण्ड के पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य का निर्माण किया गया था। पोल लोगों द्वारा आबाद जो प्रदेश पहले रूस, जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के अधीन थे, उन सब को पृथक् कर इस नये राज्य के अन्तर्गत कर दिया गया था। पोलैण्ड में लोकतन्त्रवाद पर आधारित रिपब्लिक की स्थापना की गई, और देश का संविधान तैयार करने के लिये एक संविधान परिषद् का संगठन किया गया। संविधान परिषद् ने फ्रांस के संविधान को आदर्श बना कर पोलैण्ड के लिये नये संविधान की रचना की। यह संविधान १९२१ में लागू कर दिया गया, और इसके अनुसार पार्लियामेंन्ट का चुनाव कराया गया। पर यूरोप के अन्य अनेक राज्यों के समान पोलैण्ड में भी लोकतन्त्रवाद के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थीं। वहाँ दो मुख्य राजनीतिक पार्टियाँ थीं—कन्जर्वेटिव और लिबरल। इनके संघर्ष के कारण लोकतन्त्र शासन पोलैण्ड में सफल नहीं हो सका। इस दशा में वहाँ के वीर सेनापति पिल्सुद्स्की ने संविधान की उपेक्षा कर सब शासनशक्ति को अपने हाथों में ले लिया। मई, १९२६ में उसने सेना को साथ लेकर वारसा की ओर प्रस्थान किया, और तीन दिन के युद्ध के पश्चात् पोलैण्ड की राजधानी पर कब्जा कर लिया। पिल्सुद्स्की ने संविधान को नष्ट नहीं किया, आपितु पार्लियामेंन्ट से यह मांग की कि प्रोफेसर मोस्कोकी को राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित किया जाए। मोस्कोकी को राष्ट्रपति चुन लिया गया, और प्रधान-मन्त्री के पद पर काशिमीर बार्टेल को नियुक्त किया गया, क्योंकि पिल्सुद्स्की उसी को इस पद पर नियुक्त कराना चाहता था। यद्यपि पार्लियामेण्ट की सत्ता अब भी कायम रही, पर सरकार का संचालन पूर्णतया पिल्सुद्स्की के हाथों में आ गया। पार्लिया-

मेण्ट में यह साहस नहीं था, कि वह पिल्सुद्स्की की किसी भी बात का विरोध कर सके। १९३० में पिल्सुद्स्की के आदेश पर पार्लियामेण्ट के ९० सदस्यों को इसलिए गिरफ़्तार कर लिया गया, क्योंकि वे सरकार के कार्य में 'बाधा' उपस्थित करते थे। १९२८ से १९३५ तक पोलैण्ड में आठ मन्त्रिमण्डल कायम हुए, पर वे सब पिल्सुद्स्की के हाथों में कठपुतली के समान थे। वह जिसे चाहता मन्त्री बनाता, जिसे चाहता मन्त्रि पद से हटा देता। १९२१ में पोलैण्ड का जो संविधान बना था, वह लोकतन्त्रवाद पर आधारित था। पिल्सुद्स्की को वह सह्य नहीं था, क्योंकि उस द्वारा राजनीतिक दल सरकार की आलोचना करने के अवसर प्राप्त कर सकते थे। १९३४ में पिल्सुद्स्की ने नये संविधान का निर्माण कराया, जिस द्वारा वोट का अधिकार बहुत कम लोगों तक सीमित कर दिया गया। मई, १९३५ में पिल्सुद्स्की की मृत्यु हो गई, पर लोकतन्त्र का अन्त कर जिस ढंग के शासन की स्थापना उसने पोलैण्ड में की थी, वह उसके बाद भी जारी रहा।

महायुद्ध के बाद जिन नये राज्यों का निर्माण किया गया था, उनमें राजकीय सीमाओं के सम्बन्ध में प्रायः विवाद उत्पन्न होते रहते थे। पोलैण्ड के राज्यक्षेत्र में भी कतिपय ऐसे प्रदेश सम्मिलित कर दिये गये थे, जिनमें पोल-भिन्न विजातीय लोगों का निवास था। विशेषतया, जर्मनी के राज्यक्षेत्र के बीच में से होकर जो गलियारा समुद्रतट तक जाने के लिए पोलैण्ड को दिया गया था, जर्मन लोगों की दृष्टि में वह सर्वथा अनुचित था। इसी कारण पोलैण्ड को जर्मनी की शक्ति से सदा भय बना रहता था। उसके लिए यह स्वाभाविक था, कि जर्मनी की सैन्यशक्ति को न बढ़ने देने की नीति में वह फ्रांस का साथ दे। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसने फ्रांस के नेतृत्व को स्वीकार किया, और उसके गुट में सम्मिलित हुआ।

बल्गारिया—महायुद्ध में बल्गारिया जर्मनी के पक्ष में था। इसी कारण महायुद्ध की समाप्ति पर उसके साथ न्यीय्यी की जो सन्धि (नवम्बर, १९१९) की गई, उस द्वारा बल्गारिया का अंगभंग किया गया, और अनेक प्रदेश उसके राज्यक्षेत्र से पृथक् कर दिये गये। अब इस राज्य का क्षेत्रफल केवल ४०,६५० वर्गमील रह गया था, और जनसंख्या केवल ४८,००,०००। १९१९ से १९२३ तक बल्गारिया की शासनशक्ति अलेक्जेण्डर स्ताम्बुलिस्की के हाथों में रही। वह किसान पार्टी का नेता था, और न्यीय्यी की सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए मित्रराज्यों के साथ सहयोग की नीति का पक्षपाती था। हरजाने की राशि को ईमानदारी के साथ अदा करने के लिए उसने राजकीय आमदनी का अच्छा बड़ा भाग मित्रराज्यों के पास जमानत के रूप में रख दिया था। पर बल्गारिया में ऐसे नेताओं की भी कमी नहीं थी, जो न्यीय्यी की सन्धि से असन्तुष्ट थे। बल्गारिया के जो अनेक प्रदेश अन्य राज्यों के अन्तर्गत कर दिये गये थे, उन में बल्गारियन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। उनमें राष्ट्रीय भावना उग्र रूप से विद्यमान थी, और वे इस प्रयत्न में थे कि फिर से अपने प्रदेशों को

बल्गारिया में सम्मिलित कराएं। परिणाम यह हुआ कि बल्गारिया में भी एक राष्ट्रीय दल का प्रादुर्भाव हुआ, जो नाजी और फासिस्ट पार्टियों के समान ही उग्र राष्ट्रवादी था। जून, १९२३ में इस पार्टी ने विद्रोह कर दिया। स्ताम्बुलिस्की विद्रोहियों के कोप का शिकार बना, और बल्गारिया का शासन किसान पार्टी के हाथों से निकल गया। प्रोफेसर त्सान्कोव के नेतृत्व में नई सरकार का निर्माण हुआ, जो उग्र राष्ट्रवाद की अनुयायो थी। पर सब बल्गारियन लोग त्सान्कोव की नीति के समर्थक नहीं थे। कम्युनिस्ट लोग भी वहाँ जोर पकड़ रहे थे। अपने विरोधियों को कुचल डालने के लिए त्सान्कोव ने कठोर उपायों का प्रयोग किया। पर कम्युनिस्ट लोग भी शान्त नहीं रहे। उन्होंने भी आतंकवाद का आश्रय लिया। सरकार के पक्षपाती और विरोधी एक दूसरे का विनाश करने के लिए भयंकर से भयंकर उपायों का अनुसरण करने लगे। १९२५ तक यही स्थिति रही। बाद में इसमें कुछ सुधार हुआ और आतंक का अन्त होकर वैध रूप से देश का शासन प्रारम्भ हुआ। यूरोप के अन्य अनेक राज्यों के समान बल्गारिया में भी १९३० के बाद फासिस्ट प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लगीं, और मई, १९३४ में कतिपय सैनिक अफसरों ने शक्ति के प्रयोग द्वारा सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। नवम्बर, १९३५ में एक बार फिर बल्गारिया में षड्यन्त्र द्वारा सरकार में परिवर्तन किया गया, और राजा बोरिस (बल्गारिया में भी वंशक्रमानुगत राजाओं की सत्ता विद्यमान थी) ने अपने कुछ सहयोगियों की सहायता से सम्पूर्ण राजशक्ति अपने हाथों में ले ली। वैध राजतन्त्र शासन वहाँ असफल हो गया। तीन साल के लगभग तक बल्गारिया में कोई भी चुनाव नहीं किये गये। मई, १९३८ में राजा की आज्ञा से वहाँ चुनाव कराया गया। पर वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था, और किसी भी पार्टी को अपने उम्मीदवार खड़े कर सकने की अनुमति नहीं थी। इस दशा में जो पार्लियामेण्ट निर्वाचित हुई, वह राजा के स्वेच्छाचार को मर्यादित करने में सर्वथा असमर्थ थी। वस्तुतः, इस समय बल्गारिया में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन ही विद्यमान था।

ग्रीस—महायुद्ध के बाद ग्रीस के राज्यक्षेत्र में बहुत वृद्धि हुई थी। सेव्र की सन्धि द्वारा तुर्की के अनेक प्रदेश उसे प्राप्त हुए थे। पर ग्रीस इन पर देर तक अपना अधिकार नहीं रख सका। कमालपाशा के नेतृत्व में पूर्वी थ्रेस को तुर्की ने ग्रीस से पुनः प्राप्त कर लिया (१९२३)। तुर्की के साथ युद्ध में ग्रीस को जिस प्रकार नीचा देखना पड़ा था, उसके लिए वहाँ के राजा कान्स्टेन्टाइन को उत्तरदायी समझा गया, और उसे राजगद्दी छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। १९२४ में ग्रीस में रिपब्लिक की स्थापना हो गई, और वेनेजिलोस ने नई रिपब्लिकन सरकार के शासनसूत्र को अपने हाथों में लिया। यद्यपि नई सरकार ने देश की दशा को सुधारने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों के समान ग्रीस में भी लोकतन्त्रवाद को सफलता प्राप्त नहीं हुई। वेनेजिलोस पर यह आरोप लगाया गया, कि वह अधिनायकवाद की स्थापना

में तत्पर है। उसके विरुद्ध भावना बहुत तीव्र हो गई, और एक बार फिर ग्रीस में राजसत्ता की स्थापना की गई (१९३५)। पर इससे भी वहाँ की समस्या हल नहीं हो सकी। परिणाम यह हुआ, कि जनरल जॉन मेटाक्सास के नेतृत्व में वहाँ एक ऐसा शासन स्थापित हुआ, जो नाजी शासन के सदृश था।

अल्बानिया—महायुद्ध में अल्बानिया तटस्थ रहा था, पर आस्ट्रिया, इटली और सर्विया की सेनाएँ इस राज्य की भूमि का युद्ध के लिए स्वेच्छापूर्वक प्रयोग करती रही थीं। पेरिस की शान्तिपरिषद् में इटली ने यह माँग की, कि इस राज्य का शासन राष्ट्रसंघ के अधीन मेन्डेट द्वारा उसे सौंप दिया जाए। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और अल्बानिया एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य बना रहा। १९२० में वहाँ एक सामयिक सरकार संगठित की गई। पर इस सरकार की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। विविध पार्टियाँ और सरदार वहाँ संघर्ष में तत्पर थे। अन्त में अहमद जोगू नाम का एक मुसलिम सरदार अल्बानिया में व्यवस्थित शासन स्थापित करने में समर्थ हुआ (जनवरी, १९२५)। अल्बानिया के लिए एक नया संविधान तैयार किया गया, जो आंशिक रूप से लोकतन्त्रवाद पर आधारित था। जोगू अल्बानिया की रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ, और इटली की सहायता से उसने देश की आर्थिक दशा को सुधारने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। नवम्बर, १९२६ में इटली और अल्बानिया ने एक सन्धि की, जिसके अनुसार इटली ने यह स्वीकार किया कि यदि अल्बानिया की राजनीतिक स्थिति और राज्य क्षेत्र में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन करने का प्रयत्न किया जायगा, तो यह बात इटली के हित में नहीं होगी। साथ ही, दोनों राज्यों ने यह भी तय किया कि वे किसी अन्य देश के साथ कोई ऐसी सन्धि या समझौता नहीं करेंगे, जो उनमें से किसी एक के लिए हानिकारक हो। यह सन्धि तिराना की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कारण इटली और अल्बानिया में घनिष्ठ मैत्री स्थापित हो गयी।

१ सितम्बर, १९२८ को जोगू ने अपने को अल्बानिया का राजा घोषित कर दिया, और इस प्रकार वहाँ राजतन्त्र शासन का प्रारम्भ हुआ। तिराना की सन्धि के बाद अल्बानिया पर इटली के प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। एक इटालियन कम्पनी ने अल्बानिया के तैल कूपों से तेल निकालने का अधिकार प्राप्त कर लिया था, और वहाँ की मुद्रापद्धति पर भी इटली ने अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। यह बात राजा जोगू को पसन्द नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे अल्बानिया और इटली के सम्बन्ध बिगड़ने शुरू हो गये। पर मुसोलिनी अपने साम्राज्य विस्तार के प्रयत्न में अल्बानिया को भी अपने प्रभुत्व में ले आने के लिए उत्सुक था। इसीलिए ८ एप्रिल, १९३९ को इटली की एक सेना ने अल्बानिया पर आक्रमण कर दिया, और उसकी राजधानी तिराना पर कब्जा कर लिया। राजा जोगू को स्वदेश छोड़ कर अन्यत्र चले जाने के लिए विवश होना पड़ा, और अल्बानिया इटली की अधीनता में चला गया।

(९) बाल्टिक सागर के तटवर्ती राज्य

महायुद्ध के पश्चात् बाल्टिक सागर के तट के साथ-साथ चार नये राज्य कायम हुए थे—फिनलैंड, एस्थोनिया, लैटविया और लिथुएनिया। इन राज्यों के प्रदेश पहले रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

फिनलैण्ड—अठारहवीं सदी तक फिनलैण्ड स्वीडन के अन्तर्गत था। १८०९ में वह रूस के अधीन हुआ। १९१७ में जब रूस में राज्यक्रान्ति हो गई और रूसी साम्राज्य का केन्द्रीय शासन अस्त-व्यस्त हो गया, तो फिन लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अवसर मिला। ६ दिसम्बर, १९१७ को उन्होंने स्वतन्त्रता घोषित कर दी, और एक सामयिक सरकार का संगठन कर लिया। २७ दिसम्बर, १९१७ को रूस की बोल्शेविक सरकार ने भी फिनलैण्ड की स्वाधीनता और पृथक् सत्ता को स्वीकार कर लिया। पर स्वाधीनता के साथ ही फिनलैण्ड की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। रूस के कम्युनिज़्म का असर वहाँ भी पड़ रहा था। १९१७ की क्रान्ति के समय जो रूसी सेनाएँ फिनलैण्ड में विद्यमान थीं, उनमें से बहुत-सी अभी रूस वापस नहीं गयी थीं। इनके सैनिक कम्युनिस्ट विचारों के थे। फिनलैण्ड के कम्युनिस्टों ने सोचा कि रूसी सैनिकों की सहायता से अपने देश में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित की जा सकती है, अतः उन्होंने विद्रोह कर दिया। बाकायदा गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, और दक्षिणी फिनलैण्ड पर कम्युनिस्टों का कब्जा हो गया। कम्युनिस्टों के विरुद्ध फिनलैण्ड की जो सेनाएँ युद्ध में तत्पर थीं, उनका प्रधान सेनापति जनरल मैनरहाइम था। यद्यपि वह अत्यन्त कुशल था और फिन लोग भी उसके साथ थे, पर विदेशी सहायता के बिना कम्युनिस्टों को परास्त कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता था। जर्मनो ने मैनरहाइम की सहायता करना स्वीकार कर लिया, और जनरल रूडिगर के नेतृत्व में एक जर्मन सेना फिनलैण्ड पहुँच गई। फिन और जर्मन सेनाओं के सम्मिलित प्रयत्न से एप्रिल, १९१८ में कम्युनिस्ट सेनाएँ परास्त हो गईं, और फिनलैण्ड के गृहकलह का अन्त हुआ। अब वहाँ लोकतन्त्रवाद के आधार पर रिपब्लिक की स्थापना की गई, और नये संविधान का निर्माण किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिनलैण्ड की नीति यह थी, कि वह अपने पड़ोसी राज्य स्वीडन, नार्वे और डेन्मार्क के साथ सुलह से रहे। वह राष्ट्रसंघ का सदस्य था, और उस पर उसका अतुल विश्वास था। रूस और स्वीडन के साथ उसके जो भी झगड़े हुए, उन सबको उसने राष्ट्रसंघ के समक्ष उपस्थित किया। पर फिनलैण्ड देर तक अपने लोकतन्त्र शासन को कायम नहीं रख सका। जब इटली में फासिज़्म और जर्मनी में नाजीज़्म ने जोर पकड़ा, तो फिनलैण्ड भी उनके प्रभाव में आ गया।

एस्थोनिया—फिनलैण्ड के समान एस्थोनिया का प्रदेश भी पहले स्वीडन के अन्तर्गत था, और बाद में रूस ने उस पर अपना अधिकार कर लिया था। १९१७ में जब रूस में राज्यक्रान्ति हुई, तो एस्थोनिया को भी स्वतन्त्र होने का अवसर मिला। वहाँ एक सामयिक सरकार का संगठन किया गया, और संविधान परिषद् के निर्वाचन

की व्यवस्था की गई। पर एस्थोनिया देर तक अपनी स्वतन्त्रता को कायम नहीं रख सका। १९१८ के प्रारम्भ में जर्मन सेनाओं ने उस पर कब्जा कर लिया। महायुद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने पर एस्थोनिया की रिपब्लिक का पुनरुद्धार हुआ। कम्युनिस्टों की समस्या इस राज्य में भी विद्यमान थी। १९२० तक कम्युनिस्ट वहाँ सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष में तत्पर रहे। पर वे सफल नहीं हो सके। लोकतन्त्र शासन वहाँ कायम रहा, पर १९३४ के बाद एस्थोनिया भी फासिस्ट प्रभाव में चला गया।

लैटविया—फिनलैण्ड और एस्थोनिया के समान लैटविया भी पहले स्वीडन के साम्राज्य के अन्तर्गत था। बाद में वह भी रूस की अधीनता में चला गया था। रूस में राज्यक्रान्ति हो जाने पर लैटविया भी स्वतन्त्र हो गया, और संविधान परिषद् द्वारा देश के लिए लोकतन्त्र संविधान का निर्माण किया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् लैटविया को भी कम्युनिस्टों की समस्या का सामना करना पड़ा। पर वहाँ भी कम्युनिस्ट सफल नहीं हो सके, और लैटविया में लोकतन्त्र रिपब्लिक अपनी स्थिति को सँभाल सकने में समर्थ रही।

लिथुएनिया—मध्य काल में लिथुएनिया के सब प्रदेश पोलैण्ड के अन्तर्गत थे, पर बाद में उन्हें रूस ने अपने अधीन कर लिया था। महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद ही जर्मन सेनाओं में उन पर कब्जा कर लिया था, और युद्ध की समाप्ति तक ये उसी की अधीनता में रहे थे। जर्मनी की पराजय हो जाने पर लिथुएनिया के देशभक्तों ने अपने देश की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और संविधान को तैयार करने के लिए एक संविधान-परिषद् का संगठन किया। १ अगस्त, १९२२ को नया संविधान लागू कर दिया गया, और उसके अनुसार लिथुएनिया में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की गई। पर वहाँ भी लोकतन्त्र शासन सफल नहीं हो सका, और बाल्टिक सागर के तटवर्ती अन्य राज्यों के समान लिथुएनिया में भी फासिस्ट पार्टी प्रबल हो गई। १९२६ से १९३६ तक वहाँ की पार्लियामेण्ट का एक भी अधिवेशन नहीं हुआ। राष्ट्रीय संघ नाम की एक राजनीतिक पार्टी ने वहाँ की सारी राजशक्ति को अपने हाथों में कर लिया था, और यह पार्टी नाजी व फासिस्ट विचारधारा के अनुसार देश का शासन करने में समर्थ थी।

लैटविया, एस्थोनिया और लिथुएनिया के अन्तर्राष्ट्रीय हित एक सदृश थे। अतः उन्होंने मिलकर एक त्रिगुट का संगठन कर लिया था। इस गुट का यही प्रयत्न रहता था, कि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परस्पर सहयोग से काम करें। अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने में इस गुट को अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

(१०) तुर्की में रिपब्लिकन शासन

महायुद्ध में तुर्की जर्मनी का पक्ष लेकर सम्मिलित हुआ था। जर्मनी के पक्ष के परास्त हो जाने पर तुर्की के साथ सेव्र की जो सन्धि की गई, उस का उल्लेख पहले

किया जा चुका है। इस सन्धि के परिणामस्वरूप तुर्की का विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और एक करोड़ बीस लाख की आबादी के प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त हो गये। तुर्की एक छोटा-सा राज्य रह गया, जिसकी जनसंख्या केवल अस्सी लाख थी। अब उसके अन्तर्गत कोई भी ऐसे प्रदेश नहीं रह गये थे, जिनमें तुर्क-भिन्न लोगों का निवास हो। पर तुर्की के साम्राज्य का अन्त हो जाने की अपेक्षा भी महत्त्वपूर्ण बात तुर्क सल्तनत की इतिश्री थी। तुर्की के सुलतान न केवल तुर्क साम्राज्य के अधिपति होते थे, अपितु मुस्लिम संसार के खलीफा (प्रधान धर्माचार्य) भी माने जाते थे। यद्यपि सुलतान ने सेव्र की संधि को स्वीकार कर लिया था, पर महायुद्ध के पश्चात् तुर्की की वास्तविक राज्यशक्ति मुस्तफा कमालपाशा के हाथों में आ गई थी, जिसने अन्कारा में एक नई तुर्क सरकार की स्थापना कर ली थी। इस सरकार ने न केवल यह घोषणा की, कि सेव्र की सन्धि उसे स्वीकार्य नहीं है, अपितु पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों के अनुसार ग्रीस और इटली ने तुर्की के जिन प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित करना शुरू कर दिया था, उन्हें भी अपने स्वत्त्व में बनाये रखने का प्रयत्न किया। सुलतान इस समय पूर्णतया मित्र राज्यों के साथ था। उसने घोषित किया, कि तुर्कों की न्याय्य और वैध सरकार कमालपाशा के कार्य-कलाप से सहमत नहीं है, और सब राजभक्त तुर्कों का कर्तव्य है कि वे अन्कारा की सरकार से कोई भी सम्बन्ध न रखें। पर ग्रीस और इटली के विरुद्ध कमालपाशा जो अनुपम वीरता प्रदर्शित कर रहा था, तुर्क जनता उससे बहुत प्रभावित हुई और सब प्रकार से उसकी सहायता करने लगी। इसी बीच में रूस की बोल्शेविक सरकार ने अन्कारा की सरकार को तुर्की की वैध सरकार स्वीकार कर लिया था। शीघ्र ही, इटली ने भी यह अनुभव कर लिया कि कमालपाशा से लड़ाई को जारी रखना निरर्थक है। उसने तुर्की से अपनी सेनाओं को वापस बुला लेने का निश्चय कर लिया। पर ग्रीस और तुर्की का युद्ध दो साल (१९१९–२१) तक जारी रहा। कुछ समय के लिये ग्रीक सेनाओं ने अनेतोलिया पर कब्जा भी कर लिया, और यह भी प्रयत्न किया कि अन्कारा को जीत कर कमालपाशा की सरकार का अन्त कर दें। पर इसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। कमालपाशा के साथी इस्मत ने इनोनू के रणक्षेत्र में ग्रीक सेनाओं को बुरी तरह से परास्त किया। इसी विजय के कारण आगे चल कर वह इस्मत इनोनू के नामसे प्रसिद्ध हुआ। कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की में जो नवीन भावना और स्फूर्ति उत्पन्न हो गई थी, मित्र राज्य भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। फ्रांस और ब्रिटेन ने अनुभव किया कि कमालपाशा का विरोध करना निरर्थक है, और उसके साथ समझौता कर लेने में ही उनका हित है। इसी का यह परिणाम हुआ कि सेव्र की सन्धि के स्थान पर तुर्की के साथ एक नई सन्धि करने का निश्चय किया गया, और सन्धि की शर्तों को तय करने के लिये स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लोजान में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया। लोजान कान्फरेन्स के शुरू होने से पूर्व ही सुलतान मुहम्मद तुर्की छोड़ कर विदेश चला

गया था, और अन्कारा की सरकार ही तुर्की की एकमात्र सरकार रह गई थी। अक्टूबर, १९२३ में तुर्की को एक रिपब्लिकन राज्य घोषित कर दिया गया, और कमालपाशा को उसका प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। कमालपाशा तुर्की में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना करके ही संतुष्ट नहीं हो गया, सामाजिक क्रान्ति के लिये भी उसने असाधारण प्रयत्न किया। उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि शीघ्र ही तुर्की एक आधुनिक एवं प्रगतिशील राज्य बन गया।

लोजान की सन्धि द्वारा पूर्वी थ्रेस, सिमर्ना, अनेतोलिया और सीलिसिया के प्रदेशों पर तुर्की का अधिकार फिर से स्थापित हुआ, और कुर्दिस्तान पर भी उसके अधिकार को स्वीकृत किया गया। लोजान की सन्धि द्वारा जो नई व्यवस्था की गई थी, उसके अनुसार तुर्की का राज्यक्षेत्र पर्याप्त रूप से विशाल हो गया था, और उसकी जनसंख्या भी १,३०,००,००० से अधिक हो गई थी। सेव्र की सन्धि का अविकल रूप से प्रत्याख्यान कर एक नई सन्धि करना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कमालपाशा की भारी विजय थी।

पर तुर्की के नेता लोजान की सन्धि से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अब तक भी कायम था। यह उन्हें अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल प्रतीत होता था। इसी लिए १९३६ में मोन्त्रो के समझौते द्वारा यह निश्चय किया गया, कि इस क्षेत्र में तुर्की अपनी इच्छा के अनुसार किलाबन्दी कर सके और उसे यह भी अधिकार हो कि युद्ध के समय उभय पक्ष के जंगी जहाजों का इस जलमार्ग से आना-जाना रोक सके। इस समझौते का यह परिणाम हुआ, कि तुर्की के आन्तरिक क्षेत्र में (स्थल और जल दोनों क्षेत्रों में) किसी अन्य देश का कोई नियन्त्रण नहीं रह गया।

कमाल पाशा के समर्थ नेतृत्व में तुर्की ने असाधारण उन्नति की। महायुद्ध में परास्त होने के कारण जिस प्रकार के आर्थिक संकट का सामना जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी को करना पड़ा था, वैसा तुर्की को नहीं करना पड़ा। राज्यक्रान्ति द्वारा तुर्की से केवल सुलतान के एकतन्त्र शासन का ही अन्त नहीं हुआ, अपितु साथ ही वह एक प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र के रूप में भी परिवर्तित हो गया।

(११) चीन और जापान

महायुद्ध के प्रारम्भ से ढाई साल के लगभग पहले चीन में राज्यक्रान्ति हो गई थी (१९११-१२), और वहाँ के प्राचीन मन्चू राजवंश के शासन का अन्त होकर चीन में रिपब्लिक की स्थापना कर ली गई थी। चीन में क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जो सामयिक सरकार स्थापित की गई, उसके अध्यक्ष डा० सन यात सेन थे। पर वह देर तक अपने पद पर नहीं रह सके। देश की एकता को दृष्टि में रख कर उन्होंने स्वेच्छापूर्वक अपने पद का परित्याग कर दिया, और युआन शी काई को चीन

का प्रथम राष्ट्रपति नियुक्त किया गया। महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय युआन शी काई ही चीन के राष्ट्रपति थे। चीन भी मित्र-राष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हुआ था (अगस्त, १९१७)। महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस में जो शान्ति-परिषद् हुई, चीन के प्रतिनिधि भी उसमें शामिल हुए। पर युद्ध में चीन का कोई विशेष कर्तृत्व नहीं था। पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जो प्रदेश व द्वीप जर्मनी के अधीन थे, उन पर जापान ने कब्जा कर लिया था, और युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद भी वह उन्हें अपने अधिकार में रखने के लिये इच्छुक था। शान्ति-परिषद् में जापान के सम्मुख चीन की एक नहीं चली। वर्साय्य की सन्धि के अनुसार शान्तुंग प्रान्त में जर्मनी के जो विशेषाधिकार थे, वे जापान को हस्तान्तरित कर दिये गये और कियाऊ चियाऊ प्रदेश का जो पट्टा जर्मनी के पास था, वह भी जापान को दे दिया गया। ये सब प्रान्त व प्रदेश चीन के राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत हैं, अतः स्वाभाविक रूप से इन पर किसी अन्य राज्य का स्वत्त्व चीन को स्वीकार्य नहीं था। वर्साय्य की सन्धि से चीन के प्रतिनिधियों को बहुत निराशा हुई, और उन्होंने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। २० मई, १९२१ को चीन ने जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि की, जिसके अनुसार जर्मनी ने उन सब विशेषाधिकारों का परित्याग कर देना स्वीकार कर लिया, जो उसे चीन में प्राप्त थे। पर इस सन्धि द्वारा चीन शान्तुंग और कियाऊ चियाऊ में जापानी प्रभुत्व की समस्या को हल नहीं कर सका।

मञ्चू वंश के एकतन्त्र शासन का अन्त और रिपब्लिक की स्थापना हो जाने पर भी चीन में व्यवस्था और शान्ति स्थापित नहीं हो सकी थी। वहाँ दो सरकारें कायम थीं, एक पीकिंग में और दूसरी कैन्टन में। अपने-अपने प्रदेशों पर भी इन सरकारों का शासन सुव्यवस्थित नहीं था, क्योंकि विविध सिपहसालार विभिन्न प्रदेशों में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने में तत्पर थे, और पीकिंग या कैन्टन की सरकारों की जरा भी परवाह नहीं करते थे। इनका यही प्रयत्न रहता था, कि अपनी शक्ति को बढ़ा कर पीकिंग व कैन्टन की सरकारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें। चीन में इन सिपहसालारों को 'तुचुन' कहते थे। १९१७ से १९२६ तक का काल चीन के इतिहास में इन तुचुनों के पारस्परिक संघर्ष का युग था। रिपब्लिक का ढाँचा वहाँ अवश्य विद्यमान था, पर वास्तविक शासन-शक्ति इन सिपहसालारों के ही हाथों में थी।

१९२६ में चीन में कुओमिन्तांग दल का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। यह चीन का राष्ट्रीय दल था, और इसके प्रधान नेता डॉ० सन यात सेन थे। उन्हीं के प्रयत्न से इस दल का संगठन हुआ था। यद्यपि मार्च, १९२५ में सन यात सेन की मृत्यु हो गई थी, पर उन द्वारा संगठित कुओमिन्तांग पार्टी की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गई। शीघ्र ही, यह पार्टी कैन्टन की सरकार को अपने हाथों में ले आने में समर्थ हो गई। अब उसका यह प्रयत्न था कि सम्पूर्ण चीन को एक सुव्यवस्थित शासन में ले आया जाए, जिससे देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सके। यह तभी सम्भव था, जब कि कुओ-

मिन्तांग सरकार की सैन्यशक्ति इतनी प्रबल हो जाए कि विविध तुचुन (सिपहसालार) उसका सामना न कर सकें। सन यात सेन की मृत्यु के बाद कुओमिन्तांग का नेतृत्व चियांग काई शेक के हाथों में आ गया था। उसने अपनी सेनाओं को साथ लेकर उत्तरी चीन पर आक्रमण प्रारम्भ किया, और हैन्को, नानकिंग तथा शंघाई को जीत लिया। क्योंकि कैन्टन दक्षिणी चीन में था, अतः अब नानकिंग को कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी बनाया गया। १९२८ में चियांग काई शेक ने पीकिंग पर भी आक्रमण किया, और उस पर भी कब्जा कर लिया। पीकिंग की विजय के कारण प्रायः सारा चीन कुओमिन्तांग के शासन में आ गया था। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अब देश में एक सुव्यवस्थित शासन को स्थापना हो गई थी। अब तक भी अनेक तुचुन चीन के विविध प्रदेशों पर अधिकार किये हुए थे, और चियांग काई शेक को उन्हें काबू में लाने के लिये घोर संघर्ष करना पड़ रहा था।

पर कुओमिन्तांग सरकार के सम्मुख केवल तुचुनों की समस्या ही नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी भी चीन में शक्ति प्राप्त करने में तत्पर थी। पहले कम्युनिस्ट भी कुओमिन्तांग में सम्मिलित थे, और सन यात सेन के नेतृत्व को स्वीकार करते थे। पर उनकी मृत्यु के पश्चात् कम्युनिस्टों का कुओमिन्तांग से मतभेद व विरोध प्रारम्भ हो गया। चियांग काई शेक कम्युनिस्टों का प्रबल विरोधी था, और उनका दमन करने के लिये अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग करने में भी तत्पर था। कुछ समय के लिये उसे अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई, और कम्युनिस्टों की शक्ति को नष्ट करने के लिये उसने कठोर उपायों का प्रयोग किया।

पीकिंग को विजय के पश्चात् चीन की राष्ट्रीय व राजनीतिक एकता बहुत कुछ पूर्ण हो गई थी, और देश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने में चियांग काई शेक को अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। अब उसका ध्यान उन विदेशी राज्यों की ओर गया, जिन्होंने चीन के अनेक प्रदेशों में कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, इटली और अमेरिका के चीन के विभिन्न प्रदेशों में कतिपय ऐसे विशेषाधिकार विद्यमान थे, जिनके कारण इस देश को सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य नहीं समझा जा सकता था। ये अधिकार चिर काल से चले आते थे और इनके द्वारा विदेशी राज्यों ने चीन में अपने ऐसे प्रभाव-क्षेत्र बनाये हुए थे, जिन में वे मनमानी कर सकते थे। इतना ही नहीं, महायुद्ध के बाद जापान पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करने के लिये विशेष रूप से तत्पर हो गया था, और इसके कारण अमेरिका से उसका विरोध निरन्तर बढ़ता जा रहा था। जापान अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये चीन को उपयुक्त क्षेत्र समझता था, पर कुओमितांग सरकार यह सहन करने के लिये तैयार नहीं थी कि उसकी स्वाधीनता मे कोई भी बाधा रह पाए। पूर्वी एशिया के क्षेत्र में विविध राज्यों में जो प्रतिद्वन्द्विता थी, उसे दृष्टि में रख कर नवम्बर, १९२१ में वाशिंगटन में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया था, जिसमें

ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली, जापान, बेल्जियम, हालैण्ड, पोर्तुगाल और चीन के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। चीन के सम्बन्ध में जो निर्णय इस कान्फरेन्स में हुए, वे 'नौ राज्यों की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस सन्धि द्वारा चीन को सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता को सब राज्यों ने स्वीकार किया। पर मुख्य समस्या उन विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में थी जो चीन में विदेशो राज्यों को प्राप्त थे। इस पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गयी। पर यह कमीशन किसी ऐसे निर्णय पर नहीं पहुँच सका, जो सब को स्वीकार्य हो। ज्यों-ज्यों चीन में व्यवस्था स्थापित होती गई और वहाँ की सरकार शक्ति प्राप्त करती गई, विदेशियों के लिये अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकना कठिन होता गया। इसमें सन्देह नहीं कि चियांग काई शेक के नेतृत्त्व में कुओमिन्तांग सरकार को चीन के राष्ट्रीय गौरव की स्थापना में अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

पर चियांग काई शेक जापान के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद से अपने देश की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं हुआ। १९३१ में जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न प्रारम्भ किया, और मञ्चूरिया पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। मञ्चूरिया चीन का ही एक प्रदेश है। साम्राज्य विस्तार के प्रयत्न में जापान ने १९३१ में मञ्चूरिया से चीनी सरकार के प्रभुत्त्व का अन्त किया, और मञ्चूकुओ नाम से वहाँ एक पृथक् राज्य की स्थापना की। नाम को तो यह मञ्चूकुओ एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य था, पर यथार्थ में यह पूर्णतया जापान का वशवर्ती था। जापान के साम्राज्य-विस्तार और उसके कारण उत्पन्न अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं पर हम आगे चल कर विशद रूप से विचार करेंगे।

मंचूरिया पर जापान के प्रभुत्व की स्थापना के कारण ही चीन और जापान में युद्ध का प्रारम्भ हुआ। जापान केवल मंचूरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु होपेई, शान्सी और शान्तुंग प्रान्तों में भी उसने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया। यदि इस समय चीन में एक सुव्यवस्थित व शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की सत्ता होती, तो वह जापान का मुकाबला करने में समर्थ हो सकता। पर चीन में अभी किसी एक केन्द्रीय सरकार की सुदृढ़ रूप से स्थापना नहीं हुई थी। चियांग-काई शेक के नेतृत्व में कुओमितांग पार्टी कुछ समय के लिए देश में व्यवस्था कायम करने में अवश्य सफल हुई थी, पर उसके विरोधियों की भी कमी नहीं थी। १९३३ तक यह दशा आ चुकी थी, कि नानकिंग की कुओमितांग सरकार के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सरकारें चीन में कायम हो गई थीं। कैन्टन में कुओमिन्तांग पार्टी के ही वामपक्षी वर्ग ने अपनी पृथक् सरकार की स्थापना कर ली थी, जिसके नेता वांग चिंग वेई और चेन कुंग-पो थे। ये चियांग काई शेक की नीति से सहमत नहीं थे। कियांग-सी, आन्हुई और फूकिएन प्रान्त कम्युनिस्टों के अधिकार में थे, जिनका नेता माओ त्से-तुंग था। उत्तरी चीन के कतिपय प्रदेशों पर अब तक भी तुचुनों का शासन था, जो नानकिंग की

कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता स्वीकृत करते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि से अपने-अपने प्रदेशों में स्वतन्त्रता से शासन कर रहे थे। यदि इस समय चीन में एक सुव्यवस्थित शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार स्थापित होती, या चीन की विविध सरकारें परस्पर सहयोग से काम कर सकतीं, तो वे जापान के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद का सफलता के साथ मुकाबला कर सकती थीं। पर चियांग काई शेक की दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी, कि अन्य चीनी सरकारों को अपना वशवर्ती बना कर राष्ट्रीय एकता को कायम करें। उसकी दृष्टि में न लोकतन्त्रवाद का महत्त्व था, और न जापान के विरुद्ध संघर्ष में अन्य सबके सहयोग को प्राप्त करने का। इसी कारण उसने अपनी शक्ति का प्रयोग कम्युनिस्टों के विरुद्ध किया, और कैन्टन की सरकार के विरुद्ध भी संघर्ष जारी रखा। परिणाम यह हुआ कि जापान चीन में अपनी शक्ति का विस्तार करता गया। इस बीच में कुओमिन्तांग सरकार कम्युनिस्टों से युद्ध में तत्पर रही, और १९३४ के अन्त तक वह कम्युनिस्टों का दमन करने में सफल भी हो गई। धीरे-धीरे वे सब प्रदेश चियांग काई शेक द्वारा अधिगत कर लिये गये, जिन पर कम्युनिस्टों का अधिकार था। विवश होकर कम्युनिस्टों को उत्तर-पूर्वी चीन की ओर महाप्रस्थान करना पड़ा, और घोर कष्ट उठा कर उनकी सेना या उसके बचे-खुचे सैनिक शेन्सी पहुँचने में समर्थ हो गये, जहाँ उन्होंने येनान नगर को केन्द्र बना कर अपनी सरकार का पुनः संगठन किया। शेन्सी प्रान्त का उत्तरी भाग और कान्सू प्रान्त का उत्तर-पूर्वी भाग इस नई कम्युनिस्ट सरकार की अधीनता में आ गये, और यहाँ से उसने चियांग काई शेक से लोहा लेने की तैयारी शुरू कर दी। कम्युनिस्टों का यह नया राज्य जापान द्वारा अधिकृत चीन के बहुत समीप था। अतः स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान चीन पर निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व की ओर आकृष्ट हुआ। उनका कहना था कि नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार और येनान की कम्युनिस्ट सरकार को मिल कर चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना करनी चाहिए, और मिल कर जापान का मुकाबला करना चाहिए। पर चियांग काई शेक इससे सहमत नहीं था। उसका विचार था कि जापान का सफलतापूर्वक मुकाबला करने के लिए पहले कम्युनिस्टों को परास्त कर देना आवश्यक है, ताकि चीन की राष्ट्रीय एकता पूर्ण हो जाये। पर अन्त में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट पार्टियों में समझौता हो गया (दिसम्बर, १९३६) और इन्होंने मिल कर जापान की शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करने का निश्चय किया। यूरोप में द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने से पूर्व ही चीन में जापान और चीन का युद्ध प्रारम्भ हो गया था (जुलाई, १९३७)। १९४५ में जब द्वितीय महायुद्ध का अन्त हुआ, तो चीन को अपने उत्कर्ष का असाधारण अवसर प्राप्त हुआ। पर यह उत्कर्ष चियांग काई शेक के नेतृत्व में न होकर कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधान नेता माओ त्से-तुंग की अधिनायकता में हुआ, जिन्होंने चीन की राष्ट्रीय एकता की स्थापना में अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया।

जापान के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डालना इस ग्रन्थ के लिए विशेष

उपयोगी नहीं है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा कि वहाँ वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, और १८८९ में देश के शासन के लिए जापान में एक संविधान का भी निर्माण कर लिया गया था, जिसके अनुसार वहाँ पालियामेण्ट की भी स्थापना कर दी गई थी। पर पालियामेण्ट की सत्ता के होते हुए भी जापान में राजा और कुलीन वर्ग का बहुत अधिक महत्त्व था, और सर्व-साधारण जनता के अधिकार अधिक नहीं थे। १९१४–१८ के महायुद्ध से पूर्व ही औद्योगिक क्षेत्र और सैन्य-शक्ति में जापान ने इतनी अधिक उन्नति कर ली थी, कि उसकी गणना विश्व के प्रमुख राज्यों में की जाने लगी थी। अन्य शक्तिशाली राज्यों के समान जापान भी अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए तत्पर था। १८७५ में उसने कुरील द्वीप-समूह पर अपना अधिकार स्थापित किया, और १८९४–९५ में फार्मूसा पर। १९०५ में उसने कोरिया को अपना संरक्षित राज्य बना लिया, और मञ्चूरिया में लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये। महायुद्ध के अवसर पर उसे अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए अनुपम अवसर मिला। जर्मनी के विरुद्ध उसने मित्रराज्यों का साथ दिया, और चीन तथा प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जो प्रदेश जर्मनी द्वारा अधिकृत थे, उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पेरिस की शान्ति परिषद् ने चीन की उपेक्षा कर इन प्रदेशों पर जापान के अधिकार को स्वीकार किया, जिससे उसके साम्राज्य-विस्तार में बहुत सहायता मिली। पर जापान को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ और उसने चीन की आन्तरिक निर्बलता से लाभ उठा कर वहाँ अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। किस प्रकार उसने मञ्चूरिया को अपने प्रभुत्व में ले लिया, और चीन के अन्य प्रदेशों को अधिगत करने के लिए युद्ध का प्रारम्भ किया, इसका उल्लेख इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय (१९३९ में) जापान इस युद्ध में व्यापृत था।

महायुद्ध की समाप्ति पर लोकतन्त्रवाद की लहर बहुत प्रबल हो गयी थी। जापान भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। इसी लिए १९२० में वहाँ की पालिया-मेण्ट का जो चुनाव हुआ, उसके परिणामस्वरूप वहाँ ऐसी पार्टी बहुमत प्राप्त करने में समर्थ हो गई, जो लोकतन्त्रवाद में विश्वास रखती थी। १९२० से १९३० तक के दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में जो अनेक मन्त्रिमण्डल जापान में बने, देश की आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति के लिए उन सबने बहुत प्रयत्न किया। उन सब के सम्मुख यह लक्ष्य विद्यमान रहा कि जापान के साम्राज्य का विस्तार हो। जापान की इस बढ़ती हुई शक्ति से विश्व के अन्य शक्तिशाली राज्य बहुत चिन्तित हुए। विशेषतया, संयुक्त-राज्य अमेरिका यह नहीं चाहता था कि पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाये। इसी कारण द्वितीय महायुद्ध में जापान जर्मनी के पक्ष में सम्मिलित हुआ, और कुछ समय के लिए वह प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया को अपने प्रभुत्व में ले आने में समर्थ हो गया।

छठा अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या

(१) फ्रांस द्वारा सुरक्षा के साधनों की खोज

महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को उठाना पड़ा था। लड़ाई मुख्यतया उसी के प्रदेशों में लड़ी गई थी। उसके कल-कारखाने, खानें, इमारतें और कृषियोग्य भूमि—सब जर्मनी के आक्रमण द्वारा क्षत-विक्षत हो गये थे। आधी सदी से भी कम समय में जर्मनी ने दो बार फ्रांस को आक्रान्त किया था, १८७०-७१ में और १९१४-१८ में। फ्रांस को भय था कि भविष्य में भी जर्मनी उस पर आक्रमण कर सकता है। अपनी सुरक्षा के लिए फ्रांस यह आवश्यक समझता था, कि (१) जर्मनी को इतना कमजोर कर दिया जाय कि वह फिर कभी फ्रांस पर हमला करने का साहस न कर सके। यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी अपनी सैन्यशक्ति में वृद्धि न कर सके। उसके अस्त्र-शस्त्र एक निश्चित सीमा में रहें, और वह अपनी दक्षिणी सीमा पर किलाबन्दी न करने पाए। इसी प्रयोजन में फ्रांस ने र्‌हाइनलैण्ड पर मित्र-राज्यों की सेनाओं का कब्जा करवाया था, और पेरिस की शान्तिपरिषद् से यह भी स्वीकृत करा लिया था कि र्‌हाइनलैण्ड से विदेशी सेनाओं के वापस आ जाने के बाद भी जर्मनी इस प्रदेश में किला-बन्दी न कर सके। फ्रांस की तो यह भी मांग थी कि र्‌हाइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करके एक पृथक् राज्य के रूप में परिणत कर दिया जाए, पर लायड जार्ज और विल्सन उसके इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए थे। इसीलिए शान्तिपरिषद् द्वारा र्‌हाइनलैण्ड में १५ वर्ष तक मित्र-राज्यों की सेनाएँ रखने और वहाँ जर्मनी को किलाबन्दी न करने देने की व्यवस्था की गई थी। (२) राष्ट्रसंघ के पास अपनी सेना रहे, ताकि यदि कोई राज्य उसके निर्णय को अस्वीकार कर लड़ाई के लिए उतारू हो, तो राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना उसे काबू में ला सके। पर विल्सन और लायड जार्ज इससे भी सहमत नहीं हुए।

गारण्टी सन्धियाँ—इस दशा में फ्रांस ने अनुभव किया कि पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाएँ उसकी सुरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उसने ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका से माँग की, कि वे फ्रांस को यह गारण्टी दें कि यदि कोई अन्य राज्य उस पर आक्रमण करेगा, तो वे उसकी पूरी तरह से सहायता करेंगे और उसकी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिए धन और सेना द्वारा पूरा-पूरा सहयोग देंगे। ब्रिटेन और अमेरिका इसके लिए तैयार हो गये, और इसी प्रयोजन से उन्होंने फ्रांस के साथ सन्धियाँ

कीं, जिन्हें गारण्टी-सन्धियाँ (Guarantee Treaties) कहते हैं। ये सन्धियाँ २८ जून, १९१९ के दिन की गई थीं। पर अमेरिका और फ्रांस की गारण्टी-सन्धि अमेरिका की सीनेट ने अस्वीकृत कर दी। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच जो गारण्टी-सन्धि हुई थी, वह भी स्वयमेव अस्वीकृत हो गई, क्योंकि ब्रिटेन ने यह सन्धि इस शर्त पर की थी, कि अमेरिका भी इसी प्रकार की सन्धि करेगा। अकेला ब्रिटेन फ्रांस की रक्षा की उत्तरदायिता लेने के लिए उद्यत नहीं था।

फ्रांस द्वारा अन्य देशों के साथ सन्धियाँ—अब यह स्पष्ट हो गया था कि फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए न राष्ट्रसंघ पर भरोसा कर सकता है, और न ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका पर। अब उसने अन्यत्र सुरक्षा की खोज प्रारम्भ की। महायुद्ध के बाद यूरोप में जो नये राज्य कायम हुए थे, उन सब को भी यह भय था कि जर्मनी और आस्ट्रिया फिर से प्रबल न हो जाएँ। उनके लिए भी अपनी सुरक्षा का प्रश्न उतना ही महत्त्व का था, जितना कि फ्रांस के लिए। फ्रांस के नेताओं ने सोचा कि यूरोप के इन नये व परिवर्तित राज्यों के साथ सैनिक सन्धियाँ करके एक ऐसा गुट बनाया जा सकता है, जो जर्मनी के सम्भावित भय का सामना कर सके और जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की स्थिति सुदृढ़ हो जाए। फ्रांस के अतिरिक्त बेल्जियम, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया की सीमाएँ भी जर्मनी के साथ लगती थीं। इन राज्यों के साथ सन्धियाँ करके फ्रांस अपनी सुरक्षा का साधन कर सकता था। इसीलिए उसने १९२० में बेल्जियम से, १९२१ में पोलैण्ड से और १९२४ में चेकोस्लोवाकिया के साथ सन्धियाँ थीं।

१९२० में फ्रांस ने बेल्जियम के साथ जो सन्धि की, उस द्वारा दोनों राज्यों ने जर्मनी द्वारा उनमें से किसी पर भी आक्रमण होने की दशा में एक दूसरे को सैनिक सहायता देने का वचन दिया। राष्ट्रसंघ को इस सन्धि की सूचना दे दी गई, यद्यपि इसकी कुछ शर्तों को गुप्त रखा गया। इस सन्धि के कारण फ्रांस की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर्याप्त अंश में सुरक्षित हो गई थी। पर फ्रांस की दृष्टि में यह पर्याप्त नहीं था। महायुद्ध से पूर्व फ्रांस ने रूस के साथ इस प्रयोजन से सन्धि की हुई थी कि यदि जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे, तो रूस उत्तर-पूर्व की ओर से उसकी सहायता के लिए रणक्षेत्र में उतर आए, ताकि जर्मनी की सैन्य-शक्ति को दो क्षेत्रों में युद्ध करना पड़े। पर रूस में इस समय बोल्शेविक शासन स्थापित हो गया था, और उसके साथ पुरानी सन्धि को दोहरा सकना सम्भव नहीं था। इस दशा में फ्रांस का ध्यान पोलैन्ड की ओर गया, जिसकी पूर्वी सीमा जर्मनी के साथ लगती थी, और जिसे फ्रांस के समान ही जर्मनी का भय था। डान्ट्सिग और जर्मनी के मध्य के पोल गलियारे के प्रश्न पर पोलैण्ड और जर्मनी में घोर विद्वेष था। इस कारण फ्रांस को पोलैण्ड के साथ सन्धि कर सकने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फरवरी, १९२१ में दोनों देशों में सन्धि हो गई, जो 'फ्रांको-पोलिश मैत्री-सन्धि' (Franco-Polish Alliance) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार फ्रांस और पोलैण्ड ने यह निर्णय किया कि अपने सर्वसामान्य हितों के मामलों

में वे एक-दूसरे के साथ परामर्श से काम लेंगे, उन्होंने विदेशों के साथ जो सन्धियाँ की हुई हों या भविष्य में वे जो सन्धियाँ करेंगे उनकी शर्तों को पूरा करने में एक-दूसरे को सहयोग देंगे, और यदि उनमें से किसी पर भी बिना उत्तेजना के कारणों से कोई अन्य देश आक्रमण करे तो सेना द्वारा उसका प्रतिरोध करने में वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। बाद में इस सन्धि को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए फ्रांस और पोलैण्ड ने अन्य भी अनेक समझौते किये, जिनमें १९२२ का सैनिक समझौता प्रधान था। शुरू में यह समझौता दस साल के लिए किया गया था, पर १९३२ में जब इसकी अवधि समाप्त हो गई, तो इसे फिर दस साल के लिए दोहराया गया। १९२१ की सन्धि और बाद के समझौतों के कारण फ्रांस और पोलैण्ड की मैत्री बहुत सुदृढ़ हो गई, और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वे एक दूसरे के साथ सहयोग से काम करने लगे। इसके बाद जो भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए, सब में पोलैण्ड ने फ्रांस का साथ दिया।

बेल्जियम और पोलैण्ड के साथ की गई सन्धियों से उत्साहित होकर फ्रांस ने ग्रेट ब्रिटेन से सन्धि करने का एक बार फिर प्रयत्न किया। पर यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। ब्रिटेन इस बात के लिए तैयार था कि यदि जर्मनी फ्रांस पर सीधा आक्रमण करे, तो वह फ्रांस की सहायता करेगा। पर फ्रांस की यह माँग थी कि यदि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करे, और उसके कारण फ्रांस को भी पोलैण्ड की सहायता के लिए अपनी सैन्यशक्ति को प्रयुक्त करना पड़े, तो भी ब्रिटेन उसकी सहायता करे। ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री लायड जार्ज इसके लिए सहमत नहीं हुए। इसी बीच में फ्रांस और ब्रिटेन में अन्य भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न होने शुरू हो गए। १९२१-२२ में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में वाशिंगटन में जो कान्फरेन्स हुई, उसमें ब्रिटेन और अमेरिका की ओर से यह प्रस्ताव किया गया, कि पनडुब्बियों को सब देश समाप्ति कर दें। पर फ्रांस इससे सहमत नहीं था। फ्रांस के विरोध के कारण ही यह प्रस्ताव वाशिंगटन कान्फरेन्स में स्वीकृत नहीं हो सका। जर्मनी और उसके साथी राज्यों से हरजाने के रूप में वसूल की जाने वाली धनराशि के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन और फ्रांस में घोर मतभेद था। इस दशा में ब्रिटेन और फ्रांस के बीच में सन्धि की बात सफल नहीं हो सकी।

जनवरी, १९२३ में फ्रांस, बेल्जियम और इटली की सेनाओं ने जर्मनी के रूह्र प्रदेश पर कब्जा कर लिया था। यह कब्जा इस बात को निमित्त बना कर किया गया था, कि जर्मनी ने लोहा और कोयला आदि को हरजाने के रूप में प्रदान करने में प्रमाद किया है। पर ब्रिटेन इससे सहमत नहीं था। वह रूह्र के कब्जे को अवैध समझता था। इसी कारण उसकी सेनाओं ने इस कब्जे में कोई भाग नहीं लिया था। रूह्र के प्रश्न को लेकर फ्रांस और ब्रिटेन में मनमुटाव बहुत बढ़ गया। अब उसे यह चिन्ता हुई कि अपनी सुरक्षा के लिए यूरोप के अन्य राज्यों के साथ सन्धियाँ व समझौते करे। इसी कारण १९२४ के प्रारम्भ में उसने चेकोस्लावाकिया के साथ एक पैक्ट किया, जिसके अनुसार दोनों देशों ने यह निश्चय किया कि वे आपस के झगड़ों के

निबटारे के लिए शान्तिमय उपायों का उपयोग करेंगे, यदि जर्मनी और आस्ट्रिया ने परस्पर मिल कर एक राज्य बनने का प्रयत्न किया तो इस प्रश्न पर आपस में परामर्श करके कोई निर्णय करेंगे, यदि जर्मनी और हंगरी में राजसत्ता की पुनः स्थापना के लिए कोई उद्योग किया गया तो इस मामले पर भी परस्पर परामर्श से अपनी नीति का निर्धारण करेंगे, और अपनी सुरक्षा तथा महायुद्ध के बाद की सन्धियों की शर्तों के पालन के सम्बन्ध में भी एक साथ मिल कर काम करेंगे। इस पैक्ट के कारण फ्रांस और चेकोस्लावाकिया के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गये।

दो वर्ष पश्चात् १९२६ में फ्रांस ने रूमानिया के साथ भी एक सन्धि की, जिसके अनुसार उन्होंने यह निश्चय किया कि यदि उन दोनों में किसी प्रश्न पर कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो उसका निर्णय वे पञ्च-निर्णय पद्धति द्वारा किया करेंगे। पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा जो विविध सन्धियाँ की गई थीं उनके द्वारा यूरोप के विविध राज्यों की निर्धारित स्थिति में परिवर्तन करने का यदि किसी देश द्वारा कोई प्रयत्न किया गया तो उस सम्बन्ध में दोनों राज्य परस्पर सहयोग से कार्य करेंगे; और यदि उनमें से किसी पर किसी अन्य देश ने उत्तेजना के कारण के अभाव में आक्रमण किया तो उसके निराकरण के लिये क्या कार्रवाई की जाए, इसका फैसला भी वे परस्पर विचार-विमर्श द्वारा करेंगे। १९२७ में इसी प्रकार की सन्धि फ्रांस ने युगोस्लाविया के साथ भी की। इसमें सन्देह नहीं कि इन सन्धियों के कारण फ्रांस की सुरक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो गई थी। पर फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिये केवल इन पर ही निर्भर नहीं रह सकता था। इस व्यवस्था में अनेक कमजोरियाँ भी थीं। महायुद्ध के बाद स्थापित हुए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों की दशा अच्छी नहीं थी। ये राज्य अपनी शक्ति तभी बढ़ा सकते थे, जब कि आर्थिक दृष्टि से इनकी भरपूर सहायता दी जाए। फ्रांस इन्हें कर्ज देने के लिये विवश था। उस द्वारा अच्छी बड़ी रकमें इन्हें कर्ज के रूप में दी गईं, ताकि ये अपने खर्च चला सकें और साथ ही अपनी सैनिक उन्नति भी कर सकें। फ्रांस ने अपने अफसरों को भी इन राज्यों में इस प्रयोजन से भेजा, ताकि वे इनकी सेनाओं को भली भांति प्रशिक्षित कर सकें। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया की सीमाएँ फ्रांस के साथ नहीं लगती थीं। भौगोलिक दृष्टि से ये राज्य फ्रांस से दूर थे। युद्ध के समय यह सुगम नहीं था कि इनकी सेनाएँ फ्रांस की सहायता के लिये तुरन्त आ सकें या फ्रांस इनकी सहायता के लिये अपनी सेनाएँ भेज सके। फिर इन राज्यों की भी अपनी-अपनी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ थीं। अपने पड़ोसी राज्यों के साथ इनके झगड़े उत्पन्न होते रहते थे। सैनिक सन्धियों द्वारा फ्रांस ने यह भी जिम्मा लिया था, कि ऐसे झगड़ों में वह उन का साथ देगा। इस कारण फ्रांस की सैनिक जिम्मेदारियाँ बहुत अधिक बढ़ गई थीं। अपनी सुरक्षा के लिये फ्रांस ने मध्य और पूर्वी यूरोप के जिन राज्यों के साथ गुट बनाये थे, उनमें अन्य भी अनेक कमजोरियाँ थी। उनमें

ऐसी जातियों के लोग भी बड़ी संख्या में निवास करते थे जो राष्ट्रीय दृष्टि से भिन्न थे। विशेषतया, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया में जर्मन लोगों द्वारा आबाद प्रदेश इन राज्यों के लिये बहुत खतरे के कारण थे। किसी भी समय जर्मनी अपने सजातीय लोगों द्वारा आबाद प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने की माँग कर सकता था। इस दशा में पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया सदृश राज्यों के सम्मुख अपनी सुरक्षा की समस्या और भी अधिक विकट हो जाती थी। फ्रांस ने इन राज्यों को सैनिक सहायता का वचन देकर अपनी सैनिक जिम्मेदारियों को बहुत बढ़ा लिया था। पर मध्य और पूर्वी यूरोप के इतने राज्यों के साथ सन्धि कर लेने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस का महत्त्व और बल बहुत बढ़ गया था। वह ऐसे गुट बनाने में समर्थ हो गया था, जिनमें सम्मिलित राज्य किसी भी संकट के समय उसकी सहायता करने को उद्यत थे। १९२० से १९३४ तक का काल यूरोप के इतिहास में फ्रांस के प्राधान्य और नेतृत्व का समय था। इस काल में उसका यही प्रयत्न रहा कि पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं में कोई परिवर्तन न होने पाए, और जर्मनी फिर से शक्तिशाली न हो सके। बेल्जियम, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया का हित भी इसी बात में था। पर १९३४ में जब जर्मनी की शासन-शक्ति हिटलर के हाथों में चली गई, और उस ने वर्साय्य की सन्धि को टुकड़े-टुकड़े कर डालने का कार्य आरम्भ कर दिया, तो यूरोप को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस का वह प्राधान्य नहीं रह गया, जो पहले था।

(२) यूरोप के राज्यों के अन्य गुट

फ्रांस के समान यूरोप के अन्य राज्य भी गुट बना कर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था के लिये प्रयत्नशील थे। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये केवल राष्ट्रसंघ पर निर्भर रहना उन्हें पर्याप्त प्रतीत नहीं होता था।

इटली का गुट—महायुद्ध में इटली मित्र-राज्यों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ था। पर पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो सकी थीं। १९२३ में जब मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट पार्टी ने इटली के शासन-सूत्र को सम्भाल लिया, तो इटली भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हुआ। फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति से वह बहुत चिन्तित था। जिन बातों पर इटली और फ्रांस में मतभेद व विरोध था, वे निम्नलिखित थीं—(१) फ्रांस वर्साय्य की सन्धि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन या संशोधन नहीं होने देना चाहता था। पर इटली इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था। वह समझता था कि पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा उसके साथ न्याय नहीं किया गया है। इसी लिये उसकी इच्छा थी कि वर्साय्य की सन्धि में ऐसे परिवर्तन किये जाएँ, जिनसे उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण हो सकें। (२) भूमध्य सागर के क्षेत्र में इटली की फ्रांस से प्रतिस्पर्धा थी।

इसी लिये इटली अपनी सामुद्रिक शक्ति में वृद्धि करने के लिये प्रयत्नशील हुआ, और निःशस्त्रीकरण के प्रयोजन से जो अनेक कान्फरेन्सें समय-समय पर हुईं, उनमें इटली ने यह माँग की कि उसकी सामुद्रिक शक्ति फ्रांस के बराबर होनी चाहिये। पर फ्रांस इससे सहमत नहीं हुआ। उसका कहना था कि समुद्र पार के जो एशियन और अफ्रीकन प्रदेश उसके अधीन हैं, उनकी रक्षा के लिये उसके पास सामुद्रिक शक्ति का बड़ी मात्रा में रहना आवश्यक है। (३) पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा फ्रांस ने अफ्रीका में कतिपय ऐसे प्रदेश प्राप्त कर लिए थे, जो इटली की सम्मति में उसे प्राप्त होने चाहिये थे। अफ्रीका में फ्रांस का विशाल साम्राज्य पहले ही विद्यमान था, और महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप उसमें और भी अधिक वृद्धि हो गई थी। जर्मनी की अधीनता में विद्यमान अफ्रीका के प्रदेशों के कतिपय भागों को प्राप्त कर सकने में इटली जो असमर्थ रहा था, उसके लिए वह फ्रांस को ही दोषी समझता था।

फ्रांस के मुकाबले में अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिए इटली मध्य और पूर्वी यूरोप के विविध राज्यों के साथ सन्धियाँ करने के लिए प्रवृत्त हुआ। सबसे पहले १९२४ में चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया से सन्धियाँ की गईं। इन सन्धियों का प्रयोजन परस्पर मैत्री स्थापित रखना और किसी अन्य देश से युद्ध होने की दशा में तटस्थ नीति को बरतना था। १९२६ में इसी प्रकार की सन्धियाँ रूमानिया और स्पेन के साथ की गईं। पर इसी काल में फ्रांस भी इन देशों के साथ सन्धियाँ करने में तत्पर था, और यूरोप के जिन देशों से मिल कर उसने अपने गुट का निर्माण कर लिया था, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया भी उसमें सम्मिलित थे। इस दशा में इनके साथ की गई सन्धियाँ इटली के लिए विशेष उपयोगी नहीं हो सकती थी। अब उसका ध्यान अल्बानिया, हंगरी, तुर्की और ग्रीस की ओर आकृष्ट हुआ, और इन राज्यों के साथ उस ने सन्धियाँ कीं। अल्बानिया और इटली के बीच में ओत्रान्तो का जलडमरूमध्य है, जो केवल ४७ मील चौड़ा है। इटली के सामुद्रिक मार्ग की दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। १९२६ में इटली ने अल्बानिया के साथ एक समझौता किया, जिसके परिणामस्वरूप ओत्रान्तो के जलडमरू मध्य पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। इस समझौते द्वारा इटली ने अल्बानिया को यह वचन भी दिया था कि यदि उसकी राजनीतिक स्थिति में किसी राज्य द्वारा कोई परिवर्तन करने का प्रयत्न किया जायगा, तो इटली उसकी सहायता करेगा। ओत्रान्तो के जलडमरूमध्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण एड्रियाटिक सागर में इटली की स्थिति पूर्णतया सुरक्षित हो गई थी।

१९२७ में इटली ने हंगरी के साथ सन्धि की। त्रियानो की सन्धि के द्वारा हंगरी के राज्य-क्षेत्र की जो व्यवस्था की गई थी, हंगारियन लोग उससे बहुत असन्तुष्ट थे। उनका प्रयत्न था कि इसमें परिवर्तन किये जाएँ। १९२७ की सन्धि द्वारा इटली ने उनका समर्थन करने का वचन दिया। १९२८ में तुर्की और ग्रीस और १९३० में आस्ट्रिया भी इटली के साथ सन्धि के सूत्र में बँध गये। इन सन्धियों द्वारा इटली

को यह भरोसा हो गया था कि यदि वह पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं की उपेक्षा कर अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए तत्पर होगा, तो पड़ोस के राज्य उसके मार्ग में बाधक नहीं होंगे। इटली ने जिन राज्यों के साथ ये सन्धियाँ कीं, उनमें से कतिपय राज्य इसी ढंग को सन्धियाँ फ्रांस के साथ भी कर चुके थे। पर इस युग में यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यही ढंग था। कोई राज्य किसी एक शक्तिशाली राज्य के साथ ही सन्धि द्वारा सम्बद्ध रहे, यह आवश्यक नहीं समझता जाता था। पर इसमें सन्देह नहीं कि पड़ोस के राज्यों के साथ सन्धियाँ कर इटली ने अपनी स्थिति को बहुत कुछ सुरक्षित कर लिया था। १९३४ में जब हिटलर ने जर्मनी के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया, और उसके नेतृत्व में जर्मनी की सैन्य शक्ति में असाधारण रूप से वृद्धि होने लगी, तो यूरोप में शान्ति के कायम रह सकने में आशंका उत्पन्न होने लगी। इस दशा में मुसोलिनी ने यह सुझाव दिया कि पश्चिमी यूरोप के प्रमुख राज्यों के प्रतिनिधि एक निश्चित काल के लिए शान्ति स्थापना की गारन्टी दें। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जुलाई, १९३३ में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधि रोम में एकत्र हुए, और उन्होंने एक पैक्ट पर हस्ताक्षर किये, जो 'रोम का पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि ये राज्य सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर विचार-विमर्श द्वारा कोई निर्णय किया करेंगे, और निःशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करेंगे। इस पैक्ट द्वारा भी इटली को अपनी सुरक्षा का भरोसा हो गया था।

पर रूस रोम के पैक्ट को इस दृष्टि से देखता था, कि यह पश्चिमी यूरोप के शक्तिशाली राज्यों का एक ऐसा गुट है, जिसका निर्माण कम्युनिज्म के विरोध के लिए किया गया है। अतः उसने अपने पड़ोसी राज्यों के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वे आपस में मिल कर एक ऐसी सन्धि कर लें, जिसके द्वारा वे एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दें। रूस के पड़ोसी राज्यों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया, और चेकोस्लोवाकिया, अफगानिस्तान, एस्थोनिया, लैटविया, लिथुएनिया, ईरान, पोलैण्ड, रूमानिया, तुर्की, युगोस्लाविया और रूस ने लण्डन के रूसी दूतावास में तीन पृथक् समझौतों पर हस्ताक्षर किये। ये समझौते 'लण्डन समझौते' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस द्वारा इन सब देशों के राज्य-क्षेत्रों की अक्षुण्णता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। लण्डन के समझौतों के कारण रोम के पैक्ट का कोई महत्त्व नहीं रह गया था। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया इस पैक्ट के विरुद्ध थे। उनका भी यही विचार था कि रोम का पैक्ट शक्तिशाली राज्यों का एक ऐसा गुट है, जिस द्वारा निर्बल राज्यों पर वे अपनी प्रभुता स्थापित कर सकते हैं। रूस और उसके पड़ोसी राज्यों के विरोध के कारण रोम का पैक्ट निरर्थक हो गया, और मुसोलिनी ने इटली की सुरक्षा के लिए पश्चिमी यूरोप के शक्तिशाली राज्यों के साथ जो समझौता करने का प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हो सका। इसी लिए बाद में उसने हंगरी, अल्बानिया, ग्रीस, तुर्की

और आस्ट्रिया के साथ सन्धियाँ कीं। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में इन सन्धियों द्वारा मुसोलिनी ने इटली की स्थिति को बहुत कुछ सुरक्षित बना दिया था।

मध्य यूरोप के राज्यों का छोटा गुट—१९२०–२१ में मध्य यूरोप के तीन राज्यों ने मिलकर अपने गुट का निर्माण किया था, जिसे छोटा गुट (Little Entente) कहते हैं। इसमें चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया सम्मिलित थे। पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के खण्डहरों पर चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया का निर्माण हुआ था। स्वाभाविक रूप से ये राज्य इस बात के लिए उत्सुक थे कि त्रियानो की सन्धि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न किया जाए, हाप्सबुर्ग राजवंश फिर से अपनी सत्ता स्थापित न कर सके, और हंगरी की शक्ति न बढ़ने पाए। महायुद्ध के पश्चात् रूमानिया के राज्य-क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि हुई थी, और उसने भी पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के अनेक प्रदेशों को प्राप्त किया था। अपने सर्वसामान्य हितों की रक्षा के लिए ही इन तीन राज्यों ने अपने इस गुट का निर्माण किया, और उन्होंने आपस में सन्धियाँ कीं। ये सन्धियाँ चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया में, चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया में और युगोस्लाविया और रूमानिया में की गई थीं। इन सन्धियों द्वारा मध्य यूरोप के इन तीनों राज्यों ने यह समझौता किया था कि यदि कोई अन्य राज्य बिना किसी उत्तेजनात्मक कारण के उनमें से किसी पर आक्रमण कर दे, तो बाकी दो राज्य सेना द्वारा उसकी सहायता करेंगे। बाद में पोलैंण्ड के साथ भी इन राज्यों ने इसी प्रकार की सन्धियाँ कीं। यद्यपि पोलैण्ड छोटे गुट का सदस्य नहीं था, पर चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया परस्पर विचार-विनिमय के लिए समय-समय पर जो कान्फरेन्सें किया करते थे, पोलैण्ड को भी उनमें निमन्त्रित किया जाता था। १९२४ में चेकोस्लोवाकिया के साथ फ्रांस ने एक पैक्ट किया, और १९२६ में रूमानिया के साथ फ्रांस का पैक्ट हुआ। बाद में १९२७ में पोलैण्ड के साथ भी फ्रांस द्वारा पैक्ट किया गया। इन पैक्टों के कारण छोटे राज्यों के गुट को अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में फ्रांस की सहायता का भी भरोसा हो गया। इन पैक्टों के सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। फ्रांस की शक्ति और महत्ता की वृद्धि में इन पैक्टों द्वारा बहुत सहायता मिली। अपनी सुरक्षा की व्यवस्था को और अधिक सुदृढ़ करने के लिये छोटे गुट के राज्यों ने १९३३ में रूस और बाल्टिक सागर के तटवर्ती एस्थोनिया आदि राज्यों के साथ भी समझौते किये, जो लण्डन समझौतों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनका उल्लेख इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। अब ये राज्य अपनी सुरक्षा के लिए केवल फ्रांस पर ही निर्भर नहीं रह गये। रूस जैसे शक्तिशाली व विशाल देश का सहयोग भी उन्हें प्राप्त हो गया। १९३३ में जर्मनी में नाज़ी पार्टी के उत्कर्ष के कारण यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारी परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था। जर्मनी की शक्ति में वृद्धि का यह परिणाम अवश्यम्भावी था कि पोलैण्ड

और चेकोस्लोवाकिया जैसे राज्यों के लिए खतरा उत्पन्न हो जाए। इसी कारण मध्य यूरोप के इन राज्यों ने रूस और उसके पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव की थी।

रूस द्वारा किये गये पैक्ट—महायुद्ध के बाद के कुछ वर्षों में जर्मनी और रूस दोनों ही यूरोप की अन्तराष्ट्रीय राजनीति में अछूत समझे जाते थे। उन्हें राष्ट्रसंघ की सदस्यता का अधिकार भी नहीं दिया गया था। युद्ध में परास्त हो जाने के कारण जर्मनी को मित्र-राज्य अपने साथ सम्मिलित करने को तैयार नहीं थे, और रूस में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप ब्रिटेन और फ्रांस आदि राज्यों ने उसका बहिष्कार किया हुआ था। १९२१ में फ्रांस ने पोलैण्ड के साथ जो सन्धि की थी, उससे जर्मनी और रूस दोनों ही चिन्तित थे। पोलैण्ड का निर्माण करते हुए अनेक ऐसे प्रदेश इस नये राज्य में सम्मिलित कर दिये गये थे, जिन पर जर्मनी और रूस अपना अधिकार समझते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि रूस और जर्मनी एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हों। इसी कारण एप्रिल, १९२२ में इन दोनों राज्यों ने रापालो नामक स्थान पर एक सन्धि की, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) जर्मनी रूस की कम्यु-निस्ट सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार करे। (२) दोनों राज्य परस्पर राजनयिक और व्यापारिक सम्बन्धों को स्थापित करें, और दोनों के राजदूत एक दूसरे की राज-धानियों में रहें। (३) महायुद्ध से पूर्व जर्मनी और रूस की एक दूसरे को जो कुछ भी देनदारी थी, उसे रद्द समझा जाए। रापालो की इस सन्धि के कारण यूरोप में रूस की स्थिति सुदृढ़ हो गई। कम से कम यूरोप का एक शक्तिशाली राज्य ऐसा हो गया, जो उसकी कम्युनिस्ट सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार करने और उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार था।

१९२५ में रूस ने तुर्की के साथ सन्धि की। इस समय तुर्की में रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हो चुकी थी, और ब्रिटेन, फ्रांस आदि देश इस सरकार के प्रति सौहार्द्र-भाव नहीं रखते थे। अतः रूस का ध्यान उसकी ओर भी गया, और उसने तुर्की के एक साथ सन्धि की, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह निश्चय किया कि उनमें से कोई राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण न करे। यदि कोई अन्य राज्य दोनों में से किसी पर आक्रमण करे, तो दूसरा राज्य युद्ध में तटस्थ रहे। साथ ही, यदि कोई अन्य राज्य उन दोनों में से किसी के विरुद्ध राजनीतिक व आर्थिक कार्रवाई करे, तो दूसरा राज्य उसमें सहयोग न दे। इस सन्धि के कारण रूस और तुर्की में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया, जो इन दोनों राज्यों के लिए महत्त्व की बात थी। १९२६ में इसी प्रकार की सन्धि रूस ने जर्मनी के साथ की, और १९२६ के समाप्त होने से पूर्व ही ऐसी सन्धियाँ अफगानिस्तान और लिथुएनिया के साथ भी कर ली गईं। १९२७ में इसी ढंग की सन्धि ईरान के साथ भी की गई। अफ़गानिस्तान, लिथुएनिया, ईरान और तुर्की के साथ रूस की सीमाएँ मिलती थीं। इनके साथ अनाक्रमण की सन्धियाँ करके सुरक्षा के सम्बन्ध में

रूस ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था।

तीन विभिन्न गुट—इस प्रकार १९२७ तक यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन विभिन्न गुट स्पष्ट रूप से नज़र आने लग गये थे, जिनके नेता क्रमशः फ्रांस, इटली और रूस थे। मध्य यूरोप के छोटे राज्यों का गुट फ्रांस के नेतृत्त्व को स्वीकार करता था, और पोलैण्ड भी उसके गुट में शामिल था। आस्ट्रिया, बल्गारिया, ग्रीस, टुर्की, अल्बानिया और हंगरी के साथ इटली ने ऐसी सन्धियाँ कर ली थीं, जिन के द्वारा ये राज्य इटली के नेतृत्त्व को स्वीकार करने लगे थे। रूस का कोई ऐसा गुट तो नहीं बना था, जिससे कि वह अन्य राज्यों की सहायता का भरोसा कर सकता। पर उसने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ ऐसी सन्धियाँ अवश्य कर ली थीं, जिनके कारण उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सुरक्षित हो गई थी।

(३) राष्ट्रसंघ द्वारा राज्यों की सुरक्षा की व्यवस्था और विविध पैक्ट

यद्यपि फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के प्रयोजन से अनेक राज्यों के साथ सन्धियाँ की थीं, और वह अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण के लिए केवल राष्ट्रसंघ पर ही निर्भर नहीं रहना चाहता था, पर साथ ही वह इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का उपयोग भी अपनी सुरक्षा के लिए करने को प्रयत्नशील था। राष्ट्रसंघ का एक प्रधान उद्देश्य यह था कि राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय न लेकर शान्तिमय उपायों का प्रयोग किया जाए। पर फ्रांस के राजनीतिज्ञ अनुभव करते थे, कि संघ के संविधान में दो बड़ी कमियाँ हैं—(१) उसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि किन परिस्थितियों में किसी राज्य को 'विद्रोही' करार दिया जायगा, और (२) विद्रोही राज्य को काबू में लाने के लिए किन उपायों का सुनिश्चित रूप में उपयोग किया जायगा। विश्व के बहुसंख्यक राज्यों ने राष्ट्रसंघ के संविधान को स्वीकार तो कर लिया था, पर उसके कारण उन पर जो जिम्मेवारियाँ आ जाती थीं, उनको निभाने में वे संकोच करते थे। इसी कारण १९२१ में डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन ने संघ की एसेम्बली के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया था, कि संघ का प्रत्येक सदस्य-राज्य स्वयं ही यह निर्णय किया करे कि किसी राज्य ने संघ के संविधान का अतिक्रमण किया है या नहीं। इसका अभिप्राय यह था कि संघ का निर्णय सब राज्यों के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकार्य न समझा जाए। इसी प्रकार १९२३ में कनाडा की ओर से यह प्रस्ताव किया गया था कि किसी राज्य के राज्यक्षेत्र की अखण्डता को कायम रखने के लिए संघ की कौंसिल द्वारा जो प्रस्ताव पास किये जायँ, उन्हें क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य की पार्लियामेन्ट को यह निश्चय करने का अधिकार हो कि वह किस हद तक ऐसे प्रस्ताव को क्रियान्वित कराने में हाथ बटा सकता है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक प्रस्ताव राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत किये गये। यद्यपि ये सब स्वीकृत नहीं हो सके, पर इन द्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि संघ के सदस्य-राज्य उन

जिम्मेवारियों को पूरा करने के लिये उत्साह नहीं रखते, जो संघ द्वारा की गई व्यवस्थाओं के अनुसार उनके ऊपर आ जाती थीं।

जिनीवा प्रोटोकोल—विविध राज्यों के इस रुख से फ्रांस का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। राष्ट्रसंघ के प्रति अनेक राज्यों की जो भावना थी, उसे दृष्टि में रखते हुए फ्रांस के राजनीतिज्ञ यह समझते थे, कि जब तक राष्ट्रसंघ की शक्ति और अधिकार-क्षेत्र को भलीभांति स्पष्ट नहीं कर दिया जायगा, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये उस पर भरोसा कर सकना सम्भव नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने संघ के अन्य सदस्य-राज्यों से बातचीत शुरू की, जिसके परिणामस्वरूप जिनीवा प्रोटोकोल का निर्माण हुआ (१९२४)। इस समय ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर पार्टी का मन्त्रिमण्डल विद्यमान था, और रामजे मेकडानल्ड उसके प्रधान मन्त्री थे। फ्रांस में भी रेडिकल पार्टी के नेता हेरियो प्रधान मन्त्री के पद पर विराजमान थे। १९२३ में नियुक्त हुए डावस कमीशन ने हरजाने की समस्या के सम्बन्ध में जो निर्णय किये थे, उनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में भी कमी आ गई थी। जिनीवा प्रोटोकोल को तैयार करने के लिये विविध राज्य जो एकमत हो सके, उसका कारण ये परिस्थितियाँ ही थीं। इस प्रोटोकोल द्वारा यह निर्णय किया गया, कि (१) आक्रमणकारी युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय अपराध माना जायगा। (२) प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने वाले किसी ऐसे राज्य के विरुद्ध लड़ाई नहीं करेंगे, जो अपनी अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिये उद्यत हो। (३) वे अपने राजनीतिक विवादों का निर्णय राष्ट्रसंघ की कौंसिल या उस द्वारा नियुक्त पञ्च-निर्णय-समितियों द्वारा ही करायेंगे, और जिन विवादों में कोई कानूनी प्रश्न हो उसका निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा कराया करेंगे। (४) जब कोई विवाद विचाराधीन हो, तो अपनी सैन्यशक्ति को युद्ध के लिये समुद्यत नहीं करेंगे। (५) उस राज्य को 'आक्रान्ता' या 'विद्रोही' करार दिया जायगा, जो अपने विवाद को शान्तिमय उपायों से निबटाने को उद्यत न हो, या जो कौंसिल व पञ्च-निर्णय-समिति के फैसले को न मान कर युद्ध का आश्रय ले। (६) राष्ट्रसंघ की कौंसिल को यह अधिकार होगा, कि वह 'आक्रान्ता' राज्य के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार के उपाय का प्रयोग कर सके। (७) आक्रान्ता राज्य द्वारा प्रारम्भ किये गये युद्ध के लिये वह उसी अंश तक हरजाना देने के लिये जिम्मेवार ठहराया जायगा, जिस अंश तक हरजाना दे सकने की उसकी क्षमता हो। पर ऐसे हरजाने की वसूली के लिये आक्रान्ता राज्य के राज्य-क्षेत्र में किसी भी प्रकार की कमी नहीं की जायगी। (८) अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने के प्रयोजन से एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स की आयोजना की जाए, और इस प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने वाले सब राज्य उसमें भाग लें।

जिनीवा प्रोटोकोल तैयार तो हो गया, पर अनेक शक्तिशाली राज्य उस पर हस्ताक्षर करने को उद्यत नहीं हुए। ग्रेट ब्रिटेन इनमें प्रधान था। नवम्बर, १९२५ में रामजे मैकडानल्ड के मजदूर मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया था, और उसके स्थान पर

कन्जर्वेटिव पार्टी ने नई सरकार का संगठन कर लिया था। बाल्डविन नये प्रधान मन्त्री बने थे। उनका विचार था, कि इस प्रोटोकोल के कारण ब्रिटेन को यूरोप के झगड़ों में व्यर्थ ही अपने धन और जन का विनाश करना होगा। यूरोप में फ्रांस की प्रभुता है, और राष्ट्रसंघ में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्य उसके साथ हैं। यदि फ्रांस के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ ने किसी राज्य को 'आक्रान्ता' या 'विद्रोही' ठहरा दिया, तो ब्रिटेन को भी उसके विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने के लिये विवश होना पड़ेगा। वह इसके लिये उद्यत नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि उसने प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। ब्रिटेन के इस कार्य पर अनेक विचारकों ने विशद रूप से विचार-विमर्श किया है। कुछ विचारकों का मत है, कि अपने विशाल साम्राज्य और औपनिवेशिक राज्यों के हितों को दृष्टि में रख कर ही ब्रिटेन ने प्रोटोकोल पर अपने हस्ताक्षर करने से इन्कार किया था। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और भारत इस प्रोटोकोल के विरोध में थे। विशेषतया, आर्थिक बहिष्कार की बात उन्हें पसन्द नहीं थी, क्योंकि इससे उनके विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ सकता था। यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों में भी उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। ब्रिटेन के समान अमेरिका और कनाडा भी यूरोप के आन्तरिक झगड़ों से पृथक् रहने की नीति के पक्षपाती थे। उन्होंने भी इस प्रोटोकोल को स्वीकार नहीं किया। यद्यपि १७ राज्यों ने इस प्रोटोकोल को स्वीकार कर लिया था, पर ब्रिटेन और अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्यों के विरोध के कारण यह योजना धूल में मिल गई।

इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रसंघ की स्थायी शान्ति स्थापित करने की क्षमता के लिये यह प्रोटोकोल बहुत उपयोगी था। शान्तिमय उपायों द्वारा और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन कराके विश्व में शान्ति स्थापित रखने के लिये इसने कतिपय क्रियात्मक बातों की व्यवस्था की थी। यदि सब राज्य इसका समर्थन करते, तो सम्भवतः राष्ट्र-संघ में वास्तविक शक्ति का संचार कर सकना सम्भव हो जाता।

लोकार्नो पैक्ट--जिनीवा प्रोटोकोल के ग्रेट ब्रिटेन आदि बड़े राज्यों द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाने से फ्रांस को बहुत निराशा हुई। राष्ट्रसंघ के माध्यम से अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की आशा का परित्याग कर अब उसने सुरक्षा के अन्य साधनों की खोज प्रारम्भ की। महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में जो वाइमर रिपब्लिक कायम हुई थी, उसके नेता अपने देश में लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये उत्सुक थे। इसीलिये वे चाहते थे, कि फ्रांस को जर्मनी के आक्रमण की जो आशंका परेशान करती रहती है उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाए, ताकि उसे जर्मनी के विरुद्ध उग्र उपायों (यथा रूह्र पर कब्जा) का आश्रय लेने की आवश्यकता न रह जाए। इसी प्रयोजन से १९२२-२३ में जर्मनी द्वारा फ्रांस के सम्मुख अनेक बार ऐसे प्रस्ताव उप-स्थित किये गये, जिनका उद्देश्य यह था कि दोनों राज्य एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण न करने की गारण्टी दें, पारस्परिक विवादों का निबटारा करने के लिये

युद्ध का आश्रय न लेने का वचन दें, और पञ्चनिर्णय द्वारा अपने झगड़ों का निर्णय कराने की बात को स्वीकार करें। पर इस काल में फ्रांस के प्रधान मन्त्री पोअन्कारे थे, जो जर्मनी के प्रति कठोर नीति को बरतने के पक्षपाती थे। जिनीवा प्रोटोकोल के असफल हो जाने पर एक बार फिर जर्मनी ने अपने प्रस्तावों को फ्रांस के सम्मुख प्रस्तुत किया। इस समय पोअन्कारे का मन्त्रिमण्डल हट चुका था, और रेडिकल पार्टी के नेता हेरियो ने एक ऐसी सरकार संगठित कर ली थी, जिसमें वामपक्षी दलों का बहुमत था। इस से उत्साहित होकर जर्मनी के परराष्ट्र मन्त्री स्ट्रेस्समान ने फ्रांस के समक्ष निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किये—(१) ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जर्मनी सम्मिलित रूप से यह गारण्टी दें, कि र्‌हाइन नदी को जर्मनी की सीमा स्वीकार किया जायगा, और इस सीमा का किसी भी दशा में अतिक्रमण नहीं किया जायगा। इस सीमा के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद उपस्थित हो, तो उसका फैसला पञ्चनिर्णय द्वारा कराया जायगा। (२) जर्मनी अपने पड़ोसी राज्यों से ऐसी सन्धियां करे, जिनका प्रयोजन आपसी झगड़ों के निबटारे के लिये पंचनिर्णय का आश्रय लेना हो। समय को दृष्टि में रखते हुए इस बार फ्रांस ने जर्मनी के प्रस्तावों की उपेक्षा नहीं की। पर उसका कहना था, कि इससे पूर्व कि जर्मनी के प्रस्तावों पर कोई बात चलायी जाए, जर्मनी को निम्नलिखित बातें स्वीकार कर लेनी चाहियें—(१) जर्मनी राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दे। (२) विचार-विमर्श के अनन्तर जो भी पैक्ट स्वीकार किया जाए, बेल्जियम भी उसे स्वीकार करने को उद्यत हो। (३) पोलैण्ड से सन्धि कर के फ्रांस ने उस देश के प्रति कतिपय जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ली हुई हैं। जो भी समझौता जर्मनी के साथ हो, उसके कारण इन जिम्मेदारियों में किसी भी प्रकार से अन्तर न आने पाए। इसी प्रकार राष्ट्रसंघ के संविधान के अनुसार मित्र-राज्यों के ऊपर जो जिम्मेदारियाँ हैं, उनमें भी नये समझौते के कारण कोई फर्क न पड़े। (४) पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया को भी समझौते की बातचीत में भाग लेने के लिये निमन्त्रित किया जाए। स्ट्रेसमान ने इन बातों को स्वीकार कर लिया। अपने देश की आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिये वह इस समय अन्य राज्यों से कर्ज लेने के लिये उत्सुक था, और साथ ही उसकी यह भी इच्छा थी कि यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो तनाव विद्यमान है, उसमें कमी आ जाए।

अक्टूबर, १९२५ में स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लोकार्नो में एक कान्फरेन्स प्रारम्भ हुई, जिसमें फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया—इन सात राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यह पहला अवसर था, जब कि एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में जर्मनी को भी उपस्थित होने का अवसर मिला था। इस कान्फरेन्स का वातावरण अत्यन्त मैत्रीपूर्ण था, और इसमें सम्मिलित सभी राज्य परस्पर सहयोग द्वारा यूरोप के विभिन्न राज्यों की सुरक्षा की समस्या को हल करने के लिये प्रयत्नशील थे। लोकार्नो कान्फरेन्स द्वारा सात सन्धियों की रूपरेखा

तैयार की गयी—(१) पहली सन्धि जर्मनी, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम में पारस्परिक गारन्टी की सन्धि (Treaty of Mutual Guarantee) थी। (२) चार सन्धियाँ जर्मनी द्वारा बेल्जियम, फ्रांस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के साथ की गई थीं। (३) फ्रांस द्वारा पोलेण्ड के साथ और फ्रांस द्वारा ही चेकोस्लोवाकिया के साथ दो पृथक् सन्धियाँ भी की गई थीं। इनमें पहली सन्धि सबसे अधिक महत्व की थी। उस द्वारा यह तय किया गया था, कि (१) वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी और बेल्जियम तथा जर्मनी और फ्रांस के बीच जो सीमाएँ निर्धारित की गई थीं, पाँचों राज्य (जर्मनी, फ्रांस, इटली, ग्रेट ब्रिटेन और बेल्जियम) उनका अतिक्रमण न करने की सामूहिक रूप से एवं पृथक्-पृथक् रूप से गारन्टी देते हैं। साथ ही, वर्साय्य की सन्धि द्वारा र्‌हाइन नदी के पूर्वी तट के साथ के ३० मील चोड़े प्रदेश पर किलावन्दी न किये जाने की जो बात स्वीकार की गई थी, उसका पालन करने की भी पाँचों राज्यों ने गारन्टी दी। (२) जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम ने यह भी स्वीकार किया, कि वे कतिपय विशेष दशाओं के अतिरिक्त न एक दूसरे पर आक्रमण करेंगे, और न एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध शुरू करेंगे। ये विशेष दशाएँ निम्नलिखित थीं—अपनी सुरक्षा के लिये समुचित कारण उपस्थित होना, र्‌हाइन के क्षेत्र में किलाबन्दी करना या शस्त्र-शक्ति का जमाव करना, राष्ट्रसंघ के आदेश का पालन करने के लिये शस्त्र-शक्ति का प्रयोग, और संघ के किसी सदस्य-राज्य पर आक्रमण किये जाने की अवस्था में उस राज्य की सहायता के लिये सेना का प्रयोग। (३) फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम में यदि कोई विवाद उत्पन्न हो, तो उसका निवारण ये तीनों राज्य शान्तिमय उपायों द्वारा ही किया करेंगे, और उसके लिये युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। (४) पाँचों राज्यों (फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम) ने यह भी स्वीकार किया, कि यदि उनमें से किसी ने इस सन्धि का अतिक्रमण किया, तो अन्य सब राज्य उस राज्य की सहायता करेंगे जिसे इस अतिक्रमण के कारण नुकसान पहुँचता हो। सन्धि का अतिक्रमण किया गया है या नहीं, इस प्रश्न पर मतभेद होने की दशा में उसका निर्णय राष्ट्रसंघ की कौंसिल द्वारा किया जायगा। (५) जब जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जायगा, यह सन्धि तभी लागू होगी।

जर्मनी द्वारा जो चार सन्धियाँ बेल्जियम, फ्रांस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के साथ की गईं, उन द्वारा यह निर्धारित किया गया कि इन राज्यों के साथ जर्मनी के जो विवाद उत्पन्न हों उनका निर्णय यदि कूटनयिक साधनों द्वारा न किया जा सके, तो उनका फ़ैसला या तो पञ्च-निर्णय की पद्धति से कराया जाए और या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा। पर यह व्यवस्था भविष्य में उत्पन्न होने वाले विवादों के लिये ही थी। पर पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा किये गये निर्णयों या वर्साय्य की सन्धि के अनुसार स्थापित व्यवस्था के कारण यदि कोई विवाद उत्पन्न हो, तो उसके लिये यह सन्धि लागू नहीं होती थी। इसी लिये डान्ट्सिग के बन्दरगाह या जर्मनी के राज्यक्षेत्र में विद्यमान

पोल गलियारे के सम्बन्ध में जर्मनी और पोलैण्ड में जो झगड़े विद्यमान थे, उनके फैसले के लिये पञ्चनिर्णय या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का उपयोग नहीं किया जा सकता था।

फ्रांस ने जो दो सन्धियाँ पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के साथ की थीं, उन द्वारा यह व्यवस्था की गई कि यदि लोकार्नो पैक्ट का समुचित रूप से पालन न हो और उसके परिणामस्वरूप विना किसी उत्तेजनात्मक कारण के इनमें से किसी राज्य को युद्ध में फँस जाना पड़े, तो अन्य दोनों राज्य उसकी तुरन्त सहायता करेंगे।

लोकार्नो में की गई ये सात सन्धियाँ ही 'लोकार्नो पैक्ट' कहाती हैं। १ दिसम्बर, १९२५ के दिन सातों राज्यों ने इन पर हस्ताक्षर कर दिये थे, और १४ सितम्बर, १९२६ से ये लागू भी हो गई थीं। इस बीच में जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बन गया था।

लोकार्नो पैक्ट की आलोचना—इसमें सन्देह नहीं, कि यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिये लोकार्नो पैक्ट ने एक नये युग का सूत्रपात किया। इसके जो परिणाम हुए, उन्हें संक्षेप के साथ इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—(१) फ्रांस और जर्मनी के बीच जो कटुता और तनाव चिरकाल से चले आ रहे थे, उनमें बहुत कमी आ गई। उनके सम्बन्ध मधुर हो गये, और दोनों को ही अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के सम्बन्ध में निश्चिन्तता हो गई। आल्सेस-लारेन के प्रदेशों के सम्बन्ध में फ्रांस को जर्मनी से जो भय था, वह दूर हो गया। साथ ही, अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखकर फ्रांस राइनलैण्ड का एक पृथक् राज्य बनाने की जो माँग किया करता था, उसका उसने परित्याग कर दिया। (२) जर्मनी के लिये राष्ट्रसंघ का सदस्य बन सकने का मार्ग प्रशस्त हो गया। यह बात भी यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिये अत्यन्त महत्त्व की थी, क्योंकि अब जर्मनी भी विश्व के मामलों में हाथ बटा सकता था, और अन्य राज्यों के साथ सहयोग करना उसके लिये सम्भव हो गया था। पहले राष्ट्रसंघ में केवल वे राज्य ही सम्मिलित थे, जिन्होंने महायुद्ध में जर्मनी और उसके साथियों को परास्त किया था। इसी कारण उसे 'विजेता राज्यों का संघ' भी कहा जाता था। राष्ट्रसंघ के वातावरण में जर्मनी के साथ बदला लेने की भावना रहा करती थी, और जर्मनी व अन्य परास्त राज्यों को अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का अवसर ही नहीं मिलता था। पर अब इस दशा में भारी परिवर्तन आ गया। लोकार्नो पैक्ट द्वारा सच्चे अर्थों में एक ऐसे युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें युद्ध का वातावरण दूर होकर शान्ति और समझौते का वातावरण उत्पन्न हो गया था। ब्रिटेन के परराष्ट्र मन्त्री चेम्बरलेन ने ठीक ही कहा था, कि 'लोकार्नो पैक्ट युद्ध के वर्षों और शान्ति के वर्षों के बीच की वास्तविक भेदन-रेखा के समान है।' (३) इस पैक्ट से पूर्व फ्रांस वर्सा्य की सन्धि की शर्तों का अविकल रूप से पालन किये जाने की बात पर अड़ा रहता था। इसके विपरीत जर्मनी की यह मांग रहती थी, कि वर्साय की सन्धि में ऐसे परिवर्तन व संशोधन किये जाने चाहियें, जिन द्वारा उसके प्रति न्याय हो सके। लोकार्नो पैक्ट द्वारा इन परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों से संतुलन

स्थापित किया गया। इसके कारण फ्रांस और जर्मनी दोनों राज्यों को यह भरोसा हो गया, कि उनके बीच की राजकीय सीमाओं का अतिक्रमण करने का कोई प्रयत्न किसी राज्य द्वारा नहीं किया जायगा। यदि फ्रांस ने इस सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयत्न किया, तो ब्रिटेन, बेल्जियम और इटली जर्मनी की सहायता करने के लिए वचनबद्ध थे। इसी प्रकार जर्मनी द्वारा इस सीमा के अतिक्रमण करने पर इन सब राज्यों की सहायता फ्रांस को प्राप्त हो सकती थी। इसी कारण फ्रांस का परराष्ट्र-सचिव ब्रियां यह कह सका था कि यह पैक्ट 'जर्मनी के लिए शान्ति है, फ्रांस के लिए शान्ति है। इस द्वारा इतिहास के पृष्ठों को काला करने वाले रक्तरंजित एवं भयङ्कर संघर्षों की सुदीर्घ शृंङ्खला का अन्त हो गया है।'

पर लोकार्नो पैक्ट में अनेक कमियाँ भी थीं—(१) इस द्वारा यह तो स्वीकार कर लिया गया था, कि जर्मनी और फ्रांस के बीच की सीमा अनुल्लंघनीय है, पर जर्मनी और पोलैण्ड तथा जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के बीच की सीमाओं के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात लोकार्नो पैक्ट द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी थी। इन सीमाओं का निर्धारण भी वर्साय्य की सन्धि द्वारा किया था। अब जर्मनी को यह दावा करने का अवसर था, कि क्योंकि फ्रांस और उसके बीच की सीमा को उसने स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया है, अतः उसका अतिक्रमण न करने की तो उसकी जिम्मेवारी है; पर पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के साथ की अपनी सीमाएँ उस द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी हैं, अतः उनका अतिक्रमण न करने की वह कोई जिम्मेवारी नहीं ले सकता। यह बात अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए विघातक थी। (२) ग्रेट ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली राज्य ने फ्रांस और जर्मनी के बीच की सीमा के अतिक्रमण किये जाने की दशा में हस्तक्षेप करने की गारण्टी तो दे दी थी, पर ऐसी कोई गारण्टी उसने जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी और पोलैण्ड की सीमाओं के विषय में नहीं दी थी। इसका स्वाभाविक रूप से यह परिणाम हुआ कि चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड जैसे पूर्वी राज्यों में अपने राज्य-क्षेत्रों की सुरक्षा के सम्बन्ध में दुश्चिन्ताएँ उत्पन्न होने लगीं। उन्होंने अनुभव करना शुरू किया, कि वे अपनी सुरक्षा के लिए ग्रेट ब्रिटेन जैसे राष्ट्रसंघ के प्रमुख राज्यों पर निर्भर नहीं कर सकते। उन्हें यह विश्वास हो गया कि यदि जर्मनी ने अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए उन पर आक्रमण किया, तो ग्रेट ब्रिटेन व इटली आदि राज्यों की सहायता उन्हें प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसी कारण वे अपनी सुरक्षा के लिए अन्य साधनों की खोज में तत्पर हो गये। (३) लोकार्नो पैक्ट द्वारा यह भावना विकसित हुई, कि वर्साय्य की सन्धि द्वारा की गयी कुछ व्यवस्थाएँ अधिक महत्त्व की हैं, और कुछ कम महत्त्व की। फ्रांस और जर्मनी के बीच की सीमा का महत्त्व जर्मनी की पूर्वी सीमाओं की तुलना में अधिक है। साथ ही, जर्मनी वर्साय्य की सन्धि की केवल उन व्यवस्थाओं का पालन करने के लिए ही उद्यत है, जिन्हें उसने स्वयं स्वेच्छापूर्वक भी स्वीकार कर लिया हो। इससे जर्मनी को यह प्रोत्साहन मिला, कि वह

वर्साय्य की सन्धि की उन व्यवस्थाओं की कोई भी परवाह न करे, जो उसकी दृष्टि में अनुचित थीं। इसी कारण बाद में उसने सुडटनलैण्ड (चेकोस्लोवाकिया) को अधिगत किया, और र्‌हाइन नदी के तटवर्ती प्रदेशों में भी किलाबन्दी प्रारम्भ कर दी। (४) यदि लोकार्नो पैक्ट द्वारा जर्मनी के असन्तोष के सब कारणों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता, तो इस द्वारा स्थायी लाभ सम्भव था। पर डान्ट्सिग, सुडटनलैण्ड और जर्मनी के बीच के पोल गलियारे की समस्याएँ जर्मनी में घोर असन्तोष उत्पन्न कर रही थीं। इनका समाधान करने की कोई प्रयत्न लोकार्नो की कान्फरेन्स द्वारा नहीं किया गया। इससे कुछ समय के लिए फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध कुछ अंश तक अवश्य सौहार्द्रपूर्ण हो गये, और उन्हें अपनी राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा का भी कुछ भरोसा हो गया, पर यूरोप में शान्ति को स्थापित रखने के लिए इन्हें पर्याप्त नहीं समझा जा सकता था। (५) फ्रांस ने पृथक् सन्धियों द्वारा पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया की राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा करने के प्रयोजन से उनकी सहायता करने का जिम्मा ले लिया था, जिसके कारण उसकी सैनिक उत्तरदायिता बहुत बढ़ गयी थी। पर ग्रेट-ब्रिटेन ने इस प्रकार का कोई जिम्मा नहीं लिया था। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटेन की दृष्टि में वर्साय्य की सन्धि द्वारा की गयी सब व्यवस्थाएँ एक समान अनुल्लंघनीय नहीं हैं। यह बात राष्ट्रसंघ को निर्बल बनाने में बहुत सहायक हुई।

केलोग-ब्रियां पैक्ट—लोकार्नो के पैक्ट से फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध बहुत मधुर हो गये थे। इससे इन दोनों राज्यों के बीच की सीमा के सम्बन्ध में युद्ध की आशंका नहीं रह गयी थी। पर जर्मनी और पोलैण्ड के बीच की तथा जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के बीच की सीमाओं की सुरक्षा की उत्तरदायिता केवल फ्रांस ने ही अपने ऊपर ली थी। यदि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को अनुचित समझ कर पोलैण्ड या चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करे, तो लोकार्नो पैक्ट के अनुसार फ्रांस के लिए उनकी सहायता करना आवश्यक था। युद्ध शुरू होने की अधिक सम्भावना जर्मनी की पूर्वी सीमा के सम्बन्ध में ही थी, और ऐसे युद्ध में फ्रांस के लिए तटस्थ रह सकना सम्भव नहीं था। इस दृष्टि से फ्रांस की सुरक्षा की समस्या भलीभाँति हल नहीं हो पायी थी। पर लोकार्नो पैक्ट द्वारा सहयोग और समझौते की जो नयी भावना उत्पन्न हुई थी, वह अभी मन्द नहीं पड़ी थी। इसीलिए फ्रांस ने सुरक्षा की खोज को जारी रखा, और यह प्रयत्न किया कि लोकार्नो की भावना से लाभ उठा कर अन्य देशों के साथ भी चिरमैत्री के सम्बन्ध स्थापित किये जाएँ। ६ एप्रिल, १९२७ के दिन फ्रांस के परराष्ट्र-मन्त्री ब्रियां ने यह घोषणा की, कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ एक ऐसा समझौता करने को उद्यत है, जिस द्वारा राजकीय नीति में युद्ध का बहिष्कार कर दिया जाए। अमेरिका २ एप्रिल, १९१७ के दिन महायुद्ध में सम्मिलित हुआ था, और मित्र-राज्यों की दृष्टि में इस दिन का बहुत महत्त्व था। अमेरिका के महायुद्ध में शामिल होने के दशाब्दि-उत्सव में भाषण करते हुये ही ब्रियां ने अपना यह विचार अमेरिका

के सम्मुख प्रस्तुत किया था। कुछ समय के बाद २० जून को ब्रियाँ ने अपने प्रस्तावित समझौते का मसविदा भी अमेरिका की सरकार के पास भेज दिया। अमेरिका और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इस दशा में युद्ध का बहिष्कार करने के सम्बन्ध में ब्रियाँ के प्रस्ताव का क्या अभिप्राय था, यह स्पष्ट नहीं है। अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री कैलोग ने छः मास बाद ब्रियां के प्रस्ताव पर अपनी सम्मति प्रगट की। उन्होंने यह सुझाव दिया, कि राजकीय नीति में युद्ध का बहिष्कार करने के लिए अमेरिका और फ्रांस जो समझौता करें, उसमें अन्य राज्यों को भी सम्मिलित किया जाए। पर फ्रांस के लिए इसे स्वीकार कर सकना कठिन था। उसका कहना था कि विविध सन्धियों द्वारा जो जिम्मेवारियाँ उसने अपने ऊपर ली हुई है, उन्हें दृष्टि में रखते हुए उसके लिए यह सम्भव नहीं होगा कि अन्य राज्यों के साथ भी इस प्रकार का समझौता कर सके। फिर भी एप्रिल, १९२८ में वह इस बात के लिए तैयार हो गया कि राजकीय नीति में युद्ध का बहिष्कार के सम्बन्ध में जो पत्र-व्यवहार उसने अमेरिका के साथ किया है उसकी प्रतिलिपियाँ जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और जापान की सरकारों के पास भेज दे। इस पत्र-व्यवहार में युद्ध के बहिष्कार का जो प्रस्ताव किया गया था, जर्मनी ने उसका सहर्ष स्वागत किया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव पर यह आपत्ति की, कि विश्व के कतिपय प्रदेशों में वहाँ के निवासियों के हित और कल्याण की उत्तरदायिता ब्रिटेन ने अपने ऊपर ली हुई है, और उनकी सुरक्षा का भार भी उसी के ऊपर है। अतः युद्ध के उपाय का सर्वथा परित्याग उसके लिए सम्भव नहीं होगा। वस्तुतः, ब्रिटेन के सामने अपने विशाल साम्राज्य को बनाये रखने की समस्या विद्यमान थी, और इस कारण वह युद्ध का सर्वथा परित्याग कर देने की बात को स्वीकार नहीं कर सकता था। फ्रांस के सम्मुख भी अपनी जिम्मेवारियों को पूरा करने के लिए और साथ ही अपनी सुरक्षा के लिए युद्ध को आरम्भ कर सकने के अधिकार को सुरक्षित रखने की बात थी। कैलोग ने इन विप्रतिपत्तियों की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया, कि आत्मरक्षा और अपनी जिम्मेवारियों को पूरा करने के लिए जो युद्ध अनिवार्य हो, वह इस समझौते द्वारा निषिद्ध नहीं होगा। इस स्पष्टीकरण के बाद कैलोग के प्रस्ताव पर विचार करने में किसी राज्य को एतराज नहीं रह गया। २७ अगस्त, १९२८ के दिन पेरिस में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान, इटली और जर्मनी के अतिरिक्त बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और आयर्लैण्ड के भी प्रतिनिधि एकत्र हुए। युद्ध का बहिष्कार करने के समझौते का जो मसविदा इस कान्फरेन्स के सम्मुख उपस्थित किया गया, उसे इन पन्द्रहों राज्यों ने स्वीकार कर लिया। बाद में अन्य राज्यों को भी इसे स्वीकृत करने के लिए आमन्त्रित किया गया, और १९३३ के अन्त तक ६५ राज्यों के इस पर हस्ताक्षर हो गये। यही समझौता कैलोग-ब्रियां पैक्ट और 'पेरिस की सन्धि' के नामों से प्रसिद्ध है। इसे ही 'युद्ध के परित्याग की सर्वसामान्य

सन्धि' (General Treaty for the Renunciation of War) भी कहते हैं।

कैलोग-ब्रियां पैक्ट द्वारा निम्नलिखित बातें स्वीकार की गयी थीं—(१) इस समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने सत्य निष्ठा पूर्वक अपनी जनताओं के नाम पर यह घोषित किया, कि वे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय लेने की निन्दा करते हैं, और एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों में राजकीय नीति के रूप में युद्ध के उपाय का परित्याग करते हैं। (२) इन राज्यों में जो भी विवाद व विरोध उत्पन्न हों, चाहे उनका रूप कुछ भी हो और उनका मूल कोई भी हो, उनको निबटाने के लिए वे शान्तिमय उपायों के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय का कदापि आश्रय नहीं लेंगे। (३) यह समझौता कब से लागू हो और जो अन्य राज्य इसमें सम्मिलित होना चाहें उनके सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय, यह भी इस समझौते में स्पष्ट कर दिया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में इस कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट का महत्त्व बहुत अधिक है। इसका क्षेत्र राष्ट्रसंघ की अपेक्षा भी अधिक व्यापक था। राष्ट्रसंघ में संयुक्त-राज्य अमेरिका सम्मिलित नहीं था, पर इस पैक्ट पर उसने भी हस्ताक्षर किये थे, और उसके अतिरिक्त अमेरिका महाद्वीप के कतिपय अन्य राज्यों ने भी। यह पहला अवसर था, जब कि इतने अधिक राज्यों ने अपने झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय न लेने की बात को स्वीकार किया था। इस पैक्ट पर ६५ राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे, जब कि इस काल में राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों की संख्या ५८ थी। संयुक्त राज्य अमेरिका को तो इस पैक्ट का प्रधान श्रेय था ही, पर उसके अतिरिक्त रूस जैसे शक्तिशाली राज्य ने भी इस पर हस्ताक्षर किये थे। ये दोनों राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे, इस कारण विश्व की समस्याओं का समाधान करने की इस अन्तर्राष्ट्रिय संगठन में उतनी क्षमता नहीं थी, जितनी कि इस कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट में थी।

पर इस पैक्ट में कतिपय कमियाँ भी थीं—(१) इस पैक्ट द्वारा संसार के विविध राज्यों ने युद्ध के बहिष्कार का संकल्पमात्र किया था। यदि कोई राज्य युद्ध का आश्रय ले, तो उसे रोका कैसे जाए इस सम्बन्ध में इस पैक्ट द्वारा कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। राष्ट्रसंघ ने अपनी नीति में युद्ध का सर्वथा बहिष्कार बेशक नहीं किया था, पर उसके संविधान में इस बात की व्यवस्था अवश्य कर दी गयी थी कि युद्ध प्रारम्भ करने वाले राज्य के विरुद्ध अन्य राज्य क्या कार्रवाई करें। उचित तो यह था, कि जिनीवा प्रोटोकोल द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर इस व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ व स्पष्ट किया जाता। केवल संकल्प से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान कर सकना सम्भव नहीं होता। (२) इस पैक्ट पर जिन राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे, उनमें से बहुत-से ऐसे थे, जो कतिपय शर्तों के साथ ही इसे स्वीकार करने के लिए उद्यत हुए थे। फ्रांस ने इसे स्वीकार करते हुए यह शर्त लगायी थी कि यह पैक्ट तभी लागू हो सकेगा जब कि सब राज्य इसे स्वीकार कर लें, और प्रत्येक राज्य का आत्म-

रक्षा के लिए युद्ध कर सकने का अधिकार अक्षुण्ण रहे। साथ ही, उसने यह भी कहा था, कि यदि कोई राज्य युद्ध न करने की अपनी प्रतिज्ञा को भंग करे, तो अन्य राज्यों को भी इस प्रतिज्ञा से मुक्त समझा जाये। फ्रांस की एक शर्त यह भी थी कि इस पैक्ट से पहले जो सन्धियाँ किसी राज्य ने की हुई हैं, उन पर इस पैक्ट का कोई प्रभाव न पड़े। इसका अभिप्राय यह था कि पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों के साथ पहले से की हुई सन्धियों के कारण फ्रांस को यदि किसी युद्ध में शामिल होना पड़े, तो यह कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट उसमें बाधक नहीं होगा। ग्रेट ब्रिटेन का भी यह कहना था, कि संसार में अनेक देश व उपनिवेश ऐसे हैं, जिनके हित और कल्याण की जिम्मेवारी उसने ली हुई है। उन्हें विदेशी आक्रमण से सुरक्षित रखना ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। ब्रिटेन ने इस पैक्ट पर हस्ताक्षर करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था, कि इसे स्वीकार कर लेने के कारण वह अपनी इस जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो जायगा। अमेरिका का भी यह कहना था, कि वह अपनी सुरक्षा के लिए और मुनरो सिद्धान्त के अनुसार अमेरिकन महाद्वीप के देशों की रक्षा के लिए भी युद्ध कर सकेगा। जापान समझता था कि आत्मरक्षा के लिए युद्ध करने का तो उसे अधिकार होना ही चाहिये, पर मन्चूरिया जैसे प्रदेशों में उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनकी रक्षा भी आत्मरक्षा के अन्तर्गत आ जाती है। वह कहता था कि मञ्चूरिया आदि में उसके हित इतने बद्धमूल हैं कि आत्मरक्षा के लिए उनकी रक्षा करना भी उसके लिए आवश्यक है। क्योंकि इन शक्तिशाली बड़े राज्यों ने कतिपय शर्तों व प्रतिबन्धों के साथ ही पेरिस पैक्ट (कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट) को स्वीकार किया था, अतः युद्धों को रोक सकने की उसकी क्षमता बहुत कम रह गयी थी। (३) वस्तुतः, इस पैक्ट द्वारा केवल ऐसे युद्धों को ही अवैध ठहराया गया था, जो आक्रमणात्मक हों और दूसरे देशों को जीतने के लिए प्रारम्भ किये गये हों। पर यह निर्धारित कर सकना कठिन था, कि कौन-से युद्ध आक्रमणात्मक हैं। जब १९३१ में जापान ने चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करना प्रारम्भ किया, और छोटी-छोटी घटनाओं को निमित्त बनाकर चीन के विरुद्ध वह अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग करने लगा, तो इस पैक्ट के आधार पर उसके आक्रमणों को रोक सकना सम्भव नहीं हुआ। पेरिस पैक्ट की यह बहुत बड़ी कमजोरी थी, कि उसमें न आक्रमणात्मक युद्ध की परिभाषा को स्पष्ट किया गया था, और न उन साधनों का ही प्रतिपादन किया गया था, जिन द्वारा ऐसे युद्धों को रोका जायगा। पेरिस कान्फरेन्स में एकत्र राजनीतिज्ञों का विचार था, कि संसार के लोकमत द्वारा ही ऐसे युद्धों का निवारण किया जा सकेगा, और कोई राज्य विश्व के लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकेगा। पर उनकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई।

रोम का पैक्ट—जर्मनी में जब नाजी पार्टी ने शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया और हिटलर की शक्ति में असाधारण रूप से वृद्धि होने लगी, तो यूरोप के राजनीतिज्ञों ने दो अन्य ऐसे पैक्ट किये, जिनका प्रयोजन यूरोप में शान्ति स्थापित करना

था। ये पैक्ट रोम का पैक्ट और लण्डन का पैक्ट थे। नाजियों और फासिस्टों की शक्ति में वृद्धि हो जाने के कारण यूरोप में युद्ध के बादल फिर से घिरने लग गये थे। इस दशा में मुसोलिनी ने यूरोप के विविध राज्यों के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वे कम से कम कुछ निश्चित काल के लिए परस्पर मिल कर यह समझौता कर लें कि वे शान्ति को कायम रखेंगे। इसी के परिणामस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधि रोम में एकत्र हुए, और जुलाई, १९३३ में उन्होंने एक पैक्ट पर हस्ताक्षर किये, जो रोम के पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस पैक्ट द्वारा हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्यों ने यह निर्धारित किया कि वे सब महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर विचार-विमर्श द्वारा काम करेंगे, जिनीवा के निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स की सफलता के लिए प्रयत्न करेंगे, और पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई सन्धियों में आवश्यक संशोधन किये जा सकते हैं इस सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे। यह पैक्ट दस साल के लिए किया गया था, और निस्सन्देह इस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कुछ कमी हुई थी। जब रूस को इस पैक्ट का पता लगा, तो उसने समझा कि इसका प्रयोजन बोल्शेविज्म का विरोध करना है और पूँजीवादी राज्यों ने इसका निर्माण उसीके विरुद्ध किया है। इसी कारण उसने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मिलकर लण्डन पैक्ट का निर्माण किया। इस पैक्ट का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि हिटलर के शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारी परिवर्तन आ गया था। नाजी लोग वर्साय्य की सन्धि के धुर्रे उड़ा देने की बात खुले तौर पर कहने लग गये थे। इस दशा में फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्य यह अनुभव करने लगे थे, कि वे अपनी सुरक्षा के लिए न राष्ट्रसंघ पर निर्भर रह सकते हैं, न लोकार्नो पैक्ट पर, और न पेरिस पैक्ट पर। वे लोकार्नो की सन्धि और पेरिस पैक्ट के शुभ संकल्पों पर निर्भर रहने की अपेक्षा सैनिक सन्धियों को अधिक महत्त्व देने लगे। इसीलिए फ्रांस ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया से दुबारा सैनिक-सन्धियाँ कीं, और यह प्रयत्न किया कि इटली भी उसके साथ सम्मिलित हो जाए। इटली के अबोसीनिया पर आक्रमण के समय फ्रांस जो उसके विरुद्ध किसी भी कार्रवाई को करने के लिए उद्यत नहीं हुआ, उसका यही मूल कारण था।

(४) निःशस्त्रीकरण के विविध प्रयत्न

महायुद्ध की समाप्ति पर विविध राज्य यह अनुभव करने लगे थे कि अस्त्र-शस्त्रों और सेना में वृद्धि से न केवल राजकीय आमदनी का बहुत बड़ा भाग लड़ाई की तैयारी में खर्च हो जाता है, अपितु स्थायी शान्ति का वातावरण उत्पन्न होने में भी इससे बाधा उपस्थित होती है। इसी कारण पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा यह व्यवस्था

की गयी थी कि जर्मनी और उसके साथी राज्यों की सेना की मात्रा निश्चित कर दी जाए और वे उससे अधिक सेनाएँ न रख सकें। यदि ये राज्य अपनी सैन्यशक्ति में कमी कर देंगे, और उनकी ओर से युद्ध का खतरा कम हो जायगा, तो फ्रांस, ब्रिटेन, पोलैण्ड आदि राज्य भी अपनी सेनाओं में कमी करने का निश्चय कर सकेंगे। शान्ति परिषद ने यह सिद्धान्त भी स्वीकार किया कि विश्व के विभिन्न राज्य केवल उतनी ही सेनाएँ रखें जो उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य हों। साथ ही, परिषद् ने अस्त्र-शस्त्रों और सैन्य-शक्ति में कमी करने की विस्तृत योजना तैयार करने का काम राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सुपुर्द कर दिया। इसी के अनुसार जनवरी, १९२० में स्थायी परामर्शदाता कमीशन (Permanent Advisory Commission) का निर्माण किया गया, जिसमें उन सब राज्यों के स्थल, जल एवं वायु सेना के एक-एक विशेषज्ञ सदस्यरूप से लिए गये, जो उस समय राष्ट्रसंघ को कौंसिल के सदस्य थे। पर इस कमीशन से यह आशा नहीं को जा सकती थो कि वह सैन्यशक्ति को कम करने के सम्बन्ध में कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय कर सके, क्योंकि इसके सब सदस्य सैनिक ही थे। इसीलिए नवम्बर, १९२० में राष्ट्रसंघ की कौंसिल द्वारा एक अन्य कमीशन का निर्माण किया गया, जिसमें सेना के विशेषज्ञों के अतिरिक्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विषयों के विशेषज्ञ भी सम्मिलित किये गये। यह कमीशन अस्थायी रूप से बनाया गया था, और इसे निःशस्त्रीकरण को एक ऐसी सन्धि का प्रारूप तैयार करने का कार्य सौंपा गया था, जो सब प्रमुख राज्यों को स्वीकार्य हो सके। इस कमीशन को 'अस्थायी मिश्रित कमीशन' (Temporary Mixed Commission) कहते थे।

वाशिंगटन कान्फरेन्स (१९२१-२२)—जिस समय राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त कमीशन निःशस्त्रीकरण की योजना तैयार करने में तत्पर थे, अमेरिका द्वारा वाशिंगटन में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसका उद्देश्य विविध राज्यों की सामुद्रिक शक्ति को नियन्त्रित करना था। इस कान्फरेन्स को अमेरिका के राष्ट्रपति हार्डिंग द्वारा आयोजित किया गया था, और यह राष्ट्रसंघ से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से बुलायी गयी थी। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, अमेरिका, चीन, इटली, बेल्जियम, पोर्तुगाल और हालैण्ड के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। १२ नवम्बर, १९२१ को इसके अधिवेशन प्रारम्भ हुए, और ६ फरवरी, १९२२ तक होते रहे।

वाशिंगटन कान्फरेन्स के निर्णयों का उल्लेख करने से पूर्व यह बता देना उपयोगी होगा कि अमेरिका ने इस कान्फरेन्स के आयोजन की आवश्यकता क्यों अनुभव की थी। अमेरिका यूरोप के झगड़ों से अपने हाथ को खींच चुका था और राष्ट्रसंघ का सदस्य तक भी नहीं बना था, पर सुदूर पूर्व के राज्यों की गतिविधि के प्रति वह उपेक्षा का भाव नहीं रख सकता था, क्योंकि उस क्षेत्र में अमेरिका के भी अनेक स्वार्थ निहित थे। फिलिप्पीन द्वीपसमूह उसके अधीन था, और चीन के अनेक प्रदेशों में उसे विशेषाधिकार प्राप्त थे। महायुद्ध के समय जापान ने अपनी सैन्यशक्ति को बहुत अधिक बढ़ा

लिया था, और पेरिस की शान्ति परिषद् के निर्णयों के अनुसार प्रायः उन सब प्रदेशों व द्वीपों को प्राप्त कर लिया था, जो पहले जर्मनी के हाथों में थे। पर जापान इतने से हो सन्तुष्ट नहीं था। वह चीन में अपनी प्रभुता के विस्तार के लिए तत्पर था। इसी लिए वह अपनी स्थल और जल सेनाओं में वृद्धि कर रहा था, और विश्व के अन्य राज्यों की तुलना में उसकी सैन्यशक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। इससे अमेरिका का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था, और उसने वाशिंगटन कान्फरेन्स का आयोजन इसी प्रयोजन से किया था, ताकि विविध राज्य परस्पर मिल कर जापान की सैन्यशक्ति—विशेषतया सामुद्रिक शक्ति को नियन्त्रित कर सकें।

वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा कुल मिलाकर सात सन्धियाँ की गईं, जिनमें तीन विशेष महत्त्व की थीं। पहली सन्धि पांच राज्यों (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और इटली) के बीच में की गई थी, और उस द्वारा यह तय किया गया था कि इन राज्यों के जंगी जहाजों में यह अनुपात कायम रखा जाए, अमेरिका ५, ब्रिटेन ५, जापान ३, फ्रांस १·६७ और इटली १·६७। यह अनुपात बड़े जंगी जहाजों के सम्बन्ध में था। बड़े जंगी जहाज उन्हें माना गया था, जिनका वजन दस हजार टन से अधिक हो। इस व्यवस्था के अनुसार अमेरिका के जंगी जहाजों का कुल वजन ५,२५,००० टन से अधिक नहीं हो सकता था, और वायुयान ले जाने वाले जंगी जहाजों का १,३५,००० टन से अधिक नहीं। अन्य राज्यों के जंगी जहाजों की मात्रा इसी अनुपात (५, ५, ३, १·६७ और १·६७) के अनुसार हो सकती थी। अमेरिका चाहता था कि छोटे जंगी जहाजों (क्रूजर, डिस्ट्रॉयर, पनडुब्बी आदि) को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार से फैसला कर लिया जाए। पर ग्रेट ब्रिटेन इससे सहमत नहीं हुआ। उसका कहना था कि सातों समुद्रों में विस्तीर्ण विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए छोटे जंगी जहाजों का बहुत अधिक उपयोग है और उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं होगा। ब्रिटेन को इच्छा थी कि पनडुब्बियों और सामुद्रिक सुरंगों के प्रयोग को पूर्णतया रोक दिया जाए, पर फ्रांस इसके लिए उद्यत नहीं हुआ। गत महायुद्ध में जर्मनी की पनडुब्बियों ने जो असाधारण क्षमता प्रदर्शित की थी, उसे दृष्टि में रखते हुए फ्रांस उनका परित्याग करने को उचित नहीं समझता था। इसी कारण छोटे जंगी जहाजों और पनडुब्बियों को मर्यादित करने के विषय में वाशिंगटन कान्फरेन्स कोई निर्णय नहीं कर सकी। इस सन्धि द्वारा जो अन्य निर्णय किये गये, उनके अनुसार यह बात भी पाँचों राज्यों ने स्वीकार की, कि अगले दस साल तक वे कोई नये बड़े जंगी जहाज नहीं बनायेंगे और निर्धारित मात्रा से अधिक जो जंगी जहाज उनके पास हैं, उन्हें नष्ट कर देंगे। साथ ही, नये नाविक अड्डों के निर्माण को नियन्त्रित करने के लिए भी इस सन्धि द्वारा कतिपय व्यवस्थाएँ की गईं।

दूसरी सन्धि अमेरिका, जापान, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के बीच में की गई। इस

द्वारा यह निर्णय किया गया कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में इन चारों राज्यों के अधिकार में जो-जो प्रदेश व द्वीप हैं, उनमें एक दूसरे के अधिकारों का वे आदर करेंगे, और उनके बारे में यदि कोई विवाद प्रस्तुत हों तो उनका निर्णय परस्पर विचार-विमर्श द्वारा किया करेंगे।

तीसरी सन्धि वाशिंगटन कान्फरेन्स में सम्मिलित नौ राज्यों के बीच में की गई थी। इस द्वारा इन सब राज्यों ने चीन की सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्नता और उसके राज्य-क्षेत्र की अखण्डता को स्वीकार किया, और विविध सन्धियों द्वारा चीन के अनेक प्रदेशों में जो अनेक विशेषाधिकार अमेरिका, ब्रिटेन, जापान आदि देशों ने प्राप्त किये हुए थे, उनके सम्बन्ध में ऐसे निर्णय किये गये जिनसे चीन उन पर अपनी प्रभुसत्ता को स्थापित कर सकने में पर्याप्त अंश तक सफल हो गया।

पर वाशिंगटन कान्फरेन्स का वास्तविक महत्त्व विविध राज्यों की सामुद्रिक शक्ति को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में था। महायुद्ध के समय से विश्व के प्रमुख राज्यों में अपनी-अपनी जल-सैन्य-शक्ति की वृद्धि के लिए जो होड़ चल रही थी, इस कान्फरेन्स ने उसका अन्त करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। इस समय विश्व में ये पाँच राज्य (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और इटली) ही ऐसे थे, जिनकी सामुद्रिक शक्ति बहुत अधिक थी। इस काल में रूस की सामुद्रिक शक्ति नगण्य थी, और वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी को सामुद्रिक शक्ति को नष्ट कर दिया गया था। पर अमेरिका, जापान और ब्रिटेन अपनी सामुद्रिक शक्ति की वृद्धि में विशेष रूप से तत्पर थे। अपने-अपने साम्राज्यों की रक्षा के लिए वे इस शक्ति को अधिकतम मात्रा में रखना आवश्यक समझते थे। पर वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा उनकी इस प्रतियोगिता का अन्त हो गया, और उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया कि वे न नये जंगी जहाज बनायेंगे, और न नये नाविक अड्डे। निस्सन्देह, इस कान्फरेन्स की यह अनुपम सफलता थी।

जिनीवा कान्फरेन्स (१९२७)—वाशिंगटन कान्फरेन्स के पाँच वर्ष पश्चात् अमेरिका के राष्ट्रपति कूलिज ने एक अन्य कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित किया गया। बड़े जंगी जहाजों को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में तो वाशिंगटन कान्फरेन्स ने निर्णय कर लिया था, पर छोटे जंगी जहाजों को उस द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सका था। इस बीच में ग्रेट ब्रिटेन क्रूजर, डिस्ट्रॉयर और पनडुब्बियों आदि की वृद्धि में तत्पर था, और यह बात अमेरिका के लिए चिन्ता का विषय थी। जिनीवा कान्फरेन्स का आयोजन इसी प्रयोजन से किया गया था कि छोटे जंगी जहाजों की मात्रा को भी नियन्त्रित किया जा सके। केवल ग्रेट ब्रिटेन और जापान ने अमेरिका के निमन्त्रण को स्वीकार किया, और इन दो राज्यों के प्रतिनिधि अमेरिका के साथ एक कान्फरेन्स में जिनीवा में एकत्र हुए। जून, १९२७ में जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशन प्रारम्भ हुए।

इसमें अमेरिका की ओर से यह प्रस्ताव पेश किया गया कि छोटे जंगी जहाजों के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन, अमेरिका और जापान ५ ५ और ३ के उसी अनुपात को स्वीकार कर लें, जो उन्होंने बड़े जंगी जहाजों के सम्बन्ध में वाशिंगटन कान्फरेन्स में स्वीकृत किया था। पर ब्रिटेन का कहना था कि उसके विशाल साम्राज्य में आने-जाने के लिए जो जल-मार्ग हैं, उनकी लम्बाई ८०,००० मील से भी अधिक है। उनकी रक्षा के लिए छोटे जंगी जहाजों का बहुत उपयोग है, अतः ७५०० टन वजन के और इससे कम वजन के जंगी जहाजों की संख्या को किसी भी प्रकार से नियन्त्रित नहीं किया जाना चाहिए। वह इस बात के लिए तैयार था कि १०,००० टन के जंगी जहाजों को बेशक नियन्त्रित कर दिया जाए, पर अमेरिका अपने सुविस्तृत समुद्रतट की रक्षा के लिए इस वर्ग के जहाजों में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं था। दो मास तक जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशन होते रहे, पर कोई परिणाम नहीं निकल सका। ४ अगस्त, १९२८ को यह कान्फरेन्स भंग हो गई और इसकी विफलता के कारण ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका की नाविक प्रतिद्वन्द्विता में वृद्धि हो गई, और उनमें मनोमालिन्य बढ़ गया। सितम्बर, १९२८ में 'न्यूयार्क अमेरिकन' नामक अमेरिकन समाचारपत्र ने यह प्रकाशित किया, कि जिनीवा कान्फरेन्स से पूर्व ही ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसके अनुसार फ्रांस ने यह वायदा किया था कि वह भविष्य में होने वाली निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्सों में ब्रिटेन का पक्ष लेगा, और इसके बदले में ब्रिटेन फ्रांस के इस मत का समर्थन करेगा कि सैनिकों की संख्या को गिनते हुए युद्ध-कला में प्रशिक्षित उन व्यक्तियों को नहीं गिना जायगा जो किसी राज्य में रिजर्व रूप में हों। इस समाचार से अमेरिका का लोकमत बहुत उद्विग्न हो गया, और १९२९ में अमेरिका की कांग्रेस ने सरकार को यह अधिकार प्रदान कर दिया कि वह एक वायुयान-वाहक जहाज और पन्द्रह नये क्रूजरों का निर्माण करा सके। ब्रिटेन के जलसेना विभाग को इससे बहुत रोष हुआ, और इस समय से अमेरिका और ब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्धों में पर्याप्त कटुता आ गई।

लन्डन की नाविक शक्ति कान्फरेन्स—राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के लिये जो प्रयत्न १९२० में किये गये थे, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इनका कोई परिणाम नहीं निकला था। संघ के प्रयत्न से जिस जिनीवा प्रोटोकोल का निर्माण हुआ (१९२४), वह भी सफल नहीं हो सका था। पर राष्ट्रसंघ ने निःशस्त्रीकरण के अपने प्रयत्नों को इन विफलताओं के कारण छोड़ नहीं दिया था। इसी लिए सितम्बर, १९२६ में संघ की एसेम्बली का छठा अधिवेशन जब जिनीवा में हुआ, तो उसने एक प्रस्ताव पास किया, जिस द्वारा कौंसिल से यह अनुरोध किया गया कि वह अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने के प्रयोजन से एक कान्फरेन्स का आयोजन करे और उसकी तैयारी के लिए पहले एक तैयारी (Preparatory) कमीशन की नियुक्ति करे जो इस समस्या पर विशद रूप से विचार-विमर्श करके अपने सुझाव प्रस्तुत करे। एसेम्बली के

इस प्रस्ताव के अनुसार कौंसिल ने एक तैयारी कमीशन की नियुक्त की, जिसमें कौंसिल के तत्कालीन सब सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अमेरिका, रूस और जर्मनी के प्रतिनिधियों को भी निमन्त्रित किया गया। रूस ने इस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। तैयारी कमीशन के कार्य को सुगम करने के प्रयोजन से कौंसिल द्वारा एक प्रश्नावलि बनायी गई, जिसे सब राज्यों के पास भेज दिया गया। इस प्रश्नावलि के जो उत्तर प्राप्त हुए, उनके आधार पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स की सरकारों ने निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में समझौतों के प्रारूप तैयार किये, और उन्हें तैयारी कमीशन के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया। ब्रिटेन और फ्रान्स द्वारा इस समस्या के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये गये थे, उनमें किसी भी बात पर ऐकमत्य नहीं था। ये मतभेद प्रधानतया तीन बातों पर थे। फ्रान्स और यूरोप के अन्य अनेक देशों में बाधित सैनिक शिक्षा की पद्धति विद्यमान थी, जिसके कारण वहाँ के नागरिक सैनिक-सेवा में न होते हुए भी युद्ध विद्या में प्रवीण हो जाते थे, और किसी भी समय सेना के लिए उनका उपयोग किया जा सकता था। फ्रान्स का कहना था, कि ऐसे नागरिकों को सैनिकों की संख्या में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। पर ब्रिटेन यह नहीं मानता था। दूसरा मतभेद सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में था। इस बात को तो सब स्वीकार करते थे कि जंगी जहाजों की मात्रा को नियन्त्रित किया जाना चाहिये। अमेरिका और ब्रिटेन का मत था, कि किसी राज्य के पास अधिक से अधिक कितने कुल वजन के जंगी जहाज रह सकें, इसे निर्धारित करते समय यह भी तय कर देना चाहिये कि कोई देश किस किस्म के कितने जहाज रख सके। पर फ्रान्स और इटली इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि प्रत्येक देश को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि उसके लिए निर्धारित जहाजों के कुल वजन का अतिक्रमण न करते हुए वे जिस किस्म के जितने जहाज चाहें रख सकें। तीसरा मतभेद निःशस्त्रीकरण की निगरानी करने के सम्बन्ध में था। फ्रान्स और उसके साथी राज्यों का मत था कि निःशस्त्रीकरण के कार्यक्रम को सब राज्य भलीभाँति पालन कर रहे हैं या नहीं, इस पर निगरानी रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। पर अन्य राज्यों का कहना था कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात प्रत्येक राज्य की सद्भावना पर ही छोड़ देनी चाहिए। इन मतभेदों के कारण तैयारी कमीशन कोई ऐसे प्रस्ताव तैयार नहीं कर सका, जिस पर सब राज्यों की सहमति हो। पर जिन बातों पर सब सहमत थे, उनके आधार पर उसने अपने प्रस्ताव तैयार कर लिए, और जिन बातों पर मतभेद था उनके सम्बन्ध में भी विभिन्न पक्षों के मतों को लेकर विभिन्न प्रकार के प्रस्तावों का निर्माण कर लिया।

इस बीच में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कुछ कमी आने लग गई थी। १९२८ में कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट को विविध राज्यों द्वारा स्वीकृत कर लिया गया, जिसके कारण उन्होंने आपस के झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध के उपाय का बहिष्कार करने का निश्चय

किया था। इस पैक्ट के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के प्रादुर्भाव में बहुत सहायता मिली थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सामुद्रिक शक्ति को कम करने के लिए प्रयत्न को फिर से प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों को प्रोत्साहन मिला, और १९३० में लन्डन में एक नाविक-शक्ति-कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रान्स और इटली के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। तीन मास के निरन्तर विचार-विमर्श के पश्चात् २२ एप्रिल, १९३० के दिन एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये, जो 'लन्डन की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि पर केवल अमेरिका, ब्रिटेन और जापान ने ही हस्ताक्षर किये थे। इटली इस सन्धि पर इस शर्त पर हस्ताक्षर करने को तैयार था कि उसके लिये जो भी नाविक शक्ति निर्धारित की जाए, वह यूरोपियन महाद्वीप (ब्रिटेन को निकाल कर) के किसी भी अन्य राज्य के लिये निर्धारित नाविक शक्ति से कम नहीं होनी चाहिये। पर फ्रान्स इसे स्वीकार नहीं कर सकता था। उसका कहना था कि फ्रेञ्च साम्राज्य एशिया और अफ्रीका के अनेक प्रदेशों में व्याप्त है, और उसकी सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि फ्रांस की नाविक शक्ति इटली से अधिक हो। क्योंकि इस प्रश्न पर फ्रान्स और इटली में ऐकमत्य नहीं हो सका, अतः उन्होंने लन्डन की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।

ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और जापान ने लन्डन में जो सन्धि की, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटेन के छोटे जंगी जहाज अमेरिका के मुकाबले में जिस हद तक अधिक हों, उसी हद तक अमेरिका अपने बड़े क्रूजरों को ब्रिटेन के मुकाबले में अधिक रख सके। इस व्यवस्था के अनुसार यह निश्चय किया गया कि अमेरिका के पास दस-दस हजार टन के १८ क्रूजर रहें, और छोटे क्रूजरों का कुल वजन १,४३,५०० टन से न बढ़ने पाए। इस प्रकार अमेरिका के छोटे जंगी जहाजों का कुल वजन ३,२३,५०० टन निर्धारित किया गया। ब्रिटेन को १५ बड़े क्रूजर रखने (जिनमें १३ दस-दस हजार टन के हों और २ साढ़े आठ-साढ़े आठ हजार टन के) का अधिकार दिया गया, और १,९२,००० टन वजन के छोटे क्रूजर रखने का। इस प्रकार ब्रिटेन के छोटे जंगी जहाजों का कुल वजन ३,३९,००० टन निर्धारित किया गया। जापान के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया, कि वह १२ बड़े क्रूजर (जिनमें से दो का वजन ७१०० टन हो और शेष का १०,००० टन) रख सके, और उसके छोटे क्रूजरों का कुल वजन १,००,४५० टन से अधिक न बढ़ने पाए। जहाँ तक डिस्ट्रोयर वर्ग के जंगी जहाजों का प्रश्न था, उनकी मात्रा अमेरिका और ब्रिटेन के लिए १,५०,००० टन और जापान के लिये १,०५,००० टन निर्धारित की गई। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये कि लन्डन कान्फरेन्स द्वारा बड़े जंगी जहाजों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न नहीं किया गया, क्योंकि इस प्रश्न पर वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा निर्णय किया जा चुका था। पनडुब्बियों के बारे में यह फैसला किया गया कि तीनों राज्य इतनी पनडुब्बियाँ रख सकें कि उनका कुल वजन ५२,७०० टन से न बढ़ने पाए। यह भी

व्यवस्था की गई कि १९३६ तक तीनों राज्यों में से कोई भी कोई नया बड़ा जहाज नहीं बनायेगा। बड़े जंगी जहाजों और वायुयान-वाहक जहाजों के बारे में उसी फैसले को कायम रखा गया, जो वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा किया गया था। लन्डन की सन्धि में एक अन्य भी महत्त्वपूर्ण शर्त रखी गई। क्योंकि इस सन्धि पर केवल तीन राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे, अतः फ्रान्स, इटली आदि राज्यों से यह आशंका बनी रही थी कि वे स्वेच्छापूर्वक अपनी सामुद्रिक शक्ति में वृद्धि करते रहेंगे। इस बात को ध्यान में रख कर यह तय किया गया कि यदि किसी अन्य राज्य द्वारा अपनी नाविक शक्ति में वृद्धि करने के कारण सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राज्य की राष्ट्रीय सुरक्षा में बाधा पड़ने की सम्भावना हो, तो उसे अधिकार होगा कि वह अपने जंगी जहाजों को भी बढ़ा सके। पर ऐसा करने की दशा में उस राज्य को इस बात की सूचना तुरन्त अन्य दोनों राज्यों को दे देनी होगी।

जिनीवा की निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स (१९३२–३३)—जिस समय लण्डन कान्फरेन्स ने अपना कार्य शुरू किया, राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त तैयारी कमीशन ने अपने कार्य को स्थगित कर दिया था। उसे आशा थी कि सामुद्रिक शक्ति को नियन्त्रित करने के प्रश्न पर पाँचों राज्य किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँच जायेंगे। पर फ्रांस और इटली ने लण्डन की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था। अब यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी कि तैयारी कमीशन को अपना कार्य जारी रखना चाहिए, और निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जो योजना यह कमीशन तैयार करे, उस पर विचार करने के लिये राष्ट्रसंघ की ओर से एक बड़ी कान्फरेन्स का आयोजन किया जाना चाहिए। दिसम्बर, १९३० तक तैयारी कमीशन ने अपनी योजना को तैयार कर लिया। यद्यपि यह योजना सर्वसम्मत नहीं थी, पर भावी विचार-विमर्श के लिये इसे आधार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था।

राष्ट्रसंघ की कौंसिल द्वारा जिनीवा को निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स के लिये चुना गया, और ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिव हैन्डर्सन को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। हैन्डर्सन मजदूर पार्टी के मन्त्रिमण्डल में परराष्ट्र सचिव थे। यद्यपि अगस्त, १९३१ में मजदूर पार्टी की सरकार का पतन हो गया था, पर जिनीवा कान्फरेन्स के अध्यक्ष पद पर हैन्डर्सन ही कार्य करते रहे। जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशन २ फरवरी, १९३२ के दिन प्रारम्भ हुए, और उसमें ५७ राज्यों के २०० के लगभग प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। राष्ट्रसंघ के सब सदस्य-राज्यों के अतिरिक्त रूस और अमेरिका ने भी इसमें अपने प्रतिनिधि भेजे थे। जिनीवा कान्फरेन्स को तैयारी कमीशन द्वारा निर्मित योजना पर विचार करना था। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) कोई राज्य अस्त्र-शस्त्रों पर खर्च की जाने वाली कितनी धनराशि अपने सरकारी बजट में रखता है, इसे नियन्त्रित किया जाए। (२) जिन राज्यों में अनिवार्य सैनिक-शिक्षा की पद्धति विद्यमान है, उनमें इस सैनिक-शिक्षा और बाधित सैनिक-सेवा की अवधि कितनी रखी

जा सके, इस पर नियन्त्रण रखा जाए। (३) जिन कल-कारखानों व अन्य साधनों का उपयोग युद्धसामग्री को तैयार करने के लिये किया जा सकता है, उन्हें भी नियन्त्रित किया जाए। (४) सामुद्रिक शक्ति में कमी करने के लिये जो व्यवस्थाएँ वाशिंगटन कान्फरेन्स और लण्डन कान्फरेन्स द्वारा की जा चुकी हैं, उन्हें स्वीकार किया जाए। (५) रासायनिक एवं कीटाणु युद्धों को रोका जाए। (६) एक स्थायी निःशस्त्रीकरण कमीशन की स्थापना की जाए, जिसका केन्द्रीय कार्यालय जिनीवा में स्थित हो। इस कमीशन का कार्य यह देखना हो कि निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जो निर्णय किये गये हैं, विविध राज्य उनका किस हद तक पालन कर रहे हैं।

जिनीवा निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स का कार्य सुगम नहीं था। कोई भी ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं था, जिस पर विविध राज्यों में मतभेद न हो। सभी राज्य ऐसे प्रस्ताव लेकर इस कान्फरेन्स में उपस्थित हुए थे, जिनका प्रयोजन तैयारी कमीशन के सुझावों में परिवर्तन व संशोधन करना था। विशेषतया, फ्रांस और जर्मनी के प्रतिनिधियों के लिये किसी भी बात पर एकमत हो सकना कठिन था। फ्रांस का कहना था कि अस्त्र-शस्त्रों और सेना में कमी तभी की जा सकती हैं, जब कि सब राज्यों की सुरक्षा के लिये समुचित व्यवस्थाएँ कर दी जाएँ। उसका सुझाव था कि राष्ट्रसंघ की अधीनता में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का संगठन किया जाए, जिसका प्रयोग 'आक्रान्ता' राज्य के विरुद्ध किया जा सके। जब तक ऐसी सेना का संगठन नहीं हो जायगा, किसी राज्य को अपनी सुरक्षा का भरोसा नही हो सकेगा। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि फ्रांस के मित्र-राज्यों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, पर अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन इससे सहमत नहीं हुए। ब्रिटेन ने प्रस्ताव किया कि जिन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग केवल आत्मरक्षा के लिये किया जाता है उनके सम्बन्ध में कोई मर्यादा निर्धारित न की जाए, पर जो हथियार दूसरे देशों पर आक्रमण के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं उनमें कमी की जाए। पर यह निर्णय कर सकना कठिन था कि कौन-से अस्त्र-शस्त्र आत्मरक्षा के लिये हैं, और कौन-से आक्रमण के लिये। ब्रिटेन और अमेरिका का कहना था कि पनडुब्बियाँ आक्रमणकारी हथियार हैं, पर फ्रांस इससे सहमत नहीं था। वह उन्हें भी आत्मरक्षा के लिये आवश्यक मानता था। आखिर, इसका फैसला करने के लिये विशेषज्ञों की एक उपसमिति नियुक्त कर दी गई। पर वह भी किसी सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच सकी। किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर एकमत न हो सकने के कारण जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशनों को जुलाई, १९३२ तक के लिये स्थगित कर दिया गया।

जिनीवा कान्फरेन्स की इस असफलता के अनेक दुष्परिणाम हुए। इटली और रूस ने यह अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया कि विश्वशान्ति को कायम रखने में राष्ट्रसंघ सर्वथा अशक्त है। जर्मनी को यह समझने का अवसर मिला कि फ्रांस अपनी सैन्यशक्ति में किसी भी प्रकार से कमी नहीं करना चाहता, और अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को

दृष्टि में रख कर जर्मनी के लिये भी यह अनिवार्य है कि वह भी अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाने में तत्पर हो जाए। वर्साय्य की सन्धि की उपेक्षा कर जर्मनी को भी अपनी सैन्य-शक्ति को इस हद तक बढ़ा लेना चाहिये कि वह भी सैनिक तैयारी में अन्य शक्तिशाली राज्यों के समकक्ष हो जाए। इस समय जर्मनी के युद्धसचिव जनरल कुर्ट फॉन श्लाइशर थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया, कि या तो अन्य राज्य भी अपनी सैन्यशक्ति में उस हद तक कमी कर दें जो वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के लिये निर्धारित को गई थी, अन्यथा जर्मनी को भी इस बात की अनुमति दी जाए कि वह अपनी सैन्यशक्ति को पड़ोसी राज्यों के समकक्ष कर सके। उसने यह भी घोषित किया कि जब तक इस बात को स्वीकार नहीं कर लिया जायगा, जर्मनी किसी भी निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स में सम्मिलित नहीं होगा। जनरल श्लाइशर की यह धमकी काम कर गई। इस समय फ्रांस के प्रधान मन्त्री हेरियो थे। उन्होंने समझौते का एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसके अनुसार यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था कि जर्मनी को भी अपनी सैन्यशक्ति को पड़ोसी राज्यों के समकक्ष कर सकने का अवसर दिया जाना चाहिये। पर साथ ही एक ऐसी आयोजना भी बनायी जानी चाहिये जिस द्वारा सब राज्यों की राष्ट्रीय सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की जा सके। इस प्रस्ताव के कारण निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जर्मनी के लिये अन्य राज्यों के साथ सहयोग कर सकना सम्भव हो गया, और फरवरी, १९३३ में जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशन फिर प्रारम्भ हो गये। पर इस बीच में (३० जनवरी, १९३३) हिटलर ने जर्मनी की सरकार पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था, और वह वहाँ का प्रधानमन्त्री नियुक्त हो गया था। नयी जर्मन सरकार अपनी सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं थी। फ्रांस और जर्मनी के मतभेदों का निराकरण कर सकना अब और भी अधिक कठिन हो गया था। इस दशा में ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री रामजे मेकडानल्ड स्वयं जिनीवा कान्फरेन्स में उपस्थित हुए, और उन्होंने वहाँ एक ऐसी योजना प्रस्तुत की, जिस द्वारा फ्रांस और जर्मनी के दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। पर यह योजना भी स्वीकृत नहीं हो सकी। परिणाम यह हुआ कि जून, १९३३ में जिनीवा कान्फरेन्स को फिर स्थगित कर दिया गया।

जिनीवा कान्फरेन्स को पुनरुज्जीवित करने के प्रयत्न १९३३ में जारी रहे। पर कोई भी ऐसा सुझाव नहीं पेश किया जा सका, जो फ्रांस और जर्मनी दोनों को स्वीकार्य हो। फ्रांस इस बात पर अड़ा रहा कि अस्त्र-शस्त्रों और सैन्यशक्ति में कमी कर सकना तभी सम्भव है, जब कि पहले राष्ट्रीय सुरक्षा की पूर्ण गारन्टी प्राप्त हो जाए। पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया आदि राज्य भी फ्रांस का समर्थन कर रहे थे। क्योंकि इस समय तक जर्मनी में नाजी पार्टी ने राजशक्ति प्राप्त कर ली थी, अतः फ्रांस और उसके साथी राज्यों के लिये अपने इस दृष्टिकोण में थोड़ा-सा भी परिवर्तन

करना सम्भव नहीं था। इसके विपरीत जर्मनी इस बात पर जोर दे रहा था कि उसके पड़ोसी राज्य भी पहले निःशस्त्रीकरण की नीति को स्वीकार कर लें और अपनी सैन्यशक्ति को घटाना प्रारम्भ कर दें, अन्यथा वह भी अपने अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि के लिये तत्पर हो जायगा। हिटलर को निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स की सफलता में कोई भी दिलचस्पी नहीं थी। वह तो जर्मनी को फिर से यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बनाने के लिये तुला हुआ था। १४ अक्टूबर, १९३३ को उसने घोषणा की, कि जर्मनी जिनीवा कान्फरेन्स से पृथक् हो गया है। फिर भी अनेक बार कान्फरेन्स के अधिवेशन बुलाये गये, और कुछ दिनों के विचार-विमर्श के अनन्तर पुनः स्थगित कर दिये गये। जिनीवा कान्फरेन्स का अन्तिम अधिवेशन २९ मई, १९३४ को हुआ। इससे पूर्व ही ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और यूरोप के प्रायः अन्य सभी राज्य अपनी-अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाने में तत्पर हो गये थे, और उनके सरकारी बजटों में युद्ध विभाग के लिये अधिकाधिक धनराशि रखनी प्रारम्भ कर दी गई थी।

निःशस्त्रीकरण-सम्बन्धी प्रयत्नों की असफलता के कारण—महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के माध्यम से तथा उससे स्वतन्त्र रूप से निःशस्त्रीकरण के जो भी प्रयत्न किये गये, वे प्रायः असफल रहे। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(१) विश्व के विभिन्न राज्यों में परस्पर सहयोग और मैत्री की भावना का अभी समुचित रूप से विकास नहीं हुआ था। उनके साम्राज्य-सम्बन्धी हित और राष्ट्रीय आकांक्षाएँ एक दूसरे से टकराती थीं, और इसी कारण वे अपनी सैन्यशक्ति में कमी करने के लिये उद्यत नहीं होते थे। सभी राज्य यह समझते थे कि उनकी अपनी सेनाएँ तो अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिये आवश्यक हैं, पर अन्य राज्य जो सेनाएँ रख रहे हैं, उनका प्रयोजन आक्रमणात्मक है। जिनीवा कान्फरेन्स में सम्मिलित राज्य एक-दूसरे को सन्देह एवं आशंका की दृष्टि से देखते थे।

(२) फ्रांस और उसके साथी राज्यों का कहना था कि राष्ट्रसंघ की अधीनता में एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सेना होनी चाहिये, जो आक्रान्ता देश के विरुद्ध प्रयुक्त की जा सके और जिसका प्रयोग विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिये किया जाया करे। इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था हो जाने पर ही ये राज्य अपनी सैन्यशक्ति में कमी करने की बात को स्वीकार करने को उद्यत थे। पर ग्रेट ब्रिटेन सदृश अनेक राज्यों का यह कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय सेना की बात क्रियात्मक नहीं है। उनका विचार था कि यदि सब राज्य स्वेच्छापूर्वक अपनी सैन्यशक्ति में कमी कर दें, तो राष्ट्रीय असुरक्षा के वातावरण का स्वमेव अन्त हो जायगा, और विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित की जा सकेगी।

(३) फ्रांस और जर्मनी के दृष्टिकोणों में जो भारी भेद था, उसका उल्लेख इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। इनमें किसी भी प्रकार से समन्वय कर सकना सम्भव नहीं था।

(४) ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, अमेरिका और रूस के विशाल साम्राज्य थे, जिनके कारण उनकी आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिल रही थी। जर्मनी, इटली और जापान अच्छे शक्तिशाली राज्य थे, पर उनके पास साम्राज्यों का अभाव था। ये भी तीव्रता के साथ यह आवश्यकता अनुभव कर रहे थे कि हमारे भी साम्राज्य होने चाहियें, जिन्हें प्राप्त कर हम भी अपना राष्ट्रीय उत्कर्ष कर सकें। साम्राज्यवादी देश अपनी सैन्यशक्ति की आवश्यकता इस कारण समझते थे, क्योंकि अपने सुविस्तृत साम्राज्यों को रक्षा के लिये सैन्यशक्ति का होना परमावश्यक है। इसके विपरीत जर्मनी, जापान और इटली अपने साम्राज्य-विस्तार के लिये सैन्यशक्ति में वृद्धि करना अनिवार्य समझते थे। इस दशा में उनके दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित कर सकना सम्भव नहीं था।

(५) निःशस्त्रीकरण का क्या अभिप्राय है, इस सम्बन्ध में भी राज्यों में मतभेद था। सैनिकों की संख्या, जंगी जहाजों के कुल वजन की मात्रा, टैंकों, तोपों और अन्य युद्ध-सामग्री के परिमाण और जंगी हवाई जहाजों की संख्या को नियन्त्रित कर देने मात्र से निःशस्त्रीकरण सम्भव है, यह मत सब राज्यों को स्वीकार्य नहीं था। बाधित सैनिक-शिक्षा और अनिवार्य सैनिक-सेवा की पद्धतियों का अनुसरण कर कतिपय राज्य अपने नागरिकों की बहुत बड़ी संख्या को युद्ध-नीति में प्रशिक्षित कर देते थे। इनकी गिनती स्थायी सेना के सैनिकों में नहीं की जाती थी। पर युद्ध शुरू होते ही इन सब सम्भावित सैनिकों का उपयोग सेना के लिए किया जा सकता था। सैनिकों की संख्या में कमी करने के प्रश्न पर इन सम्भावित या रिजर्व सैनिकों के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसी प्रकार अनेक कल-कारखाने ऐसे होते हैं, जो शान्ति के समय खाद, रासायनिक द्रव्य आदि पदार्थ तैयार करते हैं, पर आवश्यकता पड़ने पर इनमें युद्ध-सामग्री भी सुगमता के साथ तैयार की जा सकती है। रासायनिक खाद बनाने वाले कारखानों का प्रयोग बारूद आदि विस्फोटक पदार्थों को तैयार करने के किए किया जा सकता है, और मशीनें बनाने वाले कारखानों में अस्त्र-शस्त्र भी बनाये जा सकते हैं। इस दशा में यह प्रश्न उत्पन्न होना भी स्वाभाविक था कि अस्त्र-शस्त्र तैयार करने वाले कारखानों को नियन्त्रित करते समय इन दूसरे प्रकार के कारखानों पर भी नियन्त्रण रखा जाए या नहीं, और यदि नियन्त्रण रखा जाए तो उसका स्वरूप क्या हो। इस समस्या का समुचित समाधान न होने के कारण हथियारों को कम करने के प्रश्न पर एकमत हो सकना कठिन था।

(६) हथियार बनाने वाले कारखानों के मालिकों को भी यह स्वीकार्य नहीं था कि अस्त्र-शस्त्रों में कमी की जाए। पूंजीपतियों का हित इसी बात में होता है कि उनके कारखानों में तैयार हुए माल की अधिकाधिक मात्रा में बिक्री हो। अमेरिका और ब्रिटेन जैसे पूंजीवादी देशों में अस्त्र-शस्त्र, जंगी जहाज आदि बनाने का कार्य भी पूंजीपतियों के हाथों में था। वे यह कब सह सकते थे कि उनके देशों की सरकारें

युद्ध-सामग्री में कमी करने की बात को स्वीकार कर लें। इससे उनके तैयार माल की बिक्री और मुनाफे में भारी कमी आ जाती थी। इसी कारण उन्होंने निःशस्त्रीकरण के सब प्रयत्नों का विरोध किया, और पूँजीवाद पर आश्रित सरकारें उनकी उपेक्षा नहीं कर सकीं।

(७) निःशस्त्रीकरण के सब प्रयत्नों का प्रयोजन यह था कि सैनिकों की संख्या और युद्धसामग्री की मात्रा में कमी की जाए। पर जिन कारणों से राज्य परस्पर युद्ध में व्यापृत होते हैं, और अपनी सैन्यशक्ति की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, उन पर इन प्रयत्नों द्वारा समुचित ध्यान नहीं दिया गया। युद्धों की समाप्ति तभी सम्भव है जब कि सब राज्यों की समुचित राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाएँ, साम्राज्य-विस्तार के लिए कोई राज्य प्रयत्न न करे, जो प्रदेश अन्य राज्यों के साम्राज्यवाद के शिकार हैं वे स्वाधीन हो जाएँ, और विश्व में एक ऐसा शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित हो जाये जो राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटा सके। निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्सों ने इन मूलभूत बातों पर समुचित ध्यान नहीं दिया, और रोग के बाह्य लक्षणों की चिकित्सा का ही प्रयत्न किया।

(८) वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ जो अन्याय किया गया था, उसका प्रतिशोध करने की आकांक्षा जर्मनी जैसे सशक्त देश के लिए सर्वथा स्वाभाविक थी। इसी कारण वहाँ नाजी पार्टी और हिटलर का उत्कर्ष हुआ। निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्सों की विफलता का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था, कि जर्मनी जब बातचीत और शान्तिमय उपायों द्वारा अपने प्रति किये गये अन्याय का निवारण करने में असमर्थ हो गया, तो उसने सैन्यशक्ति को वृद्धि का सहारा लिया, और उससे भयभीत एवं आशंकित होकर उसके पड़ोसी राज्य भी अपनी-अपनी सेनाओं को बढ़ाने को ही आत्मरक्षा का एकमात्र साधन समझने लगे।

लण्डन की नाविकशक्ति सन्धि (१९३६)—१९३४ में जिनीवा की निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स के असफल हो जाने पर विभिन्न राज्यों में अपनी-अपनी सैन्य-शक्ति की वृद्धि के लिए प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो गयी थी। यह दशा अमेरिका के लिए अत्यन्त चिन्ता की बात थी। यूरोप के राज्य अपनी स्थल-सेनाओं की वृद्धि में तत्पर थे, पर इससे अमेरिका के राष्ट्रीय हितों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। पर कतिपय देश ऐसे भी थे, जो अपनी सामुद्रिक शक्ति को बढ़ाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। इस क्षेत्र में जापान का जो रुख था, उसे अमेरिका कदापि सहन नहीं कर सकता था। साम्राज्य-विस्तार के प्रयोजन से जापान नाविक शक्ति की वृद्धि में भी तत्पर हो गया था, और यह माँग करने लगा था कि उसकी नाविक शक्ति भी अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के समकक्ष होनी चाहिये। १९३० में लण्डन में सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में जो सन्धि की गई थी, उसकी अवधि भी १९३६ में समाप्त हो जाती थी, और उसके बाद जापान अपनी नाविक शक्ति को बढ़ा सकने में स्वतन्त्र हो जाता

था। इन बातों को दृष्टि में रख कर अमेरिका ने एक बार फिर प्रमुख राज्यों को लण्डन में नाविक शक्ति के सम्बन्ध में विचार करने के लिए निमन्त्रित किया। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान के प्रतिनिधि इस कान्फरेन्स में सम्मिलित हुए, और दिसम्बर, १९३५ में इसके अधिवेशन प्रारम्भ हुए। पर अमेरिका और जापान में तथा फ्रांस और इटली में सामुद्रिक शक्ति की मात्रा के प्रश्न पर इतना अधिक मतभेद था कि उनमें समझौता नहीं हो सका। इसी लिए केवल अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने ही इस कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इन तीनों राज्यों ने यह तय किया कि वे किस मात्रा में विभिन्न वर्गों के जंगी जहाजों को रख सकेंगे, और अपनी सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में सब सूचनाएँ एक दूसरे को देते रहेंगे। साथ ही, यह भी निश्चय किया गया कि यदि कोई हस्ताक्षर-कर्ता राज्य इस सन्धि का उल्लंघन करे या किसी के विरुद्ध आक्रमण की आशंका हो, तो यह सन्धि लागू नहीं समझी जायगी। जापान ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। अतः उसने स्वेच्छापूर्वक बड़े जंगी जहाजों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया, और उसकी प्रतिद्वन्द्विता में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने भी नये बड़े जंगी जहाज बनाने शुरू कर दिये। इसीलिए उन्होंने १९३८ में लण्डन की नाविक-शक्ति सन्धि (१९३६) में संशोधन किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपनी-अपनी सामुद्रिक शक्ति को बढ़ाने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। निःशस्त्रीकरण का जो प्रयत्न लण्डन को इस कान्फरेन्स द्वारा किया गया था, वह भी असफल हो गया।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भारी परिवर्तन

महायुद्ध के बाद के पन्द्रह वर्षों (१९१८–३३) में यूरोप के राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का जो स्वरूप था, उसका विवरण इस अध्याय में ऊपर दिया जा चुका है। राष्ट्रसंघ की स्थापना विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना और विभिन्न राज्यों में सहयोग के प्रयोजन से की गई थी। यदि राष्ट्रसंघ का संगठन सुदृढ़ होता और उसके पास ऐसी शक्ति होती जिससे कि वह सब राज्यों को अपने निर्णयों को स्वीकृत करने के लिए विवश कर सके, तो विश्व में राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या ही उत्पन्न न हो पाती। पर संघ की निर्बलता को दृष्टि में रख कर विविध राज्य अपनी सुरक्षा के लिए अन्य साधनों की खोज में तत्पर हुए, और इसीलिए उन्होंने अनेक गुटों का निर्माण किया। फ्रांस ने बेल्जियम (१९२०), चेकोस्लोवाकिया (१९२४), रूमानिया (१९२६) और युगोस्लाविया के साथ सन्धियाँ कीं, जिन द्वारा वह अपना एक शक्तिशाली गुट बनाने में समर्थ हो गया। राष्ट्रीय सुरक्षा को दृष्टि में रख कर ही इटली भी अपना गुट बनाने में प्रवृत्त हुआ, और उसने चेकोस्लोवाकिया (१९२०), युगोस्लाविया (१९२४), अल्बानिया (१९२६ और १९२७), रूमानिया (१९२६), हंगरी (१९२७), तुर्की (१९२८), ग्रीस (१९२८) और आस्ट्रिया (१९३०)

के साथ सन्धियाँ कीं। इन सन्धियों का प्रयोजन यह था, कि सन्धियों द्वारा-आबद्ध राज्य एक दूसरे पर आक्रमण न करें और किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण की दशा में या तो दूसरे राज्य युद्ध में तटस्थ रहें या आक्रान्त राज्य की सहायता करें। रूस को महायुद्ध के बाद के वर्षों में यूरोप का बहिष्कृत राज्य समझा जाता था। पर सुरक्षा की समस्या उसके सम्मुख भी विद्यमान थी। इसी कारण वह भी अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अनाक्रमण व तटस्थता की सन्धियाँ करने को प्रवृत्त हुआ, और उसने तुर्की (१९२५), जर्मनी (१९२६), अफगानिस्तान (१९२६), लिथुएनिया (१९२६), ईरान (१९२७), फिनलैंड (१९३१), एस्थोनिया (१९३१), पोलैण्ड (१९३१), फ्रांस (१९३२), लैटविया (१९३३), चेकोस्लोवाकिया (१९३३), युगोस्लाविया (१९३३), रूमानिया (१९३३) और इटली (१९३३) के साथ सन्धियाँ कीं।

१९३३ में नाजी पार्टी ने जर्मनी के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया, और हिटलर वहाँ का चान्सलर या प्रधानमन्त्री बन गया। इस बात का विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इस समय तक जर्मनी पर्याप्त रूप में शक्ति प्राप्त कर चुका था, और महायुद्ध में परास्त हुए अन्य राज्यों की दशा भी बहुत कुछ सँभल गई थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि ये राज्य पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा की गई वर्साय्य आदि की सन्धियों में परिवर्तन करने की माँग करने लगें। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों के लिये इससे चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। साथ ही, इस समय इटली भी पेरिस की शान्तिपरिषद् के निर्णयों से असंतोष प्रकट करने लगा। जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए अफ्रीका और एशिया के विविध प्रदेश प्रधानतया फ्रांस, ब्रिटेन और जापान ने आपस में बाँट लिये थे। साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी इटली की आकांक्षाएँ इससे पूर्ण नहीं हो सकी थीं। इटली में फासिस्ट व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी, और यह व्यवस्था जर्मनी की नाजी पार्टी की विचारधारा के अनुरूप थी। इस दशा में इटली का झुकाव अपने पुराने शत्रु-राज्यों (जर्मनी, तुर्की, हंगरी आदि) की ओर होने लगा, और शीघ्र ही उसने इन राज्यों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने प्रारम्भ कर दिये। मध्य और पूर्वी यूरोप के अनेक राज्य ऐसे थे जिनके सजातीय लोगों द्वारा आबाद कतिपय प्रदेश अन्य राज्योंके राज्यक्षेत्रों के अन्तर्गत कर दिये गये थे। ये राज्य (हंगरी, आस्ट्रिया और तुर्की आदि) शान्तिपरिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं से असंतुष्ट थे। इटली ने इन का साथ दिया, और इनके साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये। तुर्की (१९३८), ग्रीस (१९२८) और आस्ट्रिया (१९३०) के साथ वह पहले ही सन्धियाँ कर चुका था। १९३३ में जब जर्मनी की राजशक्ति हिटलर के हाथों में आ गई, तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब जर्मनी और इटली भी परस्पर मिल कर सन्धि कर लेंगे, जिसके कारण यूरोप में फ्रांस की स्थिति बहुत निर्बल हो जायगी। पर जर्मनी और आस्ट्रिया को मिला कर एक शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र बना देने की हिटलर की जो नीति थी, वह मुसोलिनी को पसन्द

नहीं थी। इटली की राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक हितों को दृष्टि में रख कर मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और पृथक्त्व कायम रहें। इसी प्रयोजन से उसने ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मिल कर एक समझौता किया, जो 'रोम प्रोटोकोल' के नाम से प्रसिद्ध है (फरवरी, १९३४)। इस द्वारा तीनों राज्यों ने यह स्वीकार किया कि आस्ट्रिया की पृथक् सत्ता को कायम रखना आवश्यक है, और इसके लिये वे परस्पर सहयोग से काम करेंगे। बाद में आस्ट्रिया और हंगरी ने भी इस प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर कर दिये (मार्च, १९३४)। इस प्रकार इटली और जर्मनी का एक दूसरे के समीप आ जाना और परस्पर मिल कर एक सुदृढ़ गुट बना लेना कुछ समय के लिये स्थगित हो गया।

पर जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से फ्रांस और उसके साथी राज्य (पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि) बहुत चिन्तित हुए। अब उन्होंने यह आवश्यकता अनुभव करनी शुरू की, कि अपने सम्बन्धों को उन्हें और भी अधिक सुदृढ़ एवं मैत्रीपूर्ण बनाना चाहिये। चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया ने मिल कर अपना एक गुट बनाया हुआ था, जिसे 'छोटे राज्यों का गुट' (Little Entente) कहते थे। फ्रांस इस गुट का संरक्षक था, और उसने इस गुट में सम्मिलित राज्यों के साथ सन्धियाँ की हुई थीं। हिटलर के उत्कर्ष के कारण १९३३ में इन राज्यों ने यह आवश्यक समझा, कि अपने मैत्री-सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ करने के लिये एक 'संगठन पैक्ट' (Pact of Organisation) बना लें, जिस द्वारा छोटे राज्यों का गुट एक 'उच्चतर अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्य' (Higher International Unity) का रूप प्राप्त कर ले। १९३३ में ही इस विचार को क्रिया में परिणत कर दिया गया, और यह व्यवस्था की गई कि तीनों राज्यों (चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया) के परराष्ट्र मन्त्री एक कौंसिल में एकत्र होकर समय-समय पर यह निर्णय किया करें कि राजनीतिक, आर्थिक और व्यापारिक मामलों में वे किस प्रकार अधिकाधिक सहयोग से काम कर सकते हैं। अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को और अधिक सुदृढ़ करने के लिये इन राज्यों ने रूस और पोलैण्ड के साथ भी समझौते किये। 'लण्डन समझौतों' के नाम से इनका उल्लेख किया जा चुका है।

छोटे राजों के गुट के और अधिक सुदृढ़ हो जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की स्थिति बहुत मजबूत हो गई थी। पर जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को दृष्टि में रखते हुए फ्रांस इसे पर्याप्त नहीं समझता था। उसका ध्यान अब रूस की ओर आकृष्ट हुआ। हिटलर कम्युनिज्म का कट्टर शत्रु था, और रूस की कम्युनिस्ट व्यवस्था को वह विश्व के लिये अत्यन्त हानिकारक समझता था। साथ ही, हिटलर का यह भी विचार था कि रूस के राज्यक्षेत्र में जो अनेक ऐसे राज्य या प्रदेश हैं, जिनमें रूसी-भिन्न जातियों का निवास है, उन्हें वह अपने प्रभाव-क्षेत्र में ला सकता है। रूस उसे अपनी शक्ति के विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र प्रतीत होता था। अतः रूस भी जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित था। इस दशा में फ्रांस और रूस का एक दूसरे के समीप आ

जाना सर्वथा स्वाभाविक था। फ्रांस यह भी चाहता था कि अपने कारखानों में तैयार मशीनरी आदि माल को वह रूस में बेच सके, और वहाँ से मिट्टी के तेल को बदले में प्राप्त करे। इसी कारण पहले उसने रूस के साथ एक तटस्थता (Neutrality) की सन्धि की (१९३२), और फिर १९३५ में दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि द्वारा यह निश्चय किया गया, कि यदि उन दोनों देशों में से किसी पर किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण की आशंका हुई, तो इस समस्या पर वे परस्पर विचार-विमर्श करेंगे, और यदि ऐसा आक्रमण बिना किसी उत्तेजना के कारण से किया गया हो, तो एक दूसरे की सहायता भी करेंगे। इस सन्धि द्वारा फ्रांस और रूस दोनों की ही स्थिति बहुत मजबूत हो गई, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस का महत्त्व बहुत बढ़ गया।

रूस और फ्रांस की यह सन्धि ब्रिटेन को अच्छी नहीं लगी। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि इस सन्धि के कारण यूरोप में फ्रांस की शक्ति बहुत बढ़ गई है। जर्मनी ने ब्रिटेन के इस रुख से लाभ उठाया, और उस के साथ एक सन्धि की (जून, १९३५), जिस द्वारा ब्रिटेन ने वर्साय्य की सन्धि की परवाह न करते हुए यह बात स्वीकार कर ली, कि जर्मनी अपनी सैन्य-शक्ति में वृद्धि कर सके, बशर्ते कि उसकी सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति के ३५ प्रतिशत से न बढ़ने पाए। ब्रिटेन समझता था कि जर्मनी की स्थल और वायु शक्ति उसके अपने हितों के लिये विघातक नहीं होगी। उसे केवल सामुद्रिक शक्ति की ही चिन्ता थी। यदि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति न बढ़ने पाए, तो ब्रिटेन को उससे कोई खतरा अनुभव नहीं होता था।

ब्रिटेन और जर्मनी की इस सन्धि से फ्रांस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। दक्षिणी यूरोप में अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिए उसका ध्यान अब इटली की ओर आकृष्ट हुआ। आस्ट्रिया के प्रश्न पर इटली और जर्मनी में मतभेद था, और इटली के साम्राज्य-विस्तार का क्षेत्र अफ्रीका में था जहाँ उसे फ्रांस के विरोध की आशंका थी, जर्मनो के विरोध की नहीं। अतः १९३५ में ही फ्रांस और इटली ने परस्पर मिल कर एक समझौता कर लिया, जो लवाल-मुसोलिनी पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस पैक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया कि यदि आस्ट्रिया की स्वतन्त्र व पृथक् स्थिति पर किसी प्रकार की आँच आए, तो इटली और फ्रांस परस्पर विचार-विमर्श से ही कोई पग उठायेंगे। दोनों देशों में मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना के प्रयोजन से फ्रांस ने अफ्रीका का अपना कुछ प्रदेश इटली को देना स्वीकार कर लिया, और साथ ही यह बात भी कि ट्यूनिसिया में (जो उस समय फ्रांस के अधीन था) इटली के नागरिकों को जो कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उन्हें १९४५ तक जारी रहने दिया जाए। इसके अतिरिक्त इस पैक्ट द्वारा फ्रांस ने इटली को यह आश्वासन भी दिया, कि यदि अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के प्रयत्न में इटली अबीसीनिया पर आक्रमण करेगा, तो फ्रांस इस मामले में तटस्थ रहेगा। कुछ समय पश्चात् मुसोलिनी को अफ्रीका में अपने साम्राज्य

का विस्तार करने के लिए युद्ध प्रारम्भ करने का जो साहस हुआ, उसमें लवाल-मुसोलिनी पैक्ट भी एक कारण था। जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के कारण यूरोप की राजनीति में जो एक नया मोड़ आ गया था, उसी से आशंकित होकर फ्रांस ने मध्य यूरोप के छोटे राज्यों के अतिरिक्त रूस और इटली जैसे शक्तिशाली राज्यों के साथ भी अपने मैत्री-सम्बन्ध को स्थापित किया था।

धुरी शक्तियाँ और रूस-विरोधी पैक्ट (Axis Powers and Anti-Communist Pact)—पर फ्रांस और इटली का यह पैक्ट देर तक कायम नहीं रह सका। फ्रांस के तटस्थ रहने का आश्वासन पाकर १९३५ का अन्त होने से पूर्व ही इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया था। अफ्रीका में इटली के साम्राज्य-विस्तार से ब्रिटेन बहुत उद्विग्न हुआ। वह समझता था कि इटली जिस ढंग से भूमध्यसागर के क्षेत्र में अपनी शक्ति को बढ़ा रहा है, वह ब्रिटेन के एशियन व अफ्रीकन साम्राज्यों के लिए अत्यन्त विघातक है। उसके प्रयत्न से राष्ट्रसंघ ने अबीसीनिया के मामले में हस्तक्षेप किया, और अक्टूबर, १९३५ में राष्ट्रसंघ ने यह घोषणा की, कि इटली ने अकारण अबीसीनिया पर आक्रमण किया है, और संघ के सब सदस्य-राज्यों को उसका प्रतिरोध करना चाहिए। इसीलिए संघ की ओर से इटली के विरुद्ध अनेक आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic Sanctions) लगाये गये। यह पहला अवसर था, जब कि राष्ट्रसंघ ने किसी शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया था। इससे पूर्व जब जापान ने मञ्चूरिया में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया था, तब भी उसे रोकने के लिए राष्ट्रसंघ के सम्मुख इस ढंग के प्रस्ताव उपस्थित किये गये थे। पर तब इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने जापान के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई करने का साहस नहीं किया था। सामूहिक सुरक्षा के नाम पर अब जो राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध कार्रवाई करने का निश्चय किया, उसका परिणाम यह हुआ कि इटली उन राज्यों से दूर हटने लगा जिन्होंने कि सामूहिक सुरक्षा के नाम पर राष्ट्रसंघ के माध्यम द्वारा उसका विरोध किया था। इस समय से उसका झुकाव जर्मनी को ओर होने लग गया, जो राष्ट्रसंघ की जरा भी परवाह न कर अपनी शक्ति की वृद्धि में तत्पर था। १ नवम्बर, १९३६ को मुसोलिनी ने अपने एक भाषण में कहा था कि कोई जीवित राष्ट्र अपने भाग्य को किसी दूसरे के अनिश्चित हाथों के सुपुर्द नहीं कर सकता। अबीसीनिया के युद्ध में जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की कोई भी परवाह न कर सब प्रकार से इटली का साथ दिया था। अतः उसके प्रति इटली का झुकाव निरन्तर बढ़ता गया, और जर्मनी तथा इटली एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन गये। शासन व्यवस्था और विचारधारा की दृष्टि से ये दोनों राज्य एकसदृश थे, पर विदेशी राजनीति में वे एक दूसरे के विरोधी थे। अबीसीनिया के युद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उन्हें एक दूसरे का सहयोगी बना दिया। इस युद्ध में फ्रांस राष्ट्रसंघ द्वारा दिये गये इटली के आर्थिक बहिष्कार के आदेश की उपेक्षा नहीं कर सका था। इस दशा

में मुसोलिनी का यह समझना सर्वथा स्वाभाविक था कि जर्मनी ही इटली का असली मित्र है। अक्टूबर, १९३६ में इटली और जर्मनी ने मिल कर एक पैक्ट किया, जो 'रोम-बर्लिन एक्सिस' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पैक्ट द्वारा जर्मनी और इटली परस्पर घनिष्ठ मित्र बन गये, और १९३९-४५ के महायुद्ध में भी वे साथ रहे। मुसोलिनी ने इस पैक्ट का समर्थन करते हुए कहा था, कि यह दोनों राज्यों के बोल्शेविज्म के विरोधी होने के कारण किया गया है, और इसका उद्देश्य परस्पर मिलकर कम्युनिज्म का विरोध करना है। मुसोलिनी के शब्दों में इस पैक्ट द्वारा जर्मनी और इटली ने एक ऐसी धुरी (Axis) का निर्माण कर दिया था, जिसके चारों ओर यूरोप के सब शान्ति-प्रिय राज्य एकजुट हो जायेंगे।

रोम-बर्लिन एक्सिस के निर्माण के कुछ समय बाद नवम्बर, १९३६ में जर्मनी ने जापान के साथ एक सन्धि की, जो एण्टि-कोमिन्टर्न या एन्टि-कम्युनिस्ट पैक्ट कहाती है। इस पैक्ट द्वारा दोनों राज्यों ने मिल कर कम्युनिस्ट रूस का प्रतिरोध करने का निश्चय किया। उत्तरी मंचूरिया में जापान जिस ढंग से अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर था, उससे जापान और रूस के हित आपस में टकराने लग गये थे। इसी प्रकार रूस और फ्रांस में सन्धि हो जाने के कारण यूरोप में जर्मनी और रूस में विरोध उत्पन्न हो गया था। जर्मनी और जापान दोनों रूस के पड़ोसी थे और उनकी राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था भी कम्युनिस्ट रूस से सर्वथा भिन्न थी। दोनों को कम्युनिज्म का समान रूप से भय था। तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन (Third Communist International) के माध्यम से रूस सर्वत्र कम्युनिज्म के प्रसार के लिए प्रयत्नशील था। एन्टि-कम्युनिस्ट-पैक्ट द्वारा जापान और जर्मनी ने यह निश्चय किया कि वे तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन की गतिविधि से एक दूसरे को परिचित कराते रहेंगे, उसके प्रयत्नों से आत्मरक्षा के लिए एक दूसरे के साथ परा-मर्श करते रहेंगे, और इस प्रयोजन से जो पग उठाने का वे निश्चय करें उनमें एक दूसरे के साथ सहयोग किया करेंगे। एक साल बाद नवम्बर, १९३७ में इटली भी इस पैक्ट में शामिल हो गया, जिसके परिणामस्वरूप 'रोम-बर्लिन-टोक्यो-एक्सिस' का निर्माण हुआ। एक्सिस में सम्मिलित राज्यों और अन्य राज्यों में विचारधारा-सम्बन्धी जो भारी भेद था, उसे प्रगट करते हुए मुसोलिनी ने कहा था—'ये दोनों दो भिन्न दुनियाओं के समान हैं। इनमें कोई समझौता हो ही नहीं सकता। या तो वे ही रहेंगे, और या हम ही रहेंगे।' बाद में हंगरी (फरवरी, १९३८) और मञ्चूकुओ (मार्च, १९३९) भी रोम-बर्लिन-टोक्यो-एक्सिस में शामिल हो गये। अब विश्व के प्रमुख राज्य दो परस्पर विरोधी व शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गये थे। एक गुट में जर्मनी जापान और इटली थे, जिनकी साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी भूख अभी शान्त नहीं हुई थी, और जो अपने-अपने साम्राज्य बनाने और अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील थे। दूसरे गुट के प्रधान राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस

थे, जिन के अच्छे बड़े साम्राज्य थे, और जर्मनी आदि की आकांक्षाओं की पूर्ति द्वारा जिन्हें नुकसान पहुँच सकता था। यूरोप के वे सब राज्य जिन्हें पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं से लाभ पहुँचा था, इस दूसरे गुट के साथ थे। जून, १९३५ में जर्मनी और ब्रिटेन में जो सन्धि हुई थी, उसका अब कोई महत्त्व नहीं रह गया था, क्योंकि फ्रांस के समान ब्रिटेन भी अब जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से उद्वेग अनुभव करने लग गया था।

नाजी-सोवियत अनाक्रमण पैक्ट (Nazi-Soviet Non-aggression Pact)—पर जर्मनी केवल इटली और जापान के साथ गुट बना कर ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने यह प्रयत्न भी प्रारम्भ किया कि अपने पड़ोसी राज्यों के साथ भी मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करे, और अपनी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करते हुए यदि अन्य राज्यों के साथ उसका युद्ध छिड़ जाए तो उसे चारों ओर युद्ध करने की आवश्यकता न रहे। इसीलिए उसने पहले बाल्टिक सागर के तटवर्ती चारों राज्यों—लिथुएनिया, लैटविया, फिनलैण्ड और एस्थोनिया—को यह विश्वास दिलाया कि उसका इरादा उनकी स्वतन्त्रता को नष्ट करने का नहीं है। अगस्त, १९३९ में जर्मनी के कुशल परराष्ट्र-मन्त्री रिबनट्राप ने रूस की यात्रा की, और सोवियत यूनियन से भी एक समझौता करने का प्रयत्न किया। रूस का यह विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ उसका मैत्री सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रिटेन रूस की सब बातों को सन्देह की दृष्टि से देखता था। विशेषतया, कन्जर्वेटिव पार्टी के नेताओं का रूस के प्रति रुख अनुकूल नहीं था। चेम्बरलेन और उनके साथियों का विचार था कि हिटलर जर्मनी में जो कुछ कर रहा है, उसे सर्वथा न्याय-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। नाजी पार्टी को अपने देश की राष्ट्रीय उन्नति का पूरा अधिकार है, और हिटलर के नेतृत्त्व में जो शक्तिशाली जर्मनी विकसित हो रहा है, वह न केवल यूरोप के शक्ति-संतुलन में सहायक होगा, अपितु कम्युनिस्ट खतरे से भी दुनिया का बचाव कर सकेगा। अतः ब्रिटेन ने रूस के साथ वैसा कोई समझौता नहीं किया था, जैसा कि फ्रांस ने कर लिया था। जर्मनी ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और २३ अगस्त, १९३९ को रूस और जर्मनी में सन्धि हो गई। इस सन्धि द्वारा दोनों देशों ने यह निश्चय किया, कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे और उनमें से किसी एक पर किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण किये जाने की दशा में दूसरा देश आक्रान्ता राज्य की कोई सहायता नहीं करेगा। रूस के साथ इस सन्धि को कर लेने के बाद जर्मनी को यह भरोसा हो गया था कि यदि उसने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तो रूस द्वारा उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जायेगी। वह अपनी पूर्वी सीमा की ओर से सर्वथा निश्चिन्त हो गया था। ब्रिटेन जर्मनी के विरुद्ध पोलैण्ड की सहायता करने को तो तैयार था, पर रूस के साथ कोई समझौता करने के लिये उसे उत्साह नहीं होता था। वह जर्मनी की अपेक्षा रूस को अपने लिये अधिक खतरनाक समझता था। ब्रिटेन की इसी दुविधापूर्ण नीति का

यह परिणाम हुआ कि जर्मनी और रूस परस्पर मिल कर अनाक्रमण की सन्धि करने में समर्थ हो सके।

जर्मनी में नाजी पार्टी द्वारा शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद १९३३ से विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये, उनमें निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं—(१) सुरक्षा के लिये राष्ट्रसंघ कोई उपयोगी कार्य कर सकता है, इस सम्बन्ध में किसी को भी विश्वास नहीं रह गया। मञ्चूरिया पर जापान द्वारा और अबीसीनिया पर इटली द्वारा आक्रमण किये जाने पर राष्ट्रसंघ आक्रान्ताओं के विरुद्ध कोई ऐसी कार्रवाई नहीं कर सका जिससे कि आक्रान्ता राज्यों को वश में लाया जा सकता। इससे राष्ट्रसंघ की निर्बलता सर्वथा स्पष्ट हो गई, और किसी भी राज्य को अपनी सुरक्षा के लिये उस पर भरोसा नहीं रह गया। (२) महायुद्ध के पश्चात् के काल में फ्रांस, इटली और रूस के नेतृत्व में जिन गुटों का निर्माण हुआ था, वे भी अब अविकल रूप में कायम नहीं रह सके। इटली ने मध्य यूरोप के जिन राज्यों के साथ सन्धियाँ की थीं, उनके साथ अब उसका मैत्री सम्बन्ध नहीं रह गया। अब उसने जर्मनी के साथ अपना गुट बनाया, और वर्साय्य की सन्धि को मिट्टी में मिला देने की जर्मनी की जो नीति थी, इटली भी उसका समर्थक हो गया। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि मध्य यूरोप के राज्य ही जर्मनी के शिकार होने थे, क्योंकि इन में जर्मन लोगों का पर्याप्त संख्या में निवास था। इटली द्वारा जर्मनी के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया गया, और इसीलिए वह आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया को जीत सकने में समर्थ हो सका। (३) बर्लिन-रोम-टोक्यो-एक्सिस के रूप में एक नये शक्तिशाली गुट का निर्माण हुआ, जिसने विश्व को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक सर्वथा नया रूप प्रदान कर दिया। (४) रूस और फ्रांस तथा उसके साथी राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध का विकास हुआ, और रूस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहिष्कृत राज्य न रह कर अपना महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर सकने में समर्थ हुआ।

सितम्बर, १९३९ में जब बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ, तो संसार की राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। विभिन्न राज्य अपनी सुरक्षा के प्रयोजन से और अपनी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये ऐसे गुटों में संगठित हो गये थे, जो परस्पर-विरोधी थे। इस दशा में उनमें संघर्ष का प्रादुर्भूत होना सर्वथा स्वाभाविक था। इसीलिए द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

सातवाँ अध्याय

रूस की विदेशी राजनीति (१९१९-३९)

(१) कोमिन्टर्न

प्रारम्भिक कथन—११ नवम्बर, १९१८ के दिन प्रथम महायुद्ध का अन्त हुआ था, और १ सितम्बर, १९३९ को बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध या विश्वसंग्राम का प्रारम्भ हुआ। १९१८ से १९३९ तक के ये इक्कीस साल इतिहास में शान्ति के साल थे। पर इन्हें सामयिक शान्ति का समय कहना अधिक उपयुक्त होगा। ऊपर से देखने पर युद्ध की अग्नि अवश्य शान्त हो गई थी, पर राख के नीचे वे चिनगारियाँ धधक रही थीं, अवसर पाते ही जो प्रचण्ड दावानल के रूप में प्रदीप्त हो उठीं। इस काल में यूरोप के राज्यों में फ्रान्स को प्रधान स्थान प्राप्त था, और उसके नेतृत्व में यूरोप के विविध राज्य परस्पर ऐसी सन्धियाँ करने में तत्पर थे, जिन द्वारा वे अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर सकें। सुरक्षा की खोज के लिए इन राज्यों ने जो प्रयत्न इस काल में किये, उनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। पर विश्व के कतिपय राज्य ऐसे थे, जिन्होंने इस काल में यूरोप की आन्तरिक राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया, पर इस काल के समाप्त होने से पूर्व ही जिन्होंने विश्व में प्रमुख स्थिति प्राप्त कर ली और १९३३ के बाद जो अपनी विदेशी राजनीति द्वारा संसार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विशेष रूप से प्रभावित करने लगे। ये राज्य रूस, जर्मनी, जापान और संयुक्तराज्य अमेरिका थे। १९३३ के बाद इटली की विदेशी राजनीति ने भी एक नया मोड़ लेना प्रारम्भ किया, और मुसोलिनी के नेतृत्व में वहाँ की फासिस्ट सरकार ने एक ऐसी नीति को अपनाया जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। अगले पाँच अध्यायों में इन्हीं पाँच राज्यों की विदेशी राजनीति पर प्रकाश डाला जायेगा। इस युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रान्स का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके नेतृत्व में यूरोप के अनेक राज्यों ने जिन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्थापित किया, उनका पुनः उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि उनका विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

कम्युनिस्ट क्रान्ति के उद्देश्य और कोमिन्टर्न की स्थापना—१९१७ में रूस में कम्युनिस्ट क्रान्ति हो गई थी, और उसके परिणामस्वरूप एकतन्त्र वंशक्रमानुगत शासन का अन्त होकर बोल्शेविक सरकार वहाँ स्थापित कर दी गई थी। कम्युनिस्ट आन्दोलन के चार परम लक्ष्य थे—(१) विविध राज्यों में पूँजीवाद पर आधारित

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का अन्त करना। (२) सब देशों में जन-साधारण के एकाधिपत्य (Dictatorship of the Proletariat) को सामयिक रूप से स्थापित करना। (३) कम्युनिस्ट क्रान्तियों द्वारा जब सर्वत्र सोवियत रिपब्लिकें स्थापित हो जाएँ, तो उन सब रिपब्लिकों को एक विश्व संगठन में संगठित करना। (४) संसार में सर्वत्र कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करना।

इन्हीं उद्देश्यों को सम्मुख रख कर मार्च, १९१९ में मास्को में कम्युनिस्ट पार्टियों की एक अन्तर्राष्ट्रीय काँग्रेस का आयोजन किया गया। तब तक रूस में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित हो चुकी थी, अतः रूसी सरकार का पूर्ण सहयोग इस काँग्रेस को प्राप्त था। इसी काँग्रेस द्वारा 'तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन' (Third International) का निर्माण किया गया, जिसे कोमिन्टर्न भी कहा जाता है। इस काँग्रेस द्वारा कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्देश्यों और कार्यक्रम को निर्धारित किया गया, और ग्रेगरी जिनोवीव को कोमिन्टर्न का पहला अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना उचित होगा, कि पहला (समाजवादी) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन १८६४ में कार्ल मार्क्स द्वारा संगठित किया गया था, और १८७६ तक इसके वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप से होते रहे थे। दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन १८८९ में बनाया गया था। संसार की प्रायः सभी समाजवादी तथा मजदूर पार्टियाँ इसमें सम्मिलित थीं। महायुद्ध की परिस्थितियों में इसका कार्य स्थगित हो गया था, पर महायुद्ध की समाप्ति पर १९१९ में इसने फिर से अपने कार्य को प्रारम्भ कर दिया था। मास्को में जिस तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया गया था, वह इस द्वितीय संगठन से पृथक् एवं भिन्न था। उनमें प्रायः विरोध भी रहता था, क्योंकि तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में केवल कम्युनिस्ट पार्टियाँ ही सम्मिलित थीं। अन्य समाजवादी व मजदूर पार्टियाँ उसमें सम्मिलित नहीं हुई थीं।

मास्को में संगठित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या कोमिन्टर्न में प्रायः सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। कोमिन्टर्न के अधिवेशन समय-समय पर होते रहते थे, और उस द्वारा यह निर्धारित किया जाता था कि सर्वत्र कम्युनिस्ट व्यवस्था की किस प्रकार स्थापना की जाए। इसी प्रयोजन से इस द्वारा विभिन्न देशों में कम्युनिस्ट प्रचारक भेजे जाते थे, समाचार-पत्र व पुस्तकें प्रकाशित की जाती थीं, विविध देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को आर्थिक सहायता दी जाती थी, और यह तय किया जाता था, कि मजदूरों तथा किसानों को किस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उद्यत किया जाए। कम्युनिस्ट आन्दोलन केवल रूस तक ही सीमित नहीं था। बहुत-से अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियाँ संगठित थीं। कोमिन्टर्न की सहायता और सहयोग इन्हें प्राप्त थे। इसी कारण १९१९-२० के काल में जर्मनी, हंगरी और बाल्टिक सागर के तटवर्ती राज्यों में स्थानीय सोवियतों की स्थापना का प्रयत्न किया गया, और संयुक्तराज्य अमेरिका तक में कम्युनिस्ट आन्दोलन ने जड़

जमा ली। इन देशों की सरकारों को कम्युनिज्म का यह उत्कर्ष सहन नहीं हुआ। अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों पर प्रतिबन्ध लगाये गये, और कतिपय कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार भी किया गया।

शुरू शुरू में कोमिन्टर्न और रूस की बोल्शेविक सरकार में घनिष्ठ सम्पर्क था। रूसी सरकार द्वारा कोमिन्टर्न को भरपूर मात्रा में आर्थिक सहायता दी गई, और अन्य देशों में जहाँ कही भी कम्युनिस्टों ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया, रूसी सरकार द्वारा उसे प्रोत्साहन दिया गया। पर १९२१ से इस दशा में परिवर्तन आने लगा। बोल्शेविक सरकार इस समय तक रूस में भलीभाँति स्थापित हो चुकी थी, और वह अपने देश की आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के लिये तत्पर थी। उसे यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि पूँजीवादी देशों से सहयोग किये बिना काम चल सकना कठिन है। रूस के कल-कारखानों के लिये जिस पूँजी की आवश्यकता थी और साथ ही जिन तकनीकी विशेषज्ञों की, उन्हें विदेशों से ही प्राप्त किया जा सकता था। यह तभी सम्भव था, जब कि रूस अन्य देशों के कम्युनिस्टों की सहायता करना बन्द कर दे। इसी लिए रूसी सरकार ने कोमिन्टर्न को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में कमी कर दी, और अन्य देशों में कम्युनिस्ट प्रचार को प्रोत्साहित न करने की नीति का अवलम्बन किया। इस समय रूस में यह विचार भी विकसित होना प्रारम्भ हो गया था, कि संसार के अन्य देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना की आशा तभी की जा सकती है, जब कि पहले अपने देश में इस व्यवस्था को सफल बना दिया जाए। रूस की इस विचार-सरणी ने अन्य देशों के साथ रूस के सम्बन्धों को बहुत प्रभावित किया।

(२) रूस की विदेशी राजनीति का क्रमिक विकास (१९१७-१९२४)

१९१७ में जब रूस में बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई, तब महायुद्ध जारी था। जार (सम्राट्) के शासन का अन्त हो जाने और रूस की नई सरकार के युद्ध से पृथक् हो जाने के कारण मित्रपक्ष के राज्यों को बहुत नुकसान हुआ था। १९१७ से १९२४ तक के सात वर्ष रूस में घोर संघर्ष के थे, और इस काल में वहाँ की विदेशी राजनीति को चार अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा।

पहली अवस्था (१९१७-१९२०)—इस काल में रूस की विदेशी राजनीति के निम्नलिखित तत्त्व थे—(१) सम्पूर्ण विश्व में कम्युनिस्ट क्रान्ति का सूत्रपात करना, (२) रूस को आधार बनाकर सर्वत्र पूँजीवाद का प्रतिरोध करना, और (३) जहाँ कहीं भी कम्युनिस्टों द्वारा विद्रोह किये जाएँ, उनकी सहायता करना। इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर रूस ने प्राच्य देशों में कम्युनिस्ट शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, और एशिया के विविध राज्यों की सद्भावना प्राप्त करने की कोशिश की। १९०७ में रूस और ब्रिटेन ने परस्पर मिलकर एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार

ईरान को दो प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया था। उत्तरी ईरान रूस के प्रभाव-क्षेत्र में था, और दक्षिणी ईरान ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में। अब रूस ने इस सन्धि का अन्त कर उत्तरी ईरान पर से अपने प्रभाव व प्रभुत्व का परित्याग कर दिया। जार की सरकार ने चीन के भी अनेक प्रदेशों में अपने लिये विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। इसी प्रकार तुर्की में भी रूस को कतिपय एक्स्ट्रा-टैरिटोरियल अधिकार प्राप्त थे। रूस की बोल्शेविक सरकार ने स्वेच्छापूर्वक इन सब विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया। उस ने अफगानिस्तान की सरकार को भी इस बात के लिए प्रेरित किया, कि उसके देश पर ब्रिटिश लोगों का जो नियन्त्रण है, उसका अन्त कर दे। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि रूस की नई सरकार के प्रति एशिया के लोगों की सद्भावना में वृद्धि होने लगी, और वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टियां जोर पकड़ने लगीं। इसीलिए सितम्बर, १९२९ में बाकू में 'प्राच्य लोगों की कांग्रेस' का आयोजन किया गया, जिसमें १९०० के लगभग प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। पर ये प्रतिनिधि एशियन देशों की सरकारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इसी कारण बाकू की कांग्रेस को एशिया में कम्युनिज़म का प्रचार करने में विशेष सफलता नहीं हो सकी।

महायुद्ध से पृथक् होकर रूस की बोल्शेविक सरकार ने जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि कर ली थी। यह सन्धि ३ मार्च,१९१८ को ब्रेस्ट-लिटोव्स्क नामक स्थान पर की गई थी। मित्रपक्ष के राज्य न केवल इस सन्धि से रुष्ट थे, अपितु रूस की कम्युनिस्ट व्यवस्था को भी वे अत्यन्त विद्वेष की दृष्टि से देखते थे। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने रूस के बोल्शेविक-विरोधी तत्त्वों को सहायता देनी प्रारम्भ कर दी, और अपनी सेनाएँ भी रूस के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजीं। मित्र-राज्यों द्वारा इस समय रूस के साथ जो घोर संघर्ष प्रारम्भ किया गया, उसके कारण निम्नलिखित थे—(१) महायुद्ध के समय जर्मनी और उसके साथी राज्यों ने रूस के जिन प्रदेशों पर कब्जा कर लिया था, रूस की बोल्शेविक सरकार ने ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि द्वारा उन पर उन्हीं का अधिकार स्वीकार कर लिया था। इस कारण रूसी पोलैण्ड, लिथुएनिया, कूरलैण्ड, लिवोनिया और एस्थोनिया के कुछ प्रदेश जर्मनी के हाथों में आ गये, और रूसी आर्मीनिया (बातम, आर्दहान और कार्स के प्रदेश) तुर्की को प्राप्त हो गया। इन प्रदेशों पर अपना कब्जा स्थापित कर लेने के कारण जर्मनी और उसके साथी राज्यों की शक्ति बहुत बढ़ गई। यह स्वाभाविक था, कि इससे मित्र-राज्य बहुत नाराज हों। (२) बोल्शेविक सरकार ने सब कल-कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। वहाँ की अनेक बड़ी कम्पनियों में विदेशी पूँजी भी अच्छी बड़ी मात्रा में लगी हुई थी। राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप यह पूँजी अब विदेशी पूँजीपतियों के हाथों से निकल गई थी। (३) रूस की बोल्शेविक सरकार ने सब विदेशी ऋणों को रद्द कर दिया था, और विदेशी व्यापार को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया था। इससे मित्रराज्यों का रुष्ट होना स्वाभाविक था।

(४) बोल्शेविक सरकार और कामिन्टर्न की सब शक्ति अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट क्रान्ति के प्रादुर्भाव में लगी हुई थी। मित्रपक्ष के पूँजीवादी राज्य इसे सहन नहीं कर सकते थे।

१९१७ से १९२० तक रूस का मित्रपक्ष के राज्यों के साथ संघर्ष जारी रहा। इस काल में कोई भी देश ऐसा नहीं था, जिसके साथ रूस का मैत्री-सम्बन्ध हो। मित्र-पक्ष की सेनाएँ रूस के बोल्शेविक-विरोधी तत्त्वों की सहायता करने में तत्पर थीं, और अन्य राज्यों ने उसका आर्थिक बहिष्कार किया हुआ था। मित्रपक्ष की सरकारें यह प्रयत्न भी कर रही थीं, कि रूस के अन्तर्गत विविध प्रदेशों को बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिए प्रेरित करें, और विद्रोहियों की सब प्रकार से सहायता करें। रूस के पड़ोस में बाल्टिक सागर के तट पर जो राज्य बोल्शेविक क्रान्ति के कारण स्वतन्त्र हो गये थे, उन्हें भी मित्रराज्यों ने रूस के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने के लिए प्रेरित किया, और उनका मुकाबला करने में बोल्शेविक सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

दूसरी अवस्था (१९२०-२१)—रूस की विदेशी राजनीति की दूसरी अवस्था का प्रारम्भ तब हुआ, जब कि उसने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ सन्धियाँ करनी प्रारम्भ कीं। ऐसी पहली सन्धि फरवरी, १९२० में एस्थोनिया के साथ तार्तू नामक स्थान पर की गई थी। बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध जो शक्तियां संघर्ष में तत्पर थीं, उनमें जनरल युडेनिख भी एक था जो एस्थोनिया को आधार बनाकर रूस के विरुद्ध लड़ाई में संलग्न था। जब युडेनिख बोल्शेविक सेनाओं द्वारा परास्त कर दिया गया, तो एस्थोनिया ने भी उसका साथ छोड़ दिया, और रूस के साथ तार्तू की सन्धि कर ली। अक्टूबर, १९२० में पोलैण्ड के साथ भी सन्धि कर ली गई, जो रीगा की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रेन्च सेनाओं को सहायता से पोल लोग रूस के विरुद्ध युद्ध में तत्पर थे, और अपने राज्यक्षेत्र को बढ़ा लेने के लिए प्रयत्नशील थे। रीगा की सन्धि द्वारा रूस और पोलैण्ड के बीच की सीमा निर्धारित कर दी गई, और पोलैण्ड तथा रूस के युद्ध का अन्त हो गया। इसी काल में ज्यार्जिया, लिथुएनिया, लैटविया, फिनलैण्ड, तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान के साथ रूस ने सन्धियाँ कीं, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के ऊपर आक्रमण न करना था। अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अनाक्रमण सन्धियाँ करके रूस ने अपनी विदेशी राजनीति में एक नये अध्याय का प्रारम्भ किया था।

तीसरी अवस्था (१९२१-२२)—१९२१ तक रूस में बोल्शेविक सरकार की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई थी, और उसके विरुद्ध जो विद्रोह देश में हो रहे थे या जिन विदेशी सेनाओं ने उस पर आक्रमण किया हुआ था, उन सब को परास्त कर दिया गया था। इस दशा में रूस के लिए यह सम्भव था, कि वह पूँजीवादी देशों के साथ भी अपने सम्बन्ध स्थापित कर सके। अपनी आर्थिक दशा को संभालने के लिए

रूस को विदेशों में बनी मशीनरी आदि की आवश्यकता थी। विश्व भर में कम्युनिस्ट क्रान्ति को प्रादुर्भूत करने की नीति का परित्याग कर रूस अब अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को भलीभाँति स्थापित करने में तत्पर था। इसीलिए १९२१ में रूस ने ग्रेट ब्रिटेन के साथ एक समझौता किया, जिसका प्रयोजन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना था। यह निश्चय किया गया, कि दोनों देश आपस के व्यापार को फिर से प्रारम्भ करें, और अपनी विचारधाराओं का दूसरे देश में प्रचार करने का कोई यत्न न करें। साथ ही, रूस ने यह भी स्वीकार किया, कि वह एशिया में ब्रिटिश लोगों के विरुद्ध जनता को नहीं भड़कायेगा, और इसके बदले में ब्रिटेन ने यह स्वीकार किया कि रूस के बन्दरगाहों का जो ब्लाकेड ब्रिटेन द्वारा किया हुआ था, उसे उठा लिया जायगा और रूस के समुद्र तट पर जो बारूदी सुरंगे बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध संघर्ष के समय बिछा दी गई थीं, उन्हें वह साफ कर देगा। १९२१ का अन्त होने से पूर्व ही इसी प्रकार के व्यापारिक समझौते अन्य ग्यारह राज्यों के साथ भी कर लिये गये। इन व्यापार-विषयक समझौतों द्वारा अनेक राज्यों ने रूस की बोल्शेविक सरकार की यथार्थ (De facto) सत्ता को तो स्वीकार कर लिया था, पर ये राज्य उसकी वैध (De Jure) स्थिति को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थे। इसी कारण रूस को अभी राज्यों के परिवार में वैध स्थान प्राप्त नहीं हो सका था। न अभी किसी राज्य ने रूस में अपने दूतावास स्थापित किये थे, और न ही रूस के राजदूत कहीं भेजे गये थे। केवल व्यापारिक प्रतिनिधियों का ही आदान-प्रदान रूस और अन्य देशों के बीच में हुआ था। रूस को अपनी आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के लिए जिस पूँजी की आवश्यकता थी, वह भी उसे प्राप्त नहीं हो सकी थी। इसका कारण यह था कि बोल्शेविक सरकार ने जारशाही सरकार की देनदारियों को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। इस दशा में रूस के परराष्ट्र मन्त्री चिचेरिन ने यह घोषणा की (१९२१), कि यद्यपि बोल्शेविक सरकार का पिछली सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों की अदायगी की जिम्मेदारी लेने की बात स्वीकार करने की ओर कोई झुकाव नहीं है, पर वह इस मामले पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में विचार करने को तैयार है, बशर्ते कि उस कांग्रेस में बोल्शेविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार करने और उसे नये कर्ज देने की बातों पर साथ-साथ विचार किया जाए। चिचेरिन की इस घोषणा का यह परिणाम हुआ, कि जिनोआ की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कान्फरेन्स में रूस को भी निमन्त्रित किया गया। यह कान्फरेन्स एप्रिल, १९२२ में शुरू हुई, और इसमें ३४ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। जिन राज्यों के प्रति रूस की पुरानी सरकार की देनदारी थी, अमेरिका के अतिरिक्त वे सब इस कान्फरेन्स में उपस्थित थे। कान्फरेन्स में उपस्थित राज्यों की ओर से रूस के सम्मुख निम्नलिखित बातें पेश की गई—(१) पुरानी रूसी सरकार की सब देनदारियों को बोल्शेविक सरकार स्वीकार करे। (२) जिन विदेशी पूँजीपतियों और अन्य विदेशी लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बोल्शेविक सरकार

द्वारा रूस में जब्त कर ली गई है, वह उन्हें वापस लौटा दी जाए। (३) रूस को जो नये कर्ज दिये जाएँ, उनकी अदायगी के सम्बन्ध में विश्वास उत्पन्न करने के लिए समुचित व्यवस्था की जाए। इन शर्तों के जवाब में रूस का यह कहना था कि बोल्शेविक सरकार पुरानी सब देनदारियों को स्वीकार करने को तैयार है, बशर्ते कि उसे उस नुकसान का हरजाना देना स्वीकृत कर लिया जाए, जो कम्युनिस्ट क्रान्ति के बाद विदेशी सेनाओं द्वारा रूस में किया गया था। कई सप्ताहों तक इस विषय पर वाद-विवाद चलता रहा, पर कोई परिणाम नहीं निकला।

इसी बीच में रूस और जर्मनी ने जिनोआ के समीप रापाल्लो नामक स्थान पर एक सन्धि कर ली थी (एप्रिल १९२२), जिसके अनुसार जर्मनी ने बोल्शेविक सरकार को रूस की वैध सरकार स्वीकार कर लिया था, महायुद्ध से पूर्व दोनों देशों की एक दूसरे के प्रति जो देनदारी थी उसे रद्द कर दिया गया था, और दोनों देशों ने एक दूसरे के साथ राजनीतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया था। यह पहला अवसर था, जब कि यूरोप के एक बड़े राज्य ने बोल्शेविक सरकार को मान्यता प्रदान की थी, और रूस की उसे जो देनदारी थी उसका भी स्वेच्छापूर्वक अन्त कर दिया था। वास्तविकता यह है कि महायुद्ध के बाद जर्मनी और रूस दोनों ही यूरोप और अमेरिका के शक्तिशाली राज्यों की दृष्टि में अछूत थे। अतः उनके लिए एक दूसरे के सान्निध्य में आ जाना अस्वाभाविक नहीं था। जिनोआ कान्फरेन्स द्वारा रूस की माँगों को तो पूरा नहीं किया गया, पर अब रूस का विश्व के अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित होना शुरू हो गया था, और उसकी दशा एक अछूत व बहिष्कृत राज्य की नहीं रह गयी थी।

चौथी अवस्था (१९२३–२४)—रापाल्लो की सन्धि के बाद रूस के लिये अन्य राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। यूरोप के अनेक राज्य अब यह अनुभव करने लग गये थे, कि रूस के साथ अपने व्यापार को बढ़ा कर आर्थिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। रूस इस समय अपनी औद्योगिक उन्नति के लिए विशेष रूप से प्रयत्न कर रहा था। उसे मशीनरी और पूँजी की जरूरत थी, जिन्हें वह विदेशों से ही प्राप्त कर सकता था। फ्रांस, इटली, ग्रेट ब्रिटेन आदि सब देश इस बात के लिए उत्सुक थे, कि रूस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाकर मुनाफा कमाएँ। इस दशा में रूस ने घोषणा की, कि वह किसी देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की बात तभी शुरू कर सकेगा, जब कि वह देश पहले बोल्शेविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर ले। साथ ही, उसने यह भी ऐलान किया, कि जो देश सबसे पहले उसकी वैध सत्ता को स्वीकार करेगा, उसे वह व्यापार आदि की अधिक सुविधाएँ दे सकेगा। इटली ने तुरन्त इससे लाभ उठाया, और मुसोलिनी ने बोल्शेविक रूस के प्रतिनिधियों के साथ बातचीत प्रारम्भ कर दी। अभी रूस और इटली की बातचीत चल ही रही थी, कि ग्रेट ब्रिटेन में पार्लियामेण्ट का नया चुनाव

हुआ, और उसके परिणामस्वरूप मजदूर पार्टी के नेता रामजे मेकडानल्ड ने अपना मन्त्रिमण्डल बना लिया। मजदूर सरकार रूस की कम्युनिस्ट सरकार के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उत्सुक थी। १ फरवरी, १९२४ को उसने बोल्शेविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर लिया। इस समाचार से इटली बहुत उद्विग्न हुआ, क्योंकि ब्रिटेन ने उससे पहले ही रूसी सरकार की वैध सत्ता को स्वीकृत कर लिया था। अब इटली ने भी बातचीत में समय नष्ट नहीं किया, और ७ फरवरी, १९२४ को बोल्शेविक सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। रूस ने दोनों राज्यों के साथ व्यापारिक सन्धियाँ कीं, और उन्हें व्यापार करने तथा रूस में पूंजी लगाने की विशेष सुविधाएँ प्रदान कीं। अन्य राज्यों ने भी ब्रिटेन और इटली का अनुसरण किया; और १९२४ का अन्त होने से पूर्व ८ अन्य राज्यों ने भी रूस में बोल्शेविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर लिया। ये राज्य निम्नलिखित थे—नार्वे (१५ फरवरी), आस्ट्रिया (२५ फरवरी), स्वीडन (१५ मार्च), हज्जाज़ (३० मार्च), चीन (३१ मई), डेन्मार्क (१८ जून), मेक्सिको (१४ अगस्त), और फ्रांस (२८ अक्टूबर)। ब्रिटेन में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल देर तक सरकार का सञ्चालन नहीं कर सका। क्योंकि पालियामेण्ट में मजदूर दल का बहुमत नहीं था, अतः वह तभी तक अपने पद पर रह सकता था, जब तक कि लिबरल पार्टी का समर्थन भी उसे प्राप्त रहे। बोल्शेविक सरकार को मान्यता प्रदान करने के प्रश्न पर लिबरल पार्टी ने रामजे मेकडानल्ड के मन्त्रिमण्डल का विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप मजदूर पार्टी की सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। अक्टूबर, १९२४ में पालियामेण्ट का नया चुनाव हुआ, जिसमें कन्जर्वेटिव पार्टी की विजय हुई। नये प्रधानमन्त्री बाल्डविन बोल्शेविक सरकार को मान्यता देने के विरोधी थे। शीघ्र ही, ऐसा अवसर उपस्थित हुआ, जब कि उन्होंने रूसी सरकार की वैध सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। पर अमेरिका ही एकमात्र ऐसा प्रमुख राज्य था, जिसने कि १९२४ तक रूस की बोल्शविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार नहीं किया था। पर फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि यूरोप के प्रधान राज्यों द्वारा मान्यता दे देने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस की स्थिति बहुत सम्मानास्पद हो गई थी। १९२३–२४ में रूस ने उन देशों के साथ व्यापारिक सन्धियां की, जिन्होंने उसकी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी थी। इन सन्धियों के कारण रूस बहुत बड़ी मात्रा में मशीनरी, तैयार माल आदि इन देशों से मंगवाने लगा, और बदले में तेल, इमारती लकड़ी और अन्य कच्चा माल इन देशों को भेजने लगा। इस समय तक रूस की राज्यशक्ति स्टालिन के हाथों में आ चुकी थी, और वह पूंजीवादी देशों के साथ सहयोग की नीति को अपनाने के पक्ष में था। ट्राटस्की से उसका इसी प्रश्न पर गहरा मतभेद था। ट्राटस्की विश्व भर में कम्युनिस्ट क्रान्ति का समर्थक था, और पूंजीवादी देशों से किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं करना चाहता था। पर स्टालिन की नीति इससे भिन्न थी। वह पहले रूस में कम्युनिस्ट व्यवस्था को भली-भाँति स्थापित करने का पक्षपाती था, और उसका

विश्वास था कि एक देश में इस व्यवस्था के सफल हो जाने पर अन्यत्र भी इसे स्थापित कर सकना सुगम हो जायगा। स्टालिन के लिए अपनी नीति को क्रियान्वित कर सकना सम्भव हो गया, क्योंकि बहुत-से पूँजीवादी राज्यों ने अब रूस के बहिष्कार की नीति का परित्याग कर दिया था।

(३) पूँजीवादी राज्यों से सहयोग और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रयत्न (१९२५–३४)

अक्टूबर, १९२५ में लोकार्नो की सन्धियां हुईं, जिन पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। लोकार्नो कान्फरेन्स में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे, और वहाँ की गई एक सन्धि द्वारा फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम ने एक दूसरे को यह गारण्टी दी थी, कि वे वर्साय्य की सन्धि द्वारा निर्धारित जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस की सीमाओं को कायम रखेंगे, और र्‌हाइनलैण्ड में किलाबन्दी नहीं होने देंगे। इसी प्रकार एक दूसरे पर आक्रमण न करने तथा आपसी झगड़ों को युद्ध के अतिरिक्त शान्तिमय उपायों से निबटाने के सम्बन्ध में भी विविध राज्यों द्वारा सन्धियाँ की गई थीं। इन सन्धियों द्वारा फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्धों में माधुर्य लाने में बहुत सहायता मिली थी। रूस ने लोकार्नो की इन सन्धियों को अपने विरुद्ध षड्यन्त्र के रूप में लिया। उसने समझा, कि यूरोप के विविध राज्यों ने परस्पर मिल कर एक गुट का निर्माण कर लिया है, जिसका प्रयोजन रूस की बोल्शेविक सरकार का विरोध करना है। अब उसे यह चिन्ता हुई, कि अन्य राज्यों के साथ ऐसे सम्बन्ध स्थापित करे, जिनके कारण पूँजीवादी राज्यों और उसके बीच में एक सुरक्षा-दीवार खड़ी की जा सके और इस प्रकार वह पूँजीवादी राज्यों के षड्यन्त्रों से अपना बचाव कर सके। इसी प्रयोजन से रूस के परराष्ट्र मन्त्री चिचेरिन ने यूरोप के अनेक देशों की यात्रा की। चिचेरिन के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि रूस अपने पड़ोसी राज्यों के साथ ऐसी सन्धियाँ करने में समर्थ हुआ, जिनके द्वारा एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया गया, और साथ ही यह आश्वासन भी कि यदि कोई अन्य राज्य उनमें से किसी पर आक्रमण करेगा, तो दूसरा राज्य उस युद्ध में तटस्थ रहेगा। ये सन्धियाँ तुर्की (१७ दिसम्बर, १९२५), जर्मनी (२४ एप्रिल, १९२६) अफ़गानिस्तान (३१ अगस्त, १९२६), लिथुएनिया (२८ सितम्बर, १९२६), लैटविया (९ मार्च, १९२७) और ईरान (अक्टूबर, १९२७) के साथ की गई थीं।

रूस जो इस प्रकार अपने पड़ोसी राज्यों के साथ सन्धियां व समझौते करने में तत्पर था, ब्रिटेन और फ्रांस की दृष्टि में वह अनुचित था। १९२४ का अन्त होने से पूर्व ही ब्रिटेन में कन्जर्वेटिव सरकार कायम हो गई थी, और यह सरकार रूस की विरोधी थी। इसी प्रकार फ्रांस में भी १९२५ में हेरियो के वामपंथी मन्त्रि-मण्डल का

पतन हो गया था, और नये मन्त्रिमण्डल का संगठन पोअन्कारे के नेतृत्त्व में हुआ था जो फ्रांस की कन्जर्वेटिव या दक्षिण पंथी पार्टी का था। १९२६में ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर संघों (Trade Unions) ने एक व्यापक हड़ताल कर दी, और रूसी मजदूर-संघों ने हड़तालियों को आर्थिक सहायता प्रदान की। इस पर कन्जर्वेटिव सरकार ने रूस को चेतावनी देते हुए यह घोषणा की, कि यदि रूस ने यूरोप और एशिया में ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार को वन्द नहीं किया, तो उससे अपने राजनयिक सम्बन्ध का अन्त कर दिया जायगा। इसी बीच में ब्रिटिश पुलिस ने आर्कस लिमिटेड नामक कम्पनी के दफ्तर पर छापा मारा। ब्रिटेन के युद्ध विभाग से कतिपय गुप्त कागजात चोरी चले गये थे। ब्रिटिश सरकार को सन्देह था, कि ये कागज आर्कस लिमिटेड के पास हैं। यह कम्पनी रूस द्वारा ब्रिटेन के साथ व्यापार के लिये संगठित की गयी थी। यद्यपि उसके दफ्तर से चोरी गये कोई कागज उपलब्ध नहीं हुए, पर ब्रिटिश सरकार का कहना था, कि आर्कस लिमिटेड की तलाशी द्वारा ऐसे पुष्ट प्रमाण मिल गये हैं, जिन से यह असंदिग्ध रूप में सिद्ध होता है कि यह कम्पनी गैर-कानूनी कार्यों में तत्पर है। इसे निमित्त बना कर ब्रिटेन ने रूस के साथ अपने सम्बन्धों का अन्त कर दिया (१९२७)। १९२९ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हुआ, और रामजे मेकडानल्ड एक बार फिर मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बनाने में समर्थ हुए। उन्होंने पुनः रूस के साथ ब्रिटेन के राजनयिक सम्बन्ध को स्थापित किया (१९२९)।

फ्रांस ने रूस की बोल्शेविक सरकार के साथ अपने राजनयिक सम्बन्धों का अन्त तो नहीं किया, पर पोअन्कारे के मन्त्रिमण्डल के समय रूस और फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्धों में कटुता आ गयी। २४ एप्रिल, १९२६ को रूस ने जर्मनी के साथ जो सन्धि की थी, फ्रांस उससे बहुत चिन्तित हुआ। भोग-विलास और शृंगार की सामग्री फ्रांस में बड़ी मात्रा में तैयार होती थी। उसका जो माल रूस में बिक्री के लिये जाता था, इस सामग्री का उसमें बड़ा भाग था। रूसी सरकार ने इसे अपने देश में आने पर प्रतिबन्ध लगा दिये, जिससे फ्रांस के विदेशी व्यापार को बहुत धक्का लगा। इसी प्रकार पुराने कर्जों की अदायगी के बारे में इन दोनों राज्यों में विवाद प्रारम्भ हुआ, और उनके सम्बन्ध इतने कटु हो गये, कि पोअन्कारे ने रूस के पेरिस-स्थित राजदूत को वापस बुला लेने की माँग की (१९२७)। ब्रिटेन और फ्रांस का जो रुख इस समय रूस के प्रति था, उसी को दृष्टि में रख कर रूस ने अपनी सुरक्षा के प्रयोजन से लैटविया और ईरान के साथ सन्धियाँ कीं, और कैलोग-ब्रियां पैक्ट (पेरिस का पैक्ट) पर भी हस्ताक्षर किये (१९२८)। इस पैक्ट पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस पैक्ट द्वारा विश्व के बहुसंख्यक राज्यों ने अपनी राष्ट्रीय नीति में युद्ध के परित्याग का निश्चय किया था, और यह वचन दिया था कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के लिए शान्तिमय साधनों का ही आश्रय लेंगे। रूस ने न केवल स्वयं इस पैक्ट पर हस्ताक्षर किये, अपितु अपने पड़ोसी राज्यों—एस्थोनिया, लैटविया,

पोलैण्ड और रूमानिया को भी इसे स्वीकृत कर लेने के लिये प्रेरित किया। इस समय रूस के परराष्ट्र मन्त्री लित्विनोव थे। उन्होंने इन चार राज्यों के साथ मिल कर एक समझौता किया, जिस द्वारा एक दूसरे पर आक्रमण न करने और शान्तिमय उपायों द्वारा अपने झगड़ों को निबटाने की बात स्वीकार की गयी। यही समझौता लित्विवोट प्रोटोकोल के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में लियुएनिया, तुर्की, ईरान और डान्ट्सिग का स्वतन्त्र नगर-राज्य भी इस प्रोटोकोल में सम्मिलित हो गये (१९२९)। रूस का यह प्रयत्न इसी प्रयोजन से था, कि वह अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर सके। १९२७ में रूस के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रसंघ की आर्थिक कान्फरेन्सों में सम्मिलित होना प्रारम्भ कर दिया था, यद्यपि वह अभी संघ का सदस्य नहीं बना था। १९३२ में राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयोजन से जिनीवा में जो कान्फरेन्स आयोजित की गयी, रूस के प्रतिनिधि भी उसमें उपस्थित हुए। अब रूस अन्तर्राष्ट्रीय राज्य-परिवार में अछूत या बहिष्कृत नहीं रह गया था। अपने सभी पड़ोसी राज्यों से उसने सन्धियाँ कर ली थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त प्रायः सभी राज्यों ने उसकी बोल्शेविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर लिया था, और सभी राज्य उसके साथ अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील थे। यद्यपि अमेरिका ने रूस की बोल्शेविक सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की थी, पर वह भी रूस के साथ अपने व्यापार की उपेक्षा नहीं कर सकता था। १९३२ में रूस में बिकने वाले अमेरिकन माल के मूल्य की मात्रा केवल १,३०,००,००० डालर थी, जब कि ब्रिटेन के रूस में बिकने वाले माल की मात्रा इससे तीन गुनी और जर्मनी के माल की मात्रा इससे दस गुनी थी। अमेरिका के उद्योगपतियों का इससे चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। उन्होंने अपनी सरकार पर इस बात के लिये जोर देना शुरू किया, कि रूस के साथ अपने सम्बन्धों को अधिक सौहार्द्रपूर्ण बनाना चाहिए। इसी समय में जापान मञ्चूरिया और मंगोलिया के प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में तत्पर था, जिससे रूस और अमेरिका—दोनों ही समान रूप से चिन्तित थे। अब अमेरिकन सरकार के लिए यह सम्भव नहीं रह गया, कि वह रूस के प्रति अपनी पुरानी विरोध भावना पर कायम रह सके। १९३३ में अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रांकलिन रूजवेल्ट ने रूस के प्रतिनिधियों को अमेरिका आमन्त्रित किया, ताकि दोनों देश परस्पर राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में विचार-विमर्श कर सकें। इस निमन्त्रण को स्वीकार कर रूस के परराष्ट्र मन्त्री लित्विनोव ने अमेरिका की यात्रा की, जिसके परिणामस्वरूप नवम्बर, १९३३ में रूस और अमेरिका में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो गये, और अमेरिका ने बोल्शेविक सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर लिया। इसी समय दोनों देशों ने आपस में कतिपय समझौते किये, जिनके अनुसार (१) दोनों देशों ने एक दूसरे के राज्य-क्षेत्र की अनुल्लंघनीयता को स्वीकार किया; (२) यह निश्चय किया, कि दोनों में से किसी भी देश में कोई ऐसा संगठन या ग्रुप कायम न हो सके, जिसका

प्रयोजन दूसरे देश की राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था में शक्ति के प्रयोग द्वारा परिवर्तन करना हो; और (३) रूस ने यह स्वीकार किया कि जो अमेरिकन यात्री रूस आएँ, वे अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार चर्चों में पूजा-प्रार्थना कर सकें और किसी अमेरिकन मिशनरी को उसके मिशनरी होने के कारण ही रूस आने से न रोका जाए। अमेरिका और रूस में जो ये समझौते हो सके, उसका एक मुख्य कारण यह भी था, कि १९३३ में हिटलर ने जर्मनी में शासन-शक्ति प्राप्त कर ली थी, और उसकी उग्र नीतियों से फ्रांस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों के समान रूस भी चिन्तित हो गया था। जर्मनी की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण रूस की सुरक्षा को क्षति पहुँच सकती थी, और हिटलर के कम्युनिस्ट-विरोधी विचारों के कारण रूस का आशंकित होना भी स्वाभाविक था।

१९३४ में रूस राष्ट्रसंघ का भी सदस्य बन गया, और उसे संघ की कौंसिल की स्थायी सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इससे एक साल पूर्व जर्मनी और जापान राष्ट्रसंघ से पृथक् हो चुके थे। अब रूस विश्व के पूँजीवादी राज्यों के साथ पूर्ण रूप से सहयोग करने लग गया था, और उसे अपनी सुरक्षा के लिये यह आवश्यक प्रतीत होने लगा था, कि वह अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ करे।

यह स्पष्ट है, कि १९२४ से रूस की विदेशी राजनीति में ऐसे परिवर्तन आने शुरू हो गये थे, जिनका प्रयोजन पूँजीवादी राज्यों के साथ सहयोग से काम करना था। १९१७ में रूस विश्व में सर्वथा अकेला पड़ गया था, और ट्राटस्की सदृश अनेक रूसी नेता यह आवश्यक मानते थे, कि पूँजीवादी राज्यों के साथ कोई भी सम्पर्क न रखा जाए। ये नेता विश्व भर में कम्युनिस्ट क्रान्ति के पक्षपाती थे। पर स्टालिन के नेतृत्व में रूस ने जिस नीति को अपनाया, वह सबके साथ सहयोग करने की थी। इसी नीति की चरम परिणिति राष्ट्रसंघ की सदस्यता के रूप में हुई। १९२४ से १९३४ के काल को रूस की विदेशी राजनीति की चौथी अवस्था कहा जा सकता है।

(४) नाजी और फासिस्ट शक्तियों के विरोधी राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का काल (१९३५-३८)

१९२३ में मुसोलिनी ने इटली में फासिस्ट व्यवस्था स्थापित करनी प्रारम्भ कर दी थी, और १९३३ में हिटलर ने जर्मनी में नाजी शासन का सूत्रपात कर दिया था। नाजी पार्टी जहाँ कम्युनिज्म की कट्टर शत्रु थी, वहाँ साथ ही वर्साय्य की सन्धि द्वारा की गई व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देने के लिये भी कटिबद्ध थी। नाजी और फासिस्ट शक्तियों का सामना करने और इस नई विचारधारा से कम्युनिज्म की रक्षा करने के प्रयोजन से रूस ने यूरोप के लोकतन्त्र राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की नीति को अपनाया। फ्रांस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि यूरोपियन राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टियों की भी सत्ता थी, और

साथ ही ऐसी पार्टियों की भी, जो कम्युनिस्ट न होती हुई भी समाजवाद में विश्वास रखती थीं। रूस का विचार था, कि इन पार्टियों के समर्थन से वह इन राज्यों के साथ ऐसे राजनयिक व सैनिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, जिन द्वारा उसकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था हो सके। इसी लिये उसने मई, १९३५ में फ्रांस के साथ एक पैक्ट किया, जिसके अनुसार इन दोनों राज्योंने एक-दूसरे पर आक्रमण न करने, उनमें से किसी पर आक्रमण होने की दशा में परस्पर परामर्श करने और यदि यह आक्रमण उत्तेजना के कारणों के बिना ही किया गया हो तो एक दूसरे की सहायता करने का निश्चय किया। यह पैक्ट वैसा ही था, जैसा कि फ्रांस और रूस ने प्रथम महायुद्ध से पूर्व १८९४ में किया था। इसके कारण रूस और फ्रांस दोनों को यह भरोसा हो गया था, कि यदि जर्मनी ने उनमें से किसी पर आक्रमण किया, तो दूसरे राज्य की सैनिक सहायता उसे प्राप्त हो जायगी। बाद में इसी प्रकार के पैक्ट पोलैण्ड और बाल्टिक सागर के तटवर्ती राज्यों के साथ भी किये गये। चेकोस्लोवाकिया के साथ भी उसने सन्धि की, और ब्रिटेन तथा तुर्की के साथ भी अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार रूस ने १९३५–३६ में अनेक राज्यों के साथ ऐसे समझौते कर लिये थे, जिन द्वारा वह जर्मनी की नाजी शक्ति का प्रतिरोध करने में समर्थ हो सकता था। इस काल में फ्रांस में पोपुलर फ्रन्ट के मन्त्रिमण्डल विद्यमान थे, जिनमें वामपक्षी पार्टियाँ भी सम्मिलित थीं। यही दशा चेकोस्लोवाकिया में भी थी। वहाँ की सरकार में भी वामपक्षी दलों का प्रभुत्त्व था। इस स्थिति में रूस के लिये इन राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकना अधिक कठिन नहीं था।

नवम्बर, १९३६ में जर्मनी, इटली और जापान ने मिल कर एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट का निर्माण किया। इस पैक्ट पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। यह पैक्ट रूस के विरोध में ही बनाया गया था। इसके कारण रूस के लिये यह और भी अधिक आवश्यक हो गया, कि वह फ्रांस, ब्रिटेन, चेकोस्लोवाकिया आदि फासिस्ट-विरोधी राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ करने का प्रयत्न करे। पर इन राज्यों को रूस पर विश्वास नहीं था। कम्युनिज्म के भी वे विरोधी थे। आत्म-रक्षा के लिये एवं अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये ही इन्होंने रूस के साथ सन्धियाँ व समझौते किये थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जब फासिस्ट शक्तियों के प्रति-रोध के अवसर उपस्थित हुए, तो इन राज्यों ने भलीभाँति रूस का साथ नहीं दिया। १७ जुलाई, १९३६ के दिन स्पेन में गृहयुद्ध का श्रीगणेश हुआ। स्पेन में लोकतन्त्र सरकार की सत्ता थी, जिसके विरुद्ध फ्रांको के नेतृत्त्व में वहाँ की सेनाओं ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। इटली के फासिस्ट और जर्मनी के नाजी फ्रांको की पीठ पर थे। रूस चाहता था, कि अन्य लोकतन्त्र राज्य स्पेन की रिपब्लिक की उसी ढंग से सहायता करें, जैसे कि इटली और जर्मनी फ्रांको की कर रहे थे। बहुत-सी जर्मन और इटालियन सेनाएँ फ्रांको की सहायता के लिये स्पेन पहुँच गई थीं। फ्रांस आदि देशों

ने रिपब्लिक की सहायता के लिये अपनी सेनाएं नहीं भेजीं, यद्यपि बहुत-से स्वयंसेवक इन देशों से स्पेन की रिपब्लिक की सहायता के लिये संगठित हो गये। गृहयुद्ध में फ्रांको की विजय हुई, और इसके परिणामस्वरूप रूस ने यह समझ लिया कि फासिस्ट शक्तियों के प्रतिरोध में वह फ्रांस, ब्रिटेन आदि पर भरोसा नहीं कर सकता। इसी प्रकार १९३८ में जब जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर उसकी स्वतन्त्रता की समाप्त कर दी, तब भी ब्रिटेन और फ्रांस चुप बैठे रहे। फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया के साथ जो अनेक सन्धियां व समझौते किये हुए थे, उनके अनुसार उसे जर्मनी के विरुद्ध अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये था। जब हिटलर किसी देश के विरुद्ध आक्रमण करने के लिये अग्रसर होता था, तो वह कम्युनिज्म के विरुद्ध आग उगलना कभी नहीं भूलता था। वह यही कहता था, कि जर्मनी कम्युनिज्म से लोकतन्त्रवाद की रक्षा करने में तत्पर है। वास्तविक बात यह है, कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्य कम्युनिज्म को सदा आशंका की दृष्टि से देखते थे, और यह समझते थे कि रूस की शक्ति उनकी पूंजीवादी व्यवस्था के लिये घातक है। इसी कारण उन्होंने फासिस्ट व नाजी शक्तियों का प्रतिरोध करने में रूस का साथ नहीं दिया, और जर्मनी तथा इटली को अपने उत्कर्ष का अवसर प्राप्त हो गया।

(५) जर्मनी के प्रति सहयोग की नीति (१९३८–४१)

चेकोस्लोवाकिया के अंगभंग और म्यूनिच के समझौते को देखते हुए रूस को यह विश्वास हो गया था, कि वह अपनी सुरक्षा के लिये ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों पर भरोसा नहीं कर सकता। चेकोस्लोवाकिया के प्रश्न पर विचार करने के लिये जो कान्फ्रेन्स सितम्बर, १९३८ में हुई थी और जिस द्वारा म्यूनिच समझौता किया गया था, उसमें रूस को निमन्त्रित तक नहीं किया गया था। उसमें केवल जर्मनी, इटली, फ्रांस और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। म्यूनिच के समझौते के कारण रूस में क्या भावना उत्पन्न हो गई थी, इसे स्टालिन के उस भाषण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है जो उसने १० मार्च, १९३९ के दिन रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के अधिवेशन के समक्ष दिया था। इसमें उसने कहा था—"फ्रांस और ब्रिटेन ने आक्रान्ता राज्यों का सामूहिक प्रतिरोध करने की नीति का परित्याग कर दिया है। अब उन्होंने ऐसे मामलों में हस्तक्षेप न करने और तटस्थ रहने की नीति अपना ली है। इसका अभिप्राय यही है, कि जर्मनी को यूरोप में मनमानी करने दी जाए और उसे रूस से युद्ध करने से न रोका जाए। इन (फ्रांस और ब्रिटेन) राज्यों ने आस्ट्रिया को राष्ट्रीय सुरक्षा का वचन दिया हुआ था। पर इन्होंने उसे जर्मनी को हड़प लेने दिया, सुडटनलैण्ड पर जर्मनी का कब्जा होने दिया और चेकोस्लोवाकिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया।" निस्सन्देह, अब रूस ने यह भलीभांति समझ लिया था, कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस उसके साथ नहीं हैं, और यदि जर्मनी ने उस पर आक्रमण किया, तो ये राज्य उसकी

सहायता नहीं करेंगे।

इस दशा में रूस ने एक सर्वथा नई नीति का अनुसरण किया, मई, १९३९ में लिटविनोव ने रूस के पराष्ट्रमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, और उनके स्थान पर मोलोटोव की नियुक्ति की गई। लिटविनोव सामूहिक सुरक्षा और फ्रांस तथा ब्रिटेन से सहयोग की नीति में विश्वास रखता था। पर स्पेन के गृहयुद्ध, आस्ट्रिया पर जर्मनी का कब्जा और चेकोस्लोवाकिया के अंगभंग के कारण यह नीति विफल हो चुकी थी। मोलोटोव ने जिस नई नीति का सूत्रपात किया, वह विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय नीति थी। उसमें विचारधाराओं के लिये कोई स्थान नहीं था। जिस बात में भी रूस का राष्ट्रीय हित हो वही उसे अपनानी चाहिये, यही इस नई नीति का मूल तत्त्व था। रूस की सुरक्षा की प्रमुख समस्या जर्मनी के आक्रमण के भय की ही थी। यदि जर्मनी के साथ ही आक्रमण न करने की सन्धि कर ली जाए, तो यह भय दूर हो सकता था। इसीलिये रूस ने जर्मनी की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाना शुरू किया, जो अन्ततोगत्वा २३ अगस्त, १९३९ के दिन जर्मन-सोवियत-अनाक्रमण पैक्ट के रूप में फलीभूत हो गया। यह पैक्ट किन परिस्थितियों में और किन कारणों से किया गया था, इसका विशद रूप से विवेचन जर्मनी की विदेशी नीति विषयक अध्याय में किया जायगा। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि रूस की विदेशी नीति में इस पैक्ट द्वारा एक नये युग का सूत्रपात हुआ। अब तक जर्मनी रूस का सबसे बड़ा विरोधी और कट्टर शत्रु समझा जाता था, पर इस समझौते के पश्चात् उनमें सौहार्द्र प्रादुर्भूत हो गया। एक सप्ताह बाद जब बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो रूस ने उसमें कोई भाग नहीं लिया। उसकी तटस्थता और जर्मनी के विरुद्ध अनाक्रमण की नीति का ही यह परिणाम हुआ, कि महायुद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में जर्मनी को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हो सकी। जर्मनी अपनी पूर्वी व उत्तरी सीमा की ओर से निश्चिन्त था, क्योंकि रूस के आक्रमण का उसे कोई भय नहीं था। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को दक्षिण और पश्चिम की ओर लगा सकता था।

पर रूस और जर्मनी की यह मैत्री चिरकाल तक कायम नहीं रह सकी। जून, १९४१ में रूस ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस की विदेशी नीति में यह परिवर्तन किन कारणों से आया, इस पर हम आगे चल कर यथास्थान प्रकाश डालेंगे। इस प्रकार १९१७ से १९३९ तक के दो महायुद्धों के बीच के काल में रूस की विदेशी राजनीति में सात बार परिवर्तन आए, १९२४ तक चार बार और १९२४ से १९३९ तक तीन बार। रूस की ये विशेष परिस्थितियाँ ही थीं, जो उसे इस प्रकार अपनी नीति को बदलने के लिये विवश कर रही थीं। कम्युनिज़्म के प्रति पूँजीवादी राज्यों का विद्वेषभाव और रूस द्वारा अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा तथा कम्युनिस्ट व्यवस्था की रक्षा का प्रश्न इस नीति परिवर्तन के प्रधान हेतु थे।

(६) प्राच्य देशों के प्रति रूस की विदेशी राजनीति

सोवियत रूस की अन्य देशों के प्रति नीति कम्युनिस्ट विचारधारा द्वारा अवश्य प्रभावित हुआ करती थी, पर किसी राज्य की विदेशी राजनीति केवल विचारधारा के आधार पर ही निर्धारित नहीं की जाती। भौगोलिक परिस्थितियाँ, आर्थिक आवश्यकताएँ और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी उसे प्रभावित करती हैं। इसीलिये यह कहा जाता है, कि रूस की विदेशी नीति प्रायः वही थी, जारों के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन द्वारा जिसकी रूप-रेखा का निर्माण किया गया था। कम्युनिस्ट व्यवस्था के स्थापित हो जाने के बाद भी इस नीति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। यूरोप के क्षेत्र में सोवियत रूस ने कम्युनिस्ट विचारधारा को ताक में रख कर प्रधानतया राष्ट्रीय हितों की रक्षा की दृष्टि से किस प्रकार पहले ब्रिटेन और फ्रांस जैसे पूँजीवादी देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये, और बाद में नाजी व फासिस्ट शक्तियों के साथ मैत्री की, यह ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। प्राच्य देशों के प्रति भी इसी नीति का अनुसरण किया गया। जारों के शासन काल में रूस की विदेशी राजनीति के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) बाल्किट सागर के तटवर्ती प्रदेशों पर अपने प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित रखना, (२) बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों पर अपना प्रभाव रखना, (३) बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरू-मध्यों को अपने प्रभाव में रखना, ताकि काला सागर और भूमध्यसागर के बीच का यह जलमार्ग रूस के लिये सुरक्षित रहे, (४) मंगोलिया में अपनी शक्ति एवं प्रभुत्व का विस्तार करना, (५) मञ्चूरिया में अपने प्रभाव-क्षेत्र को स्थापित करना, (६) उत्तरी ईरान में अपने प्रभाव का विस्तार करना, और (७) अफगानिस्तान के साथ ऐसे सम्बन्ध रखना जिन द्वारा यह देश रूस के विरुद्ध न जा सके। पुरानी रूसी सरकार की इस विदेशी नीति के कारण ही उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन और रूस में निरन्तर संघर्ष होते रहे। क्रीमियन युद्ध (१८५४) बाल्कन प्रायद्वीप और बोस्पोरस व डार्डेनल्स के जलडमरू-मध्यों के क्षेत्र में रूस और ब्रिटेन की प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही लड़ा गया था। दक्षिणी एशिया में ब्रिटेन ने अपना जो विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था, उसकी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा लिए उसे सदा रूस का भय बना रहता था। इसी लिये ये दोनों ही राज्य अफगानिस्तान और ईरान को अपने-अपने प्रभाव में ले आने के लिये तत्पर रहते थे। उत्तर-पूर्वी एशिया के विशाल भूखण्ड पर जिस प्रकार रूस ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, उसके कारण चीन और जापान के साथ भी उसके संघर्ष का सूत्रपात हुआ। १९०५ का रूस-जापान युद्ध इसी संघर्ष का परिणाम था।

जब रूस में जारशाही शासन का अन्त होकर कम्युनिस्ट सरकार स्थापित हो गई, तो उसने भी पुरानी सरकार की विदेशी नीति का अनुसरण किया। बाल्टिक सागर के तटवर्ती देश पहले रूस के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। महायुद्ध के समय में रूस में जो कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई, उसके कारण इन देशों (एस्थोनिया, लैटविया, फिनलैण्ड

और लिथुएनिया) ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, पर रूस ने इन राज्यों के साथ ऐसी सन्धियाँ कीं, जिन द्वारा ये राज्य विदेशी सम्बन्धों में रूस के अनुवर्ती हो गये। निकट पूर्व (पश्चिमी एशिया) के क्षेत्र में अपने प्रभाव व मैत्री को कायम रखने के लिये रूस ने तुर्की (१९२५), अफ़गानिस्तान (१९२६), और ईरान (१९२७) के साथ सन्धियाँ कीं। इन सन्धियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

पर विदेशी राजनीति में रूस को सुदूर पूर्व के क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त हुई। अनेक विदेशी राज्यों ने चीन में विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे, और वहाँ अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र स्थापित कर लिये थे। रूस भी इन राज्यों में एक था। १९२४ में बोल्शेविक सरकार ने रूस के इन विशेषाधिकारों का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर दिया था, जिसके कारण इन दोनों देशों में सद्भावना विकसित हो गई थी और उनके सम्बन्ध बहुत मधुर हो गये थे। इसी समय रूस ने बोरोडिन नामक एक कुशल राजनीतिज्ञ को चीन भेजा, जहाँ उसने कुओमिन्तांग सरकार के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये। चीन ने भी अपना राजदूत मास्को भेजा, और इन दोनों देशों में राजनयिक सम्बन्ध कायम हो गया।

चीन में भी कम्युनिस्ट पार्टी संगठित थी, और रूस का समर्थन व सहयोग भी इस पार्टी को प्राप्त था। उत्तरी चीन में रूस की बोल्शेविक सरकार अपने सिद्धान्तों के प्रचार में विशेष रूप से प्रयत्नशील थी। कुओमिन्तांग सरकार कम्युनिस्टों की गतिविधि को पसन्द नहीं करती थी। मञ्चूरिया में जो रेलवे थी, उसके निर्माण में रूस का बड़ा कर्तृत्त्व था। रूस की पूँजी भी उसमें लगी हुई थी, और बहुत-से रूसी इन्जीनियर व अन्य कर्मचारी भी उसमें काम करते थे। १९२९ में मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग ह्सुएह-लियांग ने प्रयत्न किया, कि इस रेलवे को पूर्णतया अपने स्वत्त्व में ले आए और वहाँ जो रूसी लोग विद्यमान हैं उन्हें मञ्चूरिया से बहिष्कृत कर दे। इसीलिये जून और जुलाई में रूस के सैकड़ों नागरिकों को गिरफ्तार कर लिया गया, और मञ्चूरिया में रूसी सरकार के जो भी राजनयिक व व्यापारिक कार्यालय थे, उन पर धावा बोल दिया गया। इस पर रूस ने चीन के साथ अपने राजनयिक सम्बन्धों का अन्त कर दिया, और रूस में जो बहुत-से चीनी व्यापारी निवास कर रहे थे उन्हें गिरफ्तार कर लिया। साथ ही, दोनों देशों ने युद्ध की तैयारी भी प्रारम्भ कर दी। युद्ध में चीन के लिये रूस का मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं था। अतः १९२९ का अन्त होने से पूर्व ही उसने रूस के साथ समझौता कर लिया, जो खबरोव्स्क प्रोटोकोल के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रोटोकोल द्वारा चीन ने यह स्वीकार कर लिया, कि मञ्चूरिया की रेलवे पर रूस का जो स्वत्त्व था, उसे कायम रखा जायगा। इसके बाद फिर कभी चीन ने रूस का प्रतिरोध करने का प्रयत्न नहीं किया था। वस्तुतः, वह इस स्थिति में था ही नहीं, कि रूस जैसे शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध कोई कार्रवाई कर सके। उसे अपने आन्तरिक झगड़ों से ही फुरसत नहीं थी, और जापान जिस ढंग से उसके राज्य-क्षेत्र में अपने

प्रभुत्त्व के विस्तार में तत्पर हो गया था (१९३१), उसके कारण उसकी शक्ति जापान के साथ उलझने में ही लग गई थी।

जब जापान ने चीन में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार प्रारम्भ किया, तो रूस भी उसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता था। उत्तर-पूर्वी चीन जापान के साम्राज्य-विस्तार का क्षेत्र था, और उसकी सीमाएँ रूस के साथ लगती थीं। साथ ही, इस क्षेत्र की रेलवे, खानों और कल-कारखानों में रूसी पूँजी भी लगी हुई थी। मञ्चूरिया और मंगोलिया में जापान द्वारा अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करने के कारण रूस और जापान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो समस्याएँ उत्पन्न हुईं, उन पर अगले एक अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट (१९३६) में जापान भी सम्मिलित था। जिस प्रकार जर्मनी का रूस से विरोध था, वैसे ही जापान का भी था। विचारधारा की दृष्टि से भी जापान रूस का विरोधी था, और उत्तर-पूर्वी चीन के क्षेत्र में राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से भो। इसी कारण उसने भी एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर किये थे। पर जिन कारणों से १९३९ में जर्मनी और रूस ने अनाक्रमण-समझौता कर लिया था, प्रायः वैसे ही कारणों से रूस और जापान के बीच में भी एक पैक्ट (एप्रिल, १९४१) हो गया था। इसी लिये द्वितीय महायुद्ध के दौरान रूसी सेनाओं ने चिर काल तक जापान के विरुद्ध कोई कर्तृत्त्व प्रदर्शित नहीं किया, और महायुद्ध की समाप्ति से कुछ ही दिन पूर्व रूस ने जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा की। रूस की विदेशी नीति के इस पहलू पर आगे चल कर प्रकाश डाला जायगा।

(७) रूस की विदेश-नीति का विवेचन

रूस की विदेशी राजनीति पर जो विचार इस अध्याय में किया गया है, उससे निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती है—(१) यह नीति किसी विचारधारा पर आश्रित नहीं थी। इसमें सन्देह नहीं कि कम्युनिस्ट लोग विश्व-क्रान्ति में विश्वास रखते थे, और ट्राटस्की जैसे नेताओं का यह विश्वास था कि चारों ओर से पूँजीवादी राज्यों द्वारा घिरे रहने पर कोई अकेला देश अपने यहाँ कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित कर सकने में सफल नहीं हो सकता। पर स्टालिन ने इस मन्तव्य के आधार पर अपनी नीति का निर्धारण नहीं किया। शुरू-शुरू में बोल्शेविक सरकार ने रूस के पड़ोसी राज्यों में भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की सहायता अवश्य की, और कोमिन्टर्न के माध्यम से वह बाद में भी सब देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को प्रोत्साहन व सहायता देती रही। पर अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को निर्धारित करते हुए उसने कम्युनिस्ट विचारधारा को आधार नहीं बनाया। अपनी सुरक्षा और राष्ट्रीय हितों को ही उसने प्रधानतया अपने सम्मुख रखा, और इसी लिए कभी ब्रिटेन और फ्रांस जैसे लोकतन्त्र राज्यों के साथ मैत्री की, और कभी कम्युनिस्ट-विरोधी फासिस्ट और नाजी राज्यों के साथ।

(२) क्योंकि बोल्शेविक सरकार अपनी विदेशी नीति को निर्धारित करते हुए राष्ट्रीय हितों व स्वार्थों को महत्त्व देती थी, अतः उसने जारशाही युग की नीति का ही अनुसरण किया। पुराने समय में रूस एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में समर्थ हुआ था। उत्तरी एशिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार करते हुए उसने सम्पूर्ण साईबीरिया को जीत लिया था और अपने साम्राज्य की पूर्वी सीमा प्रशान्त महासागर तक पहुँचा दी थी। दक्षिण में मध्य एशिया के तुर्क राज्यों को जीत कर उसने अपने अधीन कर लिया था, और उसकी दक्षिणी सीमा अफगानिस्तान और ईरान के साथ आ लगी थी। बाल्टिक सागर के तटवर्ती सब राज्यों को भी उसने अपने अधीन कर लिया था। बाल्कन प्रायद्वीप को वह अपने प्रभाव में लाने में तत्पर था, और इसी कारण तुर्क सुलतान के विरुद्ध उसने अनेक युद्ध किये थे। बोल्शेविक सरकार साम्राज्यवाद की विरोधी थी, और उसे पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम मानती थी। पर बोल्शेविकों ने रूस की शासनशक्ति को प्राप्त कर अपने इस विशाल साम्राज्य का अन्त कर देने का कोई प्रयास नहीं किया। साइबीरिया अब भी उसके अधीन रहा, और मध्य एशिया के विविध राज्य भी सोवियत संघके अन्तर्गत रहे। युक्रेनिया और ज्यार्जिया आदि अन्य अनेक प्रदेशों के निवासी भी जातीय दृष्टि से रूसी लोगों से भिन्न हैं। यद्यपि इन्हें तथा मध्य एशिया के राज्यों को पृथक् रिपब्लिकों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, पर उन्हें सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया गया। १९१७ की राज्यक्रान्ति के पश्चात् बाल्टिक सागर के तटवर्ती राज्यों (फिनलैण्ड, लैटिविया, एस्थोनिया, और लिथुएनिया) ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, पर द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर रूस ने यह आवश्यक समझा, कि इन राज्यों के साथ ऐसी सन्धियाँ की जाएँ जिन द्वारा उसकी अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था हो सके। इसीलिए २८ सितम्बर, १९३६ को उसने एस्थोनिया के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार एस्थोनिया ने अपने अनेक सामुद्रिक व हवाई अड्डे सैनिक प्रयोग के लिए रूस को देना स्वीकार कर लिया। साथ ही, दोनों देशों ने परस्पर मित्रता बनाये रखने तथा एक दूसरे के विरुद्ध किसी अन्य देश के साथ पैक्ट न करने का वचन दिया। ५ अक्टूबर, १९३९ को इसी प्रकार की सन्धि लैटविया से और १० अक्टूबर, १९३९ को लिथुएनिया के साथ की गई। रूस चाहता था, कि ऐसी ही सन्धि फिनलैण्ड के साथ भी कर ली जाए। पर जब फिनलैण्ड इसके लिए तैयार नहीं हुआ, तो रूस ने उस पर आक्रमण कर दिया और युद्ध में उसे परास्त कर उन सब स्थानों को अपने अधिकार में ले लिया जिन्हें कि वह अपनी सुरक्षा के लिए अधिकृत कर लेना उपयोगी समझता था। बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों, मंगोलिया और मंचूरिया के सम्बन्ध में भी बोल्शेविक सरकार की नीति प्रायः वही रही, जो जारशाही सरकार की थी।

यद्यपि इस बात में बहुत सचाई है, पर यह स्थापना करना कि बोल्शेविक

सरकार की विदेशी नीति पूर्णतया जारशाही सरकार के समान थी, सर्वांश में सही नहीं है। उत्तरी ईरान में रूस का जो प्रभावक्षेत्र विद्यमान था, बोल्शेविक सरकार ने उसका स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर दिया था। इसी प्रकार चीन के कतिपय प्रदेशों में एक्स्ट्रा-टैरिटोरियलिटो के अपने अधिकार उसने स्वयं ही छोड़ दिये थे। बाल्टिक सागर के तटवर्ती राज्यों की स्वतन्त्रता जारशाही नीति के अनुकूल नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध के समय रूस ने इन राज्यों के साथ ऐसी सन्धियाँ अवश्य कीं, जो उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक थी। पर इन सन्धियों के बावजूद इन राज्यों की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता कायम रही, यद्यपि बाद में इनमें से तीन (लैटविया, एस्थोनिया और लिथुएनिया) को पृथक् रिपब्लिकों के रूप में सोवियत संघ के अन्तर्गत कर दिया गया।

पर यह स्वीकार करना होगा, कि रूस की विदेशी राजनीति के मुख्य निर्णायक तत्व उसके राष्ट्रीय हित और सुरक्षा का प्रश्न हो रहे हैं। स्टालिन ने इन्हीं को दृष्टि में रखकर अपनी विदेशी नीति का निर्धारण किया। १९३४ में उसने स्वयं ही कहा था—'हमारी नीति का लक्ष्य भूतकाल में भी यही रहा है और अब भी यही है कि सोवियत यूनियन के हितों का सम्पादन किया जाए। इसके लिए जिस किसी देश के साथ मैत्री की आवश्यकता हो, हम निःसंकोच भाव से कर लेते हैं।' इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर रूस ने पहले पूँजीवादी लोकतन्त्र राज्यों के साथ सन्धियाँ कीं (१९२२), ताकि उनसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर वह अपनी औद्योगिक उन्नति कर सके। फिर उसने युद्धविरोधी कैलॉग-ब्रियाँ पैक्ट पर हस्ताक्षर किये, क्योंकि इस काल (१९२८) में उसे अपने आर्थिक विकास के लिए शान्ति के वातावरण की आवश्यकता थी। फिर उसने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अनाक्रमण एवं तटस्थता के समझौते किये, क्योंकि तब एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट द्वारा नाजी और फासिस्ट शक्तियों का एक सुदृढ़ संगठन कायम हो गया था। बाद में उसने जर्मनी (१९३९) और जापान (१९४१) के साथ भी सन्धियाँ की, क्योंकि इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण तथा स्पेन के गृह-युद्ध आदि के समय उसने यह अनुभव कर लिया था, कि वह अपनी सुरक्षा के लिए न पूँजीवादी लोकतन्त्र राज्यों पर भरोसा कर सकता है और न राष्ट्रसंघ पर। रूस की विदेशी नीति में निरन्तर ऐसे परिवर्तन होते रहे, ऊपर से देखने पर जिन्हें अवसरवादिता और सिद्धान्तविहीनता पर आधारित कहा जा सकता है। पर वस्तुतः ये परिवर्तन राष्ट्रीय हित और सुरक्षा की भावना पर ही आश्रित थे, और इन्हें अनुचित कह सकना कठिन है, क्योंकि सभी देश अपनी आन्तरिक व विदेशी नीति का निर्धारण अपने राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रख कर ही किया करते हैं।

पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि रूस ने कम्युनिज्म के प्रसार को कभी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध में चिर काल तक वह तटस्थ रहा। मई, १९४२ तक उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित नहीं किया, और

जुलाई, १९४५ तक जापान के विरुद्ध। इस बीच में ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्र-राज्यों की शक्ति नाजी और फासिस्ट राज्यों के साथ संघर्ष में लगी रही, और जर्मनी को यूरोप के बड़े भाग पर अपनी प्रभुता को स्थापित करने का सुवर्णावसर प्राप्त हो गया। जब जर्मनी लड़ते-लड़ते थक गया, तो रूस ने भी उसके विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी, और उसे परास्त करने में हाथ बटा कर पूर्वी तथा मध्य यूरोप के बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। आज जो यूरोप के इस क्षेत्र में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो सकी है, उसका श्रेय रूस की इस नीति को ही दिया जा सकता है। यही बात पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में भी सत्य है। उत्तरी कोरिया, चीन और उत्तरी विएत-नाम में आज जो कम्युनिस्ट सरकारें विद्यमान हैं, उसमें भी रूस की यह नीति पर्याप्त अंश तक उत्तरदायी है। वस्तुतः, रूस की विदेशी राजनीति न केवल अपने देश के राष्ट्रीय हितों के सम्पादन में समर्थ हुई, अपितु कम्युनिज्म का अन्यत्र प्रचार होने में भी उससे बहुत सहायता मिली।

आठवाँ अध्याय

(१) ग्रेट ब्रिटेन की विदेशी राजनीति (१९१९-३९)

(१) ब्रिटिश विदेश-नीति के प्रधान तत्त्व

बीसवीं सदी के मध्य भाग तक ब्रिटेन का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। संसार के इतिहास में अब तक जितने भी साम्राज्यों का विकास हुआ है, ब्रिटिश साम्राज्य सम्भवतः उनमें सब से बड़ा था। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और न्यूफाउण्डलैण्ड के औपनिवेशिक राज्य जहाँ उसके अन्तर्गत थे, वहाँ भारत जैसा विशाल देश भी उसके अधीन था। हिन्द महासागर के बहुत-से द्वीपों पर उसका प्रभुत्त्व था, और वेस्ट इन्डीज, मलाया और सिंगापुर, माल्टा, जिबराल्टर, ईस्ट-इन्डीज, हांगकांग, बरमा, मारिशस आदि कितने ही अन्य प्रदेश व द्वीप भी उसकी अधीनता में थे। पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार अरब और अफ्रीका के भी अनेक प्रदेश राष्ट्रसंघ की अधीनता में उसे शासन के लिये प्रदान कर दिये गये थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि वह अपनी विदेशी राजनीति का इस ढंग से निर्धारण करे, जिससे कि उसका यह विशाल साम्राज्य सुरक्षित रहे और संसार का कोई अन्य देश इसे किसी भी प्रकार से क्षति न पहुँचा सके। इस आधारभूत बात को दृष्टि में रखते हुए ग्रेट ब्रिटेन जिस विदेश-नीति का अनुसरण किया करता था, उसके प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—

(१) समुद्रों और जल मार्गों पर प्रभुत्त्व—पाँचों महाद्वीपों और सातों समुद्रों में फैले हुए अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा के प्रयोजन से ब्रिटेन के लिए यह आवश्यक था, कि वह समुद्रों और जलमार्गों पर अपने प्रभुत्त्व को कायम रखे। इङ्गलैण्ड से भारत, बरमा, मलाया आदि प्राच्य देशों को जाने वाला जलमार्ग स्पेन के दक्षिणी तट, भूमध्य सागर, स्वेज नहर, लाल सागर और हिन्द महासागर से होकर जाता है। इसी लिये ब्रिटेन ने जिबराल्टर और माल्टा को अपने अधीन किया, वहाँ अपने नाविक अड्डे बनाये, स्वेज नहर कम्पनी के हिस्से खरीद कर उस पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया, ईजिप्ट के शासन पर अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व को कायम किया, अदन और उसके समीपवर्ती प्रदेश को अपने अधीन किया, अदन की किलाबन्दी की, सिंगापुर को अपना सुदृढ़ नाविक दुर्ग बनाया और प्रशान्त महासागर में अपने हितों की रक्षा के प्रयोजन से हाँगकाँग को अपनी नाविक शक्ति का केन्द्र बनाया। ब्रिटेन का सदा यह प्रयत्न रहा कि कोई अन्य देश इस जलमार्ग के क्षेत्र में अपनी शक्ति को न बढ़ा सके।

इसीलिये उन्नीसवीं सदी में उसने तुर्की के रुग्ण राज्य को मरने से बचाने के लिये भरसक कोशिश की, और बाल्कन प्रायद्वीप पर रूस का प्रभाव स्थापित नहीं होने दिया। प्रथम महायुद्ध से पूर्व जर्मनी ने आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की के साथ घनिष्ठ मैत्री कर प्राच्य देशों तक पहुँचने के लिये जब एक नये मार्ग का निर्माण करने का प्रयत्न किया (यह मार्ग जर्मनी से आस्ट्रिया-हंगरी होते हुए तुर्की पहुँचता था और वहाँ से तुर्क साम्राज्य के अन्दर-अन्दर होकर ईरान की खाड़ी में स्थित बसरा के बन्दरगाह तक), तो ब्रिटेन बहुत चिन्तित हो गया, और उसने जर्मनी तथा उसके साथी राज्यों को अपने प्रयत्न में सफल नहीं होने दिया। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन ने यूरोप के जिन युद्धों में भाग लिया, उनमें उसका एक मुख्य लक्ष्य अपने इस जलमार्ग की रक्षा करना ही था। नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रान्स ने तुर्की और ईजिप्ट पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, पर ब्रिटेन ने उसे सफल नहीं होने दिया। बाद में जब रूस ने तुर्की के विरुद्ध बाल्कन राज्यों की सहायता की, तो क्रीमियन युद्ध द्वारा ब्रिटेन ने रूस की योजना के क्रियान्वित होने में बाधाएँ प्रस्तुत कीं।

(२) यूरोप में शक्ति सन्तुलन को कायम रखना—अपनी सुरक्षा और अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये ब्रिटेन यह भी आवश्यक समझता था, कि यूरोप में कोई एक राज्य या राज्यों का कोई एक गुट इतना अधिक शक्तिशाली न हो जाए कि वह उसके व उसके साम्राज्य के लिये खतरे का कारण हो सके। उन्नीसवीं सदी में जब नेपोलियन द्वारा फ्रान्स को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया गया, तो उसकी शक्ति को सन्तुलित करने के लिये ब्रिटेन ने जर्मनी, स्पेन, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस आदि राज्यों के साथ मिल कर एक गुट का निर्माण किया। इसी प्रकार बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब कैसर विलियम द्वितीय की अधीनता में जर्मनी की शक्ति बहुत बढ़ गई, तो ब्रिटेन ने फ्रान्सके साथ अपनी पुरानी शत्रुता को भुला कर उसके साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम किया, और अनेक अन्य राज्यों के साथ मिल कर जर्मनी की शक्ति से सन्तुलन स्थापित किया। इसी नीति का प्रयोग ब्रिटेन ने प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद के काल में भी किया। हिटलर द्वारा जब जर्मनी की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया और इटली भी उसके साथ सम्मिलित हो गया, तो ब्रिटेन यूरोप के उस गुट में शामिल हो गया जिसका निर्माण नाजी और फासिस्ट शक्तियों का प्रतिरोध करने के लिये किया गया था।

(३) इङ्गलिश चेनल की सुरक्षा—ब्रिटेन एक द्वीप है जो चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है। इंगलिश-चेनल उसे यूरोप से पृथक् करती है। इस चेनल के पूर्व में किस राज्य की सत्ता हो, यह बात ब्रिटेन के लिए बड़े महत्त्व की है। यूरोप में इङ्गलिश चेनल के साथ लगा हुआ राज्य फ्रान्स है, साम्राज्यवाद के क्षेत्र में जिसकी चिरकाल तक ब्रिटेन के साथ प्रतिद्वन्द्विता रही है। उसके उत्तर में बेल्जियम और हालैण्ड की स्थिति है, जो छोटे-छोटे राज्य हैं। ब्रिटेन की यह नीति रही है, कि ये दोनों राज्य

अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखें, ताकि इङ्गलिश-चैनल पर कोई एक बड़ा शक्तिशाली राज्य उसका पड़ोसी न हो जाए। इसी कारण उसने बेल्जियम के साथ तटस्थता का सन्धि की थी, और उसकी स्वतन्त्रता की गारन्टी भी प्रदान की थी।

१९१४-१८ के महायुद्ध के समय तक यही तीन तत्त्व ब्रिटेन की विदेश-नीति के आधार रहे। जर्मनी के सम्राट् विलियम द्वितीय ने जब अपने देश के राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो उसके लिये विश्व में कोई भी ऐसा क्षेत्र शेष नहीं रह गया था जहाँ वह अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकता। एशिया के विशाल महाद्वीप में ब्रिटेन, फ्रान्स, हालैण्ड और रूस अपने-अपने सुविस्तृत साम्राज्यों का निर्माण कर चुके थे। अफ्रीका का महाद्वीप ब्रिटेन, फ्रान्स, बेल्जियम, पोर्तुगाल, स्पेन और इटली में विभक्त हो चुका था। अफ्रीका का थोड़ा-सा भूखण्ड ही जर्मनी के हाथों में आया था। उसके अतिरिक्त प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप भी उसके अधीन थे, और चीन में भी उसका एक प्रभाव-क्षेत्र विद्यमान था। पर जर्मनी की महत्त्वाकांक्षाएँ इनसे पूर्ण नहीं हो सकती थीं। इसी लिये विलियम द्वितीय ने जब साम्राज्य निर्माण की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो उससे सबसे अधिक नुकसान ब्रिटेन को ही पहुँचता था। साथ ही, जर्मनी के अत्यधिक शक्तिशाली हो जाने से यूरोप का शक्ति-सन्तुलन भी कायम नहीं रह सकता था। इस दशा में ब्रिटेन ने फ्रान्स, इटली आदि अन्य साम्राज्यवादी देशों का साथ दिया, और इसी कारण प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ।

परिवर्तित परिस्थितियाँ—पर महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद संसार में ब्रिटेन की वह अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति नहीं रह गई, जो बीसवीं सदी के प्रारम्भ में थी। इसके निम्नलिखित कारण थे—(१) महायुद्ध के समय अमेरिका और जापान को औद्योगिक उन्नति का अपूर्व अवसर प्राप्त हो गया था। युद्ध में मित्र-पक्ष में सम्मिलित होते हुए भी ये देश रणक्षेत्रों से बहुत दूर थे, और इनके अपने प्रदेशों में लड़ाई नहीं लड़ी गई थी। भारत, बरमा, मलाया आदि एशियन देशों में ब्रिटिश माल के जो बाजार थे, उन पर जापान ने कब्जा कर लिया था, और मित्र-पक्ष को युद्ध-सामग्री मुहय्या करने के कारण अमेरिका के कल-कारखानों को बहुत काम प्राप्त हो गया था। उद्योग और व्यापार के क्षेत्रों में ये राज्य अब ब्रिटेन के प्रतिद्वन्द्वी बन गये थे। (२) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत जो औपनिवेशिक राज्य व अधीनस्थ प्रदेश थे, उनमें स्वातन्त्र्य आन्दोलनों ने बहुत जोर पकड़ लिया था। कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेश ब्रिटेन की समकक्षता का दावा करने लगे थे, और भारत, बरमा आदि अधीनस्थ देश राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष में तत्पर हो गये थे। राष्ट्रसंघ में भी इन्हें पृथक् रूप से सदस्यता प्रदान कर दी गई थी, और ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं रह गया था कि वह इन्हें पूर्णतया अपना वशवर्ती बना कर रख सके। (३) कम्युनिज्म की जिस लहर का रूस से प्रारम्भ हुआ था, वह संसार के बहुसंख्यक राज्यों को प्रभावित करने लगी थी। सर्वत्र वामपक्षी समाजवादी पार्टियाँ संगठित हो गई थीं, और कम्युनिज्म के रूप में एक ऐसी नई शक्ति

का प्रादुर्भाव हो गया था, जिसकी उपेक्षा कर सकना किसी भी राज्य के लिये सम्भव नहीं था। ब्रिटेन में भी मजदूर पार्टी संगठित थी, और इसका झुकाव रूस के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की ओर था। (४) हवाई जहाज के आविष्कार के कारण सामुद्रिक जलमार्गों का अब पहले जैसा महत्त्व नहीं रह गया था।

ब्रिटेन की विदेशी राजनीति में नया मोड़—यही कारण थे, जिन्होंने ब्रिटेन को अन्य देशों के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए विवश किया। अब वह अपने व्यापार के लिए केवल उपनिवेशों और अपने साम्राज्य के अन्तर्गत देशों पर ही निर्भर नहीं रह सकता था। औपनिवेशिक राज्य क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गये थे, और भारत आदि अधीनस्थ देश भी अपनी औद्योगिक उन्नति में तत्पर थे। इस दशा में ब्रिटेन के लिए यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वह अपने तैयार माल को इन देशों में स्वेच्छापूर्वक बेच सके और उनसे कच्चा माल सस्ती कीमत पर खरीद सके। अब उसके लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह यूरोप, अमेरिका आदि के स्वतन्त्र राज्यों के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाने का प्रयत्न करे। पर यह तभी सम्भव था, जब कि विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित रहे। युद्ध की दशा में ब्रिटेन के लिए यूरोप के विविध राज्यों में अपने व्यापार को बढ़ा सकना सम्भव नहीं हो सकता था। इसी लिए उसने उस नीति को अपनाया, जिसे तुष्टीकरण की नीति (Policy of Appeasement) कहा जाता है। नये युद्धों को तभी रोका जा सकता था, जब कि असंतुष्ट देशों की आकांक्षाओं की पूर्ति की जाए और इस प्रकार उन्हें संतुष्ट रखा जाए।

(२) तुष्टीकरण की नीति

महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा जो व्यवस्थाएँ की गई थीं, उनसे प्रधानतया तीन राज्य संतुष्ट नहीं थे। ये राज्य जर्मनी, जापान और इटली थे। जर्मनी इस कारण असंतुष्ट था, क्योंकि वर्साय की सन्धि द्वारा उसका अंग-भंग कर दिया गया था, जर्मन लोगों द्वारा आबाद अनेक प्रदेश उससे पृथक् कर पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों को दे दिये गये थे, उसके सब उपनिवेश व अधीनस्थ प्रदेश उससे छीन लिये गये थे, और हरजाने की एक भारी रकम उस पर लाद दी गई थी। जापान के असंतोष का कारण यह था कि चीन और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उसे वे सब प्रदेश प्राप्त नहीं हुए थे, जिन पर कि वह अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। इटली के असंतोष का कारण भी यही था। जर्मनी और तुर्की की अधीनता से मुक्त किये गये प्रायः सभी प्रदेशों को फ्रांस, ब्रिटेन और बेल्जियम ने आपस में बाँट लिया था, और इटली की साम्राज्य-विषयक इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी थी। ब्रिटेन समझता था, कि इन राज्यों को संतुष्ट रखने में ही उसका हित है। इनके असंतुष्ट रहने पर विश्व में फिर युद्ध का सूत्रपात हो सकता है, और उसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन के व्यापार को भारी धक्का लगेगा। तुष्टीकरण की नीति को अपनाने के कतिपय अन्य कारण भी थे—

(१) कम्युनिज्म का आतंक—रूस में जो बोल्शेविक क्रान्ति हुई थी, उससे ब्रिटेन के उद्योगपतियों और पूँजीपतियों का आतंकित होना स्वाभाविक था। इसी कारण ब्रिटेन की कन्जर्वेटिव पार्टी रूस को अपना प्रधान शत्रु समझने लगी। मजदूर पार्टी यद्यपि समाजवाद में विश्वास रखती थी, पर बोल्शेविकों की नीति का समर्थन कर सकना उसके लिए भी सम्भव नहीं था। इसी लिए कोई भी देश रूस के विरोध के नाम पर ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त कर सकता था। जर्मनी, जापान और इटली ने ब्रिटेन के इस रुख से पूरा-पूरा लाभ उठाया। जब जापान ने मञ्चूरिया पर आक्रमण किया, तो उसका यही कहना था कि वह चीन में कम्युनिस्टों के बढ़ते हुए प्रभाव से इस प्रदेश की रक्षा करने में तत्पर है। यह सही है, कि मंचूरिया की रेलवे आदि में रूस की पूँजी लगी हुई थी, और वहाँ बहुत-से रूसी इन्जीनियर आदि भी विद्यमान थे। साथ ही, चीन में कम्युनिस्ट पार्टी का जोर भी निरन्तर बढ़ता जा रहा था। अतः जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण को कम्युनिज्म का प्रतिरोध करने के लिए किया गया कहा, तो ब्रिटेन ने उसका विरोध नहीं किया। ब्रिटेन समझता था, कि शक्तिशाली जर्मनी को रूस की बढ़ती हुई शक्ति और कम्युनिज्म के प्रतिरोध के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति जो व्यवहार किया गया था, उसका उद्देश्य इस राज्य को अत्यन्त निर्बल बना देना था। फ्रांस इसी में अपना हित समझता था, और अपनी सुरक्षा के लिए जर्मनी को पुनः सशक्त बनने देने का विरोधी था। पर ब्रिटेन की नीति यह नहीं थी। उसका विचार था, कि शक्तिशाली जर्मनी बढ़ते हुए कम्युनिज्म से यूरोप की रक्षा के लिए सुदृढ़ दीवार का काम कर सकेगा। इसी कारण ब्रिटेन का जर्मनी से वसूल किये जानेवाले हरजाने के प्रश्न फ्रांस से पर मतभेद हुआ (१९२२), और १९२३ में जब फ्रांस ने जर्मनी के रूह्र प्रदेश में सेनाएँ भेजने का निश्चय किया, तो ब्रिटेन ने उसका विरोध किया। जर्मनी को रुष्ट न होने देने की ब्रिटिश नीति का यह परिणाम हुआ कि ब्रिटेन और फ्रांस के सम्बन्धों में कटुता आ गई। फ्रांस चाहता था, कि ब्रिटेन के साथ उसका जो सुमधुर सम्बन्ध (Entente Cordiale) था, उसे और अधिक सुदृढ़ किया जाए। पर ब्रिटेन केवल इतने के लिए ही तैयार था, कि यदि फ्रांस पर कोई राज्य सीधा हमला करे, तो वह फ्रांस की सहायता करे। फ्रांस के प्रति ब्रिटेन के इस रुख का कारण जर्मनी के प्रति उसकी तुष्टीकरण की नीति ही थी। १९३३ में जब हिटलर ने शक्ति प्राप्त कर वर्साय्य की सन्धि द्वारा की गई व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न करना प्रारम्भ किया, तो भी ब्रिटेन ने उसका विरोध नहीं किया। हिटलर कहता था, कि वह कम्युनिज्म से यूरोप की रक्षा करना चाहता है। ब्रिटेन को उसकी यह बात समझ में आती थी। इसी लिए ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के समक्ष भाषण देते हुए लायड जार्ज ने कहा था (२८ नवम्बर, १९३४), कि "वह समय दूर नहीं है जब कि एक या दो साल में ही देश के कन्जर्वेटिव तत्त्व जर्मनी को यूरोप में कम्युनिज्म से रक्षा की दीवार समझने लगेंगे। जर्मनी यूरोप के मध्य में है, और यदि उस द्वारा कम्युनिज्म के विरुद्ध

स्थापित रक्षा-दीवार भंग हो जाती है, तो सम्पूर्ण यूरोप में कम्युनिज्म के फैल जाने की आशंका है।" ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों की यही मनोवृत्ति थी, जिसके कारण हिटलर वर्साय्य की सन्धि की शर्तों का मनमाने ढंग से भंग करने में समर्थ हुआ। हिटलर अपने भाषणों में जहाँ जर्मनी के प्रति किये गये अन्याय पर जोर देकर जर्मन लोगों में राष्ट्रीय भावना को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता था, वहाँ साथ ही कम्युनिज्म पर भी उग्र रूप से आक्षेप करता था। ब्रिटेन ने जो नाजी पार्टी के विरोध में फ्रांस का साथ नहीं दिया, उसका कारण रूस का आतंक ही था।

(२) शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त—ब्रिटेन की विदेशनीति का एक प्रधान तत्त्व यूरोप में शक्ति-संतुलन कायम रखना था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इसी सिद्धान्त को अब उसने विश्व की राजनीति में प्रयुक्त किया। वह समझता था कि यदि जर्मनी और जापान भी शक्तिशाली हो जाएँ, तो संसार में शक्ति-संतुलन स्थापित हो सकता है। यूरोप और एशिया में रूस की बोल्शेविक शक्ति को संतुलित करने के लिये जर्मनी और जापान का भी शक्तिशाली हो जाना उपयोगी सिद्ध होगा। ब्रिटेन को न कम्युनिज्म पसन्द था, और न फासीज्म व नाजीज्म। तीनों से उसका विरोध था, और वह तीनों का ही विनाश अपने लिये हितकर समझता था। हिटलर द्वारा जिस उग्रता से कम्युनिज्म का विरोध किया जा रहा था, उससे उसे यह आशा होती थी कि रूस और जर्मनी में युद्ध अवश्यम्भावी है। यदि युद्ध में रूस परास्त हो गया, तो कम्युनिज्म का संकट दूर हो जायगा, और यदि जर्मनी की पराजय हुई तो नाजीज्म का अन्त हो जायगा। इसी लिये उसने जर्मनी को संतुष्ट करने की नीति अपनाई। जब जर्मनी ने वर्साय्य की सन्धि की उपेक्षा कर अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाना शुरू किया और र्‌हाइनलैण्ड पर भी कब्जा कर लिया, तो ब्रिटेन ने फ्रांस का साथ देने की आवश्यकता नहीं समझी, और जर्मनी को शक्तिशाली बनने दिया। इतना ही नहीं, उसने जर्मनी का तब भी विरोध नहीं किया, जब कि उसने आस्ट्रिया को हड़प कर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण कर लिया और चेकोस्लोवाकिया का भी अंग भंग कर दिया। इसी प्रकार जापान द्वारा मञ्चूरिया और इटली द्वारा अबीसीनिया को जीत लेने पर भी ब्रिटेन ने इन राज्यों का विरोध नहीं किया। इन्हें संतुष्ट रखने में ही उसने अपना हित समझा, क्योंकि रूस का कम्युनिज्म उसकी दृष्टि में अधिक भयप्रद था। उसका विचार था कि रूस की शक्ति को संतुलित करने के लिये इन राज्यों का तुष्टीकरण आवश्यक है। पर ब्रिटेन की यह नीति सफल नहीं हुई, क्योंकि बर्लिन-रोम-टोक्यो एक्सिस द्वारा इन राज्यों ने अपना एक ऐसा शक्तिशाली गुट बना लिया, जिसे संतुलित करने के लिये यूरोप में कोई समकक्ष गुट नहीं बन सका। फ्रांस जर्मनी और इटली की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित था, और इसी लिये उसने मध्य यूरोप के अनेक राज्यों के साथ सन्धियाँ की थीं। इसी कारण उसने रूस के साथ भी मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया था (१९३२)। पर ब्रिटेन प्रायः इन सन्धियों से पृथक् रहा, और उसने मध्य यूरोप के राज्यों को यह वचन नहीं

दिया, कि जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने की दशा में वह भी उनकी सहायता करेगा। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व की घटनाओं में तुष्टीकरण की इस नीति के दुष्परिणाम ब्रिटेन के सम्मुख आ गये, और उसे भी महायुद्ध में फ्रांस का साथ देना पड़ा।

जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति का प्रयोग—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तीन राज्य—जर्मनी, इटली और जापान-विशेष रूप से अपनी शक्ति की वृद्धि में तत्पर थे। ब्रिटेन ने इन तीनों के ही प्रति तुष्टीकरण की नीति को प्रयुक्त किया। इसीलिए विदेशी राजनीति में फ्रांस के साथ उसका विरोध रहा। फ्रांस चाहता था, कि जर्मनी को पुनः सशक्त न होने दिया जाए। पर ब्रिटेन का विचार था कि वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति जो अन्याय किये गये हैं, उनका प्रतिशोध किया जाना चाहिये। इसीलिये उसने जर्मनी द्वारा दी जानेवाली हरजाने की मात्रा में कमी करने का, जर्मनी को अपनी सैन्य शक्ति में वृद्धि करने का और जर्मनी की सीमाओं को पुनः निर्धारित करने का समर्थन किया, और वह जर्मनी के पड़ोसी राज्यों की राष्ट्रीय सीमाओं की गारन्टी देने को उद्यत नहीं हुआ। इन सब मामलों में फ्रांस और ब्रिटेन की नीति में मौलिक भेद था। यदि ब्रिटेन फ्रांस का साथ देता, तो सम्भवतः जर्मनी को अपनी शक्ति में अत्यधिक वृद्धि कर सकने का अवसर प्राप्त न होता। १९३३ तक फ्रांस की नीति सफल होती रही और जर्मनी अपना सिर नहीं उठा सका, यद्यपि तब भी ब्रिटेन का झुकाव जर्मनी को सहूलियतें देने की ओर था। १९३३ में जब जर्मनी की सरकार नाजी पार्टी के हाथों में चली गई तो फ्रांस और भी अधिक उद्विग्न हुआ, क्योंकि हिटलर विशाल जर्मन राष्ट्र के आदर्श का डंके की चोट के साथ प्रतिपादन करने में तत्पर था। पर ब्रिटेन की आँखें अब भी नहीं खुलीं, और तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण करते रहना ही उसने उचित समझा। इसीलिये उसने जर्मनी को अपनी नाविक शक्ति को बढ़ा सकने का अवसर दिया, और १८ जून, १९३५ को एंग्लो-जर्मन पैक्ट कर उसने न केवल पन्डुब्बियाँ बनाने की जर्मनी को अनुमति दे दी, अपितु साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि जर्मनी अपनी सामुद्रिक शक्ति में वृद्धि कर सकता है, बशर्ते कि उसके जहाजों का कुल वजन ब्रिटेन के मुकाबले में ३५ प्रतिशत से अधिक न होने पाए। १९३६ में जब जर्मन सेनाओं ने र्हाइनलैण्ड में प्रवेश किया, तो फ्रांस ने तो इसके विरुद्ध आवाज उठाई, पर ब्रिटिश सरकार ने हिटलर के इस कार्य को न्याय्य तथा समुचित माना। १९३८ में जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने साथ मिला लिया, और इस प्रकार एक विशाल जर्मन राष्ट्र की हिटलर की कल्पना साकार हो गई। कुछ समय पश्चात् चेकोस्लोवाकिया का भी अंग भंग किया गया, और यह राज्य भी जर्मनी के प्रभुत्त्व व प्रभाव में आ गया। ब्रिटेन ने जर्मनी के इन कार्यों का कोई विरोध नहीं किया। आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण और चेकोस्लोवाकिया के अंग-भंग से हिटलर को परम सन्तोष हुआ। वह कहता था, अब विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण हो गया है। विविध राज्यों में बसे हुए सब जर्मन लोग अब एक सूत्र में संगठित हो गये हैं, और वर्साय्य की सन्धि द्वारा

जर्मनी के प्रति जो अन्याय किया गया था, उसका प्रतिशोध हो गया है। अब जर्मनी को यूरोप में किसी अन्य प्रदेश को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं है। अपने एक भाषण में हिटलर ने कहा था—"मैंने चेम्बरलेन को यह भरोसा दिया है और इसे मैं फिर से दोहराता हूँ कि ज्यों ही यह (चेकोस्लोवाकिया की) समस्या हल हो जायगी, जर्मनी के सम्मुख यूरोप में किसी अन्य देश की समस्या शेष नहीं रहेगी। इसके बाद चेक लोगों के राज्य में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं रहेगी, इस बात की मैं गारण्टी देता हूँ। चेक लोगों से मेरा अब कोई विरोध नहीं रहेगा।" पर हिटलर की महत्त्वाकांक्षाओं की अभी पूर्ति नहीं हुई थी। कुछ ही समय बाद जर्मनी ने पोलैण्ड पर भी आक्रमण कर दिया, जिसके कारण द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ, और कुछ काल के लिए हिटलर यूरोप के बड़े भाग को अपने आधिपत्य में ले आने में समर्थ हो गया। पोलैण्ड पर जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने पर ब्रिटेन के लिए भी नाजी सरकार का समर्थन कर सकना सम्भव नहीं रहा, और उसे भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में फ्रांस का साथ देना पड़ा। यदि ग्रेट ब्रिटेन तुष्टीकरण की नीति को न अपनाकर शुरू से ही फ्रांस का साथ देता, तो शायद हिटलर की शक्ति बहुत न बढ़ पाती।

जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति का प्रयोग—१८ सितम्बर, १९३१ को जापान ने मन्चूरिया पर आक्रमण कर उसकी राजधानी मुकदन पर कब्जा कर लिया था। चीन उसका मुकाबला नहीं कर सका, और शीघ्र ही सम्पूर्ण मन्चूरिया पर जापान का आधिपत्य स्थापित हो गया। चीन ने इस आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से अपील की। संघ द्वारा लार्ड लिटन की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की गई और उसे यह कार्य सौंपा गया, कि वह सारे मामले की जाँच कर अपनी रिपोर्ट पेश करे। कमीशन की रिपोर्ट यह थी, कि जापान ने बिना किसी उपयुक्त कारण के मंचूरिया पर हमला किया है। इस समय राष्ट्रसंघ के लिए उचित यह था, कि वह जापान के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार की नीति का प्रयोग करता। यह नीति सफल भी हो सकती थी, क्योंकि रूस अपनी सीमा पर स्थित उत्तरी चीन के अन्यतम प्रदेश पर जापान के अधिकार से चिन्तित था, और अमेरिका प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान की बढ़ती हुई शक्ति को आशंका की दृष्टि से देखता था। पर ब्रिटेन पूर्वी एशिया में जापान के साथ झगड़ा मोल लेने के विरुद्ध था। कठिनाई यह थी, कि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था, और रूस भी इस समय तक संघ का सदस्य नहीं बना था। इस दशा में जापान के विरुद्ध जो भी कार्रवाई करने का निश्चय किया जाता, उसका सब भार अकेले ग्रेट ब्रिटेन पर पड़ जाता। ब्रिटेन ने जापान के विरुद्ध कार्रवाई करने का जो विरोध किया, उसमें यह एक मुख्य कारण था। साथ ही, ब्रिटेन का यह भी विचार था, कि यदि जापान को मन्चूरिया में अपना आधिपत्य स्थापित करने में रोका जायगा, तो उस पर रूस के कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ जायगा। चीन इस स्थिति में नहीं था, कि वह जापान या रूस का प्रतिरोध कर सके। उसे अपने आन्तरिक झगड़ों से ही

फ़ुरसत नहीं थी। मन्चूरिया पर यदि जापान का प्रभुत्व स्थापित न होता, तो रूस वहाँ अपने प्रभाव में वृद्धि कर लेता। रूस के कम्युनिस्टों के मुकाबले में जापान का प्रभुत्व ब्रिटेन की दृष्टि से अधिक वाञ्छनीय था। अतः उसने जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति का प्रयोग किया, और राष्ट्रसंघ द्वारा कोई ऐसी कार्रवाई नहीं की जाने दी, जिससे जापान का प्रतिरोध किया जा सकता। जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति को बरतने में कतिपय अन्य कारण भी थे। राष्ट्रीयता की भावना इस समय चीन में जोर पकड़ रही थी, और वहाँ की कुओमिन्तांग सरकार इस प्रयत्न में लगी थी कि उसके विविध प्रदेशों में विदेशी राज्यों ने जो विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए हैं, उनका अन्त कर दिया जाये। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ सोचते थे, कि यदि चीन जापान से उलझा रहे, तो वह इन विशेषाधिकारों का अन्त करने की बात पर ध्यान नहीं दे सकेगा। ब्रिटेन का यह भी विचार था, कि जापान साम्राज्य-विस्तार के लिए कटिबद्ध है। यदि चीन में उसका प्रतिरोध किया गया, तो उसका ध्यान दक्षिण-पूर्वी एशिया की ओर चला जायगा, और वह उन प्रदेशों को अधिगत करने का प्रयत्न करेगा जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति का ही यह परिणाम हुआ, कि जापान चीन में निरन्तर आगे बढ़ता गया, और शीघ्र ही चीन और जापान में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया।

इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति—जर्मनी और जापान के समान इटली के प्रति भी ब्रिटेन ने तुष्टीकरण की नीति को प्रयुक्त किया। इटली पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं से असन्तुष्ट था, और साम्राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक था। अफ्रीका उसे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का उपयुक्त क्षेत्र प्रतीत होता था। इसी कारण उसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, जो अफ्रीका में एक स्वतन्त्र राज्य था। इटली ने उस पर आक्रमण कर दिया, और मई, १९३६ तक सम्पूर्ण अबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इटली और अबीसीनिया दोनों राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की, और इस मामले को संघ की कौंसिल के सुपुर्द कर दिया गया। बहुत वाद-विवाद के अनन्तर कौंसिल ने यह निर्णय किया, कि कोई राज्य इटली को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध सामग्री न दे, इटली का आर्थिक बहिष्कार किया जाए, और उसे कोई कर्ज न दिया जाए। पर अबीसीनिया जैसे निर्बल राज्य की विजय करने के लिए इटली को अन्य देशों से न युद्ध सामग्री प्राप्त करने की आवश्यकता थी, और न कर्ज लेने की। अपने आर्थिक बहिष्कार की भी वह उपेक्षा कर सकता था। यदि इस अवसर पर राष्ट्रसंघ इटली के विरुद्ध शस्त्र-शक्ति के प्रयोग का आदेश अपने सदस्य-राज्यों को दे सकता, तो इटली को अवश्य काबू में रखा जा सकता था। पर इसके लिए वह उद्यत नहीं हुआ, क्योंकि ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही इसके विरुद्ध थे। ब्रिटेन के समान फ्रांस भी इस मामले में इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति का पक्षपाती था।

इसका प्रधान कारण यह था, कि हिटलर की नीति आस्ट्रिया और जर्मनी को मिला कर एक शक्तिशाली जर्मन राज्य बनाने की थी, और वह इसके लिए प्रयत्न शुरू कर चुका था। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों आस्ट्रिया को जर्मनी से पृथक् रखने के पक्ष में थे, और इस मामले में वे इटली को भी अपने साथ रखना चाहते थे। इसी लिए उन्होंने गुप्त रूप से मुसोलिनी के साथ एक समझौता कर लिया था, जिसके अनुसार उन्होंने अबीसीनिया में मनमानी करने की इटली को खुली छुट्टी दे दी थी। फ्रांस के परराष्ट्र मंत्री इस समय लवाल थे। जनवरी, १९३५ में ही उन्होंने रोम जाकर मुसोलिनी को यह भरोसा करा दिया था, कि इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण करने की दशा में फ्रांस उसका विरोध नहीं करेगा। लवाल की इस नीति से ब्रिटेन के परराष्ट्र मन्त्री सर सेमुअल होर भी सहमत थे। इसी लिए फ्रांस और ब्रिटेन ने गुप्त रूप से इटली से यह समझौता कर लिया था, कि यदि राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने का निश्चय किया, तो वे इस बात पर जोर देंगे कि इटली के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार की नीति को चाहे अपनाया जाए, पर संघ द्वारा उसके खिलाफ कोई सैनिक कार्रवाई न की जाये। न उसका नाविक प्रतिरोध (Naval Blockade) किया जाए, और न उसके जहाजों के लिए स्वेज नहर को बन्द किया जाए। इसी कारण जब अबीसीनिया का मामला राष्ट्रसंघ की कौंसिल के समक्ष उपस्थित हुआ, तो उसने इटली के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार की नीति को प्रयुक्त करने का निश्चय तो किया, पर सैनिक कार्रवाई करने की बात उसने स्वीकार नहीं की। यह बात ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति के अनुरूप थी। आर्थिक बहिष्कार से इटली को कोई नुकसान नहीं पहुँचता था, पर उस द्वारा ब्रिटिश सरकार को अपने देश के लोकमत को सन्तुष्ट रखने का अवसर प्राप्त हो गया था। यदि इटली के विरुद्ध इस समय कोई भी कार्रवाई न की जाती तो ब्रिटेन का लोकमत कन्जर्वेटिव सरकार के विरुद्ध हो जाता। सर सेमुअल होर की नीति के कारण ब्रिटिश लोकमत भी सन्तुष्ट रहा, और अबीसीनिया की विजय में इटली को कोई कठिनाई भी नहीं हुई।

(३) तुष्टीकरण की पराकाष्ठा—म्यूनिच का समझौता

हिटलर के नेतृत्व में नाजी पार्टी जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये कटिबद्ध थी। एप्रिल, १९३८ में आस्ट्रिया और जर्मनी का एकीकरण या सम्मिलन (Anschluss) सम्पन्न किया जा चुका था, जिसके कारण एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण हो गया था। पर हिटलर इतने से ही संतुष्ट नहीं था। चेकोस्लोवाकिया के सुडटनलैण्ड प्रदेश में ५० प्रतिशत के लगभग जर्मनों का निवास था। जब जर्मनी में नाजी पार्टी ने जोर पकड़ा, तो इस बातका असर चेकोस्लोवाकिया के जर्मनों पर भी पड़ा। उन में यह आकांक्षा प्रबल होने लगी, कि हमें भी विशाल जर्मन राष्ट्र का अंग बन कर रहना चाहिए। अतः सुडटनलैण्ड में भी नाजी पार्टी का संगठन किया गया।

इसका जर्मनी की नाजी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। सुडटन जर्मनों के आन्दोलन का चेकोस्लोवाकिया की सरकार पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये १९३७ में चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने यह घोषणा की, कि (१) सरकारी नौकरियों में जर्मनों को उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार स्थान दिया जायगा, (२) जर्मन भाषा को चेकोस्लोवाकिया की अन्यतम भाषा स्वीकृत किया जायगा, (३) सुडटनलैण्ड की शिक्षा तथा संस्कृति-सम्बन्धी संस्थाओं को सरकारी सहायता दी जायगी, और (४) इस प्रदेश में सार्वजनिक हित के कार्यों पर भरपूर खर्च किया जायगा। पर इस घोषणा से जर्मन लोगों को संतोष नहीं हुआ। उनकी मांग यह थी, कि सुडटनलैण्ड को चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत एक स्वायत्त राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए।

जब आस्ट्रिया और जर्मनी का एकीकरण हो गया, तो सुडटनलैण्ड के नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गयी। १२ सितम्बर, १९३८ को हिटलर ने अपने एक भाषण में कहा था—"जैसे सब जातियों और राष्ट्रों को स्वभाग्य निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार अपने विषय में स्वयं फैसला करने का अधिकार होता है, वैसे ही सुडटनलैण्ड को भी होना चाहिए। यदि सुडटन लोग अपनी शक्ति से यह अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते, तो हम उनकी सहायता के लिये उद्यत हैं।" दो दिन बाद १४ सितम्बर को सुडटन नाजियों के नेता हेनलाइन ने घोषणा की, कि प्रत्येक सुडटन का कर्तव्य है कि वह जर्मन सरकार को अपनी न्याय्य सरकार समझे और चेकोस्लोवाकिया के प्रति भक्ति न रखे। इस पर चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने सुडटन नाजियों के प्रति कठोर नीति का प्रयोग किया, जिसके कारण कुछ समय के लिये सुडटनलैण्ड की पृथक्ता व स्वतन्त्रता का आन्दोलन दब गया। पर जर्मनी की नाजी सरकार इसे सहन नहीं कर सकी। उसने चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध विषवमन प्रारम्भ कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा, कि हिटलर की सेनाएँ शीघ्र ही सुडटनलैण्ड में प्रवेश कर जायेंगी। फ्रांस और रूस की चेकोस्लोवाकिया के साथ सैनिक सन्धियां विद्यमान थीं, जिनके अनुसार विदेशी आक्रमण होने की दशा में ये राज्य चेकोस्लोवाकिया की सहायता का वचन दे चुके थे।

ब्रिटेन द्वारा तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण—इस दशा में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन ने यह उचित समझा, कि जर्मनी जाकर स्वयं हिटलर से बातचीत करे, और शान्तिमय उपायों से सुडटनलैण्ड के झगड़े का निर्णय करने का प्रयत्न करे। इस समय ब्रिटेन भी फ्रांस और रूस का साथ देकर चेकोस्लोवाकिया का पक्ष ले सकता था, और इस प्रकार जर्मनी को कोई उग्र पग उठाने से रोक सकता था। पर चेम्बरलेन ने तुष्टीकरण की नीति को अपनाया, और १५ सितम्बर, १९३८ के दिन जर्मनी के बरख्टेस-गाडन नामक स्थान पर हिटलर से भेंट की। बातचीत में हिटलर ने कहा—"जर्मनी केवल यह चाहता है, कि सुडटनलैण्ड के निवासियों को भी स्वभाग्य-निर्णय का अवसर

दिया जाये। यदि बहुमत से वे यह फैसला करें कि उन्हें जर्मनी के साथ मिलना है, तो सुडटनलैण्ड को जर्मनी के साथ मिला दिया जाए।" साथ ही, हिटलर ने यह भी स्पष्ट कर दिया, कि सुडटन लोगों की समुचित व न्याय्य राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये जर्मनी सब प्रकार से उनकी सहायता करने को उद्यत है। हिटलर के दृष्टिकोण को भलीभांति समझ कर चेम्बरलेन ने अपनी राय कायम कर ली। उसका विचार था, कि सुडटनलैण्ड का जर्मनी के साथ मिल जाना ही उचित है। इस प्रदेश में जर्मन लोगों की जो इतनी अधिक जनसंख्या (१९३० की जनगणना के अनुसार सुडटन जर्मनों की संख्या ३२,३१,६०० थी) है, वह चेकोस्लोवाकिया के लिये सदा निर्बलता का निमित्त बनी रहेगी। १८ सितम्बर, १९३८ को फ्रेञ्च सरकार के साथ भी इस प्रश्न पर विचार विमर्श किया गया। अगले दिन १९ सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने मिल कर एक योजना तैयार की, जिसके अनुसार यह निर्णय किया गया, कि (१) चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत जिन प्रदेशों में जर्मनों की आबादी ५० प्रतिशत से अधिक हो, उन्हें जर्मनी को दे दिया जाये, और (२) फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया तथा रूस और चेकोस्लोवाकिया में जो सैनिक सन्धियां विद्यमान है, उन्हें रद्द कर के एक नया अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया जाये जिस द्वारा सब राज्य यह गारण्टी दें कि चेकोस्लोवाकिया की नई सीमाएँ अनुल्लंघनीय समझी जायेंगी। ब्रिटेन इस गारण्टी में फ्रांस और रूस के साथ सम्मिलित होने को उद्यत था। यह योजना चेकोस्लोवाकिया की सरकार के सम्मुख पेश की गयी। रात के दो बजे उसके राष्ट्रपति डा० बेनस को सोते से जगाया गया, और सुबह होने से पहले ही मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलायी गयी। चेकोस्लोवाकिया के सम्मुख इस योजना को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था। जिन मित्रों की सहायता का वह भरोसा कर सकता था, वही उसे नई योजना को स्वीकार करने के लिये विवश कर रहे थे। उसने फ्रांस और ब्रिटेन की योजना को स्वीकार कर लिया, और चेम्बरलेन बड़ी आशा लेकर एक बार फिर हिटलर से मिलने के लिये जर्मनी गया। २२ सितम्बर को गोड्सबर्ग नामक स्थान पर उसने हिटलर से भेंट की। पर चेम्बरलेन की सब आशा धूल में मिल गयी। हिटलर फ्रांस और ब्रिटेन की योजना को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं हुआ। उसका कहना था, कि जिन प्रदेशों में जर्मन लोगों की आबादी ५० प्रतिशत से अधिक है, केवल उन्हीं को जर्मनो को दे देने से काम नहीं चलेगा। जिन प्रदेशों में जर्मन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं (चाहे उनकी संख्या ५० प्रतिशत से कम भी हो) वे सब जर्मनी को मिलने चाहिएँ। अतः उसने चेम्बरलेन के सम्मुख ये प्रस्ताव प्रस्तुत किये—(१) चेकोस्लावाकिया के इन सब प्रदेशों (जिन्हें हिटलर ने एक नक्शे द्वारा अंकित कर दिया था) को १ अक्टूबर, १९३८ तक जर्मनी के सुपुर्द कर दिया जाए। (२) इन प्रदेशों से चेक सेनाएँ हटा ली जाएँ, और इन प्रदेशों में चेकोस्लोवाकिया ने जो किलाबन्दी की हुई है, जो अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री वहाँ

विद्यमान है, जो कल-कारखाने, रेलवे, मशीनरी आदि वहाँ हैं, और जो खाद्य सामग्री तथा पशु आदि वहाँ हैं, वे सब जर्मनी के सुपुर्द कर दिये जाएं। (३) सब जर्मन कैदियों को रिहा कर दिया जाए। (४) चेकोस्लोवाकिया को नयी सीमाओं का निर्धारण करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति की जाए, जो लोकमत के आधार पर विवादग्रस्त प्रदेशों के सम्बन्ध में निर्णय करे।

चेम्बरलेन ने हिटलर के इन प्रस्तावों को चेकोस्लोवाकिया की सरकार के पास पहुँचा दिया। पर डा० बेनस और उसकी सरकार का कहना था, कि ये प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन की योजना से बहुत अधिक हैं। जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया की सीमा पर जो भारी किलाबन्दी चेक सरकार द्वारा की गई थी, उस पर अनन्त धनराशि व्यय हुई थी, और चेकोस्लोवाकिया की प्रायः सब युद्ध-सामग्री वहीं पर विद्यमान थी। उसके प्रायः सभी बड़े कल-कारखाने भी इन्हीं प्रदेशों में स्थित थे। स्कोडा का प्रसिद्ध कारखाना भी वहीं पर था। हिटलर के इन प्रस्तावों का अभिप्राय यह था, कि जर्मन सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में जहाँ तक चाहें अधिकार कर लें, और उन्हें आगे बढ़ने से रोकने के लिये चेक सरकार के पास कोई भी साधन शेष न रहे। डा० बेनस ने हिटलर के प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया, और चेक सेनाओं को युद्ध की तैयारी के लिये आदेश दे दिया गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब युद्ध अवश्यम्भावी है। चेम्बरलेन ने हिटलर को संतुष्ट करने का जो प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हो सका। रूस, फ्रांस और ब्रिटेन ने घोषणा की, कि वे चेकोस्लोवाकिया की रक्षा करने के लिये उद्यत हैं। पर इस बीच में जर्मन लोग भी चुप नहीं बैठे थे। नाजी सैनिकों की टोलियाँ सुडटनलैण्ड में घुसनी शुरू हो गयी थीं। इसी समय एक सभा में भाषण करते हुए हिटलर ने कहा था—"चेकोस्लोवाकिया एक धोखा है, झूठ है, इस सारे धोखे की जड़ बेनस है। हजारों जर्मन चेकोस्लोवाकिया की जेलों में पड़े सड़ रहे हैं। उन पर जुल्म किये जा हैं। बेनस झूठा है, दगाबाज है।" इस वातावरण में शान्ति का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता था।

पर चेम्बरलेन को अभी भी आशा थी। उसने होरेस विल्सन को एक व्यक्तिगत पत्र के साथ हिटलर के पास यह प्रार्थना लेकर भेजा, कि इस विवाद को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटा लिया जाए। उसने मुसोलिनी से भी सम्पर्क किया, और एक कान्फरेन्स की आयोजना की। २९ सितम्बर, १९३८ को चेम्बरलेन, मुसोलिनी, हिटलर और दलादिये (फ्रांस का प्रधानमन्त्री) म्यूनिच में एकत्र हुए, और उन्होंने साथ मिल कर चेकोस्लोवाकिया की समस्या पर विचार करना प्रारम्भ किया।

म्यूनिच का समझौता—२९ सितम्बर, १९३८ को म्यूनिच में जो विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ, उसमें चेकोस्लोवाकिया को सम्मिलित नहीं किया गया था। रूस को भी इसमें शामिल होने के लिए निमन्त्रण नहीं दिया गया था। मध्यरात्रि तक ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधि चेकोस्लोवाकिया के प्रश्न पर विचार करते

रहे। इस विचार के परिणामस्वरूप उन्होंने जो निर्णय किये, वे ही 'म्यूनिच समझौता' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये निर्णय प्रायः वही थे, जिन्हें गोड्सवर्ग में हिटलर ने प्रस्तावित किया था। इनके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) १० अक्टुबर, १९३८ तक जर्मन सेनाएँ सुडटनलैण्ड पर अपना अधिकार स्थापित कर लें। चेक सरकार वहाँ से कोई युद्ध सामग्री व मशीनरी आदि न हटा सके, पर खाद्य पदार्थों और पशुओं को वहाँ से ले जा सकने का उसे अधिकार हो। (२) सुडटनलैण्ड के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के जर्मनी को प्राप्त होने या न होने के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया, कि इन प्रदेशों के निवासियों का इस प्रश्न पर लोकमत लिया जाए और यह लोकमत किन प्रदेशों में लिया जाए, इसका निर्णय पांच सदस्यों के एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन द्वारा किया जाए। (३) चेकोस्लोवाकिया की जेलों में जो जर्मन बन्द हैं, उन्हें चार सप्ताह के समय में जेल से मुक्त कर दिया जाए। (४) चेकोस्लोवाकिया की सीमाओं का अन्तिम रूप से निर्धारण करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति की जाए। (५) जो प्रदेश जर्मनी को प्राप्त हों, उनके निवासियों को यह अधिकार प्रदान किया जाए कि वे छः मास के अन्दर-अन्दर यह निश्चय कर लें कि उन्हें जर्मनी के अन्तर्गत होकर रहना है या नहीं। यदि वे जर्मनी के अधीन न रहना चाहें, तो इस अवधि में अन्यत्र जा कर बस सकने की उन्हें स्वतन्त्रता हो। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया के प्रदेशों से जो लोग जर्मनी में सम्मिलित प्रदेशों में आकर बसना चाहें, वे भी इस अवधि में वहाँ आकर बस सकें।

जब सब बातों पर फैसला हो गया, तो चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया और ये निर्णय उन्हें सुना दिये गये। डा० बेनस की सरकार इस फैसले को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुई, पर इसका विरोध करने की शक्ति भी उसमें नहीं थी। अतः उसने त्यागपत्र दे दिया, और डा० हेचा के नेतृत्व में नई चेक सरकार का संगठन हुआ। विवश होकर इस सरकार ने म्यूनिच के समझौते को स्वीकार कर लिया। निःसन्देह, यह समझौता चेकोस्लोवाकिया के लिए मृत्युदण्ड के समान था। जर्मनी के परराष्ट्रमन्त्री रिबनट्राप ने म्यूनिच कान्फरेन्स के बाद चेम्बरलेन के सम्बन्ध में कहा था—'इस वृद्ध पुरुष ने अपनी मृत्यु के आज्ञा पत्र पर स्वयं हस्ताक्षर कर दिये हैं। अब केवल यह कार्य शेष है, कि उस पर मृत्युदण्ड की तारीख भी डाल दी जाए।' निःसन्देह, यह समझौता तुष्टीकरण की नीति की पराकाष्ठा का परिचायक था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के विविध राज्यों ने अपनी सुरक्षा की जो भी व्यवस्थाएँ की थीं, इस द्वारा उन सब का अन्त हो जाता था, और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता इससे भलीभाँति प्रगट हो जाती थी।

म्यूनिच समझौते के परिणामस्वरूप चेकोस्लोवाकिया एक छोटा-सा राज्य रह गया। इस समझौते के परिशिष्ट में ब्रिटेन और फ्रांस ने यह गारण्टी दी थी, कि यदि उत्तेजना के कारण के अभाव में किसी अन्य राज्य ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण

किया, तो वे उसकी सहायता करेंगे। जर्मनी और इटली इस गारण्टी में शामिल नहीं हुए थे। उनका कहना था, कि जब पोलैण्ड और हंगरी के ऐसे प्रदेशों के सम्बन्ध में भी निर्णय हो जायगा जहाँ पोल-भिन्न और हंगारियन-भिन्न लोगों का पर्याप्त संख्या में निवास है, तभी वे कोई गारण्टी दे सकेंगे। म्यूनिच समझौते के कारण ११,५०० वर्ग-मील के प्रदेश चेकोस्लोवाकिया से निकल कर जर्मनी को प्राप्त हो गये थे। ये प्रदेश औद्योगिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध थे।

म्यूनिच में हिटलर की सब मांगें स्वीकृत कर कर ली गई थीं। पर उसे इससे भी संतोष नहीं हुआ। जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के बीच की सीमाओं को निर्धारित करने के लिए जिस कमीशन की नियुक्ति की गई थी, वह अभी कार्य कर ही रहा था कि जर्मन सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और उन्होंने ऐसे प्रदेशों व नगरों पर भी कब्जा कर लिया जिनकी आबादी प्रधानतया चेक लोगों की थी। मार्च, १९३९ में केन्द्रीय चेकोस्लोवाकियन सरकार ने स्लोवाकिया के मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया (चेकोस्लोवाकिया के राज्य में तीन प्रदेश थे, चेकिया, स्लोवाकिया और कर्पाथो-युक्रेन)। इसका कारण यह था कि स्लोवाकिया का मन्त्रिमण्डल अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राज्य कायम करने का प्रयत्न कर रहा था। स्लोवाकिया के पदच्युत मन्त्रिमण्डल ने हिटलर से अपील की। हिटलर को और क्या चाहिये था? उसने तुरन्त स्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया। इस पर चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति हिटलर से मिलने के लिये जर्मनी गये। वहाँ उन्हें कहा गया, कि प्राग तथा अन्य नगरों में बसे हुए जर्मनी की जान व माल सुरक्षित नहीं है। अतः सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया का शासन जर्मन लोगों के नियन्त्रण में कर लिया जाना आवश्यक है। इस बीच में जर्मन सेनाओं ने प्राग की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया था। इस दशा में चेकोस्लोवाकिया ने हिटलर के सम्मुख घुटने टेक दिये, और सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिला पर जर्मनी का आधिपत्य स्थापित हो गया (१५ मार्च, १९३९)। चेकिया और स्लोवाकिया को पृथक् रूप से जर्मनी के संरक्षित राज्य बना दिया गया, और कर्पाथो-युक्रेन के प्रदेश पर हंगरी ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश में हंगारियन लोगों की अच्छी संख्या थी, और इस समय हंगरी जर्मनी के साथ सहयोग में तत्पर था। चेकिया और स्लोवाकिया की जर्मनी के अधीन वही स्थिति थी, जो जापान की अधीनता में मंचूकुओ राज्य की थी। म्यूनिच के समझौते के परिशिष्ट द्वारा फ्रांस और ब्रिटेन ने क्षीण चेकोस्लोवाकिया की सीमाओं की रक्षा करने की जो गारण्टी दी थी, वह किसी काम में नहीं आई और यह राज्य हिटलर की महत्त्वाकांक्षा का शिकार हो गया।

म्यूनिच समझौते का विवेचन—ग्रेट ब्रिटेन द्वारा जर्मनी, जापान और इटली के तुष्टीकरण की जो नीति अपनायी जा रही थी, म्यूनिच समझौते द्वारा वह पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। जिन कारणों से ब्रिटेन इस समझौते के लिए प्रवृत्त हुआ, वे निम्नलिखित थे—(१) ब्रिटेन समझता था, कि वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति

न्याय नहीं किया गया था। ऐसे कतिपय प्रदेश जो राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर जर्मनी के थे, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्यों को दे दिये गये थे। हिटलर का यही कहना था, कि वह केवल उन्हीं प्रदेशों को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जो वस्तुतः जर्मनी के हैं। ब्रिटेन को यह बात न्यायसंगत प्रतीत होती थी। इसी कारण उसने म्यूनिच के समझौते द्वारा सुडटनलैण्ड तथा कतिपय अन्य प्रदेशों को जर्मनी को दे देने की बात का समर्थन किया। (२) ब्रिटेन हिटलर के इस दावे को बहुत महत्त्व देता था, कि वह कम्युनिज्म से यूरोप की रक्षा करने के लिए तत्पर है। इसी कारण उसका विचार था कि जब जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण हो जायेंगी, तो उसकी सम्पूर्ण शक्ति कम्युनिज्म के प्रतिरोध में लग जायगी। पूँजीवाद पर आधारित ब्रिटेन कम्युनिज्म से अपनी रक्षा करना बहुत महत्त्व की बात समझता था। (३) महायुद्ध की विभीषिका भी ब्रिटेन की नीति को प्रभावित कर रही थी। वहाँ की सरकार इस बात के लिए उत्सुक थी, कि किसी ऐसे प्रश्न पर युद्ध को पुनः प्रारम्भ न किया जाये जिसके साथ ब्रिटेन का सीधा सम्बन्ध न हो। चेकोस्लोवाकिया के साथ वह अपना सीधा सम्बन्ध नहीं समझती थी। इसी लिए चेम्बरलेन ने २४ सितम्बर, १९३८ को पार्लियामेण्ट में भाषण देते हुए कहा था—"यह अत्यन्त हास्यास्पद, भयास्पद और अविश्वसनीय बात है कि हम एक सुदूर देश में लड़े जानेवाले युद्ध के लिए अपने देश में खाइयाँ खोदने लगें और जहरीली गैसों से रक्षा करने वाले साधनों से अपने को सुसज्जित करने लगें।....मैं स्वीकार करता हूँ कि हिटलर का रुख युक्तिसंगत नहीं है, पर यदि हमें युद्ध में शामिल होना ही हो, तो किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर ही रणक्षेत्र में उतरना चाहिये।" पर यह स्वीकार करना होगा कि म्यूनिच में चेम्बरलेन ने जिस नीति का आश्रय लिया, वह युक्तियुक्त नहीं थी। हिटलर जहाँ कम्युनिज्म का विरोधी था, वहाँ साथ ही जर्मनी के राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए भी प्रयत्नशील था। यह राष्ट्रीय उत्कर्ष केवल उन जर्मन प्रदेशों को प्राप्त करके ही नहीं किया जा सकता था, जिन्हें वर्साय्य की सन्धि द्वारा अन्य राज्यों में सम्मिलित कर दिया गया था। हिटलर चाहता था, कि जर्मनी के भी प्रभाव-क्षेत्र हों, उसका भी साम्राज्य हो और वह भी यूरोप की प्रधान शक्ति बन जाए। चेम्बरलेन ने जर्मनी की महत्त्वाकांक्षाओं को सही रूप में समझने का प्रयत्न नहीं किया। इसी कारण उसने ऐसी भूलें कीं, जिनके परिणामस्वरूप जर्मनी की भूख निरन्तर बढ़ती गई, और एक साल बाद द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया।

म्यूनिच के समझौते के अनेक परिणाम हुए। इनका निदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) इस समझौते के कारण जर्मनी के राष्ट्रीय उत्कर्ष में बहुत सहायता मिली। आस्ट्रिया को वह पहले ही अपने राज्यक्षेत्र में शामिल कर चुका था। चेकोस्लोवाकिया का अंगभंग करके अब उसके राज्य का क्षेत्रफल २,२६,००० वर्गमील हो गया, और उसकी जनसंख्या ८ करोड़ से भी अधिक हो गई। अब वह रूस के अतिरिक्त शेष यूरोप में सबसे बड़ा राज्य हो गया था, और यूरोप के अन्य राज्यों का उससे

आशंकित होना स्वंथा स्पाभाविक था। (२) अब जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा की सुरक्षा के सम्वन्ध में निश्चिन्त हो गया। इस क्षेत्र में चेकोस्लोवाकिया से अपनी रक्षा करने का प्रश्न अब उसके सम्मुख नहीं रह गया। मध्य यूरोप पर अव उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था, और कैसर विलियम द्वितीय की योजना के अनुसार वाल्कन प्राय-द्वीप तथा काला सागर के तटवर्ती प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकने का मार्ग उसके लिए प्रशस्त हो गया था। साथ ही, वह अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग फ्रांस के विरुद्ध भी निश्चिन्तता के साथ कर सकता था, क्योंकि यूरोप में फ्रांस उसका प्रधान शत्रु था। (३) म्यूनिच के समझौते के कारण सुरक्षा की वह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई, जिसका निर्माण फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों के साथ सन्धियाँ करके किया था। अब मध्य तथा पूर्वी यूरोप के राज्यों को फ्रांस की सहायता का भरोसा नहीं रह गया, और वे जर्मनी के जाल में फंसते गये। इन राज्यों में भी नाजी व फासिस्ट पार्टियाँ संगठित थीं। ये पार्टियाँ अब शक्ति पकड़ने लग गईं और जर्मनी की संरक्षा को स्वीकार कर लेने में ही अपने-अपने देश का हित समझने लगीं। (४) इस समझौते से रूस बहुत रुष्ट हुआ। उसे म्यूनिच कान्फरेन्स में आमन्त्रित तक नहीं किया गया था। उसे यह विश्वास हो गया, कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देश कम्युनिज्म के विरोध के कारण उसके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग व परामर्श करने को तैयार नहीं हैं। इसीलिए उसने अपने पुराने साथियों की उपेक्षा कर जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि (२३ अगस्त, १९३९) कर लेने में अपना हित समझा, और द्वितीय महायुद्ध के समय चिर काल तक वह युद्ध में तटस्थ रहा। (५) इस समझौते के कारण राष्ट्रसंघ अत्यन्त निर्बल हो गया। उसके माध्यम से किसी देश को विदेशी आक्रमणों से बचाया जा सकता है, इस का कोई भरोसा नहीं रह गया। म्यूनिच में एकत्र हुए राजनीतिज्ञों ने चेकोस्लोवाकिया की समस्या को हल करते हुए राष्ट्रसंघ की पूर्ण रूप से उपेक्षा की थी। यह बात इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सर्वत्र निरर्थक बना देने में सहायक हुई। (६) चेकोस्लोवाकिया को हस्तगत कर लेने के पश्चात् जर्मनी का ध्यान पोलैण्ड की ओर आकृष्ट हुआ, और उसके राज्य-क्षेत्र में जर्मन लोगों द्वारा आबाद जो प्रदेश थे उन्हें हस्तगत करने का प्रयत्न उसने प्रारम्भ कर दिया। यदि फ्रांस और ब्रिटेन म्यूनिच में हिटलर की मांगों का प्रतिरोध करते, तो सम्भवतः हिटलर के लिये पोलैण्ड पर आक्रमण करना सम्भव न होता।

इसमें सन्देह नहीं, कि म्यूनिच का समझौता करके ब्रिटेन और फ्रांस ने भारी भूल की थी। इसमें फ्रांस का उतना दोष नहीं था, जितना कि ब्रिटेन का था। चेम्बरलेन तुष्टीकरण की नीति का पक्षपाती था, और फ्रांस एक अंश से अधिक उसका प्रतिरोध नहीं कर सकता था, क्योंकि जर्मनी से अपनी रक्षा करने के लिए वह ब्रिटेन की सहायता के बिना काम नहीं चला सकता था। चेम्बरलेन ने यह कभी नहीं समझा, कि हिटलर की भूख अनन्त है, और वह एक ऐसी अग्नि के समान है जो आहुतियाँ पा-

पाकर और भी अधिक भड़कती जाती है। म्यूनिच के समझौते के विरोध में मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देते हुए डफ कूपर ने बहुत ठीक कहा था, कि "हमारे प्रधानमन्त्री को हिटलर को सदाकांक्षाओं और वचनों पर विश्वास है, यद्यपि जब उसने वर्साय्य की सन्धि को तोड़ा, तो लोकार्नो की सन्धि के पालन का वचन दिया था, और जब लोकार्नो की सन्धि के प्रतिकूल आचरण किया तो यह कहा था कि अब यूरोप में उसकी प्रदेश-सम्बन्धी कोई मांग शेष नहीं है। जब उसने शक्ति का प्रयोग कर आस्ट्रिया में प्रवेश किया, तो अपने गुर्गों को यह कहने का अधिकार दिया कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह बात छः महीने पहले की ही तो है। फिर भी हमारे प्रधानमन्त्री को विश्वास है, कि हिटलर पर विश्वास किया जा सकता है।" वस्तुतः, डफ कूपर का यह कहना अविकल रूप से सत्य था। हिटलर के वचनों पर विश्वास कर के ही ब्रिटेन ने उसे अन्य राज्यों को हड़पने दिया, और शीघ्र ही जर्मनी इतना अधिक शक्तिशाली हो गया कि यूरोप का शक्ति-संतुलन कायम नहीं रह सका।

(४) तुष्टीकरण की नीति की विवेचना

म्यूनिच के समझौते पर विचार करते हुए ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। फिर भी इस सम्बन्ध में कतिपय अन्य बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) जर्मनी की आकांक्षाओं को संतुष्ट करने में ब्रिटेन के सम्मुख यह विचार विद्यमान था, कि शक्तिशाली जर्मनी द्वारा यूरोप के मध्य भाग में एक ऐसी सुरक्षा-दीवार स्थापित हो जायेगी, जो कम्युनिस्ट रूस के विरुद्ध अन्य देशों की रक्षा में काम आयगी और जिस द्वारा कम्युनिज्म के प्रसार को रोका जा सकेगा। ब्रिटेन समझता था, कि जर्मनी के साथ मित्रता कर उसे रूस के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकता है। इसीलिए म्यूनिच कान्फरेन्स में रूस को निमन्त्रित नहीं किया गया था, और उसकी पीठ पीछे ही चेकोस्लोवाकिया के अंग भंग का फैसला कर लिया गया था। निःसन्देह, ब्रिटेन की यह भारी भूल थी। यदि रूस के साथ सहयोग और मैत्री की फ्रांस की नीति का ब्रिटेन भी समर्थन करता, तो ये तीनों राज्य मिल कर हिटलर का प्रतिरोध कर सकते थे। जर्मनी को सब से अधिक भय इस बात से था, कि कहीं उसे दो—पूर्वी और पश्चिमी—रणक्षेत्रों में एक साथ न लड़ना पड़ जाये। रूस के साथ रहने पर यह भय यथार्थ रूप प्राप्त कर लेता था। पर ब्रिटेन ने इस बात पर समुचित ध्यान नहीं दिया, और हिटलर को संतुष्ट करना ही अपनी विदेशी राजनीति का ध्येय बना लिया। इस से रूस को यह समझने का अवसर मिला, कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे पूँजीवादी राज्य उसके प्रति विद्वेष भावना रखते हैं, और किसी भी प्रकार उससे सहयोग करने को तैयार नहीं हैं। रूस के इस रुख का ही यह परिणाम हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से कुछ दिन पूर्व ही उसने जर्मनी के साथ अनाक्रमण को सन्धि कर ली

(२३ अगस्त, १९३९), जिसके कारण जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा की रक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो गया और वह अपनी सारी शक्ति को फ्रांस आदि पश्चिमी व दक्षिणी राज्यों के विरुद्ध प्रयुक्त कर सका। द्वितीय महायुद्ध में मित्र-राज्यों (ब्रिटेन, फ्रांस आदि) को तभी सफलता प्राप्त होनी प्रारम्भ हुई, जब कि रूस ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी (जून, १९४१)। दो रणक्षेत्रों में एक साथ लड़ सकना जर्मनी के लिये सम्भव नहीं रह गया, और रूस की अपार शक्ति उसके विरुद्ध प्रयुक्त होनी प्रारम्भ हो गई। जर्मनी को वश में रखने के लिये रूस का कितना अधिक उपयोग है, यह बात मित्र-राज्यों को अब समझ में आई। यदि वे पहले ही रूस की उपेक्षा कर जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति को न बरतते, तो सम्भवतः जर्मनी को युद्ध प्रारम्भ करने का साहस ही न होता।

(२) इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति को बरत कर भी ब्रिटेन ने भारी भूल की। इटली भी पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं से असंतुष्ट था, और अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये प्रयत्नशील था। वह भूमध्य सागर को अपनी झील या प्रादेशिक समुद्र समझता था, और पुराने रोमन साम्राज्य का पुनरुद्धार करने के लिए उत्सुक था। इसी प्रयोजन से उसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया था। यदि ब्रिटेन इस अवसर पर उसका प्रतिरोध करता और राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध सैनिक शक्ति को प्रयुक्त करने की नीति का समर्थन करता, तो इटली की महत्त्वाकांक्षाओं को काबू में रखा जा सकता था। पर ब्रिटेन इससे सहमत नहीं हुआ, और राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध केवल आर्थिक बहिष्कार का ही निश्चय किया। यह उपाय इटली को अबीसीनिया की विजय से रोक सकने में असमर्थ रहा, और पूर्वी भूमध्य सागर के क्षेत्र में इटली का आधिपत्य स्थापित हो गया। द्वितीय महायुद्ध में यह बात मित्र-राज्यों के लिये घातक सिद्ध हुई, और ब्रिटेन का अपने प्राच्य साम्राज्य के साथ सम्पर्क टूट गया। यदि अबीसीनिया के प्रश्न पर ब्रिटेन इटली की सद्भावना ही प्राप्त कर सकता, तो भी उसके लिये सन्तोष का कुछ कारण होता। पर आर्थिक बहिष्कार की बात से भी मुसोलिनी अत्यन्त रुष्ट हुआ, और शीघ्र ही वह हिटलर के जाल में फंस गया। इसी कारण उसने जर्मनी के साथ मिल कर एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट का निर्माण किया (नवम्बर, १९३६), जिससे इन दोनों राज्यों की मैत्री बहुत घनिष्ठ हो गई। तुष्टीकरण की नीति से यदि ब्रिटेन इटली को अपने साथ रख सकता, तो इस नीति की उपयोगिता को स्वीकार किया जा सकता था। पर इटली में भी यह नीति विफल रही, और यह राज्य भी जर्मनी के साथ मिल गया।

(३) जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति बरतने के कारण ही मञ्चूरिया और आभ्यन्तर मंगोलिया में जापान अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सका। ब्रिटेन समझता था, कि जापान पूर्वी एशिया के क्षेत्र में कम्युनिज्म के विरुद्ध संघर्ष में संलग्न है। इसी कारण उसने जापान का प्रतिरोध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। पर

जापान का उद्देश्य रूसी कम्युनिज्म का विरोध करने का उतना नहीं था, जितना कि अपने साम्राज्य का विस्तार करने का। वह समझता था, कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया उसके साम्राज्य-प्रसार के समुचित क्षेत्र हैं। साम्राज्य-सम्बन्धी उसकी भूख केवल चीन पर अपने प्रभुत्त्व की स्थापना द्वारा ही संतुष्ट नहीं हो सकती थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के जो उपनिवेश, प्रदेश व द्वीप ब्रिटेन के अधीन थे, उन्हें भी अपने प्रभुत्त्व में ले आना जापान को अभीष्ट था। ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति के कारण जापान की भूख भी निरन्तर बढ़ती गई, और द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी के पक्ष में सम्मिलित होकर उसने सुदूरपूर्व के क्षेत्र से ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त कर दिया।

(४) तुष्टीकरण की नीति के पक्ष में ब्रिटेन की सबसे महत्वपूर्ण युक्ति यह थी, कि जर्मनी आदि की समुचित राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण कर विश्व में युद्ध की आवश्यकता का अन्त किया जा सकता है। पर यह बात भी सत्य सिद्ध नहीं हुई। जब चेम्बरलेन म्यूनिच का समझौता करके इङ्गलैण्ड वापस आया, तो उसने स्वागत के लिए आये हुए लोगों को एक कागज दिखाते हुए कहा था—'यह युद्ध को रोकने के लिए हिटलर के साथ किया हुआ समझौता है। इसका अभिप्राय है, हमारे युग में शान्ति का स्थापित रहना।' पर यह उसकी कैसी भयंकर भूल थी। एक साल बाद ही विश्व में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया। ब्रिटेन के रुख को देखते हुए स्टालिन ने ठीक ही कहा था, (१० मई, १९३९) कि ब्रिटेन और फ्रांस निरन्तर पीछे हटते जा रहे हैं, और वे यूरोप के डिक्टेटरों को एक के बाद एक सुविधाएँ देने में व्यापृत हैं। उन्होंने आक्रान्ता के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा की नीति का परित्याग कर दिया है। तुष्टीकरण की नीति का यही परिणाम था। इससे हिटलर, मुसोलिनी और तोजो की भूख निरन्तर बढ़ती ही जाती थी।

नवाँ अध्याय

जर्मनी की विदेशी राजनीति

(१) वाइमर रिपब्लिक की परराष्ट्र नीति (१९१९-३२)

महायुद्ध के समाप्त होने पर किस प्रकार जर्मनी से वंशक्रमानुगत राजसत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हुई, इस पर पाँचवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। नये रिपब्लिकन राज्य के संविधान का निर्माण वाइमर नामक नगरी में आयोजित संविधान सभा या राष्ट्रीय महासभा द्वारा किया गया था, इसीलिए उसे 'वाइमर रिपब्लिक' कहा जाता है। रिपब्लिकन सरकार के नेताओं के सम्मुख परराष्ट्र-नीति के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी, कि जर्मनी फिर से विश्व के राज्यों में समुचित स्थान प्राप्त करे और विजेता राज्यों द्वारा उसके प्रति जो अछूत का सा व्यवहार किया जा रहा है, उसका अन्त हो। महायुद्ध के कारण जर्मनी का जो अंग भंग कर दिया गया था और हरजाने की जो भारी मात्रा उस पर लाद दी गई थी, उसमें समुचित संशोधन करना भी वाइमर रिपब्लिक के नेताओं के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। जर्मनी की ध्वस्त दशा को संभालने के लिए यह भी आवश्यक था, कि अन्य देशों के साथ उसका व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो, क्योंकि इसके बिना न वह अपनी आर्थिक दशा को सँभाल सकता था और न हरजाने की धनराशि को अदा कर सकता था। इस दशा में रिपब्लिक के नेताओं के समुख दो विचार थे, या तो वे रूस के साथ अपने सम्बन्धों को बढ़ाएँ और या फ्रांस तथा ब्रिटेन सदृश अपने पुराने शत्रु-राज्यों के साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करें। बोल्शेविक क्रान्ति के कारण महायुद्ध के बाद के काल में रूस को भी अन्य राज्य अछूत समझते थे। कुछ लोगों का विचार था, कि रूस के साथ घनिष्ठता बढ़ा कर जर्मनी जहाँ अपने विदेशी व्यापार को फिर से प्रारम्भ कर सकता है, वहाँ वर्साय्य की सन्धि द्वारा किये गये अन्यायों का भी प्रतिशोध कर सकता है। दूसरे मत के नेता यह समझते थे कि फ्रांस और ब्रिटेन आदि पश्चिमी राज्यों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने में ही जर्मनी का हित है। ऐसा करके वे वर्साय्य की सन्धि की शर्तों में सहूलियतें प्राप्त कर सकेंगे।

१९२२ तक वाइमर रिपब्लिक की नीति रूस के साथ अपने सम्बन्धों को बढ़ाने की रही। इसीलिए रापोलो की सन्धि (एप्रिल, १९२२) की गई, जिसके अनुसार जर्मनी और रूस की सरकारों ने एक दूसरे की वैध सत्ता को स्वीकार किया, और दोनों राज्यों ने परस्पर व्यापार प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इसी सन्धि को

और अधिक सुदृढ़ करने के लिए २४ एप्रिल, १९२६ को जर्मनी और रूस ने एक अन्य सन्धि की, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह स्वीकार किया, कि (१) यदि उनमें से किसी पर उत्तेजनात्मक कारण के अभाव में किसी अन्य राज्य ने आक्रमण किया, तो दूसरा राज्य उस युद्ध में तटस्थ रहेगा, और (२) यदि उनमें से किसो के विरुद्ध अन्य राज्यों ने आर्थिक व वित्तसम्बन्धी बहिष्कार का निश्चय किया, तो दूसरा राज्य उनका साथ नहीं देगा। इस प्रकार १९२६ के प्रारम्भिक भाग तक जर्मनी और रूस के मैत्री-सम्बन्ध में निरन्तर वृद्धि होती गई। ये दोनों ही राज्य अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य-परिवार में बहिष्कृत थे, और राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी इन्हें प्राप्त नहीं हुई थी। अतः इनमें घनिष्टता का विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक था। पर १९२६ में इस नीति मे परिवर्तन आना शुरू हुआ। इस समय वाइमर रिपब्लिक के परराष्ट्र-मन्त्री स्ट्रेसमान थे, जो फ्रांस और ब्रिटेन जैसे पश्चिमी राज्यों के साथ सहयोग के पक्षपाती थे। उनका यह मत था, कि जर्मनी का हित इन राज्यों के साथ सुलह कर लेने में ही है। इसीलिए उन्होंने ब्रिटेन, जर्मनो, फ्रांस, और इटली के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि वे जर्मनी के साथ एक ऐसा पैक्ट कर लें जिसके द्वारा सब राज्य जर्मनी की तत्कालीन सीमा (र्‌हाइन नदी) की गारण्टी प्रदान कर दें, और आपस के सब विवादों का फैसला पञ्चनिर्णय की पद्धति द्वारा करने की बात को स्वीकार कर लें। यह प्रस्ताव स्ट्रेसमान द्वारा फरवरी, १९२५ में प्रस्तुत किया गया था। इसी के परिणामस्वरूप लोकार्नो में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए (अक्तूबर, १९२५)। वहाँ जो समझौता किया गया, उस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस द्वारा जर्मनी और बेल्जियम तथा जर्मनी और फ्रांस के बीच की तत्कालीन सीमाओं की अनुल्लंनीयता की गारण्टी दी गई, और अपने पड़ोसी पश्चिमी राज्यों के साथ जर्मनी के सम्बन्ध मधुर हो गये। स्ट्रेसमान को यही अभीष्ट था, और इसे सम्पन्न करने में उसे पूरी सफलता प्राप्त हुई। १९२६ में जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गई। अब वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अछूत नहीं रह गया, और युद्धों को रोकने के लिए जो प्रयत्न राष्ट्रसंघ द्वारा किये जा रहे थे, उनमें भी भाग लेने लगा। निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए राष्ट्रसंघ ने जिस तैयारी कमीशन की नियुक्ति की थी, जर्मनी ने उसके साथ भी सहयोग किया। कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट (पेरिस पैक्ट) पर भी जर्मनी ने हस्ताक्षर किये, और वह भी इस युद्ध-विरोधी पैक्ट में शामिल हो गया (१९२८)। लोकार्नो के समझौते और पेरिस पैक्ट के कारण जर्मनी और उसके पुराने शत्रु-राज्यों में जो मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया था, उसी के कारण यंग योजना स्वीकृत हो सकी, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी द्वारा दी जाने-वाली हरजाने की मात्रा में भारी कमी की गई (१९२९), और हरजाने की अदायगी के बारे में भो जर्मनी को अनेक सुविधाएँ दो गई। कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट और यंग योजना

पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है, अतः उनके सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि स्ट्रेसमान के कर्तृत्व के कारण अब जर्मनी पड़ौस के पश्चिमी राज्यों के साथ सहयोग करने में तत्पर हो गया था, और इनके साथ उसके सम्बन्ध निरन्तर अधिक-अधिक मधुर होने लग गये थे। १९३० में र्‌हाइनलैण्ड से मित्र-राज्यों ने अपनी सेनाएँ भी वापस बुला ली थीं। १९२९ में स्ट्रेसमान की मृत्यु के पश्चात् डा० कर्टियस जर्मनी के परराष्ट्र-मन्त्री बने थे। उन्होंने भी स्ट्रेसमान की नीति को जारी रखा, पर १९३१ में उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया, क्योंकि आस्ट्रिया के साथ आर्थिक सहयोग को स्थापित करने में वह असफल रहे थे। उनके बाद पापन और स्लाइशर क्रमशः जर्मनी के परराष्ट्र-मन्त्री बने, पर उन्हें पश्चिमी राज्यों के साथ मैत्री बढ़ाने की नीति में विशेष सफलता नहीं हुई। इसका कारण यह था, कि अब जर्मनी में राष्ट्रीय भावना जोर पकड़ने लगी थी, और नाजी पार्टी वर्साय्य की सन्धि के टुकड़े-टुकड़े कर देने के लिए आन्दोलन में तत्पर थी। वाइमर रिपब्लिक के लिए इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। जर्मनी अब यह माँग करने लग गया था, कि हरजाने के बोझ से उसे मुक्त किया जाना चाहिये, और उसे भी अन्य राज्यों के समान अपनी सैन्य शक्ति की वृद्धि का अवसर प्राप्त होना चाहिये। यह सही है, कि लोकार्नों के समझौतों, पेरिस पैक्ट और यंग योजना आदि द्वारा जर्मनी की अनेक शिकायतें दूर हो चुकी थीं, पर कतिपय ऐसी समस्याएँ अभी विद्यमान थीं, जो जर्मनी की जनता को उद्विग्न कर रही थीं। जर्मन लोग चाहते थे, कि उनके देश को पूर्वी सीमा की सुरक्षा की भी समुचित गारण्टी दी जाए, आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला कर एक शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र का निर्माण किया जाए, वर्साय्य की सन्धि द्वारा अफ्रीका और एशिया के जो अनेक जर्मन उपनिवेश व अधीनस्थ प्रदेश उससे ले लिये गये थे वे सब उसे वापस मिल जाएँ, जर्मनी को युद्ध के लिये अपराधी न माना जाए, हरजाने की मात्रा तथा उसकी अदायगी की शर्तों पर पुनर्विचार किया जाए, और अस्त्र-शस्त्रों में जर्मनी को अन्य बड़े राज्यों के समकक्ष होने का अवसर दिया जाए। वाइमर रिपब्लिक द्वारा जनता की ये माँगें पूरी नहीं करायी जा सकीं। इन्हें पूरा कराने का काम हिटलर ने अपने हाथों में लिया, जिसकी नाजी पार्टी ने १९३३ के प्रारम्भ में जर्मनी की सरकार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

(२) हिटलर और उसकी परराष्ट्र नीति

नाजी पार्टी के उत्कर्ष के कारण—नाजी पार्टी और हिटलर के उत्कर्ष के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ उन कारणों का संक्षेप के साथ निर्देश करना उचित होगा, जिनसे कि हिटलर वाइमर रिपब्लिक का अन्त कर जर्मनी में नाजी व्यवस्था को स्थापित कर सकने में समर्थ हुआ था। ये कारण

निम्नलिखित थे—(१) जर्मन जनता वाइमर रिपब्लिक के कर्तृत्त्व से संतुष्ट नहीं थी। वर्साय्य की सन्धि ने जर्मनी में एक प्रकार के असंतोष और बेचैनी का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। जनता में यह भावना विद्यमान थी, कि उसका घोर अपमान हुआ है। जब हिटलर और उसके साथी आवेश में आकर यह कहते थे, कि हमें वर्साय्य की सन्धि के धुर्रे उड़ा देने हैं, सब जर्मन लोगों को एक सूत्र में बाँध कर विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण करना है, और खोये हुए अपने उपनिवेशों व अधीनस्थ प्रदेशों को फिर से प्राप्त कर जर्मन साम्राज्य को पुनःस्थापित करना है, तो जर्मन जनता खुशी और जोश के मारे उछल पड़ती थी। उसके हृदय में वाइमर रिपब्लिक के नेताओं के प्रति असंतोष उत्पन्न होता था, और वह यह समझने लगती थी कि जर्मनी का उद्धार हिटलर और नाजी पार्टी द्वारा ही सम्भव है। वाइमर रिपब्लिक के प्रति असंतोष का मुख्य कारण तो यही था, कि जर्मन लोग उसी को वर्साय्य की सन्धि तथा उसकी अपमानजनक शर्तों के लिये उत्तरदायी समझते थे। पर इसके अतिरिक्त जर्मन पार्लियामेन्ट में अनेक राजनीतिक दलों की सत्ता और उनके निरन्तर झगड़ों ने भी जर्मन लोगों में लोकतन्त्र-वाद तथा सांसद प्रणाली के प्रति अनास्था को उत्पन्न कर दिया था। वाइमर रिपब्लिक के नेताओं में कोई भी ऐसा नहीं था, सर्वसाधारण जनता जिसके शक्तिशाली नेतृत्त्व से प्रभावित हो सके, और जिस द्वारा अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा कर सके। हिटलर के रूप में जनता को एक ऐसा नेता प्राप्त हो गया था, जो डंके की चोट के साथ वर्साय्य की सन्धि के छिन्न-भिन्न कर देने की बात को कहता था।

(२) नाजी शक्ति के विकास का दूसरा प्रमुख कारण कम्युनिज्म का खतरा था। रूस से कम्युनिज्म की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, जर्मनी पर भी उसका प्रभाव पड़ रहा था। वहाँ भी कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन हो गया था, और यह पार्टी पार्लियामेण्ट के चुनावमें भी हिस्सा लेने लग गयी थी। १९३० के चुनाव में ८९ कम्युनिस्ट उम्मीदवार पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हो सके थे, और १९३२ के चुनाव में उन्होंने १०० स्थान प्राप्त कर लिये थे। हिटलर का कहना था, कि कम्युनिस्टों की यह बढ़ती हुई शक्ति जर्मन राष्ट्रीयता के लिये घातक है। कम्युनिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता को बहुत महत्त्व देता था, और विश्व भर के मजदूरों के एक हो जाने की बात पर जोर देता था। हिटलर कहता था, कि यदि नाजी पार्टी ने शक्ति प्राप्त न कर ली, तो कम्युनिस्ट वाइमर रिपब्लिक की सरकार पर छा जायेंगे। जर्मनी के मजदूर वर्ग को अपने राष्ट्र के लिये अपने सर्वस्व की बलि दे देने को तैयार होना चाहिये, अपने राष्ट्र के हितों का उनकी दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्व होना चाहिये, और अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर उन्हें नहीं झुकना चाहिए। कम्युनिज्म का विरोधी होनेके कारण हिटलर को जर्मनी के पूँजीपतियों का सहयोग प्राप्त हुआ, और वे उसे ही अपना रक्षक व उद्धारकर्ता समझने लगे।

(३) सर्वसाधारण जनता की बेकारी और आर्थिक संकट से नाजी पार्टी के उत्कर्ष में बहुत सहायता मिली। हिटलर का कहना था, कि जर्मन जनता को दुर्दशा

का कारण वह सरकार है, जो साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव को पुनःस्थापित किये बिना यह दशा ठीक नहीं हो सकती। जर्मन जाति को भी जीवित रहने के लिये स्थान की आवश्यकता है। राष्ट्रीय सीमाओं का निर्धारण राष्ट्रीयताके आधार पर तो होना ही चाहिए, पर राष्ट्रीयता की अपेक्षा भी एक ऊँचा सिद्धान्त है, जिसे मानवीय न्याय का सिद्धान्त कहा जा सकता है। जर्मन लोग ब्रिटिश या फ्रेञ्च लोगों से किस बात में कम हैं? यदि उन्हें अपनी समृद्धि के लिये साम्राज्यों की आवश्यकता है, तो जर्मनी को क्यों नहीं है? नाजी पार्टी का यही उद्देश्य था, कि वह जर्मन साम्राज्य के निर्माण का प्रयत्न करे और जर्मन लोगोंके लिये भी संसार में स्थान प्राप्त करे।

(४) नाजी पार्टी के उद्देश्य और कार्यक्रम जर्मन लोगों की परम्परागत आकांक्षाओं के अनुरूप थे। जर्मनी को वे दिन याद थे, जब कि उसके राजा पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् भी हुआ करते थे। बिस्मार्क को जर्मन लोग भूले नहीं थे, जिसने कि विविध जर्मन राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर जर्मन साम्राज्य का संगठन किया था, और १८७०-७१ में फ्रांस को बुरी तरह से परास्त किया था। कैसर विलियम द्वितीय की महत्त्वाकांक्षाओं का भी उसे स्मरण था, जो प्राच्य देशों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के प्रयोजन से आस्ट्रिया-हंगरी तथा तुर्क साम्राज्य के साथ सन्धि कर बर्लिन से बसरा तक पहुँचने के लिये एक नवीन मार्ग का निर्माण करने में तत्पर था। जर्मन लोग समझते थे, कि हिटलर द्वारा उनके देश की इसी पुरानी परम्परा का पुनरुद्धार किया जा रहा है। जर्मन जनता कठोर अनुशासन के लिये अभ्यस्त थी। सैनिक सेवा को वह गौरव की बात मानती थी। जर्मनी के दार्शनिकों और विचारकों ने युद्ध को एक अनिवार्य मानव आवश्यकता के रूप में प्रतिपादित किया था। ट्रीट्स्के का कहना था, कि युद्ध दैवी व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बर्न हार्डी ने लिखा था, कि युद्ध एक मानवीय आवश्यकता है। ये विचार अब तक भी जर्मनी की जनता में विद्यमान थे, और उसे नाजी पार्टी द्वारा इन्हें क्रियान्वित किये जाने की बात सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती थी।

(५) नाजी लोग यहूदियों के बहुत खिलाफ थे। उनका कहना था, कि जर्मनी की पराजय का प्रधान कारण यहूदी लोग ही हैं। महायुद्ध के समय जर्मनी के बहुसंख्यक कल-कारखाने यहूदियों के स्वत्व में थे। राज्य पर भी उनका प्रभाव था। सर्वसाधारण जर्मन जनता की दृष्टि में वे शोषक थे, और वह उनसे घृणा करती थी। हिटलर ने कहा, कि इन शोषक यहूदियों को जर्मनी से बहिष्कृत कर देना चाहिये, ताकि जर्मन लोग अपने देश के आर्थिक जीवन में समुचित स्थान प्राप्त कर सकें। यह बात जर्मन लोगों को बहुत पसन्द आती थी। नाजी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें आशा होती थी, कि वे यहूदियों को नीचा दिखा सकेंगे।

(६) १९३० की विश्वव्यापक मन्दी और उसके कारण उत्पन्न हुए आर्थिक संकट ने जर्मनी को बहुत अधिक प्रभावित किया था। आर्थिक संकट के कारण जर्मनी

के बहुत-से कल-कारखाने बन्द हो गये थे, ६० लाख से भी अधिक मजदूर बेकार हो गये थे, और किसानों की कर्जदारी में असाधारण रूप से वृद्धि हो गयी थी। बेकार मजदूरों पर कम्युनिज्म का प्रभाव बहुत बढ़ने लग गया था। इसी कारण १९३० के चुनाव में ८९ कम्युनिस्ट पार्लियामेन्ट में चुन लिये गये थे। किसान लोग कम्युनिज्म के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिन्तित थे, क्योंकि वे समझते थे कि कम्युनिस्ट व्यवस्था में जमीनों पर से उनके स्वत्त्व का अन्त कर दिया जायगा। उन्होंने सहर्ष नाजियों का साथ दिया। मजदूरों में बढ़ते हुए असंतोष के कारण पूँजीपतियों का समर्थन भी नाजी पार्टी को प्राप्त हो गया, क्योंकि वे समझते थे कि यह पार्टी कम्युनिज्म के विरुद्ध है, और मजदूरोंकी शक्तिका उपयोग कल-कारखानों को उन्नति के लिए ही करेगी।

(७) महायुद्ध के बाद जर्मनी के विश्व-विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। पर सुशिक्षित जर्मन युवकों के लिये नौकरी या रोजगार प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। उन्हें यह आशा नहीं रह गई थी, कि वाइमर रिपब्लिक के लोकतन्त्र शासन द्वारा उनकी दशा में सुधार कर सकना सम्भव है। वे अनुभव करते थे, कि इस शासन का अन्त होने पर ही उनका अवस्था सुधर सकती है। इस कारण जहाँ बहुत-से युवक कम्युनिज्म की ओर आकृष्ट हुए, वहाँ साथ ही बहुतों ने नाजो व्यवस्था को अपने लिए श्रेयस्कर माना, क्योंकि हिटलर जर्मन साम्राज्य के पुनरुद्धार की बात को डंके की चोट के साथ घोषित करने में तत्पर था।

(८) नाजो लोगों ने जिस स्वयंसेवक सेना का संगठन किया था, वह भी जर्मन जनता को बहुत आकृष्ट करती थी। जर्मन लोग स्वभाव से ही वीर होते हैं, सैनिक जीवन को वे पसन्द करते हैं। वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी की सेना में बहुत कमी कर दी गयी थी। बहुत-से जर्मन सिपाही बेकार हो गये थे। उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि किसी अन्य पेशे से अपना गुजर कर सकें। वे सैनिक बनने के लिये उत्सुक थे। नाजियों की प्राइवेट सेना में वे उत्साह के साथ भरती हुए और उन्हें यह अनुभव हुआ कि नाजी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें फिर सैनिक जीवन प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। सैनिकों के सहयोग के कारण नाजियों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और उन्हें अपने विचारों को फैलाने का अनुपम अवसर हाथ लग गया था।

(९) हिटलर का अनुपम व्यक्तित्त्व भी नाजो पार्टी के उत्कर्ष में बहुत सहायक हुआ। हिटलर में जनता की भावनाओं को समझने और अपने भाषणों द्वारा इन भावनाओं को उत्तेजित करने की अपूर्व क्षमता थी। प्रचार की कला में वह अत्यन्त निपुण था। वह चतुर राजनीतिज्ञ भी था। वह भली भाँति समझता था, कि कौन-से कार्य के लिये कौन-सा समय उपयुक्त है। इसी लिये वह कम्युनिज्म के खतरे की बात को सम्मुख रख कर ब्रिटेन और फ्रान्स का सहयोग प्राप्त करने में समर्थ हुआ, और दो रणक्षेत्रों में युद्ध न करने की बात को दृष्टि में रख कर रूस से समझौता कर लेने में भी उसने सफलता प्राप्त की।

हिटलर की परराष्ट्रनीति के उद्देश्य—नाजी पार्टी ने १९३३ में जर्मनी की राजशक्ति को प्राप्त किया था, पर उसके नेताओं ने अपनी नीति का प्रतिपादन इससे बहुत पहले ही प्रारम्भ कर दिया था। हिटलर ने 'मेरा संघर्ष' (Mein Kamph) नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें कि उसने अपने मन्तव्यों, उद्देश्यों और नीति का विशद रूप से प्रतिपादन किया था। पर 'मेरा संघर्ष' के प्रकाशित होने से पूर्व भी 'जर्मन श्रमिक पार्टी' (यही पार्टी बाद में नाजी पार्टी कहायी थी) के अन्यतम नेता गाटफ्रीड फेडर ने अपनी पार्टी के कार्यक्रम की घोषणा करते हुए कहा था, कि जिन किन्हीं प्रदेशों में भी जर्मन लोगों का निवास है, उन सबको स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार यह अवसर होना चाहिये कि वे आपस में मिल कर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण कर सकें। साथ ही, जर्मनी की स्थिति अन्य सब राज्यों के समकक्ष होनी चाहिये, और इसके लिये यह आवश्यक है कि वर्साय्य और सां जर्मे की सन्धियों को रद्द किया जाए। फेडर ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा था, कि जर्मन लोग चाहे डेन्मार्क में बसे हुए हों, और चाहे इटली, पोलैण्ड, फ्रान्स या चेकोस्लोवाकिया की अधीनता में हों, उन सबका एक जर्मन राष्ट्र में सम्मिलित होना आवश्यक है। हम एक भी जर्मन को अपने राज्यक्षेत्र में बाहर नहीं रहने देंगे। इसीलिए फेडर का कहना था, कि आस्ट्रिया, सुडटनलैण्ड और आल्सेस-लारेन को जर्मनी के अन्तर्गत करना ही होगा।

हरमान राँशनिंग ने एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम 'हिटलर कहता है' था। यह पुस्तक दिसम्बर, १९३९ में प्रकाशित हुई थी। राँशनिंग डान्ट्सिग की नाजी पार्टी का नेता था, और १९३३ में इस स्वतन्त्र नगर की सरकार का अध्यक्ष निर्वाचित हो गया था। अपने ग्रन्थ में उसने हिटलर से हुई अपनी बातचीत का विशद रूप से उल्लेख किया है, जिससे नाजी पार्टी के वास्तविक उद्देश्यों का समुचित परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस पुस्तक में राँशनिंग ने लिखा था—"यदि जर्मनी को एक विश्व-शक्ति बनना है और केवल यूरोप का अन्यतम राज्य बन कर ही नहीं रहना (यदि जर्मनी को जीवित रहना है, तो उसे विश्व शक्ति बनना ही होगा), तो उसे सबसे पूर्व पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये। इसका क्या अभिप्राय है ? क्या आपको यह स्पष्ट नहीं है, कि किस प्रकार हमारा अंग-भंग कर दिया गया है, और हमें एक दूसरे दर्जे का राज्य बना दिया गया है ? केवल वही राष्ट्र विश्व-शक्ति बन सकते हैं, जो अपनी भूमि पर पूर्ण स्वतन्त्र हों और जो सैन्यशक्ति द्वारा आत्मरक्षा करने में समर्थ हों। ऐसे राज्य ही सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होते हैं। रूस ऐसा राज्य है, अमेरिका और ब्रिटेन ऐसे राज्य हैं। फ्रांस भी कुछ अंश तक ऐसा राज्य है। फिर हम भी क्यों न ऐसा राज्य न बनें ? इसीलिये मैं कहता हूँ, कि हमें भी जर्मनी के लिये नये प्रदेश प्राप्त करने चाहियें—इतने प्रदेश जिनसे कि हम अपने विरुद्ध संगठित सैनिक गुटों का मुकाबला कर सकें।.....हमें प्रदेश चाहिये, स्थान चाहिये, ताकि हम राजनीतिक गुटों से स्वतन्त्र रह कर अपनी रक्षा कर सकें। पूर्व दिशा में कोकेशस और ईरान तक

हमारा प्रभुत्त्व स्थापित होना चाहिये, पश्चिम में हमें फ्रांस के समुद्र-तट तक बढ़ जाना चाहिये, फ्लान्डर्स और हालैण्ड हमें प्राप्त होने चाहियें, और स्वीडन भी हमारा होना चाहिये। हमें एक साम्राज्य की आवश्यकता है। हमारी सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन के समकक्ष होनी चाहिये।""हमें यूरोप पर शासन करना है। छोटे-छोटे राज्यों की अराजकता को हम सहन नहीं कर सकते। अब आपको समझ में आ गया होगा, कि क्यों हम अपने प्रसार को न पूर्व दिशा में रोक सकते हैं और न पश्चिम दिशा में।"

निःसन्देह, हिटलर के यही विचार थे। नाजियों का विश्वास था, कि छोटे-छोटे राज्यों का युग अब समाप्त हो गया है। छोटे राज्य शक्तिशाली राज्यों के पिछलगुए होकर ही अपनी सत्ता को कायम रख सकते हैं। बेल्जियम और हालैण्ड के बड़े-बड़े साम्राज्य हैं, पर यूरोप में इनकी स्थिति अत्यन्त गौण है। ये अपनी नीति का स्वतन्त्र रूप से निर्धारण कर ही नहीं सकते। इन्हें किसी शक्तिशाली राज्य का वशवर्ती होकर ही रहना होगा। अब वह युग आ गया है, जब कि रूस के अतिरिक्त शेष यूरोप पर जर्मनी का प्रभुत्त्व हो, सुदूर पूर्व (पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया) जापान के अधीन हो, अफ्रीका के विविध प्रदेश जर्मनी और इटली के प्रभुत्त्व में रहें, और अमेरिकन महाद्वीप के विविध राज्य संयुक्त-राज्य अमेरिका के संरक्षण में रहें। जब यूरोप पर जर्मनी का प्रभुत्त्व स्थापित हो जायेगा, तो अमेरिका और ब्रिटेन को यूरोप के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने दिया जायेगा। नाजी लोग अपनी इसी कल्पना को 'नई व्यवस्था' या 'नये युग' के नाम से कहा करते थे। उनका उद्देश्य इसी व्यवस्था को स्थापित करना था।

हिटलर की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्यों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—(१) वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मन लोगों से आबाद जो प्रदेश अन्य राज्यों के अन्तर्गत कर दिये गये थे, उन सबको अपने साथ मिला कर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण करना हिटलर की विदेश नीति का प्रथम उद्देश्य था। डान्ट्सिग के प्रदेश को जर्मनी के अन्तर्गत करना, जर्मनी के राज्य क्षेत्र में पोलैण्ड को जो गलियारा प्रदान किया गया था उसका अन्त करना, सुडटनलैण्ड और उसके समीपवर्ती अन्य जर्मन प्रदेशों को चेकोस्लोवाकिया से पृथक् कर जर्मनी के साथ मिलाना, आल्सेस-लारेन पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करना, पोलैण्ड के अन्तर्गत जर्मन प्रदेशों को जर्मनी के अन्तर्गत करना; आस्ट्रिया और जर्मनी का एकीकरण, बाल्टिक समुद्र के तटवर्ती राज्यों के जर्मन लोगों द्वारा आबाद प्रदेशों को जर्मनी में सम्मिलित करना और स्विट्जरलैण्ड के जर्मन भाषा-भाषी प्रदेशों को अपने साथ मिलाना—ये साधन थे, जिनसे जर्मनी की राष्ट्रीय एकता को पूर्ण किया जा सकता था। विशाल जर्मन राष्ट्र के निर्माण का लक्ष्य स्पष्ट रूप से हिटलर के सम्मुख विद्यमान था। (२) वर्साय्य और सॉं जर्मे की सन्धियों को हिटलर जर्मनी के लिए अपमानजनक समझता था। इन सन्धियों द्वारा जर्मनी का अङ्ग-भङ्ग तो किया ही गया था, पर साथ ही हरजाने की एक भारी रकम भी उस पर लाद दी गई थी। उसकी

सैन्य-शक्ति को भी सर्वथा पंगु बना दिया गया था। हिटलर चाहता था, कि इन सन्धियों के धुर्रे उड़ा दिये जाएँ। जर्मनी न कोई हरजाना दे, और सैन्य-शक्ति में अपनी इच्छानुसार वृद्धि कर सके। 'मेरा संघर्ष' में हिटलर ने लिखा था, कि 'इन सन्धियों के विरुद्ध छः करोड़ जर्मनों के मनों में लज्जा और घृणा की भावना इस हद तक भर दी जाए कि सारा जर्मन राष्ट्र ज्वालाओं का एक अग्निसागर बन जाए और उससे यह घोषित करने वाला लौह संकल्प और जयघोष प्रादुर्भूत हो कि हम पुनः शस्त्र-धारण करेंगे।' (३) हिटलर चाहता था, कि जर्मनी एक विश्वशक्ति बने। यह तभी सम्भव था, जब कि वह साम्राज्य-विस्तार के लिए तत्पर हो। अपने साम्राज्य के लिए वह पूर्व दिशा को उपयुक्त समझता था। उसका विचार था, कि डैन्यूब नदी की घाटी और बाल्कन प्रायद्वीप जर्मनी के विस्तार के लिए समुचित क्षेत्र हैं। साथ ही, वह यह भी समझता था, कि बाल्टिक सागर के तटवर्ती जो राज्य रूस के प्रभुत्व में हैं, और युक्रेनिया आदि जो अन्य राज्य रूस के अन्तर्गत हैं, उन्हें भी जर्मनी को हस्तगत कर लेना चाहिये। महायुद्ध से पूर्व जो उपनिवेश, द्वीप और प्रदेश जर्मनी के अधीन थे, हिटलर उन सबको भी पुनः प्राप्त करना चाहता था।

उद्देश्य-पूर्ति के साधन—हिटलर ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक साधनों का प्रयोग किया। वह कूटनीति में अत्यन्त प्रवीण था। समय के अनुसार बात करना, अपने वास्तविक मनोभावों को छिपा कर दूसरों के सम्मुख उच्च आदर्श प्रस्तुत करना और जर्मनी के राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखकर अपनी नीति में परिवर्तन करते रहना उसके लिए साधारण बातें थीं। समय की आवश्यकता के अनुसार उसने कभी धमकियों से काम लिया, और कभी यह प्रदर्शित किया कि वह शान्ति चाहता है। सन्धियों का भंग करने में उसने संकोच नहीं किया, और अन्त में युद्ध का आश्रय लिया। पर एक कुशल राजनीतिज्ञ के समान उसने बहुत धीरे-धीरे अपने लक्ष्यों की पूर्ति की। सब से पूर्व उसने उन प्रतिबन्धों को भंग किया, जो वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी पर लगाये गये थे। उसने अपनी सैन्य-शक्ति में वृद्धि प्रारम्भ की, पर यह भी उसने इस ढंग से किया, जिससे कि ब्रिटेन और फ्रांस उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई न कर सकें। निःशस्त्रीकरण के लिये किये गये प्रयत्नों में वह अन्य राज्यों के साथ सहयोग करता रहा, पर यह करते हुए भी अपने अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि में वह तत्पर रहा। ब्रिटेन और फ्रांस के साथ उसने अनेक पैक्ट व समझौते किये, और उन्हें यह विश्वास दिलाता रहा, कि उसका एकमात्र उद्देश्य उन अन्यायों को दूर करना है जो वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति किये गये थे। ब्रिटेन जैसा लोकतन्त्र व राष्ट्रवादी देश उसका विरोध नहीं कर सका, और उसे यह विश्वास हो गया कि हिटलर शान्ति चाहता है, और उसकी समुचित राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण कर यूरोप में शान्ति स्थापित की जा सकती है। पर हिटलर का वास्तविक उद्देश्य जर्मनी को एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य बनाने का था, ऐसा राज्य जो विश्व में अत्यन्त उच्च स्थान रखे और जिसका अपना

विशाल साम्राज्य भी हो। यह उद्देश्य युद्ध द्वारा ही पूरा किया जा सकता था। इसी कारण हिटलर ने युद्ध की तैयारी में जर्मनी की सम्पूर्ण शक्ति को लगा दिया था।

(३) नाजी सरकार की परराष्ट्र नीति

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हिटलर ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिस नीति को अपनाया, उसकी निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

निःशस्त्रीकरण का परित्याग—हथियारों और सैन्यशक्ति में कमी करने के लिये राष्ट्रसंघ द्वारा जिनीवा में जिस कान्फरेन्स का आयोजन किया था (१९३२), उसमें जर्मनी भी सम्मिलित हुआ था। वहाँ जर्मनी की ओर से यह मांग पेश की गई थी, कि या तो पेरिस की शान्ति परिषद् के निर्णयों के अनुसार अन्य सब राज्य भी अपने अस्त्र-शस्त्रों तथा सैनिकों में कमी कर दें, और या जर्मनी को भी अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ा सकने का अवसर प्राप्त हो। इस कान्फरेन्स के सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में विशद रूप से लिखा जा चुका है। पर अभी जिनीवा कान्फरेन्स का कार्य समाप्त नहीं हुआ था, कि जर्मनी की राजशक्ति हिटलर के हाथों में चली गई (जनवरी, १९३३)। नाजी सरकार के लिये यह कदापि सम्भव नहीं था, कि वह अपनी सैन्य-शक्ति को किसी भी प्रकार से नियन्त्रित करने की बात को स्वीकार कर सके। अतः अक्टूबर, १९३३ में उसने अपने प्रतिनिधियों को जिनीवा से वापस बुला लिया। यद्यपि इसके बाद भी १९३४ तक निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स के अधिवेशन होते रहे, पर उनसे कोई परिणाम नहीं निकल सका। जर्मनी के कान्फरेन्स से पृथक् हो जाने के कारण वह कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकी।

राष्ट्रसंघ से पृथक् हो जाना—१९२६ में जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कर ली थी, और वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य राज्यों के साथ सहयोग करने लग गया था। पर हिटलर के शक्ति प्राप्त कर लेने पर इस नीति में भी परिवर्तन आया। जिनोवा की निःशस्त्रोकरण कान्फरेन्स का परित्याग कर देने के कुछ समय पश्चात् जर्मनी ने राष्ट्रसंघ से भी पृथक् हो जाने का नोटिस दे दिया। हिटलर का कहना था, कि जर्मनी राष्ट्रसंघ में इस आशा से सम्मिलित हुआ था, कि वहाँ विविध राज्यों के झगड़ों का न्याय्य तथा निष्पक्ष रूप से निबटारा किया जा सकेगा। पर जर्मनी के प्रति न्याय तभी सम्भव है, जब कि उसके साथ समानता का बरताव किया जाये। जब जर्मनी को अन्य राज्यों के समान अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं, तो राष्ट्रसंघ में सम्मि-लित रहना उसके लिये अपमानजनक है। इसीलिए उसने १२ नवम्बर, १९३४ को राष्ट्रसंघ का सदस्य रहने के प्रश्न पर जनता का लोकमत लिया। ९५ प्रतिशत मतदाताओं के वोट राष्ट्रसंघ से पृथक् हो जाने के पक्ष में आये। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया। अब हिटलर अपनी शस्त्रशक्ति को बढ़ाने और युद्ध की तैयारी के लिये पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया।

पोलैण्ड और जर्मनी—जनवरी, १९३४ में जर्मनी ने पोलैण्ड के साथ आक्रमण न करने का पैक्ट (Non-aggression Pact) किया, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह निश्चय किया कि वे अपने आपसी झगड़ों का निबटारा शान्तिमय उपायों से किया करेंगे, एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे, और दोनों राज्यों की सरकारें अपनी-अपनी जनता को जर्मनी और पोलैण्ड में मैत्री-सम्बन्ध के लाभों को समझाने की समुचित व्यवस्था करेंगी। यह पैक्ट दस साल के लिये किया गया था।

पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा यूरोप की जो व्यवस्थाएं की गई थीं, उनमें जर्मनी को सब से अधिक शिकायत पोलैण्ड के सम्बन्ध में ही थी। डान्ट्सिग के बन्दरगाह को जर्मनी से पृथक् कर एक स्वतन्त्र नगर बना दिया गया था, ताकि पोलैण्ड उस द्वारा समुद्र के मार्ग से व्यापार कर सके। जर्मनी के राज्यक्षेत्र के बीच में एक गलियारा इस प्रयोजन से बनाया गया था, ताकि पोलैण्ड का समुद्र के साथ सीधा सम्बन्ध हो सके। कतिपय ऐसे प्रदेश भी पोलैण्ड के अन्तर्गत कर दिये गये थे, जिनमें जर्मन लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। इस दशा में जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ तभी पूर्ण हो सकती थीं, जब कि इन सब अन्यायों को दूर किया जाए, और ये सब प्रदेश जर्मनी पोलैण्ड से प्राप्त कर ले। इन दोनों राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध एक अस्वाभाविक बात थी। फिर भी हिटलर ने पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण पैक्ट किया। दोनों राज्यों ने यह पैक्ट करना क्यों समुचित समझा, इस प्रश्न पर विचार करना उपयोगी है।

पोलैण्ड की भौगोलिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं, कि वह सब ओर से ऐसे राज्यों से घिरा हुआ था जिनके साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं थे। उसके पूर्व में रूस की स्थिति थी, जिसके कतिपय प्रदेश (जो पहले रूस के राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत थे और जिनमें रूसी लोगों का भी निवास था) पोलैण्ड के अन्तर्गत कर दिये गये थे। उसके उत्तर में लिथुएनिया और पूर्वी प्रशिया थे, और पश्चिम में जर्मनी की स्थिति थी। इस दशा में पोलैण्ड को अपनी सुरक्षा का यही उपाय समझ में आता था, कि वह अन्य राज्यों के साथ सैनिक सन्धियाँ करे और साथ ही पञ्च-निर्णय के समझौते करे। इसीलिये उसने १९२१ में रूमानिया और फ्रांस के साथ सैनिक सन्धियाँ की थीं, और चेकोस्लोवाकिया के साथ तटस्थता की सन्धि। कुछ वर्ष पश्चात् १९२५ में उसने फिनलैण्ड, एस्थोनिया, लैटविया, चेकोस्लोवाकिया और आस्ट्रिया के साथ ऐसे समझौते किये थे, जिनके अनुसार इन राज्यों ने उसके साथ अपने झगड़ों का निबटारा करने के लिये पञ्चनिर्णय की पद्धति का आश्रय लेने का निश्चय किया था। इन समझौतों के कारण पोलैण्ड की सुरक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो गई थी। लोकार्नो समझौतों (१९२५) पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों में पोलैण्ड भी था। लोकार्नो में की गई एक सन्धि के अनुसार फ्रांस और पोलैण्ड ने एक दूसरे को यह वचन दिया था, कि उत्तेजना के कारण के बिना ही उनमें से किसी एक पर यदि कोई अन्य राज्य आक्रमण कर दे, तो दूसरा राज्य उसकी सहायता करेगा। इस सन्धि के कारण पोलैण्ड को यह भरोसा हो गया था, कि यदि जर्मनी

या रूस ने उस पर आक्रमण किया, तो फ्रांस की सहायता उसे प्राप्त रहेगी। १९२९ में रूस, एस्थोनिया, लैटविया, पोलैण्ड और रूमानिया ने लितविनोव प्रोटोकोल को स्वीकार किया, जिस द्वारा उन्होंने अपने झगड़ों का शान्तिमय उपायों से निबटाने का निश्चय किया। इस प्रोटोकोल के कारण पोलैण्ड को रूस का भी विशेष भय नहीं रह गया था। १९३१ में पोलैण्ड और रूस ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने की सन्धि की, और पोलैण्ड ने फ्रांस और रूमानिया के साथ की गई पुरानी सन्धियों (१९२१) को फिर से दोहराया। १९३१ तक यह स्थिति थी, कि पोलैण्ड अपनी सुरक्षा के लिये प्रधानतया फ्रांस पर ही निर्भर करता था, यद्यपि अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ उसने अनाक्रमण व तटस्थता की सन्धियाँ की हुई थीं।

१९३३ में जर्मनी में हिटलर के शक्ति प्राप्त कर लेने पर इस स्थिति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। अब पोलैण्ड को यह भरोसा नहीं रह गया, कि फ्रांस जर्मनी जैसे शक्तिशाली राज्य से उसकी सुरक्षा कर सकेगा। फ्रांस और पोलैण्ड की सीमाएँ एक दूसरे के साथ नहीं लगती थीं। जर्मनी उनके बीच में पड़ता था। फ्रेञ्च सेनाओं के लिये पोलैण्ड की सहायता के लिये जाने का कोई सीधा मार्ग नहीं था। साथ ही, नाजी शक्ति के उत्कर्ष से फ्रांस स्वयं भी आशंकित हो गया था। उसे पोलैण्ड की अपेक्षा अपनी रक्षा की अधिक फिक्र हो गई थी। इस दशा में पोलैण्ड ने यह उचित समझा, कि जर्मनी के साथ ही समझौता कर लिया जाये। जर्मनी ने भी इसमें अपना लाभ समझा। कम्युनिस्ट व्यवस्था के कारण रूस के प्रति उसकी विरोध-भावना अत्यन्त उग्र हो गई थी। रूस के साथ उसकी मैत्री हो ही नहीं सकती थी। हिटलर यही घोषित कर रहा था, कि नाजी पार्टी का उद्देश्य कम्युनिज़्म से यूरोप की रक्षा करना है। फ्रांस और ब्रिटेन जैसे पश्चिमी देशों के साथ भी उसकी घनिष्ठता का हो सकना सम्भव नहीं था। जिनीवा की निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स से वह इसीलिये पृथक् हो गया था, क्योंकि ये देश न अपनी सैन्यशक्ति में कमी करने को उद्यत थे, और न जर्मनी को ही अपनी शक्ति बढ़ाने देने की बात को स्वीकार करने के लिये तैयार थे। राष्ट्रसंघ के प्रति भी उसकी आस्था नहीं रह गई थी। इस दशा में जर्मनी ने यही उचित समझा, कि अपनी पूर्वी सीमा पर स्थित पोलैण्ड के साथ सन्धि कर लेने में ही उसका लाभ है। जनवरी, १९३४ को सन्धि के कारण वह अपनी पूर्वी सीमा के सम्बन्ध में निश्चिन्तता अनुभव कर सकता था। इससे हिटलर को यह अवसर भी मिल गया, कि वह संसार के सम्मुख अपनी शान्तिप्रियता को प्रदर्शित कर सके। अब वह विश्वास के साथ यह कह सकता था, कि जब जर्मनी पोलैण्ड तक से सुलह करने को उद्यत है, तो उसे शान्ति का विरोधी कैसे कहा जा सकता है। हिटलर की नीति यह थी, कि वह धीरे-धीरे पग बढ़ाए। चारों ओर एक साथ हमला कर देना उसे समुचित प्रतीत नहीं होता था। वह चाहता था, कि सब से पूर्व आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलाकर एक कर दिया जाए, फिर चेकोस्लोवाकिया के जर्मन प्रदेशों (सुडटनलैण्ड आदि) को अधिगत करे,

और फिर पोलैण्ड की ओर ध्यान दे। ये सब कार्य उसे करने तो थे ही, पर एक-एक करके। इसी कारण उसने पोलैण्ड के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया। सार के प्रदेश का प्रश्न भी उसके सम्मुख था। वर्साय्य की सन्धि के अनुसार १९३५ में सार में इस बात पर लोकमत लिया जाना था, कि यह प्रदेश जर्मनी के साथ सम्मिलित किया जाए या फ्रांस के, और या इसका शासन राष्ट्रसंघ के ही हाथों में रहे। हिटलर चाहता था कि सार का लोकमत जर्मनी के पक्ष में प्राप्त हो। इस कारण भी वह यह प्रदर्शित करना चाहता था कि नाजी सरकार शान्तिप्रिय है, और अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखना चाहती है। ये ही कारण थे, जिनसे जर्मनी और पोलैण्ड में एक दूसरे पर आक्रमण न करने का पैक्ट हो सका। निःसन्देह, पोलैण्ड के साथ सन्धि कर हिटलर ने अपनी नीतिकुशलता का परिचय दिया था।

सार की प्राप्ति—आल्सेस-लारेन के उत्तर-पूर्व में सार के प्रदेश की स्थिति है। इसका क्षेत्रफल ७२३ वर्गमील है, और १९१९ में इसकी जनसंख्या ६,६०,००० थी। कोयले की दृष्टि से यह प्रदेश अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ के निवासियों की बहुसंख्या जर्मन है। हरजाने की मात्रा को वसूल करने के लिये फ्रांस ने इस बात पर जोर दिया था, कि इस प्रदेश को जर्मनी से पृथक् रखा जाए, ताकि वहाँ की खानों से आल्सेस-लारेन को लोहे के कारखानों के लिये पर्याप्त मात्रा में कोयला उपलब्ध हो सके। पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णय के अनुसार सार का शासन १५ साल के लिये राष्ट्रसंघ को दे दिया गया था, और यह निश्चय किया गया था कि १९३५ में वहाँ लोकमत ले कर यह तय किया जायगा कि यह प्रदेश जर्मनी के साथ सम्मिलित कर दिया जाए, या फ्रांस में मिला दिया जाए, और या राष्ट्रसंघ के शासन में ही रहे। जनवरी, १९३५ में राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में सार में लोकमत लिया गया। जर्मनी की नाजी सरकार को इस लोकमत में बहुत दिलचस्पी थी। वह यत्न कर रही थी, कि सार के अधिक से अधिक निवासी अपने प्रदेश को जर्मनी में सम्मिलित कर दिये जाने के पक्ष में वोट दें। राष्ट्रीय एकता की ओर और विशाल जर्मन राष्ट्र के निर्माण की दिशा में यह पहला पग होगा, उसका यह विश्वास था। सार के जो नागरिक उस समय जर्मनी, फ्रान्स और अमेरिकन महाद्वीप में बसने के लिये चले गये थे, वे भी अपने वोट देने के लिये सार गये। कुल मतदाताओं के ९८ प्रतिशत ने वोट डाले। ५,२५,००० वोट जर्मनी के पक्ष में आए, २१०० फ्रान्स के पक्ष में और ४६,५०० राष्ट्रसंघ के शासन में रहने के पक्ष में। हिटलर ने इसे अपनी नीति की शानदार विजय माना, और १ मार्च, १९३५ के दिन सार को जर्मनी में शामिल कर दिया गया।

सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में ब्रिटेन और जर्मनी का समझौता—नाजी सरकार वर्साय्य की सन्धि द्वारा की गई व्यवस्थाओं को भंग करने में तत्पर थी। पेरिस की शान्तिपरिषद् के निर्णयों के अनुसार जर्मनी की सेना की जो अधिकतम मात्रा नियत की गई थी, उसकी उसे जरा भी परवाह नहीं थी। वह अपनी सैन्यशक्ति में निरन्तर

वृद्धि करती जा रही थी। इससे चिन्तित होकर फ्रांस ने राष्ट्रसंघ के सम्मुख इस समस्या को उपस्थित किया। इसी प्रयोजन से संघ की कौंसिल का एक असाधारण अधिवेशन बुलाया गया। इससे पूर्व कि कौंसिल की बैठक हो, फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के प्रतिनिधि स्ट्रेस्सा नामक नगरी में एकत्र हुए (११ एप्रिल, १९३५) और वहाँ उन्होंने इस प्रश्न पर विचार विमर्श किया, कि संघ की कौंसिल में उन्हें क्या रुख लेना चाहिए। इटली इस समय अबीसीनिया पर आक्रमण करने की तैयारी में व्यग्र था; और फ्रांस तथा ब्रिटेन इससे बहुत उद्वेग अनुभव कर रहे थे। स्ट्रेस्सा की कान्फरेन्स में कोई ऐसा निर्णय नहीं किया जा सका, जिससे जर्मनी के विरुद्ध कोई ठोस पग उठाया जा सकता। केवल जर्मनी की निन्दा का प्रस्ताव स्वीकृत कर दिया गया, और उसी को राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने भी स्वीकार कर लिया (१७ एप्रिल, १९३५)। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि जर्मनी की बढ़ती हुई सैन्यशक्ति से ब्रिटेन को उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी कि फ्रांस को थी। ब्रिटेन इस बात से सन्तुष्ट था, कि हिटलर सामुद्रिक शक्ति की वृद्धि के लिए विशेष प्रयत्न नहीं कर रहा है। उसके साम्राज्य की सुरक्षा सामुद्रिक शक्ति पर ही निर्भर थी। इस क्षेत्र में वह किसी अन्य राज्य को प्रतिद्वन्द्विता को नहीं सह सकता था। जर्मनी की सैन्यशक्ति से सबसे अधिक भय फ्रांस को था, क्योंकि उसकी सीमा जर्मनी के साथ लगती थी, और राइनलैण्ड सदृश जर्मनी के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश अभी विदेशी सेनाओं के कब्जे में थे। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को दृष्टि में रख कर मई, १९३५ में फ्रांस ने रूस के साथ एक पैक्ट किया, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने और उत्तेजनात्मक कारण के अभाव में किसी अन्य राज्य द्वारा उन दोनों में से किसी पर आक्रमण किये जाने की दशा में परस्पर विचार विमर्श द्वारा काम करने का निश्चय किया। रूस और फ्रांस की तो यह भी इच्छा थी, कि जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप के विविध राज्य भी इस पैक्ट में शामिल हो जाएँ। उन्हें आशा थी कि इस ढंग से एक बड़े पैक्ट के बन जाने से यूरोप में युद्ध की आशंका दूर हो सकेगी। पर जर्मनी इसके लिए उद्यत नहीं हुआ, और पूर्वी यूरोप के राज्यों ने भी अपना हित इसी बात में माना, कि आत्मरक्षा के प्रयोजन से वे अपने पृथक्-पृथक् पैक्ट बनाएँ। इसीलिए मई, १९३५ में रूस और चेकोस्लोवाकिया ने भी उसी ढंग का पैक्ट कर लिया, जैसा कि फ्रांस ने रूस के साथ किया था।

ब्रिटेन अपनी और अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक समझता था, कि उसकी सामुद्रिक शक्ति का कोई अन्य प्रतिद्वन्द्वी न हो। अतः उसने यह उचित समझा, कि जर्मनी के साथ एक ऐसा पैक्ट कर लिया जाए, जिससे कि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति का उसे कोई भय न रह जाए। जर्मनी इसके लिए उद्यत था। हिटलर बड़े स्पष्ट रूप से यह घोषणा करने में तत्पर था, कि वह संसार में शान्ति स्थापित रहने का पक्षपाती है। पोलैण्ड के साथ किये गये समझौते का उदाहरण देकर वह

घोषित कर रहा था, कि जर्मनी सब देशों के साथ मैत्री और अनाक्रमण की नीति का अनुसरण करने के लिए उत्सुक है। इसी प्रयोजन से उसने रिबनट्रॉप को अपना विशेष प्रतिनिधि बनाकर लण्डन भेजा (जून, १९३५), और उसे यह आदेश दिया कि ब्रिटिश सरकार के साथ सामुद्रिक शक्ति के विषय में निर्णय करे। रिबनट्रॉप ने लण्डन जाकर जो समझौता किया, उसके अनुसार यह तय किया गया कि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन के मुकाबले में ३५ प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ने पायेगी। साथ ही, जर्मनी को यह अनुमति दे दी गई कि वह पनडुब्बियाँ भी बना सके। वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के लिए यह निषिद्ध था। पर ब्रिटेन इस बात से संतुष्ट था, कि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति उसकी तुलना में केवल ३५ प्रतिशत रहेगी, जिसके कारण उसके साम्राज्य की सुरक्षा की भली-भाँति व्यवस्था हो जायगी।

जर्मनी और ब्रिटेन के इस समझौते को कतिपय विचारकों ने ब्रिटिश लोगों की सहज बुद्धि का परिणाम माना है। उनका यह कहना है, कि फ्रांस के राजनीतिज्ञ जर्मनी की स्थल-सैन्य-शक्ति को नियन्त्रित रखने के सम्बन्ध में जर्मनी से कोई समझौता नहीं कर सके, जब कि फ्रांस की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक था। पर ब्रिटेन की सरकार जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति की वृद्धि को उस सीमा तक मर्यादित करने में सफल हो गई, जो उसकी सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक थी। पर अन्य विचारक इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है, कि स्ट्रेस्सा की कान्फरेन्स में ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने सम्मिलित रूप से जर्मनी की सैन्य शक्ति की वृद्धि की निन्दा का प्रस्ताव स्वीकृत किया था, और राष्ट्रसंघ ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया था। ब्रिटेन ने पृथक् रूप से जर्मनी के साथ नाविक शक्ति के सम्बन्ध में समझौता करके स्ट्रेस्सा की भावना को सर्वथा निर्बल कर दिया। जर्मनी की नीति की सामूहिक रूप से निन्दा इसी प्रयोजन से की गई थी, ताकि वर्साय्य की सन्धि द्वारा निर्धारित व्यवस्था को शिथिल कर यदि सैन्य-शक्ति को बढ़ाने के सम्बन्ध में जर्मनी को कोई सुविधाएँ दी जाएँ, तो सब राज्यों की सहमति से ही दी जाएँ। पर ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ जो अकेले समझौता कर लिया, वह स्ट्रेस्सा की भावना के सर्वथा विपरीत था। इससे नाजी पार्टी का साहस बढ़ गया, और वह वर्साय्य की सन्धि की शर्तों को भंग करने के लिए खुले तौर पर तत्पर हो गई।

पर ब्रिटेन के पक्ष में यह बात कही जा सकती है, कि नाजी पार्टी और हिट-लर के उत्कर्ष का प्रधान कारण यही था, कि पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा जर्मनी के प्रति न्याय नहीं किया गया था। यदि यूरोप के विविध राज्य अपना गुट बना कर इन अन्यायों को स्थायी रूप देने का प्रयत्न करते, तो जर्मनी में नाजियों की शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती। ब्रिटेन का कहना था, कि धीरे-धीरे इन अन्यायों को दूर करने में ही सबका हित है। यदि जर्मनी को भी संसार के राज्य-परिवार में समुचित व प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो जाए, उसकी समुचित शिकायतें दूर कर दी जाएँ और उसे सन्तुष्ट रखा

जाए, तो वह शान्ति के मार्ग का अनुसरण करने में तत्पर हो सकेगा। तुष्टीकरण की इस नीति ने ही ब्रिटेन को जर्मनी के साथ नाविक समझौता कर लेने के लिये प्रेरित किया था। निःसन्देह, यह हिटलर की परराष्ट्र नीति की विजय थी। वह जानता था, कि सब राज्यों से न एक साथ समझौते व मैत्री की जा सकती है, और न सब का एक साथ विरोध ही। अपनी शान्तिप्रियता की दुहाई दे कर वह कभी किसी से और कभी किसी से समझौते करता था, और साथ ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जर्मनी की सैन्य-शक्ति में निरन्तर वृद्धि करता जाता था।

वर्साय्य की सन्धि का भंग—नाजी पार्टी का उत्कर्ष वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति किये गये अन्यायों के कारण ही हुआ था। अतः हिटलर ने इस सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करने की नीति को अपनाया। वर्साय्य की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि जर्मनी अपनी सैन्यशक्ति में वृद्धि न कर सके। पर हिटलर ने इसकी कोई परवाह नहीं की, और १६ मार्च, १९३५ को यह घोषित किया, कि क्योंकि फ्रांस और ब्रिटेन आदि मित्र-राज्यों ने निःशस्त्रीकरण के मार्ग में कोई ठोस कदम नहीं उठाया है, अतः कानूनी व नैतिक दृष्टि से जर्मनी के लिये यह आवश्यक नहीं है, कि वह वर्साय्य की सन्धि की उन शर्तों का पालन करे जिनका सम्बन्ध सैन्यशक्ति को नियन्त्रित करने के साथ है। इसीलिये उसने अपना यह संकल्प प्रगट किया, कि जर्मनी में फिर से बाधित सैनिक शिक्षा और बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को जारी किया जायगा। जर्मनी की स्थल सेना में सैनिकों की संख्या बढ़ा कर ५,५४,००० कर दी जायगी, और जर्मनी की वायु सेना फ्रांस और ब्रिटेन के समकक्ष होगी। पर इस घोषणा को करते हुए उसने शान्ति में अपने विश्वास की भी दुहाई दी, और यह भी कहा कि वह अन्य देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखने के लिये वह पूर्णरूप से उद्यत है। इसी लिये उसने ब्रिटेन के प्रतिनिधियों के साथ सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में बातचीत शुरू की, और वह नाविक समझौता किया जिसका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है।

मार्च, १९३६ में जर्मन सेनाओं ने र्‌हाइनलैण्ड में प्रवेश कर लिया, और वहाँ किलाबन्दी शुरू कर दी। वर्साय्य का सन्धि के अनुसार जर्मनी ने यह स्वीकार किया था, कि र्‌हाइनलैण्ड में न वह किलाबन्दी करेगा, और न उसकी सेनाएँ ही वहाँ प्रवेश करेंगी। पर हिटलर ने इसकी कोई भी परवाह नहीं की, और उसकी सेनाओं ने र्‌हाइनलैण्ड पर अधिकार कर लिया। इस समय इटली अबीसीनिया की विजय में तत्पर था, और राष्ट्रसंघ उसके साम्राज्य-विस्तार को नियन्त्रित करने में सर्वथा असमर्थ हो रहा था। ब्रिटेन और फ्रांस भी कोई ऐसा निर्णय नहीं कर सके थे, जिससे कि मुसोलिनी की महत्त्वाकांक्षाओं पर नियन्त्रण रखा जा सकता। जर्मनी ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और वर्साय्य की सन्धि का भंग कर र्‌हाइनलैण्ड पर सैनिक कब्जा कर लिया।

र्‌हाइनलैण्ड पर जर्मन सेनाओं का कब्जा केवल वर्साय्य की सन्धि के ही

प्रतिकूल नहीं था। लोकार्नो के समझौते पर जर्मनी ने भी हस्ताक्षर किये थे (अक्टूबर, १९२५)। इस समझौते द्वारा जर्मनी ने यह स्वीकार किया था, कि वह वर्साय्य की सन्धि द्वारा निर्धारित की गई जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम की सीमाओं को सुरक्षित रखेगा और र्‌हाइनलैण्ड की किलाबन्दी नहीं करेगा। पर हिटलर का कहना था, कि रूस के साथ सन्धि (मई, १९३५) करके फ्रांस ने लोकार्नो के समझौते का भंग किया है। इस सन्धि का उद्देश्य एक ऐसे गुट का निर्माण करना है, जिसे जर्मनी के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकेगा। इसी समय हिटलर ने यह भी प्रस्ताव किया, कि फ्रांस और जर्मनी के बीच में एक नये सैन्यरहित क्षेत्र का निर्माण किया जाए, ताकि दोनों देशों में युद्ध की सम्भावना न रहे। इस प्रस्ताव का प्रयोजन यही था, कि नाजी सरकार की शान्तिप्रियता की बात संसार के सम्मुख आ जाए।

यदि इस समय ब्रिटेन और फ्रांस र्‌हाइनलैण्ड में जर्मन सेनाओं के प्रवेश का प्रतिरोध करने के लिये अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग करते, तो जर्मनी के लिये इस प्रदेश पर सैनिक कब्जा कर सकना सम्भव न होता। जर्मनी के सेनापतियों को इस बात की सम्भावना भी थी, और इसी कारण उन्होंने र्‌हाइनलैण्ड पर सैनिक कब्जे का विरोध भी किया था। पर हिटलर को इस बात में कोई सन्देह नहीं था, कि ब्रिटेन और फ्रांस मौखिक विरोध तो करेंगे, पर अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग नहीं करेंगे। ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति इस समय भी काम आयी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विचार था, कि जर्मनी ने एक ऐसे प्रदेश में अपनी सेनाएँ भेजी हैं, जहाँ उसे सेनाएँ भेजने से वञ्चित रखना अन्याय की बात थी। इस अवसर पर लार्ड लोथियन का कहना था, कि जर्मन लोग अपने घर के पिछली ओर के बगीचे में ही तो गये हैं। वस्तुतः, इस समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की यही मनोवृत्ति थी। र्‌हाइनलैण्ड पर जर्मनी के सैनिक कब्जे के प्रश्न पर फ्रांस सैन्यशक्ति के प्रयोग के लिये उद्यत था। इसी लिये मार्च, १९३६ में फ्रांस के प्रधानमन्त्री सारू और परराष्ट्रमन्त्री फ्लांदां ने लण्डन की यात्रा की, और वहाँ की सरकार से इस सम्बन्ध में बातचीत की। पर ब्रिटिश सरकार इसके लिये उद्यत नहीं हुई। राष्ट्रसंघ के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित किया गया। संघ की कौंसिल ने जर्मनी की इस कार्रवाई की निन्दा का प्रस्ताव अवश्य पास कर दिया, पर इससे अधिक कुछ करना उसने आवश्यक नहीं समझा।

र्‌हाइनलैण्ड पर जर्मनी के सैनिक कब्जे का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रदेश में किलाबन्दी कर लेने के कारण जर्मनी को फ्रांस के आक्रमण का खतरा बहुत कम हो गया, और उसके लिये यह सम्भव हो गया, कि वह अपनी सेनाओं के बड़े भाग को पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया की दिशा में प्रयुक्त कर सके। फ्रांस ने इन राज्यों के साथ जो सैनिक सन्धियाँ की हुई थीं, उनका महत्त्व अब बहुत कम रह गया। यदि जर्मनी इन राज्यों पर आक्रमण करता, तो फ्रांस तभी उनकी सहायता कर सकता था, जब कि उसे अपनी राष्ट्रीय सीमा की सुरक्षा के सम्बन्ध में

निश्चिन्तता होती। र्‌हाइनलैण्ड में जर्मनी द्वारा किलाबन्दी कर लेने पर फ्रांस के लिये अपनी सुरक्षा का प्रश्न ही अत्यन्त विकट हो गया। इस दशा में वह अन्य राज्यों की रक्षा के लिये अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग कैसे कर सकता था। साथ ही, इससे जर्मनी की शक्ति की धाक उसके पड़ोसी राज्यों पर जम गई, और उन्हें यह अनुभव होने लगा, कि वे अपनी रक्षा तभी भलीभाँति कर सकते हैं, जब कि जर्मनी के साथ उनका मैत्री-सम्बन्ध हो।

र्‌हाइनलैण्ड पर अपना सैनिक कब्जा स्थापित कर हिटलर ने वर्साय की सन्धि का पूर्णरूप से अन्त कर दिया था। अब उसके लिये अपनी शक्ति को बढ़ाने और संसार में जर्मनी के लिये समुचित व न्याय्य स्थान प्राप्त करने का मार्ग अविकल रूप से प्रशस्त हो गया था। र्‌हाइनलैण्ड के सैनिक कब्जे का यूरोप के छोटे राज्यों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे बेल्जियम के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। लोकार्नो के समझौते में बेल्जियम भी सम्मिलित था। अक्टूबर, १९३६ में उसने घोषित किया, कि भविष्य में वह अपने को उसी प्रकार तटस्थ रखेगा, जैसे कि स्विट्ज़रलैण्ड है। वह किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा। यदि उसके पड़ौसी राज्यों में कोई झगड़ा होगा, तो वह तटस्थ नीति का अनुकरण करेगा, और लोकार्नो के समझौते द्वारा जो उत्तरदायिताएँ उसने स्वीकार की थीं, उनसे अपने को मुक्त समझेगा। वस्तुतः, अब बेल्जियम जैसे छोटे राज्यों को यह भरोसा नहीं रह गया था, कि फ्रांस और ब्रिटेन सदृश पश्चिमी राज्य उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं। यही भावना एस्थोनिया, लैटविया आदि अन्य छोटे राज्यों की भी थी।

रोम-बर्लिन-टोक्यो एक्सिस—इटली द्वारा अबीसीनिया की विजय का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी और इटली अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक दूसरे के घनिष्ट मित्र बन गये। शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ये दोनों राज्य एक सदृश थे। दोनों में डिक्टेटरों का शासन था। पर विदेशी राजनीति में ये एक दूसरे के विरोधी थे। अबीसीनिया के युद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों ने उन्हें परस्पर सहयोगी बना दिया। इटली के अबीसीनिया पर आक्रमण करने के समय राष्ट्रसंघ द्वारा यह निश्चय किया गया था, कि इटली का आर्थिक बहिष्कार किया जाए। ब्रिटेन और फ्रांस ने भी इसका समर्थन किया था, और वे भी इटली के बहिष्कार में शामिल थे। जर्मनी न इस समय राष्ट्रसंघ का सदस्य था, और न उसके आदेशों की ही उसे कोई परवाह थी। इस अवसर पर उसने सब प्रकार से इटली को सहायता की। अबीसीनिया के युद्ध में फ्रांस को भी विवश होकर ब्रिटेन का साथ देना पड़ा था। अतः इटली ने यह भलीभाँति समझ लिया, कि यूरोप में जर्मनी ही उसका असली मित्र है। इटली जो अब तक जर्मनी के साथ घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध नहीं कर सका था, उसका कारण आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न ही था। जर्मनी आस्ट्रिया को अपने साथ मिला कर विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण करना चाहता था। पर यह इटली को

पसन्द नहीं था। इटली की उत्तरी सीमा आस्ट्रिया के साथ लगती है, और इस सीमा की रक्षा के लिये उसकी दृष्टि में ब्रेनर के दर्रे का बहुत महत्त्व है। आस्ट्रिया जैसे छोटे-से राज्य का अपनी सीमा पर होना उसके लिये खतरे की बात नहीं थी। पर यदि विशाल जर्मन राष्ट्र की दक्षिणी सीमा उसके साथ आ लगती, तो यह उसकी सुरक्षा के लिये समुचित न होता। जुलाई, १९३६ में उन आर्थिक प्रतिबन्धों को हटा लिया गया था, जो अबीसीनिया के युद्ध के समय इटली के विरुद्ध लगाये गये थे। इस दशा में आस्ट्रिया के प्रश्न को सम्मुख ला कर फ्रांस फिर इटली के साथ मित्रता की बात को शुरू कर सकता था। पर इसी समय स्पेन में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया। जर्मनी और इटली ने दिल खोल कर फ्रांको की सहायता की, और फ्रांस ने स्पेन की रिपब्लिकन सरकार की। इस कारण फ्रांस और इटली के सम्बन्ध मधुर नहीं हो पाए, और जर्मनी तथा इटली एक दूसरे के अत्यन्त समीप आ गये। इसी का यह परिणाम हुआ, कि २४ अक्टूबर, १९३६ को इटली ने जर्मनी के साथ एक गुप्त समझौता किया, जिसके अनुसार उसने आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला लेने के मामले में जर्मनी का विरोध न करने की बात स्वीकार कर ली। इससे पूर्व जुलाई, १९३६ में जर्मनी ने आस्ट्रिया के साथ एक समझौता कर लिया था, जिस द्वारा जर्मनी ने आस्ट्रिया की सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता को स्वीकार करते यह भी मान लिया था कि आस्ट्रिया में नाजी पार्टी जो जोर पकड़ रही है, वह आस्ट्रिया की सरकार का अपना मामला है और उसमें जर्मनी की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। पर अक्टूबर, १९३६ के इटली-जर्मनी समझौते के कारण जर्मनी को यह भरोसा हो गया था, कि यदि वह आस्ट्रिया को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न करेगा, तो इटली उसका विरोध नहीं करेगा। इस समझौते में दोनों राज्यों ने यह भी स्वीकार किया, कि वे कम्युनिज्म का प्रतिरोध करने में एक दूसरे के साथ सहयोग करेंगे। हिटलर और मुसोलिनी का विचार था, कि वे परस्पर सहयोग द्वारा कम्युनिज्म के खतरे से यूरोप की रक्षा कर सकते हैं। शान्ति-स्थापना के लिये उनका सहयोग बहुत उपयोगी है, और धीरे-धीरे अन्य राज्य भी उन द्वारा निर्मित इस धुरी (Axis) के चारों ओर एकत्र होते जायेंगे, और परस्पर मिल कर विश्व में शान्ति-स्थापना के महत्त्वपूर्ण कार्य में सहयोग देंगे।

२५ नवम्बर, १९३६ को जापान भी जर्मनी और इटली के इस गुट में शामिल हो गया। उत्तर-पूर्वी चीन में जापान जिस ढंग से अपने प्रभुत्त्व का विस्तार कर रहा था, उसके कारण रूस से उसका विरोध होना स्वाभाविक था। अतः उसने जर्मनी के साथ मिल कर एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट किया, और ६ नवम्बर, १९३७ को इटली भी इस पैक्ट में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार रोम-बर्लिन-टोक्यो एक्सिस का निर्माण हुआ, जिसका उद्देश्य परस्पर मिल कर रूस का प्रतिरोध करना था।

जर्मनी और इटली में जो इस प्रकार घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो सका, उसका एक अन्य कारण भी था। अबीसीनिया की विजय से भूमध्य सागर के दोनों

ओर के प्रदेश इटली के अधिकार में आ गये थे। मुसोलिनी कहता था, भूमध्य सागर इटली की जान है, जब कि ब्रिटेन के लिये यह केवल एक मार्ग है। पर ब्रिटेन यह स्वीकार करने को उद्यत नहीं था। अपने पूर्वी साम्राज्य के लिये उसकी दृष्टि में इस सागर का महत्त्व बहुत अधिक था। भूमध्य सागर के क्षेत्र में इटली का प्रभुत्त्व जिस ढंग से बढ़ रहा था, ब्रिटेन के लिए उसे सह सकना सम्भव नहीं था। इस क्षेत्र में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के प्रयोजन से ब्रिटेन ने ईजिप्ट के साथ एक सन्धि की (अगस्त, १९३६), जिसके अनुसार ब्रिटेन ने ईजिप्ट की सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता को स्वीकार कर लिया, और वहाँ से अपनी सेनाएँ हटा लीं। स्वेज नहर के क्षेत्र में केवल इतनी सेनाएँ रखी गईं, जो इस जल मार्ग की सुरक्षा के लिए आवश्यक थीं। इस सन्धि के कारण ईजिप्ट ब्रिटेन का मित्र व सहयोगी बन गया, और ब्रिटेन को इस बात का भरोसा हो गया, कि युद्ध के समय वह ईजिप्ट के राज्य-क्षेत्र को अपनी सेनाओं के लिये प्रयुक्त कर सकेगा। इसी प्रकार २० जुलाई, १९३६ को मोन्त्रो कान्फरेन्स द्वारा डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरू-मध्यों के सम्बन्ध में यह तय किया गया, कि तुर्की उनके क्षेत्र में किलाबन्दी कर सके। शान्ति के समय में इस जल मार्ग का सब राज्य स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सकें, और युद्ध के अवसर पर तुर्की को यह अधिकार हो, कि वह ऐसे राज्यों द्वारा इस जल-मार्ग के उपयोग को बन्द कर सके जो कि राष्ट्रसंघ के आदेश के बिना युद्ध में व्यापृत हों और या जिनको तुर्की के साथ हुए किसी पैक्ट के कारण इस जल मार्ग को प्रयुक्त कर सकने का अधिकार न हो। इटली ने मोन्त्रो की इस सन्धि को अपने लिये विघातक समझा, क्योंकि यदि भविष्य में कभी राष्ट्रसंघ द्वारा इटली को आक्रान्ता घोषित कर दिया गया, तो रूस के जंगी जहाज इस जल-मार्ग का उपयोग कर सकते थे। भूमध्य सागर के क्षेत्र में ब्रिटेन और इटली में जो प्रतिद्वन्द्विता थी, उसने भी इटली को जर्मनी के साथ मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाने के लिये प्रेरित किया।

(४) आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता का अन्त

नाजी सरकार की विदेशी राजनीति का एक प्रमुख उद्देश्य यह था, कि यूरोप के जिन प्रदेशों में भी जर्मन लोगों का निवास है, उन सब को मिला कर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण किया जाये, और जर्मनी संसार में अपना समुचित स्थान प्राप्त करे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने वर्साय्य की सन्धि को भंग कर सैन्य-शक्ति में वृद्धि की, और कम्युनिज्म के विरोधी इटली और जापान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। पर ये बातें नाजी पार्टी के उद्देश्यों को पूर्ण करने की साधन मात्र थीं। अपनी शक्ति में वृद्धि कर और पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा निर्धारित व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न कर हिटलर अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हुआ।

आस्ट्रिया और जर्मनी का एकीकरण (Anschluss)—आस्ट्रिया में दो प्रधान पार्टियाँ थीं, सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट। सोशल डेमोक्रेट पार्टी समाजवाद में विश्वास रखती थी, और देश के औद्योगिक क्षेत्रों में उसका प्रभाव अधिक था। देहातों के कृषिजीवि लोग प्रायः क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी के अनुयायी थे। जब जर्मनी में नाजी पार्टी का उत्कर्ष हुआ, तो आस्ट्रिया में भी इस पार्टी का संगठन किया गया, क्योंकि आस्ट्रिया के निवासी भी जर्मन जाति के हैं। आस्ट्रिया के नाजी जर्मन नाजियों के समान सैनिक पोशाक पहनते थे, और अपने देश को जर्मनी के साथ मिलाकर एक कर देने के लिए आन्दोलन करने में तत्पर थे। पर अन्य पार्टियों को यह बात स्वीकार्य नहीं थी। आस्ट्रिया के निवासी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, और जर्मन लोग प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के। १९३४ में आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री डॉ० डाल्फस थे, जो क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी के थे। उन्होंने नाजी पार्टी के दमन का प्रयत्न किया। इस पार्टी को अवैध घोषित कर दिया गया, और अनेक नाजी नेता गिरफ्तार कर लिए गये। पर जर्मन नाजी अपने आस्ट्रियन साथियों को हर प्रकार से सहायता प्रदान करने को उद्यत थे। जुलाई, १९३४ में नाजियों का एक दल वीएना के सचिवालय में घुस गया, और वहाँ डॉ० डाल्फस को घायल कर दिया। किसी चिकित्सक को वहाँ नहीं आने दिया गया, और कराह-कराह कर डाल्फस की मृत्यु हो गई। पर नाजी लोग अपने षड्यन्त्र में सफल नहीं हुए। उन्हें बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया, और नये प्रधानमन्त्री शुशनिग ने डाल्फस की नीति को जारी रखा। पर इस समय आस्ट्रिया में नाजी पार्टी निरन्तर जोर पकड़ती जा रही थी, और जर्मनी तथा आस्ट्रिया का सीमान्त क्षेत्र नाजियों का प्रधान गढ़ बन गया था। वहाँ से वे आस्ट्रियन सरकार के अफसरों और पुलिस पर आक्रमण करते रहते थे। स्थिति शुशनिग के काबू से बाहर होती जाती थी। इस दशा में यह विचार जोर पकड़ने लगा, कि आस्ट्रिया में हाप्सबुर्ग राजवंश की सत्ता को पुनः स्थापित किया जाना चाहिए, क्योंकि सर्वसाधारण जनता में अबतक भी अपने पुराने राजवंश के प्रति भक्ति की भावना विद्यमान थी। पर यह आन्दोलन भी सफल नहीं हो सका, और आस्ट्रिया में विविध राजनीतिक दलों के पारस्परिक संघर्ष में निरन्तर वृद्धि होती गई। जब तक इटली आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण का विरोधी रहा, नाजी पार्टी अपने इस कार्यक्रम को क्रियान्वित नहीं कर सकी। १९३४ में भी एक बार आस्ट्रिया के नाजियों ने जर्मनी के साथ मिल जाने का प्रयत्न किया था, पर मुसोलिनी ने अपनी सेनाएँ इटली के उत्तरी सीमान्त पर भेज दीं, जिसके कारण यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका था।

पर १९३६ में जब रोम-बर्लिन एक्सिस का निर्माण हो गया, तो मुसोलिनी ने आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण का विरोध करना बन्द कर दिया। इस बीच में आस्ट्रिया की आन्तरिक दशा निरन्तर खराब होती जा रही थी। वहाँ की जनता को न केवल आर्थिक दुर्दशा का सामना करना पड़ रहा था, अपितु विविध राजनीतिक

दलों के संघर्ष के कारण सरकार के लिए किसी सुदृढ़ नीति को अपना सकना भी कठिन हो गया था। यह स्थिति थी, जब कि फरवरी, १९३८ में हिटलर ने शुशनिग को बर्खटेसगाडन नामक स्थान पर मिलने के लिए बुलाया। वहाँ उसने शुशनिग को धमकाते हुए यह कहा, कि जर्मन सेनाएँ आधे घण्टे में आस्ट्रिया को जीत सकती हैं, मुसोलिनी अब उसका मित्र बन गया है, और जर्मन सेनाओं की प्रगति को रोक सकने वाला अब कोई नहीं रह गया है। पर आस्ट्रियन जनता का रक्त बहाना वह नहीं चाहता। इसलिए उचित यह होगा, कि आस्ट्रिया जर्मनी की बात मान ले, और नाजी पार्टी के नेता डा० सेइस इन्कुआर्ट को सरकार में गृहमन्त्री का पद दिया जाए। शुशनिग के लिए हिटलर का प्रतिरोध कर सकना सम्भव नहीं था। उसने हिटलर के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। सेइस इन्कुआर्ट को गृहमन्त्री बनाया गया, मन्त्रिमण्डल में कतिपय अन्य पद भी नाजियों को दिये गये, और सब नाजी कैदियों को रिहा कर दिया गया। यद्यपि इस समय भी शुशनिग का यह कहना था, कि आस्ट्रिया की स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखा जायगा, पर नाजी लोग अब उद्दण्डता से बरतने लगे थे और जर्मनी से मिलने के पक्ष में जुलूस आदि निकालते रहते थे। उनका नारा था, जर्मन जनता एक है, जर्मन राष्ट्र एक है। नाजियों के इस रुख के कारण शुशनिग ने ९ मार्च, १९३८ के दिन अचानक ही यह घोषणा कर दी, कि आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न का निर्णय लोकमत के अनुसार किया जायगा। २४ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक नागरिक को इस प्रश्न पर हाँ या ना द्वारा अपने मत को प्रगट करने का अधिकार रहेगा, और १३ मार्च, १९३८ को इस प्रश्न पर वोट लिये जायेंगे। यदि लोकमत द्वारा एकीकरण के पक्ष में अधिक वोट आए, तो सरकार उसे स्वीकार कर लेगी। पर हिटलर ने इस समाचार का स्वागत नहीं किया। उसे भय था, कि एकीकरण का प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत नहीं हो सकेगा, क्योंकि नाजी पार्टी में ऐसे युवकों व युवतियों की संख्या अधिक थी जिनको आयु २४ वर्ष से कम थी। इन्हें वोट देने का अधिकार नहीं दिया गया था। लोकमत को तिथि से दो दिन पूर्व हिटलर ने घोषणा की, कि १३ मार्च के लोकमत-संग्रह को रद्द कर दिया जाये। इस बीच में जर्मनी की सेनाएँ आस्ट्रिया के सीमान्त पर एकत्र होनी प्रारम्भ हो गई थीं। आस्ट्रिया उनका मुकाबला नहीं कर सकता था। परेशान होकर डा० शुशनिग ने प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया, और सेइस इन्कुआर्ट ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। प्रधानमन्त्री बनते ही उसने हिटलर के पास एक तार भेजा, जिसमें कहा गया था कि आस्ट्रिया में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए जर्मन सेनाओं की सहायता की तुरन्त आवश्यकता है। इस समय आस्ट्रिया में न कहीं विद्रोह हो रहे थे और न किसी अन्य प्रकार की ही अव्यवस्था थी। १२ मार्च की रात तक जर्मन सेनाएँ आस्ट्रिया में प्रविष्ट हो गईं, और शीघ्र ही सम्पूर्ण आस्ट्रिया पर उन्होंने कब्जा कर लिया। बीस साल की आयु की आस्ट्रियन रिपब्लिक का इस प्रकार अन्त हुआ। आस्ट्रिया पर कब्जा करते

ही हिटलर ने सबसे पूर्व अपने जन्म स्थान बॉनो की यात्रा की।

जर्मनी और आस्ट्रिया के एकीकरण के प्रयोजन से आस्ट्रिया पर आक्रमण करने का जो समय हिटलर ने चुना था, वह बहुत उपयुक्त था। फ्रांस में इस समय शोतां (रेडिकल सोशलिस्ट पार्टी के नेता) के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया था (मार्च, १९३८), और ब्लम नया मन्त्रिमण्डल बनाने में तत्पर थे। ब्रिटेन में ईडन ने परराष्ट्र-मन्त्री का पद छोड़ दिया था, और वहाँ के मन्त्रिमण्डल में ऐसे व्यक्तियों का जोर था, जो जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति के पक्षपाती थे। इटली से जर्मनी की मित्रता हो चुकी थी, और उसके विरोध की भी अब कोई आशंका नहीं रह गई थी। १४ मार्च को हिटलर ने विएना में धूमधाम के साथ प्रवेश किया, और यह घोषणा की, कि १० एप्रिल, १९३८ को जर्मनी और आस्ट्रिया के एकीकरण के प्रश्न पर जनता का लोकमत लिया जायेगा। लोकमत के परिणाम के सम्बन्ध में अब किसी मतभेद की गुञ्जाइश ही नहीं थी। ९९ प्रतिशत से भी अधिक वोट जर्मनी और आस्ट्रिया के एकीकरण के पक्ष में प्राप्त हुए, और आस्ट्रिया को विशाल जर्मन राष्ट्र का अन्यतम प्रान्त बना दिया गया। अब हिटलर सन्तोष के साथ कह सकता था कि आस्ट्रियन जनता जर्मन एकता के पक्ष में थी, और शुशनिग की सरकार लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध आस्ट्रिया में शासन कर रही थी।

आस्ट्रिया और जर्मनी के मिल कर एक हो जाने के अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। जर्मनी की कुल जनसंख्या ६,६०,००,००० के लगभग थी। अब ७० लाख आस्ट्रियन भी उसमें मिल गये, और उसकी जनसंख्या सवा आठ करोड़ से भी अधिक हो गई। जर्मनी की सैन्यशक्ति की वृद्धि में इससे बहुत सहायता मिली। आस्ट्रिया के सब कल-कारखाने, खानें, इमारती लकड़ी और अन्य आर्थिक साधन जर्मनी को प्राप्त हो गये। आस्ट्रिया के राजकीय बैंक के पास जो सोना जमा था, उसका मूल्य दो करोड़ पौंड के लगभग था। वह भी जर्मनी के हाथ लग गया। आस्ट्रिया में यातायात और संचार के जो भी साधन थे, वे सब भी जर्मनी के अधिकार में आ गये। सामरिक दृष्टि से अस्ट्रिया की भौगोलिक स्थिति अत्यन्त महत्त्व की थी। उसकी सीमाएँ हंगरी, इटली और युगोस्लाविया के साथ लगती थीं। अब जर्मनी का इन राज्यों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया, और उसके लिये इन राज्यों में अपने प्रभाव का विस्तार कर सकना सुगम हो गया।

चेकोस्लोवाकिया का अंगभंग और उस पर जर्मनी के प्रभुत्त्व की स्थापना—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मध्य यूरोप में जिन नये राज्यों का निर्माण किया गया था, चेकोस्लोवाकिया उनमें प्रधान था। पड़ोस के अन्य राज्यों के साथ मिल कर उसने छोटे राज्यों के जिस गुट (Little Entente) का संगठन किया हुआ था, उसका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। फ्रांस का समर्थन इस गुट को प्राप्त था, और रूस के साथ भी इस गुट के राज्यों ने सन्धियाँ की हुई थीं। जर्मनी की महत्त्वा-

काक्षाओं में इस गुट के राज्य बड़ी बाधा थे। यदि जर्मनी पूर्व की ओर अपना विस्तार करना चाहे, तो इन राज्यों का उसके वश में होना आवश्यक था। इसी लिये बिस्मार्क का कहना था, कि बोहीमिया पर जिसका नियन्त्रण हो, वही यूरोप पर नियन्त्रण रख सकता है। बोहीमिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया के ही अन्तर्गत था। उत्तरी यूरोप के मैदान को डैन्यूब नदी की घाटी से पृथक् करने वाली कारपेथियन पर्वतमाला इसी प्रदेश में है। अतः हिटलर मध्य तथा पूर्वी यूरोप को तभी अपने प्रभुत्व में ला सकता था, जब कि चेकोस्लोवाकिया पर उसका अधिकार हो। औद्योगिक दृष्टि से भी इस राज्य का बहुत महत्त्व था। स्कोडा का प्रसिद्ध कारखाना इसी राज्य में था, जहाँ युद्ध-सामग्री बहुत बड़े परिमाण में तैयार की जाती थी। पर हिटलर केवल औद्योगिक व सामरिक दृष्टि से ही चेकोस्लोवाकिया को अपने अधिकार में नहीं लाना चाहता था। जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया की सीमा पर स्थित सुडटनलैण्ड का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत था और उसमें जर्मन लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। पड़ोस के कतिपय अन्य प्रदेशों में भी जर्मन लोग पर्याप्त संख्या में बसे हुए थे। जर्मनी की राष्ट्रीय एकता को पूर्ण करने के लिए हिटलर यह आवश्यक समझता था, कि इन सब प्रदेशों को जर्मनी के साथ सम्मिलित कर लिया जाये।

जब जर्मनी में नाजी पार्टी का उत्कर्ष हुआ, तो उसका प्रभाव चेकोस्लोवाकिया के जर्मनों पर भी पड़ा। वहाँ भी नाजी पार्टी संगठित की गई। यह पार्टी उन प्रदेशों को जर्मनी में सम्मिलित करने के लिये आन्दोलन में तत्पर थी, जिनमें जर्मनों का निवास था। इसमें सन्देह नहीं, कि चेक सरकार के शासन में जर्मन लोगों की कतिपय ऐसी शिकायतें थीं, जिन्हें दूर करना आवश्यक था। फ्रांस और ब्रिटेन की प्रेरणा से चेक सरकार ने इन्हें दूर करने का भी प्रयत्न किया (१९३६-३७)। पर इससे सुडटन जर्मनों सन्तोष नहीं हुआ। उनकी माँग यह थी, कि सुडटनलैण्ड को चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, जो अपने आन्तरिक शासन में पूर्णतया स्वतन्त्र हो। एप्रिल, १९३८ में आस्ट्रिया पर जर्मनी का कब्जा हो चुका था, जिससे नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई थी। २८ एप्रिल, १९३८ को सुडटन जर्मनों के नेता हेनलाइन ने चेक सरकार के सम्मुख आठ माँगें पेश कीं, जिनमें चेक और जर्मन लोगों की समानता, जर्मन लोगों द्वारा आबाद प्रदेशों की सीमाओं का निर्धारण, इन प्रदेशों में स्वायत्त शासन की स्थापना और चेकोस्लोवाकिया की परराष्ट्र-नीति में परिवर्तन की मागें मुख्य थीं। चेक सरकार के लिये इन्हें स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं था, क्योंकि इनसे उसका राज्य अस्त-व्यस्त हो जाता था। पर सुडटन जर्मनों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा, और सर्वत्र विद्रोह प्रारम्भ कर दिये। चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने भी उनके विरुद्ध सैन्यशक्ति के प्रयोग का निर्णय किया, और ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्थिति अत्यन्त विकट रूप धारण कर लेगी। १५ सितम्बर को हेनलाइन ने स्पष्ट रूप से घोषित किया, कि उसकी पार्टी का उद्देश्य जर्मन लोगों

द्वारा आबाद सब प्रदेशों को जर्मनी में सम्मिलित करना है। हिटलर ने भी इस समय यह घोषित करना शुरू किया, कि सुडटन जर्मनों को भी स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार होना चाहिए। पर चेकोस्लोवाकिया अपने क्षेत्र के नाजियों का दमन तभी कर सकता था, जब कि अपने मित्र-राज्यों की सहायता उसे प्राप्त हो। वह अकेला विशाल जर्मनी की नाजी शक्ति का मुकाबला करने में असमर्थ था, क्योंकि इस बात में कोई सन्देह नहीं था, कि युद्ध शुरू होने पर जर्मनी की सब शक्ति सुडटन जर्मनों की सहायता के लिए आ जायेगी। चेकोस्लोवाकिया की अनेक राज्यों के साथ सैनिक सन्धियाँ विद्यमान थीं, और इन राज्यों को इस समय उसकी सहायता के लिये तत्पर हो जाना चाहिये था। पर रूस का कहना था, कि वह चेकोस्लोवाकिया की सहायता के लिये तैयार है, बशर्ते कि फ्रांस भी इसके लिये उद्यत हो, और फ्रांस कहता था कि वह इस शर्त पर सहायता कर सकता है यदि ब्रिटेन भी उसका साथ दे। पर इस समय फ्रान्स और ब्रिटेन दोनों ही जर्मनी से लड़ाई मोल नहीं लेना चाहते थे। ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति के कारण कोई भी राज्य चेकोस्लोवाकिया की सहायता के लिये अग्रसर नहीं हुआ। मि० चेम्बरलेन ने इस समस्या का हल करने के लिये जर्मनी जाकर हिटलर से भेंट की। उनके प्रयत्न से म्यूनिच का जो समझौता हुआ, उस पर पिछले अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। उसे यहाँ फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं है।

म्यूनिच में हिटलर की सब माँगें स्वीकार कर ली गई थीं। सुडटनलैंड को जर्मनी के साथ मिला दिया गया था, और चेकोस्लोवाकिया के जिन अन्य प्रदेशों में जर्मन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे उनकी सीमा निर्धारित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति कर दी गई थी। अब चेकोस्लोवाकिया एक छोटा-सा राज्य रह गया था। पर यह राज्य भी देर तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम नहीं रख सका। पहले उसके अन्तर्गत बोहेमिया-मोरेविया के प्रदेश पर जर्मनी का संरक्षण स्थापित किया गया (१६ मार्च, १९३९), और फिर स्लोवाकिया को जर्मन आधिपत्य में ले लिया गया। यदि हिटलर केवल सुडटनलैण्ड और अन्य जर्मन प्रदेशों को अपने साथ सम्मिलित करके ही सन्तुष्ट हो जाता, तो इसे अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि स्वभाग्य निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार इन पर जर्मनी समुचित रूप से दावा कर सकता था। पर अन्य प्रदेशों को भी अपने प्रभुत्व में लाकर उसने यह स्पष्ट कर दिया कि उसका उद्देश्य एक विशाल जर्मन साम्राज्य का निर्माण करना है। अब ब्रिटेन की भी आँखें खुलीं, और उसने तुष्टीकरण की नीति का परित्याग कर यह घोषणा की (३१ मार्च, १९३९), कि यदि जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया, तो वे पोलैण्ड की सहायता करेंगे। फ्रांस आदि अन्य राज्यों ने भी इसी प्रकार की घोषणाएँ की, और इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया कि यूरोप के राज्य अब जर्मनी का प्रतिरोध करने में संकोच नहीं करेंगे।

मेमल की प्राप्ति—जर्मनी के उत्तर-पूर्वी कोने पर मेमल का प्रदेश है, जो

नीमन नदी के मुहाने पर स्थित है। डान्ट्सिग के समान सामुद्रिक व्यापार के लिये इसका भी महत्त्व है। महायुद्ध के पश्चात् इसका शासन भी मित्र-राज्यों की अधीनता में दे दिया गया था, और इस पर एक फ्रेन्च सेना का कब्जा था। यह प्रदेश (क्षेत्रफल ११०० वर्ग मील) लिथुएनिया के साथ लगता है, और इसकी आबादी में जर्मन और लिथुएनियन दोनों ही हैं। जनवरी, १९२३ में इसे लिथुएनिया ने हस्तगत कर लिया था, और एक साल के बाद अन्य राज्यों ने लिथुएनिया के अन्तर्गत एक स्वायत्त प्रदेश की स्थिति में इसकी पृथक् सत्ता भी स्वीकार कर ली थी। क्योंकि मेमल में भी जर्मन जाति के लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था, अतः १९३३ में वहाँ भी नाज़ी पार्टी का संगठन हुआ, और वह इस प्रदेश को जर्मनी में सम्मिलित कर देने के लिये आन्दोलन में व्यापृत हो गई। लिथुएनिया के लिये इस आन्दोलन को दबा सकना सम्भव नहीं हुआ, और २२ मार्च, १९३९ को मेमल भी जर्मनी में मिला दिया गया।

(५) पोलैण्ड पर आक्रमण और द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ

आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी द्वारा कब्जा कर लेने पर अब यह स्पष्ट हो गया था, कि शीघ्र ही पोलैण्ड पर भी आक्रमण किया जायगा। डान्ट्सिग के बन्दरगाह और जर्मनी के राज्यक्षेत्र के बीच के पोल गलियारे को अधिगत कर लेना जर्मनी अपनी राष्ट्रीय एकता के लिये परमावश्यक समझता था। हिटलर इन्हें उसी ढंग से प्राप्त कर लेना चाहता था, जैसे कि उसने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को किया था। यद्यपि वह पोलैण्डके साथ अनाक्रमण-सन्धिकर चुका था (२६ जनवरी, १९३४), और इस सन्धि की दस साल की अवधि अभी समाप्त नहीं हुई थी, पर हिटलर ने इसकी कोई परवाह नहीं की। उसकी ओर से पोलैण्ड की सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया गया कि डान्ट्सिग जर्मनी को दे दिया जाए, और पोलैण्ड के पास समुद्र-तट तक पहुँचने के लिये जो गलियारा है और जिसके कारण जर्मनी दो भागों में विभक्त हो गया है, उसके बीच में से एक प्रदेश जर्मनी को दे दिया जाए ताकि जर्मनी के दोनों खण्ड आपस में सम्बद्ध हो जाएँ। इसके बदले में हिटलर ने जर्मनी और पोलैण्ड के बीच हुई अनाक्रमण-सन्धि की अवधि को दस साल से बढ़ा कर पच्चीस साल कर देने की बात कही। पोलैण्ड की सरकार हिटलर के इन प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हुई।

यह स्वीकार करना होगा, कि हिटलर के प्रस्ताव राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुरूप थे। राष्ट्रीय दृष्टि से डान्ट्सिग जर्मनी का अंग था। जर्मनी के राज्यक्षेत्र में से हो कर पोलैण्ड को एक गलियारा प्रदान करना भी समुचित व न्याय्य नहीं माना जा सकता। यह सही है कि पोलैण्ड को समुद्र तट तक पहुँचने के लिये सुविधा मिलनी चाहिये थी, पर इसके लिये जर्मनी को दो भागों में विभक्त कर देना उचित नहीं था। इस दशा में उचित यह होता, कि जर्मनी और पोलैण्ड परस्पर बातचीत द्वारा इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न करते। पर इस समय न पोलैण्ड को हिटलर के कथन में विश्वास रहा था, और न ब्रिटेन व फ्रांस को। १९ मार्च, १९३९ को

चेम्बरलेन ने यह घोषणा कर दी थी, कि ब्रिटेन पोलैण्ड की रक्षा के लिये गारन्टी देने को तैयार है। इसी प्रकार की गारन्टी फ्रांस द्वारा भी दे दी गई थी। पर हिटलर ने इसकी कोई परवाह नहीं की। उसे विश्वास था, कि जिस प्रकार आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया शक्ति द्वारा जीत लिये गये हैं, और फ्रांस व ब्रिटेन उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं डाल सके, वैसे ही वह अब पोलैण्ड को भी अपने सम्मुख घुटने टेक देने के लिये विवश कर सकेगा। फ्रांस और ब्रिटेन की दुविधापूर्ण नीति से लाभ उठा कर इटली भी इस बीच में अल्बानिया पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर चुका था (७ एप्रिल, १९३९)। इससे हिटलर की हिम्मत और भी बढ़ गई थी। अल्बानिया पर इटली के कब्जे को दृष्टि में रख कर फ्रांस और ब्रिटेन ने ग्रीस और रूमानिया की स्वतन्त्रता की रक्षा की भी गारन्टी दी, जिस द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि यदि जर्मनी व इटली ने पोलैण्ड, ग्रीस या रूमानिया पर आक्रमण किया, तो उसका प्रतिरोध करने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन अपनी सेनाओं को रणक्षेत्र में उतार देंगे। इस समय स्थिति इतनी गम्भीर होती जा रही थी, कि किसी छोटी-सी बात पर भी युद्ध का श्रीगणेश हो सकता था।

यूरोप के संकट को दृष्टि में रख कर अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने मुसोलिनी और हिटलर के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि विश्व में शान्ति स्थापित रखने के लिये वे दस साल तक उन राज्यों पर आक्रमण न करने का वचन दें, जिनकी सूचि उसने अपने प्रस्ताव के साथ भेजो थी। इन राज्यों की संख्या ३१ थी। यह प्रस्ताव १४ एप्रिल, १९३९ को प्रेषित किया गया था। पर हिटलर और मुसोलिनी इसे स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हुए। २८ एप्रिल के दिन हिटलर ने घोषित किया, कि सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में जर्मनी ने ब्रिटेन के साथ जो पैक्ट १९३५ में किया था, उसका अन्त किया जाता है और साथ ही पोलैण्ड के साथ की गई अनाक्रमण-सन्धि (१९३४) का भी। उसने अपने सेनापतियों को यह आदेश भी दे दिया, कि वे पोलैण्ड पर आक्रमण करने की योजना तैयार करें।

प्रश्न यह है, कि ब्रिटेन और फ्रांस पोलैण्ड, रूमानिया तथा ग्रीस की जर्मनी व इटली के आक्रमणों से रक्षा कैसे कर सकते थे? भौगोलिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं था, कि उनकी सेनाएँ इन राज्यों को रक्षा के लिये जा सकें। ग्रीस की रक्षा के लिये जल-मार्ग से सेनाएँ अवश्य भेजी जा सकती थीं, पर पोलैण्ड तथा रूमानिया की रक्षा के लिये वायुमार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। पर यदि रूस भी ब्रिटेन और फ्रांस के साथ इन राज्यों की रक्षा की गारन्टी में शामिल हो जाता, तो उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी जिससे कि उसकी सेनाएँ तुरन्त इनकी रक्षा के लिये पहुँच सकती थीं। फ्रांस और रूस में घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध था। दोनों को नाजी जर्मनी का समान रूप से भय था। १९३५ में उनमें यह सन्धि भी हो चुकी थी, कि किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण की दशा में वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। अतः फ्रांस ने यह कोशिश की, कि पोलैण्ड को रक्षा की गारन्टी में रूस भी शामिल हो जाए। ब्रिटेन

भी यही चाहता था। १५ एप्रिल, १९३९ को ब्रिटेन की सरकार ने रूस से यह प्रश्न किया, कि क्या वह पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा की गारन्टी में सम्मिलित होने को उद्यत है? रूस ने इसका यह उत्तर दिया, कि इस प्रकार की गारन्टी में उसके शामिल होने के दो परिणाम होंगे। पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा का सब भार उसके ऊपर आ जायगा, और केवल दो राज्यों की रक्षा की गारन्टी देने से यह समझा जायगा कि इन राज्यों ने परस्पर मिल कर एक गुट बना लिया है। अतः उचित यह होगा, कि फ्रांस, ब्रिटेन और रूस मिल कर एक ऐसा समझौता करें, जिससे कि वे न केवल पोलैण्ड और रूमानिया की अपितु अन्य छोटे राज्यों की रक्षा की भी गारन्टी देना स्वीकार करें। रूस की इच्छा यह थी, कि बाल्टिक सागर के तटवर्ती लिथुएनिया, लैटविया और एस्थोनिया की तथा काला सागर के तटवर्ती राज्यों की रक्षा की गारन्टी भी फ्रांस, ब्रिटेन तथा रूस द्वारा सम्मिलित रूप से दी जाए। पर ब्रिटेन इसे स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुआ।

इस बीच में जर्मनी की कूटनीति भी अपना काम कर रही थी। हिटलर ने बाल्टिक सागर के तटवर्ती राज्यों को यह विश्वस दिलाया, कि जर्मनी उनकी स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करना चाहता। वह उनके साथ अनाक्रमण की सन्धि करने के लिये उद्यत है। अगस्त, १९३९ में जर्मनी का कुशल परराष्ट्र-मन्त्री रिबनट्राप रूस गया, और वहाँ जाकर उसने यह प्रयत्न किया कि रूस के साथ भी इसी प्रकार का समझौता कर लिया जाए। अब तक रूस को यह विश्वास हो चुका था, कि ब्रिटेन के साथ उसकी कोई भी सन्धि सुगमतापूर्वक नहीं हो सकती। ब्रिटेन रूस की प्रत्येक बात को सन्देह की दृष्टि से देखता था, और वह कम्युनिस्ट व्यवस्था को विश्व की शान्ति के लिये विघातक समझता था। कम्युनिस्ट रूस की तुलना में ब्रिटिश राजनीतिज्ञ नाजी जर्मनी को कहीं अच्छा मानते थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि २३ अगस्त, १९३९ के दिन जर्मनी और रूस में एक सन्धि हो गई, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध न करने का वचन दिया, और साथ ही एक दूसरे के विरुद्ध संगठित किसी गुट में शामिल न होने का। इस सन्धि की अवधि दस साल रखी गई थी। रूस की विदेशी राजनीति का विवेचन करते हुए इस सन्धि पर प्रकाश डाला जा चुका है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इस सन्धि के कारण जर्मनी को यह भरोसा हो गया कि यदि उसने पोलैण्ड पर आक्रमण किया, तो रूस द्वारा उसके मार्ग में कोई बाधा प्रस्तुत नहीं की जायगी। अपनी पूर्वी सीमा की ओर से वह पूर्णतया निश्चिन्त हो गया था।

पोलैण्ड पर आक्रमण करने से पूर्व हिटलर ने अपनी स्थिति को बहुत सुदृढ़ कर लिया था। इटली के साथ जर्मनी की घनिष्ठ मित्रता हो चुकी थी, और हिटलर को यह विश्वास था कि युद्ध शुरू होने पर इटली की सहायता उसे प्राप्त हो जायगी। रूस के साथ सन्धि कर लेने के कारण अब उसे पूर्व की ओर से अपने देश पर आक्रमण

का कोई भय नहीं रह गया था। साथ ही, वह पोलैण्ड के विरुद्ध प्रचार में भी तत्पर था, और यह प्रदर्शित कर रहा था कि पोल सरकार अपने राज्यक्षेत्र में निवास करने वाले जर्मनों पर अत्याचार कर रही है और वह इन अत्याचारों से अपने जातिबन्धुओं की रक्षा करना चाहता है।

रूस और जर्मनी में सन्धि हो जाने पर ब्रिटेन ने एक बार फिर यह प्रयत्न किया, कि पोलैण्ड के प्रश्न को हल करने के लिये शान्तिमय उपायों का अवलम्बन किया जाए। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन ने हिटलर को पत्र लिखा कि पोलैण्ड की समस्या ऐसी नहीं है कि परस्पर विचार-विमर्श द्वारा उसका समाधान न किया जा सके। चेम्बरलेन के बहुत जोर देने पर २८ अगस्त, १९३९ को हिटलर इस बात के लिये तैयार हो गया कि पोलैण्ड के प्रतिनिधियों से बातचीत करे और सब विवादग्रस्त मामलों को विचारविनिमय द्वारा निबटाने का प्रयत्न करे। पर उसने यह शर्त साथ लगा दी, कि पोल सरकार के प्रतिनिधियों को ३० अगस्त तक बर्लिन पहुँच जाना चाहिये। पर यह सम्भव ही नहीं था, कि इतने थोड़े-से समय में पोल प्रतिनिधि अपनी सरकार से पूरे अधिकार लेकर बर्लिन आ सकते। अतः बर्लिन-स्थित ब्रिटिश राजदूत ने हिटलर से यह अनुरोध किया, कि जर्मनी अपनी माँगों को पोलैण्ड के राजदूत द्वारा वारसा भेजने की बात स्वीकार कर ले और इस मामले में जल्दी न करे। पर जर्मनी का परराष्ट्रमन्त्री रिबनट्राप इसके लिये उद्यत नहीं हुआ। वस्तुतः, हिटलर पोलैण्ड के सम्बन्ध में उसी नीति का अनुसरण करना चाहता था, जो उसने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में बरती थी। अब यह स्पष्ट हो गया था, कि शान्तिमय उपायों से पोलैण्ड की समस्या हल नहीं हो सकेगी। इसमें अब कोई सन्देह नहीं रह गया था, कि जर्मनी पोलैण्ड पर भी आक्रमण करेगा। ३० अगस्त, १९३९ की बर्लिन-स्थित पोल राजदूत ने अपनी सरकार से बातचीत करने का प्रयत्न किया, पर टैलीफोन की तार काट दी गई थी। हिटलर इस बात के लिये कटिबद्ध था, कि पोलैण्ड के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाए। १ सितम्बर, १९३९ को प्रातः काल ५½ बजे जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश था।

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के पश्चात् संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल मिला था। इसीलिये राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी, जिसके द्वारा राज्यों में परस्पर सहयोग को विकसित करने और राज्यों के आपसी झगड़ों का शान्तिमय साधनों से निबटाने का प्रयत्न किया जाता था। पर केवल २१ साल बाद बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया, जिसने प्रायः सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर लिया। प्रमुख राज्यों की विदेश नीति की यह भारी असफलता थी। इसके प्रधान कारणों को इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है—(१) पेरिस की शान्तिपरिषद् में जर्मनी से बदला लेने को भावना विद्यमान थी। इसीलिये मित्र-राज्यों ने उसके

प्रति अन्याय किया था, और सदा के लिये उसे अशक्त बना देने का प्रयत्न किया था। यह स्वाभाविक था, कि जर्मनी में इसका प्रतिशोध करने का विचार विकसित हो। नाजी पार्टी और हिटलर के उत्कर्ष का यही प्रधान कारण था। (२) मित्र-राज्यों की विदेशी राजनीति सही नहीं थी। उनमें ऐकमत्य का अभाव था। शक्ति-संतुलन का पुराना विचार उन्हें किसी एक नीति को निर्धारित नहीं करने देता था। फ्रांस और ब्रिटेन की विदेशी नीति में प्रायः मतभेद रहा। ब्रिटेन ने कभी फ्रांस का साथ देने की नीति अपनाई, और कभी जर्मनी को संतुष्ट करने की। पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा उन्होंने यूरोप में जिस व्यवस्था की स्थापना की थी, उसे कायम रखने के लिये उनमें सहयोग और ऐकमत्य का होना बहुत आवश्यक था। पर जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को हड़प लेने के समय उन्होंने परस्पर सहयोग से काम नहीं किया, जिससे हिटलर की हिम्मत बहुत बढ़ गई। (३) ब्रिटेन रूस को अपना प्रधान शत्रु समझता रहा, और कम्युनिज्म के विरोध में उसने जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का स्वागत किया। फ्रांस भी रूस के प्रति ऐसी नीति को नहीं अपना सका, जिससे यह शक्तिशाली देश नाजियों के विरोध में उसके साथ सहयोग कर सकता। (४) इटली और जापान की साम्राज्य, विषयक भूख ने उन्हें जर्मनी का सहयोगी बना दिया। ये ही वे कारण थे, जिनसे यूरोप में शान्ति स्थापित नहीं रह सकी, और पोलैण्ड के प्रश्न पर द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

दसवाँ अध्याय

फासिस्ट इटली की विदेश-नीति

(१) इटली की विदेश-नीति के प्रधान तत्त्व

नवम्बर, १९२२ में इटली के शासन सूत्र को अपने हाथों में लेकर मुसोलिनी ने अपने देश में फासिस्ट व्यवस्था की स्थापना कर दी थी, यह पाँचवें अध्याय में लिखा जा चुका है। विदेशी राजनीति के क्षेत्र में मुसोलिनी ने जिस नीति का अनुसरण किया, उसके प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—

(१) अपने पड़ोसी राज्यों के विषय में इटली की कतिपय ऐसी आकांक्षाएँ थीं, जो पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं से पूर्ण नहीं हुई थीं। दक्षिणी टाइरॉल, त्रेन्तिनो, त्रिएस्त और इस्त्रिया के प्रदेश इटली ने आस्ट्रिया-हंगरी से अवश्य प्राप्त कर लिये थे, पर वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं था। फियूम के बन्दरगाह को भी वह हस्तगत करना चाहता था, और साथ ही डाल्मेतियन समुद्र-तट के समीप के अनेक द्वीपों को भी। उसकी आकांक्षा थी, कि एड्रियाटिक सागर (इटली और युगोस्लाविया के बीच में) पर उसका पूर्ण रूप से प्रभुत्व स्थापित हो जाए। इसीलिए उसने अल्बानिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, और ग्रीस के साथ संघर्ष में भी व्यापृत हुआ।

(२) यूरोप के राज्यों में वह इटली को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाना चाहता था। यह तभी सम्भव था, जब कि वह पड़ोस के राज्यों को अपने प्रभाव में ले आए। पश्चिम की ओर बढ़ सकना उसके लिये सम्भव नहीं था, क्योंकि फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी की शक्ति उसकी तुलना में अधिक थी। इस दशा में पूर्वी यूरोप उसे अपने प्रभुत्व के विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र प्रतीत होता था। इस क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्यों को अपने प्रभाव में ला कर और उन्हें अपना वशवर्ती बना कर वह यूरोप में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता था। इसीलिए इन राज्यों के साथ उसने एक गुट का निर्माण किया। इस गुट में ग्रीस, अल्बानिया, तुर्की, हंगरी आदि पूर्वी यूरोप के राज्य सम्मिलित थे। इटली की इस गुटबन्दी पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

(३) मुसोलिनी भूमध्य सागर को अपना स्वाभाविक प्रभाव-क्षेत्र समझता था। इटली की भौगोलिक स्थिति भूमध्य सागर के ठीक बीच में है। मुसोलिनी को स्मरण था, कि प्राचीन रोमन साम्राज्य में यह सागर एक झील के समान था। उसकी इस स्थिति को वह पुनः स्थापित करना चाहता था।

(४) पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा इटली की साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकी थी। महायुद्ध के समय मित्र-राज्यों के साथ जो गुप्त सन्धि उसने लण्डन में की थी (१९१५), उसके कारण ही वह जर्मनी के विरुद्ध मित्र-पक्ष का साथ देकर लड़ाई में शामिल हुआ था। इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन और फ्रांस ने इटली की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का वचन दिया था। पर राष्ट्रपति विल्सन के विरोध के कारण न केवल यूरोप में उसकी ये आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो सकीं, अपितु अफ्रीका के क्षेत्र में भी उसे जर्मनी के पुराने उपनिवेशों का कोई महत्त्वपूर्ण भाग प्राप्त नहीं हुआ। इटली इससे बहुत असंतुष्ट था। वह समझता था, कि उसे धोखा दिया गया है। फासिस्ट पार्टी के उत्कर्ष में इटालियन लोगों की यह भावना एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। मुसोलिनी का कहना था, कि पुरानी सरकार की निर्बल नीति का ही यह परिणाम हुआ, कि पेरिस को शान्ति परिषद् में इटली के प्रति न्याय नहीं किया गया। वह इटली को विश्व की एक प्रमुख शक्ति बनाना चाहता था, और इसके लिये यह आवश्यक समझता था, कि इटली का भी साम्राज्य हो। इसीलिए वह अबीसीनिया की विजय के लिये प्रवृत्त हुआ।

(५) यद्यपि महायुद्ध में इटली विजयी पक्ष में था, पर पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं से उसे संतोष नहीं था। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की तो इन व्यवस्थाओं से असंतुष्ट थे ही, क्योंकि वे पराजित राज्य थे। उनके लिये वर्साय्य और सेव्र आदि की सन्धियों में संशोधन की मांग करना सर्वथा स्वाभाविक था। पर विजेता पक्ष का होते हुए भी इटली ने इन सन्धियों में संशोधन करने की मांग का समर्थन किया, और स्वयं भी इनकी उपेक्षा करने को उद्यत हो गया।

(२) पूर्वी यूरोप में इटली के प्रभुत्व का प्रसार

इटली के प्रभुत्त्व और प्रभाव के प्रसार का उपयुक्त क्षेत्र पूर्वी यूरोप ही था। राजशक्ति प्राप्त करने के कुछ समय बाद ही मुसोलिनी ने अपने इस मन्तव्य को इस प्रकार प्रगट किया था—"पश्चिम की ओर ऐसे राष्ट्रीय राज्य विद्यमान हैं, जो एक सुनिश्चित रूप प्राप्त कर चुके हैं। उन्हें हम केवल अपने मजदूर ही भेज सकते हैं, और उन्हें ग्रहण करने के सम्बन्ध में भी ये राज्य किसी भी दिन प्रतिबन्ध लगा सकते हैं या उनके प्रवेश को सर्वथा रोक सकते हैं।" अतः पूर्वी यूरोप में ही इटली को अपनी सत्ता सुदृढ़ रूप में स्थापित करनी चाहिए।

र्‍होड्स और डोडेसनीज द्वीपसमूह—तुर्की के दक्षिण में र्‍होड्स और डोडेसनीज द्वीप-समूह की स्थिति है, जिन्हें इटली ने १९१२ में तुर्की के विरुद्ध युद्ध में प्राप्त कर लिया था। इन द्वीपों के बहुसंख्यक निवासी ग्रीक जाति के हैं, और ग्रीस को आशा थी कि अन्ततोगत्वा वह इन्हें प्राप्त करने में समर्थ हो जायगा। २९ जुलाई,

१९१९ को इटली और ग्रीस में हुए एक समझौते के अनुसार डोडेसनीज द्वीपसमूह के अन्तर्गत १२ द्वीपों को ग्रीस को दे देने की बात भी इटली ने स्वीकार कर ली थी। पर मुसोलिनी इसके लिये तैयार नहीं हुआ। वह इन सब द्वीपों को अपने में प्रभुत्त्व में रखने के लिये कटिबद्ध था। इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्त्व को कायम रखने के प्रयोजन से उसने लेरोस द्वीप में (जो कि डोडेसनीज. द्वीपसमूह के अन्तर्गत था) अपना नाविक अड्डा बनाया, और र्‌होड्‌स को अपनी स्थल-सेना का केन्द्र। अब इन द्वीपों पर इटली का प्रभुत्त्व असंदिग्ध रूप से स्थापित हो गया था।

कोर्फू द्वीप पर बम्ब-वर्षा—ग्रीस और अल्बानिया के बीच की सीमा निर्धारित करने के लिये राष्ट्रसंघ की ओर से एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति की गई थी, जिसका अध्यक्ष तेलिनी नामक इटालियन सेनापति था। २३ अगस्त, १९२३ को इस जनरल और तीन इटालियनों की ग्रीस के राज्य-क्षेत्र में हत्या कर दी गई। इटली ने इसके लिये ग्रीस को दोषी ठहराया, और उससे माँग की, कि (१) ग्रीक सरकार द्वारा इन हत्याओं के लिये क्षमायाचना की जाए, (२) पाँच करोड़ लीर (इटली का सिक्का) क्षतिपूर्ति के रूप में ग्रीस द्वारा प्रदान किये जाएँ, और (३) हत्यारों की गिरफ्तारी के लिये इटली के एक सैनिक अफसर को ग्रीस में काम करने दिया जाए। ग्रीस इन शर्तों को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हुआ, और उसने इस मामले को राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत किया। पर इससे पूर्व कि संघ की कौंसिल इस सम्बन्ध में कोई कार्रवाई कर सके, इटली ने कोर्फू द्वीप पर बम्ब-वर्षा शुरू कर दी, और उस पर कब्जा कर लिया। पर इटली देर तक कोर्फू द्वीप को अपने अधिकार में नहीं रख सका। संघ के हस्तक्षेप के कारण उसे यह द्वीप खाली कर देना पड़ा। पर इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है, कि पूर्वी यूरोप और भूमध्य सागर के क्षेत्रों में इटली किस प्रकार अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था, और साधारण-सी घटना का सहारा लेकर वह इन क्षेत्रों के राज्यों में हस्तक्षेप करने को तत्पर हो जाता था।

फियूम की समस्या—फियूम का बन्दरगाह एड्रियाटिक सागर के उत्तरी कोने में स्थित है। इटली इसे भी हस्तगत करना चाहता था। फियूम का महत्त्व न केवल सामुद्रिक व्यापार की दृष्टि से था, अपितु एड्रियाटिक सागर पर प्रभुत्व स्थापित रखने के लिए भी इसकी महत्ता थी। भौगोलिक दृष्टि से इसे युगोस्लाविया के अन्तर्गत रहना चाहिये था, क्योंकि रेलवे द्वारा इस बन्दगाह का युगोस्लाविया के साथ सम्बन्ध था, और वहाँ के निवासियों में भी स्लाव लोग बहुसंख्या में थे। राष्ट्रसंघ की कौंसिल में इस प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ, और उसके सदस्यों के रुख को अपने प्रतिकूल देखकर इटली के प्रतिनिधि (ओर्लान्दो तथा सोन्नियो) पेरिस से वापस चले आये। जब राष्ट्रसंघ फियूम के विषय में कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं कर सका, तो इटली और युगोस्लाविया ने आपस की बातचीत द्वारा फियूम का फैसला किया, और रापालो की सन्धि (१९२०) द्वारा इस बन्दरगाह को एक स्वतन्त्र नगर का रूप प्रदान

कर दिया गया। पर इटली की जनता इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुई। राजशक्ति प्राप्त कर मुसोलिनी ने फ़्यूम के प्रश्न को फिर उठाया, और जनवरी, १९२४ में रोम की सन्धि द्वारा वह फ़्यूम को प्राप्त करने में समर्थ हो गया। युगोस्लाविया के साथ जो यह सन्धि की गई, उससे फ़्यूम तो रोम को प्राप्त हो गया, और उसके पड़ोस में स्थित बारोस का बन्दरगाह युगोस्लाविया को दे दिया गया। फ़्यूम की प्राप्ति से एड्रियाटिक सागर पर इटली का प्रभुत्व स्थापित होने में बहुत सहायता मिली।

अल्बानिया पर प्रभुत्त्व का सूत्रपात—एड्रियाटिक सागर में प्रवेश ओट्रान्टो के जलडमरू-मध्य द्वारा होता है, जिसके पूर्व में अल्बानिया की और पश्चिम में इटली की स्थिति है। एड्रियाटिक सागर पर अपने प्रभुत्व को भली-भाँति स्थापित करने के लिए इटली इस जलडमरूमध्य को अपने अधिकार में ले आना चाहता था। यह तभी सम्भव था, जब कि अल्बानिया उसके प्रभुत्त्व या प्रभाव में आ जाये। अपने राज्य की आन्तरिक समस्याओं से परेशान होकर अल्बानिया के राष्ट्रपति जोगू ने इटली के साथ सन्धि कर लेना ही हितकर समझा, और नवम्बर, १९२६ में इटली के साथ तिराना की सन्धि की, जिस द्वारा अल्बानिया ने यह स्वीकार किया कि वह किसी राज्य से कोई ऐसा राजनीतिक व सैनिक समझौता नहीं करेगा जिससे इटली को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना हो। तिराना की सन्धि से अल्बानिया इटली का संरक्षित राज्य बन गया।

पर इटली के लिए यही पर्याप्त नहीं था। जब उसने देखा कि जर्मनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया है, और यूरोप के अन्य राज्य उसके सम्मुख सर्वथा असहाय हैं, तो मुसोलिनी की हिम्मत बढ़ गई। १९३९ के प्रारम्भ में उसने अल्बानिया के बन्दरगाहों पर हमले शुरू कर दिये, और कुछ ही समय में सम्पूर्ण देश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अल्बानिया की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई, और वह इटली के साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। पूर्वी यूरोप पर इटली का आधिपत्य स्थापित करने का मुसोलिनी का जो लक्ष्य था, उसकी पूर्ति के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

पूर्वी यूरोप के राज्यों के प्रति इटली की नीति—अल्बानिया के समान युगोस्लाविया की स्थिति भी एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर थी। इस राज्य में ऐसे अनेक प्रदेश भी सम्मिलित थे, जो पहले आस्ट्रिया-हंगरी के अन्तर्गत थे। मध्य यूरोप के वे राज्य (आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गारिया) जो महायुद्ध में पराजित पक्ष में थे, पेरिस की शान्तिपरिषद् की व्यवस्थाओं से असन्तुष्ट थे, और यह समझते थे कि उनके कतिपय प्रदेश युगोस्लाविया में सम्मिलित कर के उनके साथ अन्याय किया गया है। क्योंकि इटली भी पेरिस की शान्तिपरिषद् की व्यवस्थाओं से असंतुष्ट था, अतः उसने इन राज्यों के साथ सहयोग करने में अपना हित माना। इसी लिए उसने इन राज्यों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए सहायता देना प्रारम्भ किया, और इनके साथ घनिष्ठ

मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। पर यह बात युगोस्लाविया को पसन्द नहीं थी। फ्रांस भी इटली की इस नीति का विरोधी था। पर इटली ने इसकी कोई परवाह नहीं की, और मध्य तथा पूर्वी यूरोप के साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में तत्पर रहा। १९३१ में मुसोलिनी ने यह माँग प्रस्तुत की, कि (१) महा-युद्ध में परास्त राज्यों को हरजाने की जो राशियाँ अदा करनी हैं, उनका शीघ्र ही अन्तिम रूप से निबटारा कर दिया जाए, और (२) पराजित राज्यों के साथ की गई सन्धियों में ऐसे संशोधन किये जायें, जो इन राज्यों (जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और बलगारिया) तथा इटली के लिए लाभकर हों। इन माँगों का यही प्रयोजन था, कि इटली और इन राज्यों के सम्बन्ध अधिक मधुर व घनिष्ठ हो सकें। इसीलिए इन राज्यों के साथ इटली ने सन्धियाँ कीं। एप्रिल, १९२७ में हंगरी के साथ, २३ दिसम्बर, १९२८ को ग्रीस के साथ और ६ फरवरी, १९३० को आस्ट्रिया के साथ सन्धियाँ की गईं। इनका प्रयोजन यही था, कि पूर्वी यूरोप के राज्यों को इटली अपने प्रभाव में रख सके, और अपने मुख्य प्रतिस्पर्धी फ्रांस को उनसे न मिलने दे।

(३) अबीसीनिया की विजय

महायुद्ध के पश्चात् वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के अफ्रीकन उपनिवेशों का जिस ढंग से बँटवारा हुआ था, इटली उससे बहुत असन्तुष्ट था। वह समझता था, कि फ्रांस और ब्रिटेन ने अफ्रीका में अनेक नये प्रदेश प्राप्त कर लिए हैं, पर उसे वहाँ अपने साम्राज्य-विस्तार का कोई अवसर नहीं दिया गया है। इस समय अफ्रीका में केवल दो स्वतन्त्र राज्य थे—अबीसीनिया और लिबेरिया। मुसोलिनी का विचार था, कि अबीसीनिया उसकी अधीनता में होना चाहिये, क्योंकि उसके दोनों ओर के प्रदेश सोमालीलैण्ड और एरिट्रिया इटली के प्रभुत्व में थे। यदि अबीसीनिया पर भी इटली का प्रभुत्व हो जाए, तो अफ्रीका में उसका एक अच्छा बड़ा साम्राज्य कायम हो जायगा, और उसे न केवल वहाँ अपने तैयार माल को बेचने के लिए बाजार प्राप्त हो जायगा, अपितु उसकी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए भी बड़ा क्षेत्र भी मिल जायगा। इसीलिए मुसोलिनी अबीसीनिया से झगड़ा मोल लेने के लिये तुला हुआ था। दिसम्बर, १९३४ में अबीसीनिया की सीमा पर इटालियन और अबीसीनियन सेनाओं में मुठभेड़ हो गई, जिसमें कुछ इटालियन सैनिक मारे गये। मुसोलिनी तो इस प्रकार के मौके की प्रतीक्षा में ही था। उसने तुरन्त अबीसीनिया पर हमला कर दिया।

इटली राष्ट्रसंघ का प्रमुख सदस्य था। उसका प्रतिनिधि अपने अधिकार से संघ की कौंसिल की स्थायी सदस्य भी होता था। उसे चाहिये था, कि अबीसीनिया के साथ अपने झगड़े का निबटारा राष्ट्रसंघ द्वारा कराता। अबीसीनिया भी राष्ट्रसंघ का सदस्य था। पर इटली ने इसकी कोई परवाह नहीं की। वह साम्राज्य-विस्तार के लिए अवसर की प्रतीक्षा में था। उसकी सेनाएँ भूमध्यसागर को पार कर बड़ी संख्या में

सोमालीलैण्ड और एरिट्रिया पहुँचने लगीं। शीघ्र ही, इन सेनाओं ने अबोसीनिया में प्रविष्ट होना भी प्रारम्भ कर दिया। अबीसीनिया की सीमा पर जो झगड़ा हुआ था, वह तो निमित्त मात्र था। असली उद्देश्य तो अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। इसी लिये १९३२ में इटली के परराष्ट्र-मन्त्री ग्रान्दी ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी, कि उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र का नये सिरे से बँटवारा किया जाना अत्यावश्यक है। उसका कहना था, कि महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में शासित होने वाले प्रदेशों का बँटवारा करते हुए इटली की उपेक्षा की गई थी, अतः हमारे लिये यह जरूरी है कि हम यह प्रदर्शित करने के लिये बहुत अधिक श्रम करें, कि सभ्यता के प्रसार तथा औपनिवेशक राज्यों के हित के लिये इटली कितना उपयोगी कार्य कर सकता है। इटली जिस ढंग से उत्तरी अफ्रीका में अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिये छटपटा रहा था, फ्रांस और ब्रिटेन के लिये उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। वे यह अनुभव करने लग गये थे, कि इस मामले में इटली को संतुष्ट करना अनिवार्य है। इसीलिये उन्होंने टैन्जियर के स्वतन्त्र नगर की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार में हाथ बँटाने के लिये इटली को भी निमन्त्रित किया था (१९२८)। मोरक्को के पश्चिमी कोने पर टैन्जियर की स्थिति है। यह एक स्वतन्त्र व पृथक् नगर था, जो अटलान्टिक सागर और भूमध्य सागर को मिलाने वाले जल-मार्ग पर स्थित था। इसका शासन ब्रिटेन, स्पेन और फ्रांस के हाथों में था। पर क्योंकि यह भूमध्यसागर के पश्चिमी प्रवेश-द्वार पर था, अतः इटली की भी इसमें दिलचस्पी थी। इसी कारण ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन ने इसके शासन में इटली को भी सम्मिलित कर लिया था। इटली को संतुष्ट करने के लिये ही ब्रिटेन के जोर देने पर ईजिप्ट और लीबिया की सीमा का नये सिरे से निर्धारण किया था, जिस से इटली को कुछ नया प्रदेश प्राप्त हो गया था। लीबिया इटली के अधीन था, और नई सीमा के कारण उसके राज्यक्षेत्र में वृद्धि हो गई थी (१९३४)।

लवाल-मुसोलिनी पैक्ट—अबीसीनिया और इटली के झगड़े की समस्या पर अभी राष्ट्रसंघ ने विचार प्रारम्भ भी नहीं किया था, कि फ्रांस के लवाल ने रोम जाकर मुसोलिनी से भेंट की, और एक पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये (जनवरी, १९३५)। इस समय तक जर्मनी में हिटलर की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी, और वह आस्ट्रिया तथा जर्मनी के एकीकरण के लिये प्रयत्न में तत्पर था। यह बात इटली को पसन्द नहीं थी, क्योंकि अपनी उत्तरी सीमा पर विशाल जर्मनी का होना उसे अपने राज्य की सुरक्षा के लिये घातक प्रतीत होता था। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से फ्रांस आतंकित था ही। इस दशा में फ्रांस और इटली ने एक पैक्ट किया, जो लवाल-मुसोलिनी पैक्ट ने नाम से प्रसिद्ध है। इस पैक्ट के अनुसार (१) फ्रांस ने पश्चिमी फ्रेन्च अफ्रीका के अपने प्रदेश में से ४५ हजार वर्गमील का भूखण्ड लीबिया को देना स्वीकृत किया। यह भूखण्ड लीबिया के साथ लगता था, और इसे प्राप्त कर लेने से लीबिया (जो इटली के अधीन था) के राज्य क्षेत्र में बहुत वृद्धि हो जाती थी। (२) एरिट्रिया

(इटली के अधीन) के साथ लगा हुआ फ्रेञ्च सोमालीलैंड का एक भाग एरिट्रिया से मिला दिया गया। यह भाग अदन के ठीक सामने पड़ता था, और इसे प्राप्त कर लेने के कारण अदन की खाड़ी पर इटली को अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने का अवसर मिल जाता था। (३) अबीसीनिया की राजधानी अदिस अबाबा और जिबूती के बन्दरगाह (फ्रेञ्च सोमालीलैंड में) को मिलाने वाली रेलवे लाइन फ्रेञ्च पूँजी से बनायी गई थी। इस रेलवे में भी इटली को हिस्सा दिया गया। ट्यूनिसिया फ्रांस के अधीन था, पर उस में इटालिन लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। ट्यूनिसिया में बसे हुए इटालियन लोगों को शिक्षा आदि के कतिपय विशेष अधिकार प्रदान किये गये। मुसोलिनी के अनुसार लवाल-मुसोलिनी पैक्ट में एक गुप्त शर्त भी थी, जिस द्वारा फ्रांस ने इटली को अबीसीनिया में अपनी शक्ति के प्रसार की खुली छुट्टी दे दी थी।

फ्रांस के साथ समझौता हो जाने के कारण इटली की साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षा के पूर्ण होने में जो सब से बड़ी बाधा थी, वह दूर हो गई। फ्रांस ने इटली को अफ्रीका में जो अपना विस्तार करने दिया, उस का सब से बड़ा कारण जर्मनी में नाजी पार्टी का उत्कर्ष ही था। फ्रांस समझता था, कि इटली को मित्र बना कर वह यूरोप में शक्ति-संतुलन स्थापित कर सकता है।

राष्ट्रसंघ द्वारा अबीसीनिया का समाधान करने के प्रयत्न—१९३५ के प्रारम्भ में ही अबीसीनिया ने अपने और इटली के झगड़े को राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया था। उसके सम्राट् हेल सलास्सी ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी थी कि इस मामले का राष्ट्रसंघ जो भी निर्णय करेगा, वह उसे स्वीकार्य होगा। उसने राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया, कि इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये एक पञ्चनिर्णय कमीशन की नियुक्ति की जाए। कुछ महीनों की टालमटोल के बाद इटली भी इससे सहमत हो गया। राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त कमीशन ने सितम्बर १९३५ में यह निर्णय दिया, कि जिस स्थान (बलवाल) पर अबीसीनिया और इटली के सैनिकों में मुठभेड़ हुई थी, दोनों ही राज्य उसे अपने-अपने राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत समझते हैं, अतः इस घटना के लिये किसी को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पर इस बीच में इटली युद्ध की तैयारी में तत्पर था, और उसकी सेनाएँ भूमध्य सागर को पार कर एरिट्रिया में एकत्र हो रही थीं। मुसोलिनी की योजना थी, कि ज्यों ही वर्षा ऋतु समाप्त हो जाए, अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया जाए।

राष्ट्रसंघ के सुझाव पर अगस्त, १९३५ में ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए, और उन्होंने अबीसीनिया के प्रश्न पर विचार-विमर्श प्रारम्भ किया। इन तीनों राज्यों के अफ्रीका में बड़े-बड़े साम्राज्य थे, और अबीसीनिया की सीमाओं पर विद्यमान प्रदेशों पर भी इन तीनों राज्यों का प्रभुत्व था। अबीसीनिया के दक्षिण में केनया की स्थिति थी, और उत्तर-पूर्व में ब्रिटिश सोमालीलैंड की। उसके

समीप ही फ्रेञ्च सोमालीलैण्ड विद्यमान था। अबीसीनिया के पूर्व में इटालियन सोमालीलैण्ड की स्थिति थी, और उत्तर-पश्चिम में एरिट्रिया की, जो इटली के अधीन था। अबीसीनिया के राज्य-क्षेत्र में भी इन तीनों राज्यों के प्रभाव-क्षेत्रों की सत्ता थी। इस दशा में इन तीनों को ही अबीसीनिया में दिलचस्पी थी। इटली को संतुष्ट करने के लिये ब्रिटेन और फ्रांस ने यह प्रस्ताव किया, कि अबीसीनिया में इटली को कुछ नये आर्थिक अधिकार प्रदान कर दिये जाएँ। पर मुसोलिनी इससे सहमत नहीं हुआ। उसका कहना था, कि पूर्वी अबीसीनिया के वे प्रदेश उसे प्राप्त होने चाहिये, जो इटालियन सोमालीलैण्ड के साथ लगते हैं। वस्तुतः, इस समय तक इटली युद्ध की इतनी अधिक तैयारी कर चुका था, और उसकी जनता अफ्रीका में अपने विशाल साम्राज्य के ऐसे सुवर्णीय सपने लेने लग गई थी, कि मुसोलिनी के लिये अपने कदम को पीछे हटा सकना सम्भव नहीं रहा था। इसी लिये वह समझौते की कोई भी बात सुनने को उद्यत नहीं हुआ।

ग्रेट ब्रिटेन के लिये इटली के इस साम्राज्य-विस्तार को सह सकना सम्भव नहीं था। इसके तीन कारण थे—(१) अबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व हो जाने पर पूर्वी देशों को जाने वाला जलमार्ग ब्रिटेन के लिये सुरक्षित न रह जाता। लाल सागर का ब्रिटेन के लिये बहुत महत्त्व था। उसके दक्षिण-पश्चिमी तट पर इटली का शक्तिशाली व विशाल साम्राज्य स्थापित हो जाना उसे स्वीकार्य नहीं था। (२) अबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व स्थापित हो जाने का प्रभाव अफ्रीका के ब्रिटिश उपनिवेशों पर भी पड़ता, और उनमें शान्ति व व्यवस्था कायम न रह सकती। (३) इटली की साम्राज्य-सम्बन्धी भूख में वृद्धि हो जाती, और वह भूमध्य सागर के तटवर्ती अन्य प्रदेशों को भी अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करता। इसलिये ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ में इटली का विरोध करने का निश्चय किया। पर फ्रांस का इस सम्बन्ध में रुख दूसरा ही था। उसकी दृष्टि में इटली के साथ मैत्री-सम्बन्ध को कायम रखना बहुत आवश्यक था, क्योंकि आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न पर वह इटली का सहयोग प्राप्त करने के लिये उत्सुक था। फ्रांस अबीसीनिया के मामले में इस शर्त पर ब्रिटेन का साथ देने को उद्यत था, कि यदि फ्रांस की सुरक्षा के सम्बन्ध में कोई आशंका उत्पन्न हो, तो ब्रिटेन उसकी सहायता का स्पष्ट रूप से वचन दे। पर ब्रिटेन का परराष्ट्रमन्त्री सर सेमुअल होर ऐसा वचन देने के लिये उद्यत नहीं हुआ। इस समय भी ब्रिटेन की दृष्टि में रूस का कम्युनिज्म जर्मनी के नाजीज्म के मुकाबले में अधिक भयावह था।

राष्ट्रसंघ की कौंसिल द्वारा इटली और अबीसीनिया के प्रश्न पर विचार किया गया, और वहाँ यह तय हुआ, कि (१) संघ का कोई सदस्य-राज्य इटली को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री प्रदान न करे, (२) इटली से कोई माल आयात न किया जाए, और (३) इटली को कोई राज्य कर्ज न दे। यद्यपि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था, पर अबीसीनिया और इटली के युद्ध को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रपति

रूजवेल्ट ने यह घोषणा की, कि इन दोनों में राज्य से किसी को भी कोई युद्ध-सामग्री नहीं दी जायगी। राष्ट्रसंघ द्वारा इटली का जो आर्थिक बहिष्कार करने का निर्णय किया गया, उसका इटली पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि अबीसीनिया जैसे निर्बल राज्य की विजय के लिये उसे अन्य देशों से युद्धसामग्री मंगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मिट्टी के तेल और पेट्रोलियम को युद्धसामग्री के अन्तर्गत नहीं माना गया था। इनकी प्राप्ति के लिये ही इटली दूसरे देशों पर निर्भर करता था। ये उसे प्राप्त होते रहे। ब्रिटेन की ओर से मि० ईडन ने प्रस्ताव किया, कि इटली को तेल भेजने पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये, पर फ्रांस का परराष्ट्र मन्त्री फ्लांदां इससे सहमत नहीं हुआ। इसी बीच में ७ मार्च, १९३६ को हिटलर ने र्‌हाइनलैण्ड में अपनी सेनाएं भेजनी प्रारम्भ कर दीं, और ब्रिटेन तथा फ्रांस को अबीसीनिया के प्रश्न पर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं रही। इटली की सेनाएं अबीसीनिया में निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और ९ मई, १९३६ को उन्होंने अदिस अबाबा पर कब्जा कर लिया। इटली के राजा विक्टर एमेनुअल को 'अबीसीनिया का सम्राट्' की पदवी से विभूषित कर दिया गया। इटली ने अफ्रीका में जो नया राज्य प्राप्त किया, उसका क्षेत्रफल ३,५०,००० वर्गमील था, और १९३४ में उसकी जनसंख्या ७० लाख के लगभग थी। इस विशाल देश में इटली अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसा सकता था, और अपने तैयार माल की बिक्री के लिये उसे वहाँ सुरक्षित बाजार भी प्राप्त हो गया था। १९३३ की एक राजाज्ञा द्वारा अबीसीनिया, ऐरिट्रिया और इटालियन सोमालीलैण्ड को मिलाकर 'इटालियन ईस्ट अफ्रीका' नाम के एक नये राज्य का निर्माण किया गया।

अबीसीनिया के युद्ध के परिणाम—(१) अबीसीनिया के युद्ध में जर्मनी ने राष्ट्रसंघ द्वारा निर्धारित इटली के आर्थिक बहिष्कार में अन्य राज्यों का साथ नहीं दिया था। साथ ही, जर्मनी ने यह भी स्वीकार कर लिया था, कि अबीसीनिया की विजय के कारण यह देश इटली की अधीनता में आ गया है। इस दशा में इटली और जर्मनी की मैत्री में वृद्धि हुई, और ये दोनों देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये। १९३६ में स्पेन में जो गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ था, उसमें भी ये दोनों राज्य जनरल फ्रांको की सहायता में तत्पर थे। उनकी मैत्री में वृद्धि के कारण इटली ने आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण का विरोध करना बन्द कर दिया, और अन्ततोगत्वा रोम-बर्लिन एक्सिस का निर्माण हुआ। (२) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों में इस युद्ध के कारण अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। फ्रांस और इटली के सम्बन्धों में इससे कटुता आ गई, क्योंकि इटली के आर्थिक बहिष्कार में फ्रांस ने भी भाग लिया था। अब तक फ्रांस यह समझता था कि जर्मनी की शक्ति का मुकाबला करने में वह इटली के सहयोग का भरोसा कर सकता है। लवाल-मुसोलिनी पैक्ट द्वारा इसीलिये फ्रांस ने अबीसीनिया में इटली को खुली छुट्टी दे दी थी, और अफ्रीका में उसके साम्राज्य-विस्तार का परोक्ष रूप से समर्थन भी किया था। पर अबीसीनिया के युद्ध के कारण इटली जर्मनी के

समीप आता गया, और फ्रांस से दूर होता गया। (३) इटली और जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता आ जाने के कारण ही जर्मनी निश्चिन्त होकर आस्ट्रिया को अपने साथ मिला सका, चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सका, और पोलैण्ड पर आक्रमण करने को भी प्रवृत्त हुआ। अब उसे यूरोप में एक ऐसा मित्र प्राप्त हो गया था, जिसके सहयोग व समर्थन का वह पूरा-पूरा भरोसा रख सकता था। (५) राष्ट्रसंघ की निर्बलता और शक्तिशाली राज्यों से अपने निर्णयों को मनवा सकने की उसकी अक्षमता इस युद्ध द्वारा भलीभाँति स्पष्ट हो गई। (५) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस का प्रभाव कम हो गया। मध्य यूरोप के राज्यों के साथ उसने जो गुट बनाया हुआ था, उसकी शक्ति कम हो गई और मध्य तथा पूर्वी यूरोप के विविध राज्यों पर जर्मनी तथा इटली का प्रभाव बढ़ने लग गया।

(४) स्पेन का गृहयुद्ध और उसके प्रति इटली की नीति

महायुद्ध (१९१४–१८) में स्पेन तटस्थ रहा था। स्पेन में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, यद्यपि पार्लियामेन्ट की भी वहाँ सत्ता थी। पर वहाँ का शासन सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र नहीं था। लोकतन्त्रवाद ने वहाँ भी जोर पकड़ना शुरू किया, और १९३० में वहाँ राज्यक्रान्ति हो गई जिसके कारण राजा अल्फान्सो द्वादश को राजगद्दी का परित्याग कर देने के लिये विवश होना पड़ा और स्पेन में रिपब्लिक की स्थापना हुई। नये संविधान का निर्माण किया गया, और उसके अनुसार पार्लियामेन्ट का चुनाव हुआ। फ्रांस के समान स्पेन में भी अनेक राजनीतिक दलों की सत्ता थी, जिसमें रेडिकल, सोशलिस्ट और कैथोलिक पोपुलर पार्टियाँ मुख्य थीं। अनेक पार्टियों की सत्ता के कारण स्पेन की रिपब्लिक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, और कोई भी पार्टी या पार्टियों का समूह वहाँ स्थायी रूप से शासन नहीं कर सका। यूरोप के अन्य राज्यों के समान स्पेन में भी कम्युनिस्ट पार्टी विद्यमान थी, और अन्य वामपक्षी दलों के सहयोग से यह पार्टी अपने देश में ऐसे सुधार करने के लिये प्रयत्नशील थी, जो स्पेन के प्रतिक्रियावादी लोगों को पसन्द नहीं थे। इन प्रतिक्रियावादी लोगों का नेता जनरल फ्रांको था, जो उत्तरी मोरक्को (यह प्रदेश इस काल में स्पेन के अधीन था) की स्पेनिश सेना का प्रधान सेनापति था। १९ जुलाई, ११३६ को उसने स्पेन की रिपब्लिकन सरकार के विरुद्ध मोरक्को में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, और अपनी सेना को साथ लेकर अफ्रीका से स्पेन के लिये प्रस्थान कर दिया। स्पेन में जो लोग कम्युनिज्म के विरोधी थे, उन सबको फ्रांको ने रिपब्लिकन सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिये आमन्त्रित किया। रिपब्लिकन सरकार ने अनेक ऐसे कार्य किये थे, जिनसे स्पेन के अनेक वर्गों में भारी असंतोष था। उसने राजकीय चर्च की समाप्ति कर दी थी, और सबको धार्मिक मामले में स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी।

शिक्षा का कार्य चर्च से ले लिया गया था। इससे रोमन कैथोलिक पादरी बहुत असंतुष्ट थे, और पुराने ढंग के धर्मप्राण लोगों में भी इससे बेचैनी उत्पन्न हो गई थी। रिपब्लिक के संविधान में यह बात भी स्वीकार की गई थी, कि स्पेन में समाजवादी आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जायगी, समुचित मुआवजा देकर व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य अधिगत कर सकेगा, जमीन और अन्य सम्पत्ति का समुचित वितरण किया जायगा, और उपाधियों व खिताबों का अन्त कर दिया जायगा। रिपब्लिकन सरकार इन बातों को क्रियान्वित करने में भी तत्पर थी। इससे जमींदार और पूँजीपति वर्गों में भी घोर असंतोष था। पादरियों और धनपतियों ने फ्रांको का साथ देने का निश्चय किया, और राजसत्ता के काल में जो पुराने अफसर तथा दरबारी लोग थे उन सब ने भी रिपब्लिक का अन्त करने के कार्य में फ्रांको के साथ सहयोग करने में ही अपना हित समझा। स्पेन की सेना के बहुत-से अफसर भी ऐसे थे, जो पुराने विचारों के थे और अपने देश में समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने के विरोधी थे। इनके प्रभाव से सेना के बड़े भाग ने भी फ्रांको का साथ दिया। स्पेन में प्रवेश कर फ्रांको निरन्तर आगे बढ़ता गया, और पश्चिमी स्पेन पर उसने शीघ्र ही अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कुछ ही समय में उसकी सेनाएँ स्पेन की राजधानी मेड्रिड तक पहुँच गईं, और नवम्बर, १९३६ में ऐसा प्रतीत होने लगा, कि वह समय दूर नहीं है जब कि फ्रांको मेड्रिड पर भी अपना अधिकार कायम कर लेगा। यह समय स्पेन की रिपब्लिकन सरकार के लिये अत्यन्त संकट का था। उसकी सेना का बड़ा भाग फ्रांको के साथ मिल गया था, और उसका मुकाबला कर सकना सरकार के लिये अत्यन्त कठिन था। इस अवसर पर सर्वसाधारण जनता से रिपब्लिक की सेना में भरती होने के लिये अपील की गई, और बहुत-से किसान तथा मजदूर स्वयंसेवक के रूप में सरकारी सेना में सम्मिलित होने के लिये मैदान में आ गये। शीघ्र ही, इन स्वयंसेवक सैनिकों की संख्या ५० हजार से भी अधिक हो गई। यद्यपि ये युद्धनीति में सुशिक्षित सैनिक नहीं थे, पर लोकतन्त्र शासन और समाजवादी व्यवस्था की रक्षा के लिये इनमें अपूर्व उत्साह विद्यमान था। उन्होंने डट कर फ्रांको की सधी हुई सेनाओं का मुकाबला किया। सम्भवतः, ये फ्रांको को परास्त भी कर देते, पर इस समय जर्मनी और इटली ने खुले तौर पर फ्रांको की सहायता की, और उनकी सेनाएँ रिपब्लिकन सरकार के विरुद्ध युद्ध के लिये स्पेन पहुँच गईं। इटली और जर्मनी ने यह भी घोषणा कर दी, कि वे फ्रांको की सरकार को ही स्पेन की वैध व न्याय्य सरकार स्वीकार करते हैं। रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के लिये भी अब स्पेन के गृह-युद्ध में तटस्थ रह सकना सम्भव नहीं रह गया। यद्यपि उनकी सरकारों ने स्पष्ट रूप से रिपब्लिकन सरकार का साथ नहीं दिया, पर वहाँ से बहुत-से स्वयसेवक इस समय स्पेन आए और सरकारी सेना में भरती होकर उन्होंने फ्रांको के विरुद्ध लड़ाई में हाथ बटाना शुरू कर दिया। इस प्रकार स्पेन के गृहयुद्ध ने एक विश्वव्यापी युद्ध का रूप प्राप्त कर लिया, जो स्पेन

की भूमि पर लड़ा जा रहा था।

जर्मनी और इटली द्वारा फ्रांको को सहायता दिये जाने के कारण—स्पेन के गृहयुद्ध में इटली और जर्मनी ने जो फ्रांको की सहायता की, उसका प्रधान कारण कम्युनिज्म का विरोध था। मुसोलिनी और हिटलर ने कम्युनिज्म का विरोध करके ही शक्ति प्राप्त की थी, और उन द्वारा स्थापित फासिस्ट व नाजी सरकारें रूसी कम्युनिस्ट व्यवस्था का विरोध करने में तत्पर थीं। स्पेन पर आक्रमण करते समय फ्रांको ने भी यही घोषित किया था, कि वह रिपब्लिकन सरकार की समाजवादी प्रवृत्तियों का विरोधी है, और स्पेन को कम्युनिज्म से बचाने के लिये ही प्रयत्न कर रहा है। विचार-धारा और राजनीतिक व्यवस्था की एकता के कारण जर्मनी और इटली के लिए फ्रांको का समर्थन करना सर्वथा स्वाभाविक था।

पर इन दोनों राज्यों को स्पेन में फ्रांको का आधिपत्य स्थापित हो जाने से अनेक अन्य लाभ भी थे। इटली भूमध्य सागर पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करना चाहता था। अबीसीनिया की विजय से इस सागर के पूर्वी क्षेत्र में इटली की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। पर पश्चिमी भूमध्य सागर में स्थित जिबराल्टर में ब्रिटेन ने सुदृढ़ किलाबन्दी की हुई थी, और वह इस क्षेत्र में ब्रिटेन का प्रधान नाविक अड्डा था। इटली समझता था, कि यदि स्पेन में फ्रांको की सरकार कायम हो जाए, तो भूमध्य सागर के पश्चिमी क्षेत्र में उसके लिये ब्रिटेन का सामना कर सकना सम्भव हो जायगा। उसकी निगाह क्यूटा और बेलियाटिक द्वीपों पर थी, जहाँ अपने नाविक अड्डे बना कर वह जिबराल्टर में केन्द्रित ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति का प्रतिरोध कर सकता था। क्यूटा जिबराल्टर के ठीक सामने मोरक्को के समुद्र-तट पर है। उत्तरी मोरक्को उस समय स्पेन के अधीन था। नाविक अड्डे के लिये क्यूटा भी वैसे ही उपयुक्त था, जैसे कि जिब्राल्टर। वहाँ किलाबन्दी करके इटली भूमध्य सागर के पश्चिमी प्रवेशद्वार को अपने आधिपत्य में ला सकता था। बेलियाटिक द्वीपसमूह स्पेन के पूर्व में है। इन्हें इटली अपने हवाई अड्डों के लिये प्रयुक्त करना चाहता था। गृहयुद्ध के समय फ्रांको ने इटली को यह आश्वासन भी दे दिया था, कि वह स्पेन के राज्यक्षेत्र के इन प्रदेशों में उसे ये सुविधाएँ देने को तैयार है। इस समय इटली फ्रांको की सहायता करने के लिये इन स्थानों का प्रयोग भी करने लग गया था। इटली को यह भी आशा थी, कि फ्रांको की विजय हो जाने पर उसे स्पेन की खनिज सम्पत्ति का विकास करने के लिये अवसर प्राप्त हो सकेगा। स्पेन में लोहे, ताम्बे आदि की अनेक खानें थीं, जिनके माल का युद्ध के लिये बहुत उपयोग था।

इटली के समान जर्मनी को भी फ्रांको की विजय से अनेक लाभ थे। यूरोप में जर्मनी का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी व विरोधी फ्रांस ही था। यदि स्पेन में भी फासिस्ट ढंग का शासन स्थापित हो जाए, तो फ्रांस तीन ओर से फासिस्ट व नाजी व्यवस्था वाले राज्यों से घिर जाता था, उत्तर-पूर्व में जर्मनी से, दक्षिण-पूर्व में इटली से और दक्षिण-पश्चिम

में स्पेन से। इस दशा में युद्ध प्रारम्भ होने पर फ्रांस को तीन शक्तियों का एक साथ सामना करना अनिवार्य हो जाता था, जो बात जर्मनी के लिये अत्यन्त हितकर थी। इटली के समान जर्मनी को भी स्पेन के पूर्व के द्वीपों में ऐसे नाविक व वायुशक्ति के अड्डे प्राप्त करने की आशा थी, जिनका प्रयोग वह फ्रांस तथा उसके साथियों के विरुद्ध कर सकता था।

रूस द्वारा रिपब्लिकन सरकार की सहायता—स्पेन के गृहयुद्ध में रूस ने रिपब्लिकन सरकार की उसी ढंग से सहायता की, जैसे कि इटली और जर्मनी ने फ्रांको की। इसका प्रधान कारण यह था, कि स्पेन की रिपब्लिकन सरकार का झुकाव समाजवाद की ओर था, और वह अपने देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में तत्पर थी। रूस समझता था, कि फ्रांको की विजय से यूरोप में एक तीसरा फासिस्ट राज्य स्थापित हो जायगा, जिससे हिटलर और मुसोलिनी की शक्ति में बहुत वृद्धि हो जायगी। रोम-बर्लिन एक्सिस में तब एक अन्य राज्य भी सम्मिलित हो जाता, जिससे रूस का एक अन्य प्रबल विरोधी बढ़ जाता।

ब्रिटेन और फ्रांस का रुख—स्पेन के गृह-युद्ध में फ्रांस और ब्रिटेन का रुख दुविधापूर्ण था। शुरू में उन्होंने मध्य मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न किया। ब्रिटेन में इस प्रश्न पर मतभेद रहा, कि स्पेन के गृहयुद्ध के प्रति किस नीति को अपनाया जाए। कन्जर्वेटिव पार्टी का विचार था, कि फ्रांको कम्युनिज्म के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर है, और उसका उद्देश्य अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित न होने देना ही है। इस कारण उसकी सहानुभूति फ्रांको के साथ थी। ब्रिटिश पूँजीपतियों ने स्पेन में पूँजी भी लगायी हुई थी। रिओ टिन्टो की लोहे और ताँबे की खानों में तथा दक्षिणी स्पेन के शराब बनाने वाले कारखानों में ब्रिटेन की पूँजी अच्छी बड़ी मात्रा में लगी हुई थी। ब्रिटिश पूँजीपतियों को आशंका थी, कि रिपब्लिकन सरकार की विजय हो जाने पर जब कल-कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जायगा, तो ये उद्योग उनके हाथ से निकल जायेंगे। इसके विपरीत ब्रिटेन की मजदूर पार्टी की सहानुभूति रिपब्लिकन सरकार के पक्ष में थी। इस दशा में ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन (जो कन्जर्वेटिव पार्टी के थे) ने यह निर्णय किया, कि स्पेन के गृह-युद्ध में तटस्थ रहा जाए। फ्रांस की जनता की सहानुभूति रिपब्लिक सरकार के प्रति थी। साथ ही, फ्रांस का लाभ भी इसी बात में था, कि स्पेन में फ्रांको की सत्ता स्थापित न होने पाए। अफ्रीका में फ्रांस का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। मोरक्को, अल्जीरिया, ट्यूनिसिया और फ्रेन्च पश्चिमी अफ्रीका पर उसका आधिपत्य था। स्पेन में फासिस्ट शासन स्थापित हो जाने से उसे यह आशंका थी, कि उत्तरी अफ्रीका के अपने साम्राज्य के साथ उसका सम्पर्क शिथिल हो जायगा, क्योंकि तब भूमध्यसागर पर इटली का प्रभाव बहुत बढ़ जायगा। अपनी दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर एक शक्तिशाली फासिस्ट राज्य की स्थापना भी फ्रांस की सुरक्षा के लिए खतरे की बात थी। इस दशा में फ्रांस के लिए

उचित तो यह था कि वह खुले तौर पर रिपब्लिकन सरकार की सहायता करे। पर फ्रांस ने उसी नीति को अपनाया, जो ब्रिटेन ने अपनायी थी। उसने भी इस गृह-युद्ध में तटस्थ रहना ही उचित समझा। इसका कारण यह था कि यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को दृष्टि में रखते हुए फ्रांस कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता था, जिससे कि वह अकेला पड़ जाए। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करने के लिए वह ब्रिटेन को तो अपने साथ रहना चाहता ही था, साथ ही, उसे अब तक (१९३६) भी यह आशा थी कि इटली के साथ वह अपने मैत्री-सम्बन्ध को कायम रख सकता है। इटली की मित्रता को महत्त्व देने के कारण ही उसने अबीसीनिया के युद्ध में सैन्य-शक्ति द्वारा इटली का विरोध नहीं किया था। वह अब तक भी यह समझता था, कि इटली को भी स्पेन के युद्ध में तटस्थता की नीति को अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसीलिये उसने यह प्रस्ताव किया, कि यूरोप के विविध राज्य परस्पर मिल कर एक समझौता कर लें, जिसके परिणामस्वरूप कोई भी राज्य अस्त्र-शस्त्रों व अन्य युद्ध-सामग्री द्वारा स्पेन के गृह-युद्ध में किसी भी पक्ष की सहायता न करे।

तटस्थता की नीति के लिए प्रयत्न—फ्रांस के प्रस्ताव पर यूरोप के सत्ताईस राज्यों के प्रतिनिधि लण्डन में एकत्र हुए, और उन्हों ने एक 'स्पेन के मामले में हस्तक्षेप न करने के समझौते को कार्यान्वित करानेवाली अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी' का संगठन किया। इस कमेटी की बैठकें समय-समय पर होती रहीं। इसके सम्मुख रूस ने इटली और जर्मनी पर यह आक्षेप किया, कि ये राज्य फ्रांको की सहायता में तत्पर हैं। यही आक्षेप इटली और जर्मनी द्वारा रूसी सरकार के विरुद्ध किया गया। पर यह कमेटी कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकी, और दोनों पक्षों को युद्ध-सामग्री तथा सैनिकों की सहायता प्राप्त होती रही। इन राज्यों के सैनिक भी स्वयंसेवकों के रूप में स्पेन जाते रहे। अत: फ्रांस और ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव किया, कि स्वयंसेवकों को भी स्पेन भेजना बन्द कर दिया जाए। इस बात को सब राज्यों ने स्वीकार तो कर लिया, पर परिणाम कुछ नहीं निकला। दिसम्बर, १९३६ तक इटली और जर्मनी से हजारों स्वयंवसेक-सैनिक स्पेन पहुँच चुके थे, और पलटनें की पलटनें स्वयंसेवक के रूप में वहाँ जाने लग गई थीं। इस कमेटी को जब अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, तो उसने यह निर्णय किया कि ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जर्मनी के जहाज स्पेन के सब ओर घेरा डाल दें, और युद्ध-सामग्री तथा स्वयंसेवक-सैनिकों को वहाँ पहुँचने से रोकें। पर इससे भी कोई परिणाम नहीं निकला, और युद्ध-सामग्री तथा सैनिक स्पेन पहुँचते रहे। कुछ मास बाद स्पेन पर से नाविक घेरा भी उठा लिया गया। अब इस कमेटी के पास यही उपाय रह गया था कि वह विभिन्न राज्यों से स्पेन को युद्ध-सामग्री तथा स्वयंसेवकों को न भेजने का अनुरोध करती रहे। पर इसमें भी उसे सफलता नहीं हुई। इटली और जर्मनी की सरकारें तो फ्रान्को की सहायता करने में तत्पर थी हीं, अब फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका आदि लोकतन्त्र वादी राज्यों में भी स्पेन को रिपब्लिकन सरकार की सहायता के

लिये स्वयंसेवकों की भरती शुरू कर दी गई। यद्यपि इन राज्यों की सरकारें स्पेन के गृहयुद्ध में तटस्थता की नीति को अपना रही थीं, पर उनमें ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो फासिज्म के विरोध के कारण स्वेच्छापूर्वक स्पेन जाने में तत्पर थे। इसी समय भूमध्यसागर में उन व्यापारी जहाजों पर पनडुब्बियों द्वारा हमले होने शुरू हुए, जो स्पेन के लिये साधारण माल (युद्ध सामग्री के अतिरिक्त) ले जाने में तत्पर थे। इन जहाजों में रूस के भी दो जहाज थे। रूस और स्पेन की रिपब्लिकन सरकार को सन्देह था, कि ये हमले इटली द्वारा किये जा रहे हैं, क्योंकि फ्रान्को के पास पनडुब्बियों का सर्वथा अभाव था। इन हमलों के कारण स्पेन के गृहयुद्ध की स्थिति अत्यन्त गम्भीर होती जा रही थी। अतः ब्रिटेन ने जिनीवा के समीप निओन नामक स्थान पर एक कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें भूमध्यसागर तथा काला सागर के तटवर्ती सब राज्यों और जर्मनी को सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण दिया गया। पर जर्मनी और इटली ने इस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। १४ सितम्बर, १९३७ को निओन कान्फरेन्स ने यह निर्णय किया, कि समुद्र के मार्ग से आने-जाने वाले जहाजों की रक्षा के लिये समुचित व्यवस्था की जाए, और भूमध्यसागर को अनेक क्षेत्रों में बाँट कर वहाँ पहरा देने का कार्य इस कान्फरेन्स में सम्मिलित नौ राज्यों के सुपुर्द कर दिया जाए। कुछ समय बाद इटली भी भूमध्यसागर की रक्षा की इस व्यवस्था में सम्मिलित हो गया, और उसे इस सागर का पूर्वी क्षेत्र सुपुर्द कर दिया गया। अब यूरोप के सत्ताईस राज्यों द्वारा नियुक्त कमेटी का प्रधान कार्य यह था, कि जो स्वयंसेवक सैनिक स्पेन गये हुए हैं, उन्हें वापस लौटाने का प्रयत्न किया जाए। पर इटली और जर्मनी के सैनिक तब तक स्पेन से वापस नहीं आए, जब तक कि फ्रान्को की विजय हो जाने पर गृहयुद्ध का अन्त नहीं हो गया। दिसम्बर, १९३६ और एप्रिल, १९३७ के बीच के काल में इटली ने एक लाख से भी अधिक सैनिक फ्रांको की सहायता के लिये स्पेन भेजे थे। सैनिकों के अतिरिक्त ४३७० ट्रक, टैन्क और मोटर गाड़ियाँ, ७५० तोपें और ४०,००० टन अस्त्र-शस्त्र भी इटली द्वारा फ्रांको की सहायता के लिए प्रदान किये गये थे। जर्मनी द्वारा स्पेन भेजे गये सैनिकों की संख्या १५,००० के लगभग थी। इटली ने फ्रांको की सहायता के लिये जो इतना अधिक उत्साह प्रदर्शित किया, उसका कारण यही था कि वह भूमध्य सागर के पश्चिमी क्षेत्र को भी अपने प्रभाव में ले आने के लिए उत्सुक था।

यद्यपि रूस, फ्रांस और ब्रिटेन आदि देशों से स्वयंसेवक-सैनिक स्पेन की रिपब्लिकन सरकार की सहायता के लिये भी आये थे, पर उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं थी। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका ने इस युद्ध में तटस्थता की नीति को अपनाया था, अतः उनकी सरकारों का यही यत्न रहता था कि उनके नागरिक भी स्पेन न जाने पाएँ। रूस खुले तौर पर रिपब्लिकन सरकार का साथ दे रहा था, और वह इस युद्ध में तटस्थ नहीं था। पर स्पेन से बहुत दूर होने के कारण वह रिपब्लिकन सरकार की

उस ढंग से सहायता नहीं कर सका, जैसे कि इटली फ्रांको की कर रहा था।

फ्रांको की विजय—स्पेन के गृहयुद्ध में १९३७ के मध्य से फ्रांको का पक्ष प्रबल होने लगा। फ्रांको के युद्धविद्या में प्रवीण व अनुभवी सैनिकों का मुकाबला कर सकना रिपब्लिकन सरकार के उन सैनिकों के लिए सम्भव नहीं हुआ, जो नये-नये ही सेना में भरती हुए थे। साथ ही, जर्मनी से बहुत-से ऐसे सेनापति और विशेषज्ञ भी फ्रांको की सहायता के लिये स्पेन पहुँच गये थे, जो आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों के संचालन में बहुत प्रवीण थे। अफ्रीका में मोरक्को का जो भाग स्पेन की अधीनता में था, उस पर शुरू से ही फ्रांको का कब्जा था। नवम्बर, १९३६ तक फ्रांको की सेनाएँ मेड्रिड के समीप तक पहुँच गई थीं, और उन्होंने उसे घेर लिया था। इस दशा में रिपब्लिकन सरकार मेड्रिड को छोड़ कर वर्कलोना चली आयी थी। जनवरी, १९३९ में फ्रांको की सेनाओं ने वर्कलोना को जीत लिया, और २९ मार्च, १९३९ को मेड्रिड पर भी उनका कब्जा हो गया। रिपब्लिकन सरकार के लिये अब युद्ध को जारी रखना बेकार था। फ्रांको को अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त हो गई थी, और जर्मनी व इटली के समान स्पेन में भी फासिस्ट शासन कायम हो गया था। ब्रिटेन और फ्रान्स ने भी फ्रांको की सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर लिया, और इस प्रकार स्पेन के गृह-युद्ध का अन्त हुआ।

स्पेन के गृहयुद्ध के परिणाम—(१) इस युद्ध में जर्मनी और इटली ने फ्रांको की सहायता की थी। अतः उनके सम्बन्धों में बहुत घनिष्ठता आ गई। अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण के समय हिटलर ने जो नीति अपनायी थी, उसके कारण जर्मनी और इटली में सुदृढ़ मित्रता का सूत्रपात हो चुका था। नवम्बर, १९३४ में रोम-बर्लिन एक्सिस द्वारा इस मित्रता को मूर्त रूप प्राप्त हुआ, और स्पेन के गृहयुद्ध में इन दोनों राज्यों ने जो परस्पर सहयोग से काम किया, उसके कारण यह मैत्री और भी अधिक घनिष्ठ हो गई। (२) स्पेन के गृहयुद्ध के दोनों पक्ष सुस्पष्ट रूप से दो पृथक् एवं विरोधी विचारधाराओं के अनुयायी थे। रिपब्लिकन सरकार के नेता समाजवाद में विश्वास रखते थे, और फ्रांको फासिस्ट व्यवस्था में। इसी कारण रूस ने रिपब्लिकन सरकार की सहायता की, और इटली तथा जर्मनी ने फ्रांको की। विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न विचारधाराओं का जो संघर्ष चल रहा था, इस युद्ध ने उसे अत्यन्त स्पष्ट रूप प्रदान कर दिया। (३) फासिस्ट शक्ति की वृद्धि में इस गृह-युद्ध से बहुत सहायता मिली। १९३६ में जापान और जर्मनी ने मिलकर जिस एन्टि-कॉमिन्टर्न पैक्ट का संगठन किया था, एक साल पश्चात् इटली भी उस में सम्मिलित हो गया था। अब गृहयुद्ध की समाप्ति पर स्पेन ने भी उस पर हस्ताक्षर कर दिये (२७ मार्च, १९३९)। इस प्रकार जर्मनी, जापान, इटली और स्पेन के एक फासिस्ट गुट का संगठन हुआ, जिसका उद्देश्य कम्युनिज्म का प्रतिरोध करना था। अपनी विचारधारा की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर मुसोलिनी ने गर्व के साथ कहा था—"कल सारा यूरोप फासिस्ट हो जायेगा। दुर्दम्य विश्वास से आविष्ट १५ करोड़ नर नारी उठ कर खड़े

हो जायेंगे। किस प्रयोजन से? सम्पूर्ण विश्व में फासिस्ट व्यवस्था कायम करने के लिये।" (४) इस युद्ध द्वारा राष्ट्रसंघ की निर्बलता बहुत अधिक स्पष्ट हो गई। उसकी ओर से स्पेन के इस गृहयुद्ध को केवल स्पेन तक ही सीमित रखने के लिये जो भी प्रयत्न किये गये, वे अविकल रूप से सफल नहीं हो सके। अन्य देशों से युद्ध सामग्री और सैनिक स्पेन पहुँचते रहे। राष्ट्रसंघ इटली और जर्मनी के सम्मुख सर्वथा असहाय रहा। (५) इस युद्ध ने फासिस्ट राज्यों के मन में यह विचार सुदृढ़ कर दिया, कि ब्रिटेन और फ्रांस रूस की कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपने राज्यों के पूँजीवादी व लोकतन्त्र शासन के लिये अत्यधिक खतरा समझते हैं। इसीलिये इन राज्यों ने इस युद्ध के सम्बन्ध में तटस्थता की नीति को अपनाया था। इटली और जर्मनी को इससे यह विश्वास हो गया कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वे जो भी पग उठायेंगे, कम्युनिज्म के भय को दृष्टि में रख कर फ्रांस और ब्रिटेन उनका विरोध नहीं करेंगे। उनका यह विश्वास सही भी था। इसी लिये जब जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने साथ मिला कर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण कर लिया और चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, तो ब्रिटेन और फ्रांस ने उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। इसी प्रकार इटली द्वारा अल्बानिया को जीत लिये जाने पर भी ये राज्य निष्क्रिय बैठे रहे। (६) गृह-युद्ध में फ्रांको को जिस प्रकार सफलता प्राप्त हो रही थी, और इटली की सामुद्रिक सेना जिस ढंग से भूमध्य सागर में जहाजों के डुबाने में तत्पर थी, उससे इटली को यह नजर आने लगा कि भूमध्य सागर को वह अपनी झील के रूप में परिवर्तित कर सकता है, और इस सागर के तटवर्ती अफ्रीकन प्रदेशों तथा पश्चिमी क्षेत्रों के द्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकना कठिन नहीं है। इसी कारण १९३८ का अन्त होने से पूर्व ही उसने यह माँग शुरू कर दी थी, कि ट्यूनिसिया उसे प्राप्त होना चाहिए। यह अफ्रीकन प्रदेश फ्रांस के अधीन था, और इसके निवासियों में फ्रेञ्च और इटालियन लोगों की संख्या प्रायः एक बराबर थी। इटली का कहना था, कि ट्यूनिसिया में बसे हुए इटालियन लोगों के प्रति फ्रेञ्च सरकार समुचित व्यवहार नहीं करती है। साथ ही, इटली ने अब यह दावा करना भी प्रारम्भ कर दिया था, कि कोर्सिका द्वीप (भूमध्य सागर में) और नीस तथा सेवोय (फ्रांस और इटली की सीमा के समीप) भी उसे प्राप्त होने चाहिए। ये फ्रांस के अधीन थे। इटली यह समझने लग गया था, कि अपनी राष्ट्रीय व साम्राज्य विषयक महत्त्वाकांक्षाओं पूर्ति में अब कोई भी बाधा नहीं रह गई है। फ्रांको के रूप में अब उसे एक ऐसा मित्र प्राप्त हो गया है, जिसके सहयोग से वह ब्रिटेन और फ्रांस की उपेक्षा करने में समर्थ हो सकता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

संयुक्तराज्य अमेरिका की अन्य देशों के प्रति नीति

(१) अमेरिका की विदेशनीति के मूल तत्त्व

ब्रिटिश लोगों ने उत्तरी अमेरिका में अपने जो अनेक उपनिवेश स्थापित किये थे, १७६६ में उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। १७८१ तक उनका स्वाधोनता-संग्राम जारी रहा। अन्त में ब्रिटेन की पराजय हुई, और ये उपनिवेश ब्रिटिश आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गये। स्वतन्त्र अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन थे। उन्होंने अन्य देशों के प्रति अपनी नीति को इस प्रकार प्रगट किया था (१७९७)—'विदेशों के प्रति हमारे बरताव का सिद्धान्त यह है कि हम उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध तो रखें, पर जहाँ तक सम्भव हो उनके साथ राजनीतिक सम्बन्ध न रखा जाए।" इसी को अमेरिका की पार्थक्य (Isolation) की नीति कहा जाता है। इस नीति का प्रयोजन यह था, कि अमेरिका यूरोप के आन्तरिक झगड़ों में न पड़ कर अपनी उन्नति में तत्पर रहे। अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हो गई थी (१७८९), और क्रांति की इस लहर को दबाने के लिये यूरोप के निरंकुश व एकतन्त्र राज्यों ने परस्पर मिल कर अपना गुट बना लिया था। कुछ समय के लिये नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस ने यूरोप के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया था, जिसके कारण कितने ही प्राचीन व गौरवशाली राजवंशों के सिंहासन डोल गये थे। अमेरिका यूरोप के इन युद्धों के प्रति तटस्थ रहना चाहता था। इसीलिये वाशिंगटन ने पार्थक्य की नीति का प्रतिपादन किया था।

मुनरो सिद्धान्त—१८२० में स्पेन में राज्यक्रान्ति की अग्नि भड़क उठी थी। राज्यक्रांति की जिस लहर का फ्रांस में प्रादुर्भाव हुआ था, वह अन्य देशों को भी प्रभावित कर रही थी। स्पेन भी क्रांति की भावना से बचा नहीं रह सका। वहाँ की जनता ने राजा फर्डिनन्ड के एकतन्त्र व निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यूरोप के अन्य राजा इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। नेपोलियन के पतन के पश्चात् चार शक्तिशाली राज्यों ने परस्पर मिल कर 'चतुर्मुख मित्रमण्डल' (Quadruple Alliance) का संगठन किया था (२० नवम्बर, १८१५), जिसमें रूस, प्रशिया, आस्ट्रिया और ब्रिटेन सम्मिलित थे। इसका प्रधान लक्ष्य क्रान्ति की प्रवृत्तियों का प्रतिरोध करना था, और यह आधी सदी के लगभग तक यूरोप की राजनीति का सञ्चालन करता रहा। समय-समय पर इस मित्रमण्डल की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय

सम्मेलन भी होते रहे, जिनमें तत्कालीन समस्याओं पर विचार किया गया। जब १८२० में स्पेन में राजा के विरुद्ध विद्रोह हुआ, तो इस मित्रमण्डल द्वारा वेरोना में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। उसमें यह निश्चय हुआ कि स्पेन के विद्रोह को शान्त करने का कार्य फ्रांस के सुपुर्द किया जाए।

उन्नीसवीं सदी में स्पेन का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। ब्राजील के अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका के अन्य सब प्रदेश स्पेन की अधीनता में थे। स्पेन के शासन से इन प्रदेशों या उपनिवेशों में बहुत असंतोष था। जब १८२० में राजा फर्डिनन्ड के विरुद्ध स्पेन में विद्रोह हुआ, तो दक्षिणी अमेरिका के इन उपनिवेशों पर भी उसका प्रभाव पड़ा, और वहाँ की जनता ने भी विद्रोह कर दिया। स्पेन के शासकों को युद्ध में परास्त कर उन्होंने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और अपनी पृथक् व स्वतन्त्र रिपब्लिकों को स्थापित कर दिया। वेरोना में एकत्र यूरोपियन राजनीतिज्ञों को यह सहन नहीं हुआ, और उन्होंने प्रयत्न किया कि दक्षिणी अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों के विद्रोह को भी शान्त किया जाए और वहाँ फिर से स्पेन के प्रभुत्व को स्थापित किया जाए। यह स्थिति थी, जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति मुनरो ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया (२ दिसम्बर, १८२३), जो उनके नाम से 'मुनरो सिद्धान्त' कहा जाता है। अमेरिका की कांग्रेस के सम्मुख इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रपति मुनरो ने यह घोषणा की थी—"यूरोप के राज्यों के ऐसे मामलों में जिनका सम्बन्ध केवल उन्हीं के साथ हो, हमने अब तक कोई भी भाग नहीं लिया है और न यह हमारी नीति ही रही है कि हम उनमें भाग लें। पर जब हमारे अपने अधिकारों पर कोई आक्रमण हो या उन पर कोई खतरा आ जाए, तभी हम उनकी रक्षा करने के लिये उद्यत होते हैं। इस (अमेरिकन) महाद्वीप में जो घटनाएँ होती हैं, उनके साथ हमारा सीधा सम्बन्ध रहता है। इसका कारण सब निष्पक्ष व बुद्धिमान् व्यक्ति भलीभाँति समझ सकते हैं। (यूरोप के) मित्रमण्डल की राजनीतिक पद्धति इस विषय में हमारी पद्धति से सर्वथा भिन्न है।....अतः हम स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं, कि यदि यूरोप के इन राज्यों ने अपनी राजनीतिक पद्धति को हमारे महाद्वीप में भी प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया, तो हम उनके इस कार्य को अपनी शान्ति व सुरक्षा के लिये घातक मानेंगे।" राष्ट्रपति मुनरो द्वारा जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) अमेरिका यूरोपियन राज्यों के झगड़ों से सदा पृथक् रहा है, और भविष्य में भी पृथक् रहेगा। (२) वह अमेरिकन महाद्वीप के मामलों में बाहर के किसी राज्य को हस्तक्षेप नहीं करने देगा। (३) भविष्य में बाहर का कोई राज्य अमेरिकन महाद्वीप के किसी प्रदेश को अपनी अधीनता में लाने या उसे अपना उपनिवेश बनाने का प्रयत्न नहीं कर सकेगा।

इसी सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ, कि वेरोना में एकत्र राजनीतिज्ञ दक्षिणी अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का प्रतिरोध करने में

असमर्थ रहे, और वे स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। ग्रेट ब्रिटेन ने भी इस मामले में संयुक्त-राज्य अमेरिका का समर्थन किया। इसका कारण यह था, कि वह इन उपनिवेशों के साथ अपने व्यापार को बढ़ाना चाहता था, और उनके स्पेन की अधीनता में रहने पर यह सम्भव नहीं था।

राष्ट्रपति मुनरो का सिद्धान्त वाशिंगटन द्वारा प्रतिपादित अमेरिकन विदेश-नीति के अनुकूल था। उन्नीसवीं सदी में अमेरिका की राजनीति के ये दो मूल तत्त्व थे—(१) अन्य देशों के झगड़ों से अपने को पृथक् रखना, और (२) न स्वयं यूरोप के झगड़ों में हस्तक्षेप करना और न यूरोप के राज्यों को अमेरिन महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप करने देना। बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध के समय तक ये दो तत्त्व ही अमेरिका की विदेश-नीति का निर्धारण करते रहे। अमेरिका की यह नीति जो सफल हो सकी, उसके कारण निम्नलिखित थे—(१) इस काल में ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति सर्वप्रधान थी। यूरोप का कोई अन्य राज्य इस स्थिति में नहीं था, कि इस क्षेत्र में ब्रिटेन का मुकावला कर सकता। ब्रिटेन का अमेरिका के साथ मैत्री सम्बन्ध था। इसी लिये १८२३ में दक्षिणी अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों में विद्रोह होने पर फ्रांस या कोई अन्य यूरोपियन राज्य इनके स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का विरोध नहीं कर सका। (२) नेपोलियन के पतन के वाद यूरोप में कोई एक अत्यधिक शक्तिशाली राज्य नहीं रह गया था। यूरोप के राज्यों में तब शक्ति-संतुलन भली भाँति स्थापित था। इस कारण कोई राज्य समुद्र में ब्रिटेन की प्रभुता को चुनौती नहीं दे सका, और किसी का यह साहस नहीं हुआ, कि वह अटलान्टिक सागर के पार के प्रदेशों में हस्तक्षेप करे। (३) यूरोप और एशिया में कोई भी राज्य या राज्यों का गुट ऐसा नहीं था, जो शक्ति का प्रयोग कर अमेरिकन राज्यों की स्वतन्त्रता को नष्ट करने या उनके मामलों में हस्तक्षेप करने की स्थिति में हो। पूर्वी एशिया में फिलिप्पीन द्वीपसमूह अमेरिका की अधीनता में थे, और चीन के भी कुछ प्रदेश उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। पर ये सब द्वीप व प्रदेश यूरोप से बहुत दूर थे, और तब जापान की शक्ति इतनी अधिक नहीं बढ़ी थी, कि वह अमेरिका के मुकाबले में खड़ा हो सकता। (४) अमेरिका के पास पश्चिम की ओर अपना विस्तार करने के लिये विशाल भूखण्ड पड़ा हुआ था, जिसमें वह नये उपनिवेश बसा सकता था। यूरोप के मामलों में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसके लिये यही पर्याप्त था, कि कोई बाहरी देश अमेरिका में उसका प्रतिद्वन्द्वी न होने पाए।

(२) महायुद्ध के समय अमेरिका द्वारा मुनरो सिद्धान्त का परित्याग और पुनः उसका अनुसरण

१७९७ से १९१७ तक संयुक्त-राज्य अमेरिका ने पार्थक्य की नीति और मुनरो सिद्धान्त का अनुसरण किया। पर १९१४ में जब यूरोप में महायुद्ध का प्रारम्भ

हुआ, तो वह देर तक अपनी इस नीति पर दृढ़ नहीं रह सका। शुरू में उसने यही यत्न किया, कि इस युद्ध में भी तटस्थ रहे। इससे उसे अनेक लाभ भी थे। युद्ध में दोनों पक्षों को अस्त्र-शस्त्रों, अन्य युद्ध-सामग्री तथा सब प्रकार के माल की भारी मात्रा में आवश्यकता थी। उनके अपने कल-कारखाने बम्बवर्षा आदि द्वारा ध्वंस होने लग गये थे। इस दशा में अमेरिका ने दोनों पक्षों के राज्यों को अपना तैयार माल बेचना शुरू किया, और उसके उद्योगपतियों ने खूब मुनाफा कमाया। वहाँ के राजनीतिज्ञों का यह विचार था, कि इस युद्ध में तटस्थता की नीति ही उनके देश के लिये हितकर है। इसीलिए महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर राष्ट्रपति विल्सन ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी, कि अमेरिका की सरकार इस युद्ध में सर्वथा तटस्थ रहेगी, और जनता को भी किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए। पर ज्यों-ज्यों युद्ध की अग्नि प्रचण्ड होती गई, यह स्पष्ट दिखायी देने लगा कि अमेरिका तटस्थता की नीति पर स्थिर नहीं रह सकेगा। अमेरिका के निवासियों में ऐसे लोग भी थे, जो जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी से आकर वहाँ बसे थे। इनकी सहानुभूति जर्मन पक्ष के साथ थी। अनेक अमेरिकन समाचार-पत्र यह लिखते हुए भी नहीं हिचकते थे, कि जर्मनी का अपने उत्कर्ष के लिये संघर्ष करना सर्वथा उचित एवं न्याय्य है। पर बेल्जियम पर आक्रमण करने, वहाँ के निवासियों के प्रति दुर्व्यवहार और रैंस (फ्रांस में) के प्राचीन गिरजाघर के ध्वंस के समाचारों ने अमेरिका की जनता में जर्मनी के विरुद्ध तीव्र रोष उत्पन्न कर दिया था। अमेरिका के स्वातन्त्र्य-युद्ध में फ्रांस ने बहुत सहायता पहुँचायी थी। इस कारण वहाँ की बहुसंख्यक जनता की सहानुभूति फ्रांस के साथ थी। क्योंकि अमेरिका के बहुसंख्यक लोग इङ्गलैण्ड से आकर वहाँ बसे थे और उनकी भाषा अंग्रेजी थी—अतः स्वाभाविक रूप से वे ब्रिटेन के साथ सहानुभूति रखते थे। इसीलिये अमेरिका द्वारा अस्त्र-शस्त्र, युद्ध-सामग्री आदि प्रचुर मात्रा में मित्र-पक्ष के राज्यों को प्रदान की जा रही थी। यह बात जर्मनी को सह्य नहीं हुई। उसने उन जहाजों को डुबाने के लिये पनडुब्बियों का प्रयोग शुरू किया, जो अमेरिका से युद्ध-सामग्री को ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्र-पक्ष के राज्यों को पहुँचाने में तत्पर थे। जनवरी, १९१७ में इङ्गलैण्ड ने यह प्रयत्न किया, कि समुद्र के मार्ग से कोई भी माल जर्मनी न पहुँचने पाए। इस पर जर्मनी ने यह घोषणा की, कि इङ्गलैण्ड चाहता है कि जर्मनी भूखा मर जाएँ, और बाहरी देशों से उसका व्यापार-सम्बन्ध समाप्त हो जाए, अतः जर्मनी भी इङ्गलैण्ड के साथ किसी देश का सामुद्रिक मार्ग से सम्बन्ध नहीं रहने देगा। ग्रेट ब्रिटेन एक द्वीप है। उसे सब प्रकार का माल समुद्र के रास्ते से ही मँगाना पड़ता है। अतः जर्मनी ने यह घोषणा की कि इस द्वीप के चारों ओर के दूर-दूर तक के समुद्र को रणक्षेत्र के अन्तर्गत माना जायगा, और जो कोई भी जहाज इस समुद्र में प्रवेश करेगा, उसे पनडुब्बियों से डुबो दिया जायेगा। अमेरिका को यह सुविधा दी गई कि उसके जहाज पर एक तंग सामुद्रिक गली से ग्रेट ब्रिटेन आ-जा सकेंगे, बशर्ते कि उनमें कोई युद्ध-सामग्री न हो।

१ फरवरी, १९१७ से जर्मनी ने पनडुब्बियों द्वारा सामुद्रिक युद्ध को अत्यन्त बीभत्स रूप में प्रारम्भ कर दिया। लुसिटानिया नाम का एक ऐसा जहाज भी जर्मन पनडुब्बियों का शिकार हो गया, जिस में बहुत-से अमेरिकन यात्री सफर कर रहे थे। इससे अमेरिकन जनता में रोष की लहर फैल गई, और राष्ट्रपति विल्सन पर यह आक्षेप किया जाने लगा, कि वे अनावश्यक रूप से जर्मनी के कुकृत्यों को सहन कर रहे हैं। विल्सन के लिये लोकमत की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं हुआ। उन्होंने समुद्रों की स्वतन्त्रता और युद्ध में तटस्थ देशों के अधिकारों पर जोर देते हुए जर्मनी के सामुद्रिक युद्ध का विरोध करना शुरू किया। अमेरिका के पूँजीपतियों को जर्मनी की पनडुब्बियों के कारण भारी नुकसान उठाना पड़ रहा था, और अब उनके लिये अपने माल को यूरोप भेज सकना भी सम्भव नहीं रहा था। अतः उन्होंने भी अपनी सरकार पर इस बात के लिये जोर देना शुरू किया, कि वह महायुद्ध में मित्र-राज्यों के पक्ष में शामिल हो जाए। परिणाम यह हुआ, कि ३ फरवरी, १९१७ के दिन अमेरिका ने जर्मनी से अपने राजनयिक सम्बन्ध को समाप्त कर दिया, और ६ एप्रिल, १९१७ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। एक सदी में भी अधिक समय से अमेरिका पार्थक्य और तटस्थता की जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, १९१७ में इस प्रकार उस नीति का अन्त हुआ। इसी का यह परिणाम हुआ, कि महायुद्ध में मित्र-पक्ष की विजय हुई।

महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस में जो शान्ति परिषद् हुई, उसमें भी अमेरिका ने भाग लिया। इस परिषद् के निर्णयों को राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्तों ने पर्याप्त रूप से प्रभावित किया, और राष्ट्रसंघ की स्थापना का प्रधान श्रेय भी विल्सन को ही दिया जाना चाहिए। पर अमेरिका देर तक उस नीति पर स्थिर नहीं रह सका, जिस के कारण वह महायुद्ध में सम्मिलित हुआ था। शीघ्र ही, उसने एक बार फिर पार्थक्य-नीति का अवलम्बन किया, और बारह साल तक वह यूरोप के झगड़ों से पृथक् रहा।

इस नीति-परिवर्तन के कारणों पर विचार करना आवश्यक है। अमेरिका की जनता का विचार था, कि पेरिस की शान्ति परिषद् में विल्सन लायड जार्ज और क्लमांसो जैसे चाणाक्ष राजनीतिज्ञों के सम्मुख झुक गया है, और उसके वे सिद्धान्त पूर्णतया क्रियान्वित नहीं हो सके हैं, जिनको दृष्टि में रख कर अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ था। लोग समझते थे, कि शान्ति परिषद् द्वारा निर्धारित सन्धियों में जर्मनी और अन्य परास्त राज्यों के साथ अन्याय किया गया है। इटली और ग्रीस जैसे देशों के प्रति भी इन सन्धियों द्वारा समुचित न्याय नहीं हुआ है, और महायुद्ध के प्रायः सभी लाभ ब्रिटेन और फ्रांस ने प्राप्त कर लिये हैं। पर अमेरिकन जनता का सबसे अधिक विरोध राष्ट्रसंघ के संविधान की दसवीं धारा के प्रति था, जिसमें यह व्यवस्था की गई थी, कि संघ के सब सदस्य-राज्य सब राज्यों

की राजनीतिक स्वतन्त्रता और राजकीय सीमाओं की अनुल्लंघनीयता को स्वीकार करते हैं, और किसी अन्य राज्य द्वारा उन पर आक्रमण किये जाने की दशा में उनकी रक्षा का वचन देते हैं। किसी बाह्य आक्रमण के होने पर या आक्रमण होने की सम्भावना पर राष्ट्रसंघ की कौंसिल यह निश्चय करेगी, कि ऐसे आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये किन उपायों का अवलम्बन किया जाए। वस्तुतः राष्ट्रसंघ की स्थापना का एक मुख्य उद्देश्य यही था, कि विश्व में शान्ति स्थापित रहे, और उसे भंग करने वाले राज्य का संघ के सब सदस्य-राज्य सम्मिलित रूप में प्रतिरोध करें। पर विल्सन के विरोधियों का यह कहना था, कि इस व्यवस्था द्वारा अमेरिका की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता में बाधा उपस्थित होती है। राष्ट्रसंघ की कौंसिल की स्थिति एक ऐसी सर्वोच्च सरकार की बना दी गई है, जो राज्यों को आदेश दे सकती है, और उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें किसी भी राज्य के विरुद्ध सैनिक या अन्य कार्रवाई करने के लिये कह सकती है। राष्ट्रसंघ की सदस्यता का यह परिणाम होगा, कि अमेरिका को भी संघ की कौंसिल के आदेशों का पालन करने के लिये विवश होना होगा। अमेरिका के संविधान के अनुसार किसी राज्य के विरुद्ध युद्ध करने या सैन्यशक्ति का प्रयोग करने का निर्णय करने का अधिकार केवल उसकी कांग्रेस को ही है। इस दशा में अमेरिका को यह वचन कदापि नहीं देना चाहिये, कि वह राष्ट्रसंघ की कौंसिल के निर्णय को स्वीकार कर 'आक्रान्ता' राज्य के विरुद्ध अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग करने को उद्यत रहेगा। इसके कारण राष्ट्रसंघ की कौंसिल की स्थिति अमेरिकन कांग्रेस से ऊँची हो जाती है, और अमेरिका की सपूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता नहीं रहने पाती। राष्ट्रपति विल्सन इस बात का यह उत्तर देते थे, कि राष्ट्रसंघ की कौंसिल के निर्णय सर्वसम्मति द्वारा होने की व्यवस्था है। वह कोई ऐसा निर्णय नहीं कर सकती, कौंसिल का एक सदस्य-राज्य भी जिसके विरोध में हो। क्योंकि अमेरिका को कौंसिल की स्थायी सदस्यता प्राप्त रहेगी, अतः वह कोई भी ऐसा निर्णय नहीं कर सकेगी, अमेरिकन सरकार जिसके विरुद्ध हो। साथ ही, संघ के आदेशों की स्थिति कानूनी न होकर केवल नैतिक है। उन्हें मानना या न मानना भी संघ के सदस्य-राज्यों की अपनी इच्छा पर है। संघ के पास कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जिसका प्रयोग कर वह सदस्य-राज्यों को अपने आदेशों या निर्णयों को मानने के लिये विवश कर सके।

पर विल्सन की इन युक्तियों का कोई असर नहीं हुआ। १९२० में अमेरिका के राष्ट्रपति का नया चुनाव होना था। रिपब्लिकन पार्टी इस चुनाव में अपने उम्मीदवार को सफल बनाने के लिये घोर प्रयत्न कर रही थी। दो साल पूर्व कांग्रेस का जो चुनाव हुआ था, उसमें इस पार्टी की विजय हो चुकी थी और कांग्रेस के दोनों सदनों में इसे बहुमत प्राप्त हो गया था। डेमोक्रेट पार्टी की पराजय के लिये रिपब्लिकन पार्टी ने विल्सन की नीति की कटु आलोचना करना शुरू किया, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अमेरिका की परम्परागत पार्थक्य की नीति का समर्थन किया। १९२० के

चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी की विजय हुई, और उसके उम्मीदवार हार्डिंग राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो गये। उन्होंने पार्थक्य की नीति व मुनरो सिद्धान्त का अनुसरण किया, जिसके कारण अगले १२ वर्षों में अमेरिका यूरोप की राजनीति से पृथक् रहा। राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी उसने स्वीकार नहीं की। संघ द्वारा जिस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई थी, उसमें भी अमेरिका ने हाथ नहीं वटाया, और संघ के तत्त्वावधान में संगठित अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कमीशन सदृश संस्थाओं में भाग लेना भी उसने स्वीकार नहीं किया। वर्साय्य की सन्धि को जब अमेरिका की सीनेट के सम्मुख स्वीकृति के लिये प्रस्तुत किया गया, तो उसने उसे भी अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार अमेरिका इस समय अपनी पुरानी परम्परागत पार्थक्य नीति का पूर्णतया अनुसरण करने में तत्पर था।

पर इस नीति का अविकल रूप से अनुसरण कर सकना सम्भव नहीं था। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण संसार के विभिन्न देश अब एक दूसरे के इतने अधिक समीप आ गये थे, कि कोई भी राज्य अन्यत्र घटित घटनाओं तथा विश्व की गतिविधि से अपने को सर्वथा पृथक् नहीं रख सकता था। इसी लिये अमेरिका चिरकाल तक राष्ट्रसंघ की उपेक्षा नहीं कर सका। धीरे-धीरे उसने संघ के तत्त्वावधान में संगठित उन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया, जो अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने, अफीम आदि नशीली वस्तुओं के व्यापार व प्रयोग को नियन्त्रित करने और स्त्रियों के क्रय-विक्रय को रोकने के कार्य में तत्पर थीं। १९३४ में वह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का सदस्य भी बन गया। अमेरिका ने शुरू में राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा की, फिर एक यथार्थ तथ्य के रूप में उसे स्वीकार किया, और बाद में उसका उपयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया। १९२० से १९३२ तक के बारह वर्षों में अमेरिका का शासन रिपब्लिकन पार्टी के हाथों में रहा, और इसी पार्टी के हार्डिंग, कूलिज और हूवर राष्ट्रपति पद पर रहे। यद्यपि रिपब्लिकन पार्टी पार्थक्य की नीति में विश्वास रखती थी, पर समय की गति को दृष्टि में रखते हुए उसके लिए भी अपनी इस नीति को पूर्ण रूप से प्रयुक्त कर सकना सम्भव नहीं था। पर १९३२ के चुनाव में जब डेमोक्रेट पार्टी के उम्मीदवार रूजवेल्ट राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हो गये, तो राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करने और पार्थक्य की नीति का परित्याग करने के युग का प्रारम्भ हुआ। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने के समय रूजवेल्ट ही अमेरिका के राष्ट्रपति थे। उन्होंने महायुद्ध में जर्मनी, जापान और इटली के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस के मित्र-पक्ष का साथ दिया। महायुद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में जिस नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण हुआ, अमेरिका का उसमें प्रमुख कर्तृत्व था।

पर रूजवेल्ट के राष्ट्रपति चुने जाने से पूर्व ही अमेरिका ने यूरोप तथा विश्व के मामलों में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी। कैलोग-ब्रियाँ पैक्ट (पेरिस पैक्ट) में अमेरिका ने भी भाग लिया था (१९२८), और १९३२ के फरवरी मास में जिनीवा

में जिस निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स का आयोजन किया गया था, अमेरिका के प्रतिनिधि भी उसमें सम्मिलित हुए थे। जर्मनी द्वारा अदा की जाने वाली हरजाने की रकम की वसूली के लिये या उसकी अदायगी में सुहूलियतें देने के लिये जो प्रयत्न किये गये, अमेरिका ने उनमें भी हाथ बटाया। डावस योजना (१९२४) और यंग योजना अमेरिका के सहयोग से ही तैयार की गई थीं।

(३) पूर्वी एशिया के प्रति अमेरिका की नीति

यद्यपि अमेरिका की रिपब्लिकन पार्टी की सरकार यूरोप के मामलों में पार्थक्य व अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण कर रही थी, पर उसके लिये पूर्वी एशिया के प्रति इस नीति को अपनाना सम्भव नहीं था। यूरोप में कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं था, जो अमेरिका की अधीनता में हो। अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में भी कोई प्रदेश उसके अधीन नहीं थे। पर प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर अमेरिका का आधिपत्य था, और चीन में भी अनेक प्रदेश उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। प्रशान्त महासागर के उत्तरी क्षेत्र में भी अनेक ऐसे द्वीपों की सत्ता थी, जो अमेरिका के अधीन थे। इस दशा में अमेरिका के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह पूर्वी एशिया या सुदूरपूर्व की राजनीति से अपने को पृथक् रख सके। महायुद्ध के कारण इस क्षेत्र से दो बड़ी राजशक्तियों का अन्त हो गया था। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो गई थी, और उसकी नई सरकार के लिये पूर्वी एशिया के मामले में दिलचस्पी ले सकना सम्भव नहीं रहा था। जर्मनी के अधीन जो भी द्वीप व प्रदेश इस क्षेत्र में थे, वे सब जापान ने हस्तगत कर लिये थे, और जर्मनी भी इस क्षेत्र से बाहर निकल गया था। महायुद्ध के समय जापान की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और युद्ध-क्षेत्र से प्रायः पृथक् रहते हुए उसे अपने उद्योगों को विकसित करने का अपूर्व अवसर प्राप्त हो गया था। साथ ही, उसने चीन में अपने प्रभुत्त्व व प्रसार का भी प्रारम्भ कर दिया था। जापान की ये प्रवृत्तियाँ अमेरिका के लिये चिन्ता की विषय थीं। महायुद्ध में शामिल होते ही जापान ने चीन के उन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, जो जर्मनी की अधीनता में थे। पर वह इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ था। २५ मई, १९१५ के दिन उसने चीन की की सरकार के सम्मुख २१ मांगे पेश कीं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) मञ्चूरिया में लिआओ-तुंग प्रायद्वीप पर जापान के पट्टे की अवधि को बढ़ाकर ९९ वर्ष कर दिया जाए। (२) जापानी नागरिकों को अधिकार हो, कि वे दक्षिणी मञ्चूरिया में जहाँ चाहें यात्रा कर सकें, बस सकें, व्यापार व उद्योगों का सञ्चालन कर सकें, और जमीन को पट्टे पर ले सकें। (३) यदि चीनी सरकार को मञ्चूरिया में सैनिक, पुलिस व आर्थिक मामलों के लिये किन्हीं विदेशी सलाहकारों या विशेषज्ञों की आवश्यकता हो, तो ये जापान से ही लिये जाएँ। (४) शान्तुंग प्रदेश में जापान जर्मनी से जो भी फैसला करे, वह चीन को मान्य हो। इन मांगों का स्पष्ट रूप से यह

प्रयोजन था, कि जापान को चीन में मनमानी करने और अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने के लिये खुली छुट्टी मिल जाए और पश्चिमी राज्य उसमें किसी भी प्रकार से बाधा न डाल सकें।

महायुद्ध के समय मित्र-राज्य सुदूरपूर्व के मामलों में हस्तक्षेप करने की स्थिति में नहीं थे। अतः जापान को मनमानी करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया। महा-युद्ध में चीन ने भी मित्र-राज्यों का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। अतः पेरिस की शान्ति परिषद् में जापान के साथ चीन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए। उन्होंने मांग की, कि शान्तुंग प्रदेश में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे और जिन्हें युद्ध के समय जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे अब चीन को मिल जाने चाहिएं। पर जापान के प्रतिनिधियों का दावा था, कि पूर्वी एशिया से जर्मनी के प्रभुत्त्व का अन्त करने में जापान ने जो कुर्बानियाँ की हैं, उनका प्रतिफल उसे यह मिलना चाहिए कि शान्तुंग प्रदेश में जापान के विशेषाधिकारों को स्वीकृत कर लिया जाए। साथ ही, प्रशान्त महासागर के उत्तरी क्षेत्र में जो द्वीप पहले जर्मनी के अधीन थे और महायुद्ध के समय जापान ने जिन्हें हस्तगत कर लिया था, उन पर उसका अधिकार मान लिया जाए। राष्ट्रपति विल्सन इन मांगों के विरोधी थे। पर ब्रिटेन के लिये उनका विरोध कर सकना सम्भव नहीं था। इसके अनेक कारण थे—(१) १९०२ में ब्रिटेन और जापान ने आपस में मिल कर एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार उन्होंने यह निश्चय किया था कि यदि कोई अन्य राज्य उनमें से किसी एक के पूर्वी एशिया के प्रदेशों को अधिगत करने के लिये आक्रमण करे, तो दूसरा राज्य उसकी सहायता करेगा। पूर्वी एशिया में जापान और ब्रिटेन दोनों के ही अपने-अपने साम्राज्य थे। उन्हें रूस और जर्मनी का भय था, इसी लिए उन्होंने यह सन्धि की थी। १९०५ और १९११ में इस सन्धि को पुनः दोहराया गया था। इसके कारण ब्रिटेन पूर्वी एशिया में जापान का विरोध नहीं कर सकता था। (२) १९१७ में ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने जापान के साथ गुप्त सन्धियाँ की थीं, जिन द्वारा उन्होंने जापान को जर्मनी के अधीन प्रदेशों व द्वीपों को हस्तगत कर सकने का वचन दिया हुआ था। इसी का यह परिणाम हुआ, कि पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा चीन के शान्तुंग प्रदेश पर जापान के विशेषाधिकार स्वीकृत कर लिये गये, और प्रशान्त महासागर के वे द्वीप भी राष्ट्रसंघ के मेन्डेट के अधीन जापान के शासन को दे दिये गये जो पहले जर्मनी के अधीन थे। इन द्वीपों में एक याप का द्वीप भी था, जो मनीला (फिलिप्पीन द्वीप-समूह की राजधानी), शंघाई तथा इन्डोनीसिया जाने वाली सामुद्रिक तारों का केन्द्र था। अमेरिका चाहता था, कि यह द्वीप अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार में रहे, ताकि इसमें केन्द्रित तारों के प्रयोग में उसे कोई रुकावट न होने पाए। पर शान्ति परिषद् द्वारा यह भी जापान को दे दिया गया।

वाशिंगटन कान्फरेन्स—पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के अनेक प्रदेश

अमेरिका के अधीन थे, अतः वह इस क्षेत्र की राजनीति की उपेक्षा नहीं कर सकता था। महायुद्ध की परिस्थितियों में जापान ने जिस ढंग से अपनी शक्ति को बढ़ा लिया था, उससे वह अत्यन्त चिन्तित था। जापान भी इस समय अपनी सामुद्रिक शक्ति की वृद्धि में तत्पर था। अमेरिका चाहता था, कि जापान को सामुद्रिक शक्ति उसकी तुलना में बढ़ने न पाए। पेरिस की शान्ति परिषद् के निर्णयों से रुष्ट होकर चीन के प्रतिनिधि उसे छोड़ कर चले आये थे, अतः पूर्वी एशिया की समस्याओं का कोई ऐसा समाधान नहीं हो सका था जो सब सम्बद्ध राज्यों को स्वीकार्य हो। इन बातों को दृष्टि में रख कर अमेरिका ने १९२१–२२ में वाशिंगटन में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, चीन, जापान, बेल्जियम, हालैण्ड और पोर्तुगाल के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित किया गया। इस कान्फरेन्स में छः सन्धियाँ की गईं, और अनेक विवादग्रस्त विषयों पर समझौते किये गये। यह कान्फरेन्स और इसके निर्णय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि इन द्वारा कुछ समय के लिये विभिन्न राज्य सर्वसम्मत निर्णयों पर पहुँचने में समर्थ हो गये थे। पूर्वी एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्थायी व शान्तिमय रखने में इस कान्फरेन्स ने बहुत उपयोगी कार्य किया।

नाविक शक्ति को सीमित करने सम्बन्ध में जो निर्णय वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा किये गये, उन का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली को नाविक शक्ति में क्रमशः ५, ५, ३, १.७५ और १.७५ का अनुपात रहे, यह इस कान्फरेन्स में स्वीकार कर लिया गया था। यह व्यवस्था जापान के लिये बहुत लाभदायक थी। इसके कारण उसके लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि वह अमेरिका या ब्रिटेन पर आक्रमण कर सके। इसकी उसे इच्छा भी नहीं थी। पर यदि अमेरिका या ब्रिटेन पूर्वी एशिया में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्त्व का प्रतिरोध करने के लिये उस पर आक्रमण करने का प्रयत्न करते, तो उनकी सम्मिलित नाविक शक्ति भी जापान को परास्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती थी। जापान पर हमला करने के लिये अमेरिका हवाई द्वीप को आधार के रूप में प्रयुक्त कर सकता था, और ब्रिटेन सिंगापुर को। पर ये दोनों जापान से इतनी अधिक दूरी पर थे, कि उनकी शक्तिशाली नौ-सेना भी उसे सुगमता के साथ परास्त नहीं कर सकती थी। ५, ५ और ३ के अनुपात को स्वीकार करते हुए जापान ने इस बात पर जोर दिया, कि वह प्रशान्त महासागर के अपने अधीनस्थ द्वीपों में किलाबन्दी कर सके। कुरील, बोनिन, मरिआना, मार्शल आदि के द्वीप-समूह जापान के प्रभुत्त्व में थे। ये द्वीप-समूह जापान के उत्तर, पूर्व और दक्षिण में इस ढंग से स्थित हैं कि इन्हें यदि सैनिक दृष्टि से दुर्गों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, तो इनमें स्थित जापानी सेना सुगमता से आक्रान्ता से जापान की रक्षा कर सकती है। इसीलिए अमेरिका और ब्रिटेन ने जापान की इस मांग को स्वीकार नहीं किया। इस पर जापान ने यह मांग की, कि

अमेरिका और ब्रिटेन भी प्रशान्त महासागर के अपने द्वीपों की किलाबन्दी न कर सकें। यह बात स्वीकार कर ली गई और यह निश्चय हुआ कि अमेरिका फिलिप्पीन, गुआम और अल्यूतियन द्वीपों में किलाबन्दी न कर सके। इस प्रकार हवाई और सिंगापुर ही दो ऐसे स्थान थे, जहाँ अमेरिका और ब्रिटेन क्रमशः अपनी नाविक शक्ति के अड्डे बना सकते थे। पर जापान से इनके दूर होने के कारण उसे इनकी किलाबन्दी से विशेष भय नहीं था।

चीन के विषय में जो व्यवस्थाएं वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा की गईं, अमेरिका की विदेश-नीति के साथ उनका विशेष सम्बन्ध है। यह स्वीकार किया गया, कि (१) चीन एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है, और उसे अपने सम्पूर्ण प्रदेशों पर शासन करने का अधिकार है। (२) सब राज्यों को चीन में व्यापार करने का एक समान अवसर होना चाहिये। (३) कोई राज्य चीन के किसी विशिष्ट प्रदेश में अपने प्रभावक्षेत्र कायम करने का प्रयत्न न करे। (४) पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में यदि भविष्य में कोई युद्ध हो और चीन उसमें तटस्थ रहना चाहे, तो सब राज्य उसकी तटस्थता को स्वीकार करें। ये निर्णय 'नौ राज्यों की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि इस पर वाशिंगटन कान्फरेन्स में सम्मिलित पूरे नौ राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे। क्योंकि इन सब राज्यों ने इन चारों सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था, अतः चीन को यह भरोसा हो गया था कि शक्तिशाली राज्य भविष्य में उसके प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व व प्रभाव-क्षेत्र को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

पर चीन की सरकार के सम्मुख अधिक गम्भीर समस्या उन विशेषाधिकारों की थी, जो विदेशी राज्य पहले ही चीन में प्राप्त कर चुके थे। इस समस्या के सम्बन्ध में वाशिंगटन कान्फरेन्स के निर्णय निम्नलिखित थे—(१) जर्मनी के पास कियाऊ-चाऊ आदि के जो प्रदेश पट्टे पर थे और जिन्हें महायुद्ध के समय जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे चीन को वापस दे दिये जाएँ। इन प्रदेशों में जर्मनी की जो सम्पत्ति थी उसे चीन जब्त कर ले, पर इस सम्पत्ति में जापान ने पिछले दिनों में जो वृद्धि कर ली थी उसके लिये जापान को मुआवजा दिया जाए। छह मास के भीतर-भीतर चीन की सरकार शान्तुंग प्रान्त में जापानी नागरिकों और उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर ले। यह व्यवस्था हो जाने पर जापान वहाँ से अपनी सेनाएँ वापस बुला ले। त्सिंगताओ-त्सिनान रेलवे जापान द्वारा निर्मित थी। उसे चीन समुचित कीमत देकर जापान से प्राप्त कर दे, और जब तक यह कीमत अदा न की जाए, इस रेलवे का प्रबन्ध जापान के हाथों में रहे। (२) चीन के विविध प्रदेशों में ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि राज्यों को जो अनेकविध विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनका अन्त कर दिया जाए। विदेशी व्यापारियों और नागरिकों की रक्षा के लिये चीन में विदेशी सेनाएँ भी अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थीं। यह निर्णय किया गया कि जिन प्रदेशों में चीन की सरकार विदेशियों की जान व माल की सुरक्षा का प्रबन्ध कर सके, वहाँ से

विदेशी सेनाओं को हटा लिया जाए। (३) जापान के समान अन्य अनेक राज्यों ने भी चीन के कतिपय प्रदेश सुदीर्घ काल के लिये पट्टे पर लिये हुए थे। सिद्धान्ततः, उन्होंने इन पट्टों के परित्याग की बात स्वीकार कर ली, यद्यपि उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। (४) चीन की जनता एक्स्ट्रा-टैरिटोरियेलिटी की पद्धति के बहुत खिलाफ थी। इस प्रयोजन से एक कमीशन की नियुक्ति को गई, कि वह चीन के कानूनों और न्याय-व्यवस्था का अनुशीलन कर यह सुझाव दे कि किस प्रकार धीरे-धीरे इस पद्धति का अन्त किया जा सकता है। (५) तट-कर के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया, कि निर्यात-कर तथा आयात-कर लगाते हुए सब राज्यों के साथ एक समान बरताव किया जाए।

चीन के सम्बन्ध में किये गये इन निर्णयों में अमेरिका का विशेष कर्तृत्व था। वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि चीन में जापान का प्रभुत्व न बढ़ने पाए और वह उसका अधीनस्थ राज्य न हो जाए।

वाशिंगटन कान्फरेन्स में ही ब्रिटेन और जापान की उस सन्धि का अन्त किया गया, जो इन राज्यों ने १९०२ में की थी, और जिसे १९०५ और १९११ में दोहराया गया था। उसके स्थान पर अब एक नई सन्धि की गई, जिस पर ब्रिटेन, अमेरिका, जापान और फ्रांस ने हस्ताक्षर किये। यह सन्धि 'चार शक्ति प्रशान्त महासागर सन्धि' (Four Power Pacific Treaty) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार इन चारों राज्यों ने यह स्वीकार किया, कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उनकी अधीनता में जो द्वीप तथा प्रदेश हैं, उनके सम्बन्ध में वे एक दूसरे के अधिकारों का आदर करेंगे। यदि इन अधिकारों का किसी अन्य राज्य द्वारा अतिक्रमण किये जाने की सम्भावना हो या इसके लिये कोई आक्रमणकारी पग उठाया जाए, तो ये चारों राज्य परस्पर विचार-विमर्श द्वारा यह तय करेंगे कि वे एकाकी रूप से या सम्मिलित रूप से ऐसे भय का किस प्रकार निराकरण कर सकते हैं। यह सन्धि अमेरिका के लिये अत्यन्त महत्त्व की थी। इस द्वारा उसे यह भरोसा हो गया था, कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जिन बहुत-से द्वीपों तथा प्रदेशों पर उसका प्रभुत्व है, अन्य शक्तिशाली राज्यों द्वारा उसका प्रतिरोध नहीं किया जायगा, और जापान भी उन्हें किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचायगा।

पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा याप का द्वीप जापान के शासन में दे दिया गया था, और अमेरिका इस बात को अपने लिये हानिकारक समझता था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। वाशिंगटन कान्फरेन्स में इसके सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया, कि याप में अमेरिका को जापान के समान अधिकार दिये जाएँ, और अमेरिकन लोगों को वहाँ आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहे।

वाशिंगटन कान्फरेन्स की सफलता—पेरिस की शान्तिपरिषद् पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के कार्य में सफल नहीं

हो सकी थी। वर्साय्य की सन्धि पर चीन के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था। पेरिस के निर्णयों से न चीन संतुष्ट था और न जापान। अमेरिका और जापान की इस क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान थी, और इसी कारण ये दोनों राज्य अपनी-अपनी सामुद्रिक शक्ति को वृद्धि में तत्पर थे। वाशिंगटन कान्फरेन्स ने न केवल इस प्रतिद्वन्द्विता का अन्त किया, अपितु चीन के सम्बन्ध में भी ऐसी व्यवस्थाएँ कीं, जिनसे वहाँ की जनता तथा सरकार को संतोष हो सकता था। इस कान्फरेन्स की सफलता इन कारणों से कही जा सकती है—(१) इस द्वारा विविध राज्यों की सामुद्रिक शक्ति की प्रतिस्पर्धा का अन्त कर ऐसा निर्णय किया गया, जिससे वे केवल उतनी ही जल-सेना रख सकते थे, जो उनकी सुरक्षा के लिये आवश्यक थी। इसके कारण ये राज्य अपनी जल-शक्ति की वृद्धि के लिये जो अपार धनराशि व्यय कर रहे थे, उसमें कमी आ गई और वे अपने धन को अन्य कार्यों में व्यय करने में समर्थ हो सके। (२) पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जिन राज्यों के साम्राज्य विद्यमान थे, उन्हें अब एक दूसरे के आक्रमण की आशंका नहीं रह गई। उन्होंने एक दूसरे के अधिकारों को स्वीकार कर लिया और उनकी रक्षा के लिये परस्पर सहयोग से कार्य करने का भी निश्चय किया। (३) चीन की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता को स्वीकार किया गया, और उसके राज्य-क्षेत्र में अन्य राज्यों को जो विशेषाधिकार थे, उनकी समाप्ति के लिये भी मार्ग प्रशस्त कर दिया गया। इससे चीन की शिकायतों और असंतोष को दूर होने में बहुत सहायता मिली।

पर यह मान सकना सम्भव नहीं है कि वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा किये गये निर्णय पूर्णतया सन्तोषजनक थे। नाविक शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए जो व्यवस्था की गई थी, वह केवल बड़े जंगी जहाजों के ही सम्बन्ध में थी। क्रूजर आदि छोटे जंगी जहाजों को सब राज्य स्वेच्छापूर्वक बना सकते थे। निःशस्त्रीकरण के लिये किये गये प्रयत्नों का विवरण देते हुए इस विषय पर विशद रूप से लिखा जा चुका है। चीन के प्रति भी इस कान्फरेन्स में पूर्ण न्याय नहीं किया गया था। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि राज्यों ने चीन के साथ जो सन्धियाँ की थीं और जिन द्वारा उन्होंने चीन के विविध प्रदेशों में अनेकविध विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे, वे अब भी कायम थीं और उन्हें रद्द नहीं किया गया था। इस दशा में चीन की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता को स्वीकार कर लेने से ही उस देश की समस्या का हल नहीं हो सकता था। चीन की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा के लिये कोई गारन्टी इस कान्फरेन्स द्वारा नहीं दी गई थी। इसीलिये जापान उसमें अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये प्रवृत्त हुआ, और अन्य राज्य उसका प्रतिरोध नहीं कर सके। जापान ने इस कान्फरेन्स के निर्णयों को स्वीकार अवश्य कर लिया था, पर वह उनसे सन्तुष्ट नहीं था। उसके राजनीतिज्ञों और सेनापतियों को यह समुचित व न्याय्य प्रतीत नहीं होता था कि उनके देश की सामुद्रिक शक्ति अन्य देशों की तुलना में कम हो। चीन की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-

सम्पन्नता स्वीकृत कर लेने की बात को वह अपने विरुद्ध की गई व्यवस्था समझता था। वह चीन में अपने प्रभुत्व के प्रसार के लिये उत्सुक था, और उसे अपने साम्राज्य-विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र मानता था। उसका यह भी विचार था, कि ब्रिटेन ने अपनी पुरानी सन्धि (१९०२) को रद्द कर उसके साथ विश्वासघात किया है। पर अमेरिका ने वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा पूर्वी एशिया के अपने साम्राज्य की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर ली थी।

(४) मध्य और दक्षिणी अमेरिका के राज्यों के प्रति संयुक्त-राज्य अमेरिका की नीति

राष्ट्रपति वाशिंगटन और मुनरो ने पार्थक्य की जिस नीति का प्रतिपादन किया था, उसे केवल यूरोप के प्रति ही लागू किया गया था। पूर्वी एशिया के राजनीतिक मामलों में अमेरिका सदा दिलचस्पी लेता रहा। १८५४ में कमोडोर पेरी ने जापान के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, और वहाँ व्यापार आदि की अनेक सुविधाएँ प्राप्त कीं। चीन में भी उसने अपने प्रभुत्व के विस्तार का प्रयत्न किया, और १८९८ में फिलिप्पीन द्वीप-समूह को स्पेन से जीत लिया।

मध्य और दक्षिणी अमेरिका के राज्यों के प्रति भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने कभी पार्थक्य की नीति का प्रयोग नहीं किया। मध्य अमेरिका में मैक्सिको, गुआतमला, होन्डूरस, एल सल्वाडोर, निकार्गुआ, कोस्टा रिका और पनामा राज्य हैं, जिन सब की स्थिति संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण में हैं। मेक्सिसो के अतिरिक्त ये सब राज्य बहुत छोटे-छोटे हैं। दक्षिणी अमेरिका में ब्राजील, कोलम्बिया, अर्जेन्टिना, पेरु, उरुगुए, परागुए आदि अनेक राज्य हैं। इनमें से ब्राजील की भाषा पोर्तुगीज है, और अन्य सब की स्पेनिश। ब्राजील पहले पोर्तुगीजों का उपनिवेश था, और अर्जन्तिना आदि अन्य राज्य स्पेन के लोगों द्वारा आबाद किये गये थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये इनकी राजनीति व गतिविधि से अपने को पृथक् रख सकना सम्भव नहीं था। मुनरो सिद्धान्त का अभिप्राय यही था, कि यूरोप के राज्य अमेरिकन महाद्वीप के राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करें, और अमेरिका भी अपने को यूरोप के झगड़ों से पृथक् रखे। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उस समय किया गया था, जब कि यूरोप के चतुर्मुख मित्र-मण्डल में सम्मिलित राज्यों ने दक्षिणी अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों में स्पेन के शासन के विरुद्ध हुए विद्रोहों में हस्तक्षेप करने की बात तय की थी।

संयुक्त राज्य अमेरिका न केवल अमेरिकन महाद्वीप के अन्य राज्यों के मामलों में यूरोप के हस्तक्षेप का विरोधी था, अपितु इन अमेरिकन राज्यों की नीति को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील भी रहता था। संयुक्त राज्य अमेरिका के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के लिए मध्य और दक्षिणी अमेरिका के विविध राज्य उपयुक्त क्षेत्र थे। उसकी नीति यह थी कि ये राज्य उसके प्रभाव में रहें, और उनमें कोई ऐसी

सरकार स्थापित न हो सके, जो संयुक्त राज्य अमेरिका की विरोधी हो। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूँजीपति इन देशों में कल-कारखानों तथा खानों आदि के विकास के लिए पूँजी लगाने में भी तत्पर थे, और उनमें संयुक्त राज्य अमेरिका के ऐसे हित प्रादुर्भूत होते जा रहे थे, जिनकी रक्षा के लिए वहाँ की सरकार इन राज्यों में हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित व न्याय्य समझती थी। कुछ उदाहरणों से संयुक्त राज्य अमेरिका की इस नीति को स्पष्ट किया जा सकता है।

निकार्गुआ—यह राज्य मध्य अमेरिका में है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूँजीपतियों ने यहाँ के कारखानों व खानों में भरपूर पूँजी लगायी हुई थी, और बहुत-से अमेरिकन नागरिक वहाँ व्यापार आदि के लिये बसे हुए थे। निकार्गुआ में दो प्रमुख राजनीतिक दल थे, कन्जर्वेटिव और लिबरल। १९२७ में वहाँ कन्जर्वेटिव पार्टी की सरकार थी, और अडोल्फो डिआज वहाँ के राष्ट्रपति थे। लिबरल पार्टी में इनके शासन से बहुत असंतोष था। परिणाम यह हुआ कि वहाँ विद्रोह प्रारम्भ हो गये। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार की सहानुभूति कन्जर्वेटिव सरकार के प्रति थी। अतः उसने निकार्गुआ में संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिकों और उनकी सम्पत्ति की रक्षा के नाम पर एक बड़ी सेना वहाँ भेज दी, जिसके साथ जंगी जहाज और वायुयान भी थे। कन्जर्वेटिव पार्टी की सरकार के प्रति अमेरिका की सहानुभूति का कारण यह था, कि उसने अमेरिका को अपने राज्य-क्षेत्र में एक नाविक अड्डा बनाने की अनुमति प्रदान कर दी थी, और साथ ही अपने तट-कर, बैंक तथा रेलवे पर भी अमेरिका का नियन्त्रण स्वीकार कर लिया था। इतना ही नहीं, उसने यह भी मान लिया था कि अमेरिका उसके राज्य-क्षेत्र में पनामा नहर के समान एक अन्य नहर बना सके, जिसके कारण अटलान्टिक और प्रशान्त महासागरों के बीच में सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था। निकार्गुआ में सौ मील लम्बी एक झील है। संयुक्त राज्य अमेरिका की योजना थी, कि इसे एक नहर द्वारा समुद्र से मिला दिया जाए, ताकि अटलान्टिक महासागर में जाने के लिये एक नया जलमार्ग बन जाए। यह मार्ग पनामा नहर के मुकाबले में संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिक समीप पड़ता था। निकार्गुआ की लिबरल पार्टी अपने देश में संयुक्त राज्य अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोध में थी। इसी कारण उसने विद्रोह प्रारम्भ किया था, जिसका दमन करने के लिये अमेरिका के राष्ट्रपति कूलिज ने वहाँ अपनी सेनाएँ भेजी थीं। कूलिज के हस्तक्षेप से लेटिन अमेरिका के राज्यों में बहुत असन्तोष उत्पन्न हुआ। मध्य और दक्षिणी अमेरिका के राज्य लेटिन राज्य कहाते है, क्योंकि इनमें स्पेनिश तथा पोर्तुगीज लोगों (जिनकी भाषाओं का उद्गम लैटिन से हुआ है) का निवास है। कूलिज ने लेटिन अमेरिका के विरोध को दृष्टि में रख कर कर्नल हेनरी स्टिम्सन को इस प्रयोजन से निकार्गुआ भेजा, ताकि वह वहाँ की सरकार से शान्तिमय उपायों से समझौता करने का प्रयत्न करे, और उस देश की समस्या का समाधान करे। स्टिम्सन को अपने प्रयत्न में

सफलता हुई, और उसने निकार्गुआ के गृह-युद्ध को बन्द कराके १९२८ में नये चुनाव की व्यवस्था की। पर लिबरल पार्टी के कतिपय नेताओं ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, और जनरल ऑगुस्तो सान्डिनो के नेतृत्व में उन्होंने अपने संघर्ष को जारी रखा। १९३३ तक यह संघर्ष जारी रहा। अब संयुक्तराज्य अमेरिका ने यह उचित समझा, कि अपनी सेनाओं को निकार्गुआ से वापस बुला लिया जाए। अमेरिका ने अब यह अनुभव कर लिया था, कि निकार्गुआ में अमेरिकन नागरिकों और उनकी सम्पत्ति की रक्षा कर सकने का उत्तरदायित्व ले सकना उसके लिए सम्भव नहीं रह गया है। अमेरिकन सेनाओं के वापस चले जाने पर सान्डिनो ने अपने देश की सरकार के साथ समझौता कर लिया, और निकार्गुआ के गृह-युद्ध की समाप्ति हुई। संयुक्तराज्य अमेरिका को विवश होकर लेटिन राज्यों के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा था।

मेक्सिको से झगड़ा—मध्य अमेरिका के राज्यों में मेक्सिको सर्वप्रधान है, और उसकी उत्तरी सीमा संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ लगती है। मेक्सिको में अमेरिकन पूँजीपतियों ने बहुत बड़ी मात्रा में अपनी पूँजी लगायी हुई थी, और वहाँ के अनेक कल-कारखानों व खानों पर अमेरिकनों का स्वत्व था। इस राज्य का शासन चिरकाल (१८७७-१९११) तक पोरफिरिओ डिआज के हाथों में रहा था, जिसकी स्थिति एक डिक्टेटर के समान थी। १९१०-११ में उसके एकाधिपत्य के विरुद्ध क्रान्ति हो गई, और डिआज को मेक्सिको से भाग जाना पड़ा। नई सरकार समाजवाद में विश्वास रखती थी, और उसने अनेक ऐसे कानूनों का निर्माण किया था जिनका प्रयोजन मेक्सिको की जमीन, खानों तथा कल-कारखानों को राष्ट्रीय स्वत्व में ले आना था। १९१७ में मेक्सिको का नया संविधान बनाया गया, जिस में जहाँ समाजवादी व्यवस्था का निरूपण किया गया था, वहाँ साथ ही यह सिद्धान्त भी स्वीकृत किया गया था कि 'मेक्सिको मेक्सिकन लोगों के लिये है'। अमेरिकन पूँजीपतियों के लिये मेक्सिको की इस गतिविधि को सह सकना सम्भव नहीं हुआ। उन्होंने अपनी सरकार पर मेक्सिको में सैनिक हस्तक्षेप करने के लिये जोर देना शुरू किया। इसी प्रयोजन से 'मेक्सिको में अमेरिका के अधिकारों की रक्षा के लिये एक संघ' (Association for the Protection of American Rights in Mexico) का संगठन किया गया, और यह संघ मेक्सिकन सरकार द्वारा की गई व्यवस्थाओं के विरुद्ध उग्र आन्दोलन करने में प्रवृत्त हुआ। उसका कथन था, कि मेक्सिको की सरकार अमेरिका के महाद्वीप में बोल्शेविज्म की स्थापना में तत्पर है, और निकार्गुआ के विद्रोहियों की भी सहायता कर रही है। मेक्सिको की समस्या इतनी गम्भीर हो गई, कि अमेरिका के साथ उसका युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। पर इस स्थिति में अमेरिका की सीनेट ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता से काम लिया। उसने निर्णय किया, कि मेक्सिको के प्रति समझौते की नीति का प्रयोग किया जाना चाहिये। इसीलिये राष्ट्रपति कूलिज ने ड्वाइट मारो को मेक्सिको में राजदूत बना कर भेजा, और उसने मेक्सिको के साथ समझौता करने

में सफलता प्राप्त की। मेक्सिको की अमेरिकन कम्पनियों ने यह स्वीकार कर लिया, कि वे अपने अधिकारों के प्रश्न को मेक्सिको के सुप्रीम कोर्ट के समक्ष अन्तिम निर्णय के लिये प्रस्तुत करें। सुप्रीम कोर्ट के निर्णय को दोनों पक्षों में स्वीकार कर लिया।

पनामा—उन्नीसवीं सदी में संयुक्तराज्य अमेरिका से पनामा के राज्यक्षेत्र में एक नहर बनाने का निश्चय किया था, ताकि अटलान्टिक सागर से प्रशान्त महासागर को जाने के लिए दक्षिणी अमेरिका का चक्कर काटने की आवश्यकता न रहे। इसी प्रयोजन से १८८१ में वहाँ एक कम्पनी की भी स्थापना हो गई थी। पनामा की सरकार ने अपने राज्य-क्षेत्र के उस भू-भाग को जहाँ नहर का निर्माण किया जाना था, स्थायी रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका को पट्टे पर देना स्वीकार कर लिया था (१९०३)। १९१४ में यह नहर बनकर तैयार हो गई थी, और इसके दोनों ओर की भूमि पर अमेरिका का पूर्ण स्वत्त्व मान लिया गया था। पनामा से इस भूमि को पट्टे पर प्राप्त करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने पनामा के साथ एक सन्धि की थी, जिस द्वारा इस भूमि पर अमेरिका के अधिकार व स्वत्त्व की पुष्टि कर दी गई थी। १९२६ में अमेरिका ने यह माँग की, कि इस सन्धि में एक नई धारा बढ़ा दी जाए, जिस द्वारा पनामा राज्य यह वचन दे कि यदि अमेरिका को किसी युद्ध में भाग लेना हो, तो पनामा को भी उसका साथ देना होगा। यह बात पनामा की सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता के सर्वथा विपरीत थी, क्योंकि इसके कारण उसे किसी युद्ध में शामिल होने या न होने के विषय में स्वयं निर्णय करने का अधिकार नहीं रह जाता था। पनामा की सीनेट ने इसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। १९३२ में रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो गये थे। उन्होंने पनामा के सम्बन्ध में उदार नीति का अनुसरण किया, और उसके साथ एक नई सन्धि (१९३६) कर उन विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया जो अमेरिका ने १९०३ की सन्धि द्वारा पनामा नहर के क्षेत्र में प्राप्त किये थे। १९३६ की सन्धि द्वारा अमेरिका ने यह स्वीकार किया, कि पनामा नहर के क्षेत्र में भी पनामा राज्य के अधिकार सर्वोपरि हैं, और अमेरिका वहाँ कोई ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे पनामा राज्य को किसी भी प्रकार की क्षति पहुँचने की सम्भावना हो।

इन उदाहरणों से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, कि संयुक्तराज्य अमेरिका अमेरिकन महाद्वीप के राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने में तत्पर रहता था। इनके प्रति न वह पार्थक्य की नीति को बरतता था, और न मुनरो सिद्धान्त को ही। इनके सम्बन्ध में उसकी नीति यही रहती थी, कि ये राज्य उसके प्रतिकूल आचरण न करने पाएँ और उसके अनुवर्ती होकर रहें। संयुक्त राज्य अमेरिका की दृष्टि में यह बात अमेरिकन महाद्वीप में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए आवश्यक थी।

(५) रूजवेल्ट की विदेश-नीति

१९३२ के चुनाव में डेमोक्रेट पार्टी की विजय हुई, और उसके उम्मीदवार

रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये। रिपब्लिकन सरकार के शासन में (१९२०-३२) पार्थक्य की जिस नीति का अनुसरण किया गया था, रूजवेल्ट ने उसका परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में अग्रसर होना प्रारम्भ किया। इसीलिए १९३४ में अमेरिका ने अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की सदस्यता स्वीकार कर ली। रूजवेल्ट की सरकार चाहती थी, कि अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी हाथ बटाने लगे। इसके लिए सीनेट में प्रस्ताव भी उपस्थित किया गया। पर अमेरिका में राष्ट्रसंघ और उससे सम्बद्ध संस्थाओं के प्रति असहयोग एवं उनसे पृथक् रहने को भावना इतनी प्रबल थी, कि यह प्रस्ताव सीनेट में स्वीकृत नहीं हो सका (जनवरी, १९३५)।

निःशस्त्रीकरण के लिए जो प्रयत्न इस काल में विविध राज्यों द्वारा किये जा रहे थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर इटली और जर्मनी में फासिज्म और नाजीज्म के उत्कर्ष के कारण इन प्रयत्नों को विशेष सफलता नहीं हो सकी थी। जिनीवा में जिस अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स का आयोजन किया गया था (१९३४), वह सफल नहीं हुई थी, और वाशिंगटन तथा लण्डन की कान्फरेन्सों में सामुद्रिक शक्ति को नियन्त्रित रखने के सम्बन्ध में जो समझौते हुए थे, उनकी अवधि भी अब समाप्त हो रही थी। जापान अब यह माँग करने लगा था, कि उसकी नाविक शक्ति अमेरिका और ब्रिटेन के समकक्ष होनी चाहिये। जब अमेरिका और ब्रिटेन यह स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुए, तो जापान ने नाविक शक्ति के सम्बन्ध में की गई सन्धियों को रद्द कर सकने के अपने अधिकार का प्रयोग किया और स्वेच्छानुसार अपनी जल सेना को बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका पर भी जापान के इस रुख का प्रभाव पड़ा, और उसने भी अपने बजट में सेना पर खर्च होने वाली धनराशि को बढ़ाना शुरू कर दिया। पर अब तक अमेरिका का लोकमत पार्थक्य की नीति का अनुसरण करने और यूरोप के झगड़ों से अपने को पृथक् रखने के पक्ष में था। इसी काल में अमेरिका में अनेक ऐसे उपन्यास प्रकाशित हुए, जिनमें युद्धों की विभीषिका और उनकी निरर्थकता का अत्यन्त सजीव रूप से निरूपण किया गया था। जनता को इन्होंने बहुत प्रभावित किया। १९३४ में अमेरिका की सीनेट ने एक कमेटी इस प्रयोजन से नियुक्त की थी, कि वह युद्ध-सामग्री तैयार करने वाले कारखानों के मालिकों का अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति पर क्या प्रभाव पड़ रहा है और उसे कैसे कम किया जा सकता है, इस प्रश्न पर विचार करे। इस कमेटी के अध्यक्ष सीनेटर गेराल्ड पी० नाई थे। उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की, उससे यह प्रगट हो गया कि युद्ध का वातावरण उत्पन्न करने में युद्ध-सामग्री के कारखानों के मालिकों का भी बड़ा कर्तृत्त्व है। महायुद्ध के समय अन्य राज्यों ने अमेरिका से जो कर्ज लिये थे, जर्मनी द्वारा हरजाने की रकम की वसूली न होने पर उन्हें वसूल करना भी अमेरिका के लिये सम्भव नहीं रह गया था। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि अमेरिका में पार्थक्य नीति के प्रति

भावना बहुत प्रबल हो गई और वहाँ की जनता यह समझने लगी कि यूरोप के झगड़ों से पृथक् रहने में ही उसका हित है।

तटस्थता विधान (Neutrality Acts)—इस भावना के कारण ही अमेरिका में अनेक नये कानूनों का निर्माण किया गया (१९३६-३७), जो 'तटस्थता विधान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन कानूनों के अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि जब राष्ट्रपति यह देखे कि दो राज्यों में युद्ध छिड़ गया है या किसी राज्य में ऐसे गृह-युद्ध का प्रारम्भ हो गया है जिसका प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका पर भी पड़ सकता है, तो वह इस बात की घोषणा कर दे। ऐसी घोषणा हो जाने पर राष्ट्रपति को यह भी घोषित करना होगा, कि अब युद्ध में व्यापृत राज्यों को युद्ध सामग्री बेचना, वहाँ पहुँचाने के लिये युद्ध सामग्री को ढोना, युद्ध में व्यापृत राज्य के सरकारी कागजों व शेयरों को खरीदना, उनके जहाजों में सफर करना और उनके व्यापारी जहाजों को शस्त्र प्रदान करना गैर-कानूनी समझा जायगा। साथ ही, राष्ट्रपति को यह भी अधिकार होगा कि वह स्वविवेक से निम्नलिखित बातों को भी गैरकानूनी घोषित कर सके—(१) अमेरिका के जहाजों द्वारा युद्ध में व्यापृत राज्यों के लिये किसी भी माल को ढोना, (२) विदेशी जहाजों द्वारा भी किसी माल को भेजना, केवल उस दशा के अतिरिक्त जब कि उसके लिये नकद भाड़ा प्रदान किया गया हो। (३) अमेरिका के बन्दरगाहों का युद्ध में व्यापृत राज्यों के जंगी जहाजों, पनडुब्बियों और सशस्त्र व्यापारिक जहाजों द्वारा प्रयुक्त किया जाना। रूजवेल्ट का विचार था, कि ये प्रतिबन्ध केवल ऐसे राज्यों के प्रति ही लगाये जाने चाहिएँ, जिन्हें कि अमेरिका आक्रान्ता माने। पर अमेरिका की कांग्रेस युद्ध से पृथक् रहना इतना अधिक आवश्यक समझती थी, कि उसने राष्ट्रपति के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इसी का यह परिणाम हुआ कि इटली और अबीसीनिया के युद्ध में अमेरिका ने न इटली को युद्ध-सामग्री दी और न अबीसीनिया को। अमेरिकन जनता की सहानुभूति अबीसीनिया के साथ थी, क्योंकि इटली ने उस पर अकारण ही आक्रमण कर दिया था। यदि राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया जाता, तो अमेरिका अबीसीनिया को अस्त्र-शस्त्र आदि बेच सकता था। इसी प्रकार स्पेन के गृहयुद्ध में अमेरिका रिपब्लिकन सरकार को अस्त्र-शस्त्र नहीं दे सका, यद्यपि अमेरिकन लोगों की सहानुभूति इस सरकार के साथ थी। १९३७ में जब जापान ने चीन के साथ युद्ध का प्रारम्भ किया, तो तटस्थता विधान अमेरिका द्वारा चीन को सहायता पहुँचाने में बाधक नहीं हुए, क्योंकि जापान ने औपचारिक रूप से चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की थी। पर रूजवेल्ट ने सरकारी जहाजों को युद्ध-सामग्री को ले जाने से रोक दिया था, और प्राइवेट जहाजों के बारे में भी यह आदेश दिया था कि वे अपनी जिम्मेवारी पर ही अस्त्र-शस्त्र आदि को पूर्वी एशिया में ले जा सकते हैं। अमेरिका के पूँजीपति चीन और जापान दोनों को ही अपना माल बेचने में तत्पर रहे, यद्यपि इसका अधिक लाभ चीन ने प्राप्त किया, क्योंकि अमेरिकन जनता उसके प्रति सहानुभूति का भाव रखती थी।

द्वितीय महायुद्ध और नया तटस्थता-विधान—सितम्बर, १९३९ में जब यूरोप में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने तटस्थता की नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया। अमेरिकन जनता का अब भी यही विचार था, कि यूरोप के युद्धों में उसे तटस्थ ही रहना चाहिये। ३ सितम्बर, १९३९ को रेडियो पर भाषण करते हुए रूजवेल्ट ने कहा था—"संयुक्त-राज्य इस युद्ध से पृथक् रहेगा, पर मैं अमेरिकनों को यह नहीं कह सकता कि वे विचारों में भी तटस्थ रहें।" तटस्थता-विधान के अनुसार रूजवेल्ट ने इसी समय यह भी घोषित किया, कि किसी भी पक्ष को युद्ध-सामग्री आदि नहीं भेजी जायगी। पर युद्ध में जर्मनी को जिस ढंग से सफलता प्राप्त हो रही थीं, उसके कारण अमेरिका के लिये कोई भी माल यूरोप भेज सकना सम्भव नहीं रह गया था। इससे अमेरिका के उद्योग-धन्धों को भारी नुकसान पहुँच रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य का औपनिवेशिक राज्य होने के कारण जब कनाडा भी युद्ध में शामिल हो गया, तो तटस्थता-विधान के अनुसार अमेरिका के लिये उसे भी युद्ध-सामग्री बेच सकना सम्भव नहीं रहा। साथ ही, युद्ध के समाचारों के कारण अमेरिका की जनता की सहानुभूति मित्र-राज्यों के साथ होती जाती थी। इस दशा में तटस्थता विधान में संशोधन कर एक नया तटस्थता-विधान स्वीकृत किया गया (४ नवम्बर, १९३९), जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि युद्ध में व्यापृत राज्य नकद दाम देकर अमेरिका से युद्ध-सामग्री खरीद सकें और अपने जहाजों में उसे जहाँ चाहें, ले जा सकें। ब्रिटेन को इस नये कानून से बहुत लाभ हुआ। जर्मनी के मुकाबले में उसकी सामुद्रिक शक्ति बहुत अधिक थी, अतः वह अमेरिका से युद्ध सामग्री खरीद कर यूरोप के रण-क्षेत्रों में पहुँचा सकता था। तटस्थता-कानून में संशोधन के कारण ब्रिटेन जो युद्ध सामग्री अमेरिका से खरीद सका, उसका मूल्य ८०० करोड़ डालर के लगभग था। अमेरिका की नीति में यह परिवर्तन मित्र-राज्यों के लिये बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

८ दिसम्बर, १९४१ को अमेरिका भी महायुद्ध में शामिल हो गया। इसका कारण जापान द्वारा पर्ल हार्बर (हवाई द्वीप में) पर अकस्मात् आक्रमण था। पर्ल हार्बर सुदूर पूर्व में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति का प्रधान केन्द्र था। महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर जापान पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये उत्सुक था। उसे अब ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड का कोई भय नहीं था, क्योंकि ये राज्य यूरोप के रण-क्षेत्रों में बुरी तरह से फँसे हुए थे। जापान के मार्ग में केवल अमेरिका ही बाधक हो सकता था। इसीलिये उसने पर्ल हार्बर में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति को बुरी तरह से नष्ट कर अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ कर दिया। पर इसके कारण अमेरिका भी युद्ध में तटस्थ नहीं रह सका।

बारहवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और एशिया के विभिन्न देश

(१) जापान के साम्राज्य का प्रारम्भ

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग (१८५४) में कोमोडोर पेरी द्वारा जापान के पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क का सूत्रपात हुआ था। उस समय जापानी लोगों ने अनुभव किया, कि वे उन्नति की दौड़ में अमेरिका और यूरोप के मुकाबले में बहुत पीछे रह गये हैं। इसी अनुभूति के कारण वे अपने देश का कायाकल्प करने को प्रवृत्त हुए, और आधी सदी के लगभग समय में उन्होंने विज्ञान और औद्योगिक क्षेत्र में इतनी अधिक उन्नति कर ली कि वे प्रायः पाश्चात्य राज्यों के समकक्ष हो गये। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वे भी पाश्चात्य देशों के अनुकरण में साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्नशील हों। जापान के साम्राज्य के लिये सब से उपयुक्त क्षेत्र चीन, कोरिया और प्रशान्त महासागर के विविध द्वीप थे।

सब से पूर्व जापान ने कुरील द्वीप-समूह को अपने अधीन किया (१८७५)। ये द्वीप येजो से शुरू होकर उत्तर में कामचात्का (रूस के साइबीरिया प्रदेश में) तक विस्तृत हैं। १८७८ में उसने बोनिन द्वीप-समूह पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया, और १८९४-९५ में उसने फार्मूसा द्वीप को चीन से जीत लिया। यह द्वीप बहुत विशाल है, और इसे प्राप्त कर लेने पर जापान को एक ऐसा प्रदेश प्राप्त हो गया, जहाँ वह अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसा सकता था, और जहाँ वह औद्योगिक विकास भी कर सकता था। इसी समय कोरिया से चीन के शासन का अन्त हुआ, और रूस तथा जापान दोनों उसे अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रवृत्त हुए। १९०५ में रूस और जापान के युद्ध का अन्त होने पर कोरिया जापान का संरक्षित राज्य बन गया। पर जापान इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। १९०९ में उस ने कोरिया के शासन को सीधे अपने हाथों में ले लिया।

मञ्चूरिया में जापान के प्रभुत्त्व का विकास—१९०५ में रूस को परास्त कर देने के बाद जापान के लिये यह सम्भव हो गया, कि वह मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्त्व की स्थापना कर सके। पर वहाँ जापान का प्रभुत्त्व धीरे-धीरे स्थापित हुआ। रूस-जापान के युद्ध की समाप्ति पर इन दोनों देशों में जो सन्धि (पोर्ट्समाउथ की सन्धि) हुई, उस द्वारा लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में जो विशेषाधिकार पहले रूस को प्राप्त थे, वे जापान को हस्तान्तरित कर दिये गये। सखालिन द्वीप का दक्षिणी भाग जापान को

प्राप्त हुआ। मञ्चूरिया के रेलवे का दक्षिणी भाग जापान को मिला, और उसकी रक्षा के लिये वहाँ अपनी सेनाएँ रख सकने का अधिकार भी। इस सन्धि द्वारा जापान को मञ्चूरिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उपयुक्त अवसर मिल गया। अब वहाँ बहुत-से जापानी लोग बसने शुरू हो गये, और लिआओ-तुंग प्रायद्वीप पर जापान का अधिकार स्थापित हो गया।

महायुद्ध और जापान—महायुद्ध में जापान मित्र-राज्यों के पक्ष में था। अतः उसने चीन के उन सब प्रदेशों और प्रशान्त महासागर के उन सब द्वीपों पर कब्जा कर लिया, जो पहले जर्मनी के अधीन थे। क्योंकि चीन ने भी महायुद्ध में मित्र-राज्यों का साथ दिया था, अतः उसकी यह माँग थी कि जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए चीनी प्रदेश उसे वापस मिल जाने चाहिएँ। पेरिस की शान्ति परिषद् में उसकी यह माँग स्वीकृत नहीं हो सकी, क्योंकि १९१७ में की गई गुप्त सन्धियों द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने इन्हें जापान के सुपुर्द कर देने का वचन दिया हुआ था। इसी कारण चीन ने वर्साय्य की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था। बाद में वाशिंगटन कान्फरेन्स (१९२२) में चीन के इन प्रदेशों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई, उसका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। उनके अनुसार जापान को इन प्रदेशों (शातुंग और कियाउ-चाउ) से अपने विशेषाधिकारों का अनेक अंशों में परित्याग कर देना पड़ा।

(२) जापान का वशवर्ती मञ्चूकुओ राज्य

१९३१ तक मञ्चूरिया चीन के अन्तर्गत था, यद्यपि उसके दक्षिणी प्रदेशों में जापान ने कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। जब तक चीन की केन्द्रीय सरकार निर्बल थी, जापान के लिये वहाँ मनमानी कर सकना सम्भव था। पर कुओमिन्तांग पार्टी के शक्ति प्राप्त कर लेने पर चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हुई, और वहाँ की सरकार ने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया कि अपने देश से विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्व का अन्त कर अविकल रूप से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना की जाए। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि चीन और जापान में मञ्चूरिया के सम्बन्ध में विरोध उत्पन्न हो। चीन की सरकार लिआओ-तुंग प्रायद्वीप और दक्षिणी मञ्चूरिया में जापान के विशेषाधिकारों को अन्याय्य व अवैध समझती थी। चीन के राष्ट्रवादी लोग वहाँ जापान का प्रतिरोध करने में तत्पर थे। मञ्चूरिया के प्रश्न पर चीन और जापान में जो अग्नि धीरे-धीरे सुलग रही थी, सितम्बर, १९३१ में वह प्रचण्डता के साथ धधक उठी। १८ सितम्बर को दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे पर एक बम्ब फेंका गया। यह घटना बहुत साधारण थी, पर इसके परिणाम बहुत भयंकर हुए। इसके लिये चीन को दोषी ठहरा कर जापान की क्वांतुंग सेना ने मञ्चूरिया की राजधानी मुकदन पर कब्जा कर लिया, और १९३१ का अन्त होने से पूर्व ही प्रायः सम्पूर्ण

मञ्चूरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मञ्चूरिया के सूबेदार चांग ह्सुएह-लिआंग के लिये जापानी सेना का मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं हुआ।

१८ फरवरी, १९३२ को मञ्चूरिया का एक पृथक् राज्य बना दिया गया, जिसका नाम मञ्चूकुओ रखा गया। इस नये राज्य का शासन करने के लिये चीन के पदच्युत सम्राट् को नियुक्त किया गया। १९११ में चीन की राज्यक्रान्ति के समय मञ्चू वंश का यह सम्राट् नाबालिग था। अब यह वयस्क हो चुका था, और जापान ने इसी सम्राट् पू यी को मञ्चूकुओ का राजा बनाया। ९ मार्च, १९३२ को इस राज्य के लिये नये संविधान का निर्माण किया गया, और १५ सितम्बर, १९३२ को जापान ने मञ्चूकुओ राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया। पर चीन इसकी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं था, यद्यपि इसे अपने अधिकार में ले आने की शक्ति भी उसमें नहीं थी। क्रियात्मक दृष्टि से अब मञ्चूरिया चीन से पृथक् हो गया था। यद्यपि नाम को वह स्वतन्त्र राज्य था, पर वस्तुतः वह पूर्णतया जापान के प्रभाव व प्रभुत्व में था। जापान की क्वांतुंग सेना वहाँ विद्यमान थी, और मञ्चूकुओ राज्य की सत्ता इस जापानी सेना पर ही आश्रित थी। सरकार के विविध विभागों में जापानियों को सलाहकार के रूप में नियुक्त किया गया था, और वस्तुतः मञ्चूकुओ की राजनीति व शासन का सञ्चालन इन जापानी अफसरों के ही हाथों में था।

चीन की सरकार इस स्थिति में नहीं थी, कि वह सैन्य बल से मञ्चूरिया में जापान के प्रभुत्व का प्रतिरोध कर सके। अतः उसने जापानी माल के बहिष्कार का निश्चय किया, जिसके कारण जापान के विदेशी व्यापार को बहुत धक्का लगा। इससे उद्विग्न होकर जापान के जंगी जहाजों ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया और उसके एक भाग पर कब्जा भी कर लिया। इसी समय चीन की तत्कालीन राजधानी नानकिंग पर भी बम्ब वर्षा की गई, और मई, १९३२ तक चीन और जापान का यह संघर्ष जारी रहा।

चीन ने जापान द्वारा मञ्चूरिया पर अधिकार कर लेने पर राष्ट्रसंघ से अपील की। संघ की कौंसिल ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया, जिसके अध्यक्ष लार्ड लिटन थे। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जर्मनी के प्रतिनिधियों को इस कमीशन में स्थान दिया गया। चीन जाकर इस कमीशन ने मञ्चूरिया की समस्या का अनुशीलन किया, और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि मञ्चूरिया के प्रदेश में चीन, जापान और रूस तीनों के विशेष हितों व अधिकारों की सत्ता है, अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे कि तीनों के हितों व अधिकारों की रक्षा हो सके। कमीशन का प्रस्ताव यह था, कि मञ्चूरिया में एक ऐसी सरकार कायम की जाये जो आन्तरिक विषयों में पूर्णतया स्वतन्त्र हो, पर साथ ही उसका संगठन इस ढंग से किया गया हो कि जिससे चीन की राष्ट्रीय प्रभुता अखण्डित

व अविभाजित रह सके। राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त लिटन कमीशन एक इस प्रकार के मध्य मार्ग का अनुसरण करने के पक्ष में था, जिसके कारण मञ्चूरिया न तो चीन का एक प्रान्त-मात्र रह जाता था और न ही वह एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य बन पाता था। पर जापान इसे स्वीकृत करने को उद्यत नहीं हुआ। १५ सितम्बर, १९३२ को उसने मञ्चूकुओ राज्य की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इस दशा में उसके लिये किसी ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार कर सकना सम्भव ही नहीं था, जिससे मञ्चूकुओ की इस स्थिति में अन्तर आता हो। बहुत वाद-विवाद के अनन्तर फरवरी, १९३३ में राष्ट्रसंघ ने लिटन कमीशन की रिपोर्ट को स्वीकृत कर लिया, और अपने सदस्य-राज्यों को आदेश दिया कि वे मञ्चूकुओ राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार न करें और उसके साथ राजनयिक सम्बन्ध भी स्थापित न करें। उसने जापान से भी अनुरोध किया, कि चीन से अपनी सेनाएँ हटा ले और उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग न करे, और चीन के साथ जिन बातों पर भी उसका झगड़ा है, उनका निबटारा करने के लिये जापान शान्तिमय उपायों से काम ले, सैन्यशक्ति से नहीं।

पर जापान किसी भी दशा में मञ्चूकुओ से अपने प्रभुत्त्व का परित्याग करनेके लिये सहमत नहीं हुआ। मार्च, १९३३ में उसने राष्ट्रसंघ को सूचना दे दी, कि भविष्य में वह संघ का सदस्य नहीं रहेगा। राष्ट्रसंघ से पृथक् हो कर वह चीन में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करने में स्वच्छन्दता के साथ तत्पर हो गया। जापान का संघ से पृथक् हो जाना महायुद्ध के बाद बने इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिये बहुत बड़ा आघात था। पूर्वी एशिया से अब राष्ट्रसंघ का प्रभाव हट गया, क्योंकि अमेरिका संघ का सदस्य था ही नहीं। पूर्वी एशिया की इन दो प्रधान शक्तियों के राष्ट्रसंघ में सम्मिलित न रहने का यह परिणाम हुआ, कि इस क्षेत्र के राज्यों की गतिविधि को नियन्त्रित कर सकने की उसकी क्षमता में बहुत न्यूनता आ गई।

मञ्चूकुओ नाम से जिस नये राज्य की स्थापना हुई थी, वह नाम को तो एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य था, पर यथार्थ में वह जापान का अधीनस्थ व संरक्षित राज्य ही था। १५ सितम्बर, १९३२ को जब जापान ने मञ्चूकुओ की स्वतन्त्र सत्ता को औपचारिक रूप से स्वीकार किया था, तभी दोनों राज्यों की सरकारों ने एक शर्तनामे पर हस्ताक्षर कर दिये थे जिसमें उन सब विशेषाधिकारों का विशद रूप से उल्लेख किया गया था जो कि जापान ने मञ्चूरिया में चीन के साथ की गई विविध सन्धियों द्वारा प्राप्त किये हुए थे। १९१५ की सन्धि द्वारा प्राप्त लिआओ-तुंग प्रायद्वीप और दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के ९९ साल के पट्टे की बात भी इसमें स्पष्ट रूप से लिख दी गई थी। मञ्चूकुओ की सरकार ने यह स्वीकार किया था कि इस शर्तनामे में जापान ने जिन विशेषाधिकारों का परिगणन किया गया है, उनको वह अक्षुण्ण रखेगी। इन विशेषाधिकारों को अक्षुण्ण रखने के लिए जापान ने निम्नलिखित व्यवस्थाएँ कीं—(१) लिआओ-तुंग की

पुलिस तथा न्यायालय जापान की अधीनता में रहें। (२) दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के क्षेत्र में जापान की सशस्त्र पुलिस नियत की गई। (३) क्वांतुंग सेना को मञ्चूकुओ में कायम रखा गया। (४) मञ्चूकुओ में निवास करने वाले जापानियों के लिये एक्स्ट्रा-टेरिटोरियेलिटी के अधिकार जारी रखे गये। इन व्यवस्थाओं के कारण मञ्चूकुओ पूर्णतया जापान का वशवर्ती राज्य बन गया, और जापानी पूंजीपतियों ने वहाँ बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगा कर नये कल-कारखाने स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। १९३२ में जापान की जो पूँजी मञ्चूरिया में लगी हुई थी, उसकी मात्रा ९,७२,००,००० येन थी। १९३२ से १९३८ तक के छः वर्षों में वहाँ ४३ करोड़ येन की नई पूँजी जापानियों द्वारा लगायी गई। बहुत-से जापानी लोग भी इस काल में मञ्चूकुओ में जाकर बसने लग गये।

(३) चीन में जापान के प्रभुत्त्व का विस्तार

मंगोलिया में हस्तक्षेप—जापान की साम्राज्य प्रसार की भूख मञ्चूरिया पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर के ही सन्तुष्ट नहीं हो गई। नवस्थापित मञ्चूकुओ राज्य की पश्चिम-दक्षिणी सीमा मंगोलिया के साथ लगती थी। मंगोलिया चीन के अन्तर्गत था। जापान समझता था, कि मञ्चूकुओ पर अपने आधिपत्य को भली-भाँति स्थापित रखने के लिए मंगोलिया और उत्तरी चीन को भी अपने प्रभाव में ले आना आवश्यक है। इसी लिये उसने १९३३ में जहोल प्रदेश पर आक्रमण किया। ३ मार्च, १९३३ को जहोल की राजधानी चेंग्तेह पर जापान की क्वांतुंग सेना का कब्जा हो गया। जहोल के प्रदेश को मञ्चूकुओ राज्य में सम्मिलित कर दिया गया। यह जहोल प्रदेश मंगोलिया का ही अन्यतम भाग था।

मंगोलिया का सुविशाल प्रदेश दो भागों में विभक्त था, बाह्य और आभ्यन्तर मंगोलिया। बाह्य मंगोलिया में 'मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक' की स्थापना हो चुकी थी, जो पूर्णतया स्वतन्त्र होते हुए भी रूस की कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना चुकी थी और रूस के साथ सहयोग में तत्पर थी। आभ्यन्तर मंगोलिया चीन के अन्तर्गत था, यद्यपि उसमें अनेक मंगोल सरदार क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से शासन कर रहे थे। जहोल को जीत कर जापान ने आभ्यन्तर मंगोलिया के अन्य प्रदेशों में भी हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। आभ्यन्तर मंगोलिया के तीन प्रान्त थे—चहर, सुइ-युआन और निन्ग्सिआ। इन में से चहर का प्रान्त मञ्चूकुओ की पश्चिमी सीमा पर स्थित था। १९३५ में सीमा-सम्बन्धी एक झगड़े से लाभ उठा कर क्वांतुंग सेना ने चीन की सरकार को निम्नलिखित बातों को स्वीकार करने के लिये विवश किया—(१) चहर प्रान्त में कुओमिन्तांग पार्टी की जो शाखाएँ स्थापित हैं, उन्हें भंग कर दिया जाए। (२) इस प्रान्त के पूर्वी प्रदेशों में चीनी लोग भविष्य में न बस सकें। (३) पूर्वी चहर से चीनी सेनाओं को हटा लिया जाए। इन बातों को मान लेने का यह परिणाम

हुआ, कि चहर प्रान्त पर से चीन के प्रभुत्त्व का प्रायः अन्त हो गया। इसी समय क्वांतुंग सेना की एक छावनी चहर में भी स्थापित कर दी गई, जिसके कारण यह प्रान्त जापान का वशवर्ती हो गया। पर जापान केवल चहर को ही अपने प्रभुत्त्व में लाकर संतुष्ट नहीं हो गया। उसने आभ्यन्तर मंगोलिया के सरदारों की कौंसिल के सम्मुख यह माँग पेश की, कि वह अपने प्रदेश में जापान को हवाई अड्डे बनाने और एक वायरलेस स्टेशन स्थापित करने की अनुमति प्रदान करे। साथ ही, मंगोल सरदारों से यह भी माँग की गई, कि वे अपने प्रदेशों में सेना और शासन के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिये जापानी सलाहकारों की नियुक्ति करें। मंगोलिया की सरकार जापान के सम्मुख असहाय थी। उसने इन माँगों को स्वीकार कर लिया। यद्यपि आभ्यन्तर मंगोलिया अब भी चीन के अन्तर्गत था, पर जुलाई १९३५ के बाद इस प्रान्त पर जापान के प्रभाव व प्रभुत्त्व में निरन्तर वृद्धि होती गई, और क्वांतुंग सेना की अनेक छावनियाँ वहाँ स्थापित कर दी गईं।

चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति—आभ्यन्तर मंगोलिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व को स्थापित कर जापान ने उत्तरी चीन की ओर ध्यान दिया। चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति प्रायः वही थी, जो संयुक्त-राज्य अमेरिका की अमेरिकन महाद्वीप के राज्यों के सम्बन्ध में थी। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका सम्पूर्ण अमेरिकन महाद्वीप के प्रति अपनी विशेष उत्तरदायिता समझता था, और यूरोप के साम्राज्यवादी देश इस महाद्वीप में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार न कर सकें, इस प्रयोजनसे उसने मुनरो सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसी प्रकार जापान का भी यह विचार था कि पूर्वी एशिया में उसकी विशिष्ट स्थिति है और उसका कर्तव्य है कि इस क्षेत्र में किसी पाश्चात्य राज्य को अपने प्रभुत्त्व व प्रभाव का विस्तार न करने दे। इसी कारण १८ एप्रिल, १९३४ को जापानी सरकार के परराष्ट्र विभाग ने एक घोषणा प्रकाशित की थी, जिसमें यह कहा गया था कि पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित रखना जापान का कर्तव्य है और इसके लिये वह अपनी उत्तरदायिता को स्वीकार करता है। यही कारण है, कि जापान चीन में व्यवस्था व शान्ति स्थापित रखने के लिये उत्सुक है। पर चीन की सरकार अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह अपने देश में व्यवस्था रख सके। अतः जापान का यह कर्तव्य हो जाता है, कि वह इस देश में शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखने के लिये तत्पर रहे, और किसी अन्य राज्य को वहाँ हस्तक्षेप न करने दे, क्योंकि ऐसे हस्तक्षेप का यही परिणाम होगा कि चीन में अशान्ति की वृद्धि में सहायता मिलेगी। २८ अक्टूबर, १९३५ को जापान के परराष्ट्रमन्त्री हीरोता ने चीन के प्रति अपनी नीति को और भी अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया था—(१) चीन और जापान को मैत्री-सम्बन्ध से रहना चहिये। इसके लिये आवश्यक है, कि चीन की सरकार अब तक जापान के विरुद्ध जो कार्य करती रही है, भविष्य में उन्हें न किया जाए। (२) चीन मञ्चूकुओ की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता को

स्वीकार कर उसके साथ राजनयिक सम्बन्धों को स्थापित करे। (३) चीन से कम्युनिज्म को नष्ट करने के लिये जापान चीनी सरकार के साथ सहयोग करे। इससे स्पष्ट है, कि जापान चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध तो स्थापित करना चाहता था, पर उसकी मैत्री का अभिप्राय यह था कि चीन जापान की इच्छा के अनुसार चले और (कम्युनिज्म के विनाश को निमित्त बना कर) चीन को अपनी सैनिक व आर्थिक उन्नति के लिये जिस विदेशी सहायता की आवश्यकता हो, उसे वह जापान से ही प्राप्त करे। यथार्थ में जापान सारे ही चीन पर अपने प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये इच्छुक था, और शीघ्र ही उसने इसके लिये प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया।

उत्तरी चीन में हस्तक्षेप—उत्तरी चीन का वह प्रान्त जिसकी सीमा मञ्चूकुओ राज्य के साथ लगती थी, होपेई था। १९३३ में ही जापान ने उस पर अपने प्रभुत्व को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। क्वांतुंग सेना ने उसकी ओर भी प्रस्थान कर दिया, और चीनी सरकार को इस प्रान्त के सम्बन्ध में एक समझौता करने के लिये विवश किया। इस समझौते (२५ मई, १९३३) की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) होपेई प्रान्त के उत्तरी प्रदेशों में जापान अपनी सेनाएँ रख सके। (२) चीन की सेनाएँ इस प्रदेश से हटा ली जाएँ। (३) इस प्रदेशमें शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का कार्य चीन की पुलिस द्वारा किया जाए, पर इस पुलिस में कोई एसे व्यक्ति न हों जो जापान के विरोधी हों। इस समझौते को और अधिक सुदृढ़ करने के प्रयोजन से जुलाई, १९३५ में जापान ने चीन के साथ एक अन्य समझौता किया, जिसके अनुसार (१) होपेई प्रान्त में कुओमिन्तांग पार्टी की जो शाखाएँ थीं, उन्हें भंग कर दिया गया। (२) जापान-विरोधी प्रचार को रोकने की जिम्मेवारी चीनी सरकार ने अपने ऊपर ले ली। (३) जिन राज्यकर्मचारियों को जापान का विरोधी समझा गया, उन्हें अपने पदों में पृथक् कर दिया गया। १९३५ के इस समझौते से होपेई के प्रान्त पर जापान का प्रभुत्व भली-भाँति स्थापित हो गया। चीन को प्राचीन राजधानी और प्रमुख नगरी पेकिंग होपेई प्रान्त में ही है। वह भी अब जापान के प्रभुत्व में आ गई। दिसम्बर, १९३५ में जापान ने होपेई प्रान्त को चीन से पृथक् करने के लिए एक और पग बढ़ाया। उसने आन्दोलन करना शुरू किया, कि उत्तरी चीन का यह प्रदेश नानकिंग सरकार (कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी नानकिंग थी) की अधीनता से मुक्त हो कर अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये उत्सुक है। इस आन्दोलन का यह परिणाम हुआ, कि १९३५ का अन्त होने से पूर्व ही होपेई का शासन करने के लिए एक 'स्वतन्त्र' कौंसिल की स्थापना कर दी गई। यह कौंसिल पूर्ण रूप से पेकिंग में स्थित क्वांतुंग सेना के प्रभाव में थी और उसी के इशारे पर शासन का सञ्चालन करती थी। जापान के आदेशानुसार होपेई की स्वतन्त्र कौंसिल ने यह व्यवस्था की, कि उसके प्रदेश में आने वाले जापानी माल पर तट-कर की दर में कमी कर दी जाए। परिणाम यह हुआ, कि होपेई के बाजार जापानी माल से भर गये, और

अन्य राज्यों के लिए वहाँ अपना माल बेच सकना सम्भव नहीं रहा। अमेरिका और ब्रिटेन आदि देशों को इससे बहुत नुकसान हुआ। चीन में व्यापार के लिये सब देशों को समान अवसर प्राप्त होगा, इस बात को जापान स्वीकृत कर चुका था (१९२१, वाशिंगटन की सन्धि)। तट-कर के सम्बन्ध में जो रियायत जापान को दी गई थी, वह इस सन्धि के विरुद्ध थी। पर जापान ने अमेरिका और ब्रिटेन की शिकायत पर कोई ध्यान नहीं दिया।

(४) चीन और जापान का युद्ध

जापान जिस ढंग से चीन में अपने प्रभुत्त्व की स्थापना में तत्पर था, उसके कारण इन दोनों देशोंमें युद्ध का प्रारम्भ हो जाना अवश्यम्भावी था। होपेई पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर जापान इस बात के लिये प्रयत्नशील था कि उत्तरी चीन के शान्सी और शान्तुंग प्रान्तों में भी अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करे। इस समय चीन में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक एकता का अभाव था। १९३३ में वहाँ तीन प्रधान राजनीतिक शक्तियाँ थीं—(१) नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार, जिसका अधिपति चियांग काई शेक था। यह चीन की प्रधान सरकार थी और देश के बड़े भाग पर इसका शासन विद्यमान था। (२) कैन्टन की वामपक्षी सरकार, जिसके प्रधान नेता वांग चिंग वेई और चेन कुंग-पो थे। यह सरकार भी कुओमिन्तांग पार्टी की थी, पर इस पार्टी की कार्यनीति के सम्बन्ध में इसका चियांग काई शेक से मतभेद था। (३) कम्युनिस्ट सरकार—कियांग सी, आन्हुई और फूकियन प्रान्तों के अनेक प्रदेशों पर कम्युनिस्ट सरकार का शासन था। माओ त्से तुंग इसके प्रधान नेता थे। कम्युनिस्ट लोग कुओमिन्तांग सरकार को स्वीकार नहीं करते थे, और सम्पूर्ण चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे।

चियांग काई शेक की दृष्टि में राष्ट्रीय एकता का बहुत महत्त्व था। वह लोकतन्त्रवाद को उतना महत्त्व नहीं देता था, जितना कि सम्पूर्ण चीन में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन की स्थापना को देता था। इसी कारण उसने अपनी सब शक्ति को चीन में राष्ट्रीय व राजनीतिक एकता को स्थापित करने में लगा दिया। वह किस प्रकार कैन्टन की वामपक्षी सरकार को परास्त करने और उस द्वारा शासित प्रदेशों को अपने शासन में ले आने के कार्य में सफल हुआ, इस पर यहाँ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि १९३६ तक चियांग काई शेक दक्षिणी चीन को भी अपनी अधीनता में ले आने में सफल हो गया था। पर इससे चीन की एकता की समस्या हल नहीं हो गई। चियांग काई शेक की सब से प्रबल विरोधी कम्युनिस्ट सरकार थी, जो किसी भी तरह उससे समझौता करने को तैयार नहीं थी। कम्युनिस्ट सरकार की अधीनता में जो प्रदेश थे, उनका क्षेत्रफल ३,३०,००० वर्गमील था, और उनकी जनसंख्या ९ करोड़ से भी अधिक थी। जिस समय जापान मञ्चूरिया, जहोल

और होपेई में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर था, चियांग काई शेक की सेनाएँ कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध संघर्ष में संलग्न थीं। उसने अपनी सारी शक्ति कम्युनिस्टों के विनाश के लिये लगा दी थी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि १९३४ के अन्त तक कम्युनिस्टों ने यह अनुभव कर लिया, कि वे कियांगसी तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अपनी सत्ता को कायम नहीं रख सकेंगे। उन्होंने अपने प्रदेशों का परित्याग कर उत्तर-पश्चिम की ओर प्रस्थान शुरू कर दिया, और ६००० मील की लम्बी यात्रा कर वे शेन्सी प्रान्त में पहुँच जाने में समर्थ हो गये। वहाँ उन्होंने येनान नगरी को अपनी राजधानी बनाया, और अपनी सरकार का पुनः संगठन किया। शेन्सी प्रान्त के उत्तरी भाग और कान्सू प्रान्त के उत्तर-पूर्वी भाग पर उन्होंने अपना शासन स्थापित किया। यहाँ से उन्होंने नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा, यद्यपि उनकी दृष्टि में जापान का प्रतिरोध करना अधिक महत्त्व की बात थी। पर इस में सन्देह नहीं, कि १९३७ तक चीन के बहुत बड़े भाग पर चियांग काई शेक का शासन सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गया था, और अपने देश में राष्ट्रीय व राजनीतिक एकता की स्थापना में उसने अच्छी सफलता प्राप्त कर ली थी। १९३६ का अन्त होने से पूर्व ही येनान की कम्युनिस्ट सरकार और नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार में एक प्रकार की सुलह भी हो गई थी, क्योंकि अब चियांग काई शेक भी यह अनुभव करने लग गया था, कि जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबला करने के लिये चीन के आन्तरिक संघर्ष को बन्द कर देने में ही देश का हित है।

चीन और जापान का युद्ध—राष्ट्रीय व राजनीतिक एकता स्थापित हो जाने पर चीन के सब वर्ग यह अनुभव करने लगे थे, कि जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व का सबको मिल कर प्रतिरोध करना चाहिये। जापान भी चीन की इस एकता से चिन्तित था। वह जल्दी से जल्दी चीन से युद्ध छेड़ देने के लिये उत्सुक था, क्योंकि इसके बिना वह चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार नहीं कर सकता था। दोनों पक्ष युद्ध के लिये तैयार थे। इस दशामें कोई भी साधारण-सी घटना बारूदखाने में चिंगारी का कार्य कर सकती थी। ७ जुलाई, १९३७ को लुकूचिआओ (पेकिंग के समीप) में चीनी और जापानी सैनिकों में गोली चल गई। इस छोटी-सी घटना को लेकर चीन और जापान में युद्ध का प्रारम्भ हो गया। २७ जुलाई को जापानी सेनाओं ने पेकिंग पर कब्जा कर लिया, और सम्पूर्ण होपेई प्रान्त को अपने सीधे शासन में ले लिया। फिर चहर और सुई-युआन प्रान्तों पर भी कब्जा कर लिया गया। होपेई के समान ये प्रान्त भी पहले जापान के प्रभाव-क्षेत्र में थे। पर अब ये भी जापान के सीधे शासन में आ गये। जापानी सेनाएँ चीनमें निरन्तर आगे बढ़ती गई, और शीघ्र ही उन्होंने हैन्को और कैन्टन को भी जीत लिया। यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चीन और जापान के इस युद्ध का संक्षेप से भी उल्लेख कर सकें।

चीन की नई सरकारें—इस युद्ध के कारण चीन दो भागों में विभक्त हो गया,

स्वतन्त्र चीन और जापान द्वारा अधिकृत चीन। उत्तर में पेकिंग से शुरू कर हैन्को होती हुई दक्षिण में कैन्टन तक यदि एक रेखा खींची जाए, तो इस रेखा के पश्चिमी प्रदेश 'स्वतन्त्र चीन' थे, और इस रेखा से पूर्व के सब प्रदेश जापान द्वारा अधिकृत थे। स्वतन्त्र चीन के भी दो भाग थे। कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी चुंगकिंग थी, और कम्युनिस्ट सरकार की येनान। इन दोनों भागों में इन दो सरकारों का पृथक् शासन स्थापित था। पूर्वी चीन के सब प्रदेश अब जापान के अधिकार में आ गये थे, और कैन्टन, शंघाई, पेकिंग आदि सब प्रमुख नगर उसकी अधीनता में थे। अपने द्वारा अधिकृत प्रदेशों का शासन करने के लिये जापान ने दो नई सरकारों का संगठन कर दिया था, जिनकी राजधानियां क्रमशः पेकिंग और नानकिंग थीं। इनके अतिरिक्त जापान की अधीनता में एक तीसरी सरकार भी थी, जिसका शासन आभ्यन्तर मंगोलिया पर था। जापान की इच्छा थी, कि इन तीनों सरकारों को मिला कर एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना की जाए, जिसकी राजधानी नानकिंग हो। वह यह भी चाहता था कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन की इसी सरकार को मान्यता प्राप्त हो, और यह चियांग काई शेक तथा कम्युनिस्टों की सरकार का मुकाबला करने में तत्पर रहे। इसी प्रयोजन से २२ सितम्बर, १९३८ को 'चीन की संयुक्त कौंसिल' की नानकिंग में स्थापना की गई, और चीन की तीनों सरकारों को उसके अधीन कर दिया गया। नानकिंग की इस केन्द्रीय संयुक्त सरकार का अध्यक्ष वांग चिंग वेई को बनाया गया। वांग चिंग वेई पहले कैन्टन की वामपक्षी सरकार का नेता था, और कुओमिन्तांग पार्टी की नीति के सम्बन्ध में उसका चियांग काई शेक से मतभेद था। उसका यह विश्वास था कि चीन को अपनी उन्नति के लिये जापान के साथ सहयोग करना चाहिये। इसी लिये उसके नेतृत्व में नानकिंग सरकार ने जापान के साथ एक समझौता किया (मार्च, १९४०), जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) जापान ने नानकिंग सरकार को चीन की वैध सरकार स्वीकृत किया, और चियांग काई शेक की चुंगकिंग सरकार को परास्त कर सम्पूर्ण चीन पर अपना शासन स्थापित करने के कार्य में वांग चिंग वेई को सब प्रकार से सहायता देने का वचन दिया। (२) जब चुंगकिंग की सरकार परास्त हो जायेगी, तो जापान अपनी सेनाओं को चीन से हटा लेगा, पर तब तक जापानी सेनाएँ उत्तर-पश्चिमी चीन में रह सकेंगी, जब तक कि येनान की कम्युनिस्ट सरकार को भी परास्त न कर दिया जाए। (३) आर्थिक मामलों में नानकिंग सरकार जापान के साथ सहयोग करेगी, और मुद्रापद्धति तथा आर्थिक नीतिका निर्धारण जापान के परामर्श से करेगी। यह स्पष्ट है, कि इस समझौते के अनुसार वांग चिंग वेई ने चीन में जापान के प्रभाव को स्वीकार कर लिया था। आर्थिक नीति को अपने हाथों में लेकर जापान ने चीन में वे सब लाभ प्राप्त कर लिये थे, जो साम्राज्य-प्रसार द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। इसके कारण जापान को चीन में अपने तैयार माल को बेचने और वहाँ से कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त हो गया।

चुंगकिंग में चियांग काई शेक ने जिस सरकार की स्थापना की थी, समुद्र के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वह जापान के विरुद्ध युद्ध को जारी रखने के लिये पाश्चात्य देशों से समुद्र द्वारा सहायता प्राप्त नहीं कर सकती थी। इस के लिये उसके पास तीन मार्ग थे—(१) फ्रेञ्च इन्डोचायना से फ्रेञ्च-यूनान रेलवे द्वारा और फिर मोटर रोड से होकर चुंगकिंग तक युद्ध-सामग्री पहुँचायी जा सकती थी। यह मार्ग सुगम था, पर इसका प्रयोग तभी सम्भव था, जब कि फ्रांस चुंगकिंग सरकार की सहायता करने को उद्यत हो। (२) बरमा के उत्तरी मार्गों से चुंगकिंग सरकार को सहायता पहुँचायी जा सकती थी, पर ये मार्ग अभी भली-भाँति विकसित नहीं हुए थे। (३) हांग कांग से वायुयानों द्वारा भी चुंगकिंग को युद्ध सामग्री भेजी जा सकती थी।

येनान में जो कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, उसके लिये स्थल मार्ग द्वारा रूस से युद्ध-सामग्री प्राप्त कर सकना अधिक सुगम था।

१९३९ में जब बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो चीन की यही राजनीतिक स्थिति थी।

(५) महायुद्ध (१९३९-४५) से पूर्व जापान की विदेश नीति

जापान चीन के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था। मञ्चूकुओ उसका वशवर्ती राज्य था, आभ्यन्तर मंगोलिया पर उसका प्रभुत्त्व था, और नानकिंग की सरकार ने उसका अनुवर्ती हो कर रहना स्वीकार कर लिया था। पर जापान के राजनीतिज्ञ जानते थे कि पूर्वी एशिया में उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति में तीन ओर से बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं—(१) रूस की सीमाएँ मञ्चूकुओ और मंगोलिया से लगती थीं। उत्तर-पश्चिमी चीन में येनान को राजधानी बना कर जो कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, भौगोलिक दृष्टि से उसका रूस के साथ सन्निकट सम्बन्ध था। रूस येनान सरकार का समर्थक था। उस द्वारा जापान के मार्ग में बाधा उपस्थित की जा सकती थी। (२) चीन के समुद्र तट के अनेक स्थानों पर ब्रिटेन का अधिकार था। हांग कांग सीधे ब्रिटिश शासन में था, और पूर्वी एशिया में यह ब्रिटेन की शक्ति का प्रधान केन्द्र था। ब्रिटेन के विरोध की भी जापान को आशंका थी। (३) संयुक्त-राज्य अमेरिका जापान के चीन में बढ़ते हुए आधिपत्य को कदापि सहन नहीं कर सकता था। प्रशान्त महासागर तथा पूर्वी एशिया के क्षेत्रों में वह किसी को अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनने देना चाहता था। इस प्रकार ब्रिटेन, रूस और अमेरिका—ये तीन देश ऐसे थे, जो जापान के साम्राज्य-विस्तार में बाधक हो सकते थे।

रूस के मुकाबले में अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिये जापान ने जर्मनी के साथ एक पैक्ट किया, जिसे एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट (नवम्बर, १९३६) कहते हैं। इटली के भी इस पैक्ट में शामिल हो जाने के कारण एक ऐसे शक्तिशाली गुट का निर्माण हो गया था, जो यूरोप और एशिया दोनों में कम्युनिस्ट रूस का मुकाबला कर सकता था।

इस पैक्ट के कारण जापान रूस की तरफ से बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था।

१९१४-१८ के महायुद्ध में जापान मित्र-पक्ष में था। ब्रिटेन के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। यद्यपि ये सम्बन्ध अब अधिक मधुर नहीं रह गये थे, पर जापान को ब्रिटेन से विशेष भय नहीं था। ब्रिटेन जिस ढंग से यूरोप में तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण कर रहा था और जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया को हड़प लेने पर भी वह निष्क्रिय रहा था, उससे जापान ने भली-भाँति समझ लिया था, कि ब्रिटेन उसके साम्राज्य-प्रसार के मार्ग में बाधक नहीं हो सकेगा।

पर अमेरिका के विरोध की जापान को आशंका थी। १९३७ में जब जापान चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने में तत्पर हुआ, तो रूजवेल्ट ने शिकागो में भाषण करते हुए कहा था—"यह सच है कि संसार में अराजकता की महामारी फैलने लग गई है। युद्ध छूत की बीमारी के समान होता है। जहाँ से युद्ध का प्रारम्भ हो, उससे बहुत दूर के राज्य भी उसकी लपेट में आ जाते हैं।" अमेरिका समझता था, कि जापान ने चीन में जिस युद्ध का प्रारम्भ किया है, उसकी लपेट में आ जाने से बच सकना उसके लिये सम्भव नहीं होगा। जापान को भी यह भली-भाँति ज्ञात था, कि उसके साम्राज्यवाद के मार्ग में अमेरिका द्वारा अवश्य ही बाधा उपस्थित की जायेगी। इसी लिए द्वितीय महायुद्ध के समय अकस्मात् ही उसने अमेरिका के प्रधान सामुद्रिक अड्डे पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया (दिसम्बर, १९४१), और अपने प्रमुख शत्रु की जल शक्ति को नष्ट कर पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने साम्राज्य की स्थापना में वह प्रवृत्त हुआ।

जापान अमेरिका के विरोध का सामना तभी कर सकता था, जबकि किसी अन्य शक्तिशाली राज्य के साथ युद्ध की सम्भावना न हो। रूस की शक्ति की उपेक्षा कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं था। येनान की कम्युनिस्ट सरकार रूस की सहायता पर भरोसा कर सकती थी। रूस के भय से मुक्त होने के लिये ही जापान ने जर्मनी के साथ एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट किया था। जापान को आशंका थी, कि यदि उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया, तो रूस उसका अवश्य विरोध करेगा और उस दशा में इटली और जर्मनी उसकी विशेष सहायता नहीं कर सकेंगे। अतः उसने यह आवश्यक समझा, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व रूस की ओर से निश्चिन्त हो लिया जाए। इसी प्रयोजन से १९४१ के प्रारम्भ में जापान के परराष्ट्रमन्त्री मत्सुओका ने मास्को की यात्रा की, और १३ एप्रिल, १९४१ को उन्होंने रूस के साथ एक सन्धि की, जिस द्वारा इन दोनों देशों ने एक दूसरे की राजकीय सीमाओं को अनुल्लंघनीय माना और उनका व्याघात न करने का वचन दिया। साथ ही, उन्होंने यह भी स्वीकार किया, कि यदि रूस या जापान किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध से व्यापृत हो जाए, तो दूसरा राज्य उस युद्ध में तटस्थ रहेगा। जापान के लिये यह सन्धि अत्यन्त महत्त्व की थी। इसके कारण उसे यह भरोसा हो

गया था, कि यदि पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में अमेरिका से उसका युद्ध शुरू हो जाए, तो रूस इस युद्ध में तटस्थ रहेगा और जापान अपनी सब शक्ति रूस की ओर से निश्चिन्त होकर अमेरिका के विरुद्ध प्रयुक्त कर सकेगा। द्वितीय महायुद्ध में जापान जो इन्डोचायना, फिलिप्पीन, इन्डोनीसिया, बरमा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब देशों को अपनी अधीनता में ला सका, उस में रूस और जापान की इस सन्धि से बहुत सहायता मिली। इस सन्धि से कुछ समय पूर्व (२७ सितम्बर, १९४०) जापान ने जर्मनी और इटली के साथ एक सैनिक सन्धि भी कर ली थी, जिसके अनुसार पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अमेरिका द्वारा युद्ध शुरू किये जाने की दशा में जर्मनी और इटली ने जापान की सहायता करने का वचन दिया था।

इस प्रकार अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुदृढ़ कर जापान पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी उस नीति को क्रियान्वित करने के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसे वह नई व्यवस्था (New Order) कहता था। इस नीति के प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब राज्य जापान के नेतृत्त्व को स्वीकार करें। (२) पाश्चात्य देशों ने इस क्षेत्र में अपने जो साम्राज्य स्थापित किये हुए हैं उनका अन्त कर इस क्षेत्र में ऐसी सरकारें स्थापित की जाएँ जो वहाँ के लोगों की अपनी हों, पर जो जापान के नेतृत्त्व को स्वीकार कर उस की अनुवर्ती होकर शासन करने को उद्यत हों।

(६) पश्चिमी एशिया के विविध राज्य

तुर्की—उन्नीसवीं सदी में तुर्की को एक बीमार देश समझा जाता था। ब्रिटेन और रूस की प्रतिस्पर्धा ने ही उसकी प्राण रक्षा की हुई थी। महायुद्ध में तुर्की जर्मनी के पक्ष में शामिल हुआ था, और परास्त हो जाने के बाद उसके साथ जो सन्धि (सेव्र की सन्धि) की गई, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस सन्धि के परिणाम-स्वरूप तुर्की के विशाल साम्राज्य का अन्त हो गया, एक करोड़ बीस लाख की आबादी के प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त हो गये और वह एक छोटा-सा राज्य रह गया, जिसकी जनसंख्या केवल अस्सी लाख थी। इसी समय तुर्की से सल्तनत का अन्त होकर रिपब्लिकन शासन की स्थापना हुई, जिसका प्रथम राष्ट्रपति कमाल पाशा था। वह सेव्र की सन्धि को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हुआ। वह चाहता था, कि महायुद्ध से पूर्व यूरोप के जो प्रदेश तुर्की के अन्तर्गत थे, और जिन्हें सेव्र की सन्धि द्वारा ग्रीस को प्रदान कर दिया गया था, उन पर ग्रीस अपना कब्जा न करने पाए। परिणाम यह हुआ, कि इन प्रदेशों (थ्रेस, स्मर्ना और ईगियन सागर के कतिपय द्वीप) के प्रश्न को लेकर तुर्की और ग्रीस में युद्ध प्रारम्भ हो गया। इटली और ब्रिटेन इस युद्ध में ग्रीस के सहायक थे। १९१९ से १९२१ तक यह युद्ध जारी रहा। इसमें तुर्की को सफलता प्राप्त हुई, और कमाल पाशा की सरकार ने यूरोप के उन प्रदेशों पर फिर से

अधिकार कर लिया, जो पहले तुर्की के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इस दशा में सेव्र की सन्धि निरर्थक हो गई, और मित्र-राज्यों को विवश होकर तुर्की के साथ एक नई सन्धि करनी पड़ी, जो स्विट्जरलैण्ड के अन्ततम नगर लोजान में की गई थी। लोजान की सन्धि के अनुसार पूर्वी थ्रेस और स्मर्ना पर तुर्की का अधिकार स्वीकृत किया गया, और अडेलिया तथा अनेतोलिया के प्रदेश भी तुर्की को प्राप्त हुए। कुर्दिस्तान को भी तुर्की को प्रदान किया गया, और ईरान तथा कुर्दिस्तान की सीमा को निर्धारित करने के प्रश्न को भविष्य के लिये स्थगित कर दिया गया। इस प्रकार लोजान की सन्धि के कारण तुर्की का राज्य पहले की तुलना में बहुत विशाल हो गया और उसकी जनसंख्या भी एक करोड़ तीस लाख हो गई। सेव्र की सन्धि का प्रत्याख्यान कर कमाल पाशा ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारी विजय प्राप्त की। पर तुर्की के नेता लोजान की सन्धि से पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। इस देश में राष्ट्रीय भावना निरन्तर प्रबल होती जा रही थी, और तुर्क लोगों को बोस्पोरस तथा डार्डेनल्स के जलडमरू-मध्यों पर किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल प्रतीत होता था। लोजान की सन्धि के अनुसार इस क्षेत्र के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई थी, कि तुर्की वहाँ कोई किलाबन्दी न कर सके और उसमें आने-जाने का सब देशों के जहाजों को पूरा अधिकार रहे। तुर्की को यह स्वीकार्य नहीं था। इसी लिए १९३६ में उसने अन्य राज्यों के साथ एक नई सन्धि की, जो मोन्त्रो की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरू-मध्यों में तुर्की अपनी इच्छानुसार किलाबन्दी कर सके और उसे यह भी अधिकार हो, कि युद्ध के समय उभय पक्ष के जंगी जहाजों का इस जल मार्ग से आना-जाना रोक सके। इस सन्धि का यह परिणाम हुआ, कि तुर्की के आन्तरिक क्षेत्र में किसी अन्य देश का कोई नियन्त्रण नहीं रह गया।

तुर्की की रिपब्लिकन सरकार की विदेश-नीति रूस के अनुकूल और पश्चिमी राज्यों के प्रतिकूल थी। रूस ने १९२१ में ही कमाल पाशा की सरकार को मान्यता प्रदान कर दी थी। इस समय अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस सदृश पश्चिमी देश रूस की कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे, और कम्युनिज्म को मानव सभ्यता का शत्रु समझते थे। कमाल पाशा की सरकार के प्रति भी उनका विरोधभाव था, और उनकी दृष्टि में सुलतान मुहम्मद ही तुर्की का वैध व न्याय्य शासक था। सेव्र की सन्धि उन्होंने उसी के साथ की थी। परिणाम यह हुआ, कि रूस और तुर्की एक दूसरे के निकट आते गये। दिसम्बर, १९२५ में तुर्की और रूस ने परस्पर मैत्री और एक दूसरे पर आक्रमण न करने की एक सन्धि की, जिसका आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत महत्त्व है। गत दो सदियों से रूस और तुर्की में घोर शत्रुता रही थी, क्योंकि रूस भूमध्यसागर के साथ सीधा सम्बन्ध रखने के लिये बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरू-मध्यों तथा उनके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये

प्रयत्नशील था। ब्रिटेन के विरोध के कारण ही वह तुर्की को आक्रान्त करने और इस क्षेत्र को अपने अधिकार में ले आ सकने में असमर्थ रहा था। पर अब ये दोनों देश एक दूसरे के मित्र बन गये थे, यद्यपि आन्तरिक राजनीति में तुर्की कम्युनिज्म का विरोधी था।

धीरे-धीरे अन्य देशों के साथ भी तुर्की के सम्बन्ध मधुर होते गये। बाल्कन प्रायद्वीप और पूर्वी यूरोप के विविध राज्य तुर्की के पड़ोसी हैं। १९२३ में तुर्की ने हंगरी के साथ सन्धि की, और १९२४ में आस्ट्रिया के साथ। एक साल बाद यूगोस्लाविया और बल्गारिया के साथ भी उसने सन्धि कर ली, और १९२९ में ग्रीस से भी उसने यह सन्धि की, कि दोनों देश अपने झगड़ों का निबटारा शान्तिमय उपायों द्वारा ही किया करेंगे। कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की अपनी राष्ट्रीय उन्नति के लिये तत्पर था। यह तभी सम्भव था, जबकि पड़ोस के राज्यों के साथ उसका मैत्री सम्बन्ध कायम रहे। उसके सम्मुख साम्राज्य विस्तार का कोई प्रश्न ही नहीं था। यही कारण है, कि वह पड़ोस के सब राज्यों से सन्धियाँ कर सकने में सफल हुआ। धीरे-धीरे फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन ने भी तुर्की की नई रिपब्लिकन सरकार की वैध सत्ता को स्वीकार कर लिया, और उसके साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध भी स्थापित किये।

पर मोसल के प्रश्न को लेकर तुर्की और ब्रिटेन को एक गम्भीर समस्या का सामना करना पड़ा। लोजान की सन्धि के अनुसार यह तय किया गया था, कि कुर्दिस्तान (जिसे इस सन्धि द्वारा तुर्की को प्रदान किया गया था) और ईराक की सीमा भविष्य में निर्धारित की जायगी। इस समय ईराक राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन के शासन में था। ब्रिटेन चाहता था, कि मोसल का प्रदेश ईराक में सम्मिलित किया जाए। मोसल तेल की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है, अतः ब्रिटेन उसे अपने शासन-क्षेत्र में रखने के लिये उत्सुक था। पर तुर्की उसे अपने राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत मानता था। जब पारस्परिक बातचीत से कोई समझौता नहीं हो सका, तो मोसल के मामले को राष्ट्रसंघ के सुपुर्द कर दिया गया, जिसने अपना निर्णय ब्रिटेन के पक्ष में दिया। इससे राष्ट्रवादी तुर्कों को बहुत उद्वेग हुआ, और उन्होंने इसे ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों की सफलता माना। यही कारण है, जो तुर्की और ब्रिटेन में देर तक उस प्रकार की सन्धि नहीं हो सकी, जैसी कि उसने अन्य देशों के साथ कर ली थी। पर जब जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी का उत्कर्ष हुआ, तो तुर्की ने भी यह अनुभव किया, कि नाजीज्म और फासिज्म उसके राष्ट्रीय हितों के लिये भी विघातक हो सकते हैं। इसी लिए उसने ब्रिटेन के साथ भी अनाक्रमण-सन्धि कर ली (१९३९), और ये दोनों देश भी एक दूसरे के बहुत समीप आ गये। विश्व के अन्य राज्यों के समान तुर्की के सम्मुख भी इस समय प्रधान समस्या अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की ही थी। इसी लिए वह भी पश्चिमी देशों के साथ अनाक्रमण सन्धियाँ करने के लिये प्रवृत्त हुआ। हिटलर के उत्कर्ष के कारण यूरोप में युद्ध के बादल घिरने लग गये थे। इस दशा में

तुर्की यही चाहता था, कि वह युद्ध से पृथक् रहता हुआ अपने देश की उन्नति में तत्पर रह सके। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी नीति तटस्थता की थी। इसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई, और द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की चपेट से बचे रह सकने में वह समर्थ भी रहा। इस महायुद्ध में वह किसी भी पक्ष में सम्मिलित नहीं हुआ था।

पेलेस्टाइन—यह प्रदेश पहले तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था और महायुद्ध में तुर्की के परास्त हो जाने पर राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन को शासन के लिये दिया गया था। उस समय इस प्रदेश की जनसंख्या ७,७०,००० थी, जिन में ६,००,००० मुसलिम अरब, ७३,००० ईसाई अरब और ८२,००० के लगभग यहूदी थे। यहूदी लोग पैलेस्टाइन को अपनी धर्मभूमि मानते हैं, और ब्रिटेन तथा उसके साथी पश्चिमी देशों की यह नीति थी, कि पैलेस्टाइन को यहूदियों का देश बना दिया जाए। यूरोप के प्रायः सभी देशों में यहूदी लोग अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए थे, पर इन देशों की राष्ट्रीय भावना के कारण उनके लिये वहाँ बसे रहने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती जा रही थीं। यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, कि यहूदियों का भी अपना एक पृथक् राज्य होना चाहिए। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यहूदीवाद (Zionism) का आन्दोलन पर्याप्त रूप से प्रबल हो गया था, और पैलेस्टाइन को अपना असली अभिजन तथा धर्मभूमि मानने के कारण वे वहीं पर अपना राष्ट्रीय राज्य स्थापित करना चाहते थे। अरब लोग इसके विरुद्ध थे। उनका कहना था कि पैलेस्टाइन अरब का ही अन्यतम प्रदेश है, और वहाँ के निवासियों की बहुसंख्या भी अरब लोगों की ही है। अपने देश में एक विजातीय व विधर्मी राज्य की स्थापना का विचार उन्हें किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं था। पर राष्ट्रसंघ द्वारा जब पैलेस्टाइन का शासन ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया, तो उसके सम्बन्ध में यह नीति निर्धारित की गई कि इस प्रदेश में बसने के लिये यहूदियों को सब प्रकार की सुविधाएँ दी जाएँ, पर साथ ही वहाँ के अन्य निवासियों के अधिकारों को भी सुरक्षित रखा जाए। इस नीति से प्रोत्साहित होकर यहूदियों ने बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आकर बसना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अरब लोग बहुत उद्विग्न हुए। अरब अपने उद्वेग को केवल सभाओं और समाचार पत्रों द्वारा ही प्रगट नहीं करते थे, अपितु विद्रोह के लिये भी तत्पर थे। १९२९ में उन्होंने पैलेस्टाइन में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उन्होंने यहूदियों पर हमले करने शुरू कर दिये। सैन्य शक्ति का प्रयोग कर ब्रिटेन विद्रोह को शान्त करने में तो सफल हो गया, पर इससे समस्या का समाधान नहीं हुआ। समस्या पर विचार करने के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष सर-जॉन सिम्पसन थे (१९३०)। सिम्पसन कमीशन ने रिपोर्ट दी, कि यहूदियों के बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन में बस जाने के कारण वहाँ के अरबों को बहुत नुकसान पहुँचा है, और २,५०,००० एकड़ कृषि-योग्य भूमि यहूदियों के हाथों में चली गई है। इस रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने यहूदियों का पैलेस्टाइन में प्रवेश अनिश्चित् काल के

लिये रोक दिया। इससे अरब लोग तो संतुष्ट हो गये, पर अब यहूदियों ने ब्रिटेन के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया, जिसकी उपेक्षा कर सकना ब्रिटेन के लिए सम्भव नहीं हुआ। १९३२ में उसने यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसने की अनुमति फिर से प्रदान कर दी, यद्यपि इसके लिए कुछ शर्तें निर्धारित कर दी गईं। इससे एक बार फिर अरबों ने हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया। जगह-जगह पर दंगे हुए, और ब्रिटिश अफसरों तथा यहूदियों पर हमले किये जाने लगे। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई, कि ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या पर विचार करने के लिये एक नये कमीशन की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष लार्ड पील थे। पैलेस्टाइन जाकर इस कमीशन ने वहाँ की स्थिति का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया, और यह निष्कर्ष निकाला कि अरबों और यहूदियों में किसी भी प्रकार का समझौता करा सकना सम्भव नहीं है। अतः उचित यह होगा कि पैलेस्टाइन को तीन भागों में विभक्त कर दिया जाए, यहूदी राज्य, अरब राज्य और मध्यवर्ती राज्य। मध्यवर्ती राज्य में जरुसलम नगर और उसके समीपवर्ती प्रदेशों को अन्तर्गत किया जाए, क्योंकि यह नगरी अरबों और यहूदियों—दोनों की दृष्टि में ही पवित्र है, और दोनों ही जातियों के लोग वहाँ अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। पील कमीशन की इस योजना से न अरब संतुष्ट हुए, और न यहूदी। इसी लिये पील योजना सफल नहीं हो सकी, और ब्रिटेन ने पैलेस्टाइन के मामले को राष्ट्रसंघ के सुपुर्द कर दिया। राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या पर विचार करने के लिये सर जान वुडहेड की अध्यक्षता में एक नये कमीशन की नियुक्तिकी (१९३८), जिसने एक ऐसी गोलमेज कान्फरेन्स का प्रस्ताव किया, जिसमें न केवल पैलेस्टाइन के यहूदियों और अरबों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों, पर साथ ही पड़ोस के अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया जाए। फरवरी, १९३९ में इस कान्फरेन्स के अधिवेशन लण्डन में प्रारम्भ हुए। पर अरबों और यहूदियों में मतभेद और विद्वेष इतना अधिक था, कि वे कान्फरेन्स के अधिवेशनों में एक साथ बैठने के लिए भी उद्यत नहीं हुए। कुछ सप्ताहों के बाद कान्फरेन्स भंग कर दी गई, और पैलेस्टाइन की समस्या पहले के समान ही जटिल बनी रही। इसी बीच में महायुद्ध प्रारम्भ हो गया (सितम्बर, १९३९), और ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या को सुलझाने के प्रयत्न को स्थगित कर दिया। युद्ध के अवसर पर ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि पैलेस्टाइन पर उसका कब्जा कायम रहे, ताकि सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रदेश का वह युद्ध के लिए उपयोग कर सके। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर इजराईल नाम से इस प्रदेश में एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना की गई। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के बड़ी संख्या में बस जाने के कारण पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में एक ऐसे प्रदेश का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था, जहाँ के निवासी यूरोपियन हैं और जो पश्चिम के पूँजीवादी राज्यों के प्रभाव में है।

ईराक और ट्रांस-जोर्डन—महायुद्ध की समाप्ति पर पैलेस्टाइन के समान ईराक और ट्रांस-जोर्डन के प्रदेश भी राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन के शासन में दिये गये थे। ये दोनों देश भी पहले तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ईराक की राजगद्दी फैज़ल के सुपुर्द की गई, और ट्रांस-जोर्डन की उसके भाई अब्दुल्ला के। आन्तरिक शासन में ये दोनों राज्य स्वतन्त्र थे, पर विदेशी सम्बन्ध और आर्थिक मामलों पर ब्रिटेन का नियन्त्रण कायम था। इसके लिये वहाँ ब्रिटेन की ओर से हाई कमिश्नरों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी, जिनकी उपेक्षा कर सकना ईराक और ट्रांस-जोर्डन की सरकारों के लिये सम्भव नहीं था। यद्यपि नाम को इन देशों में राजाओं और उनकी सरकारों की सत्ता थी, पर यथार्थ में ये पूर्णतया ब्रिटेन के आधिपत्य में थे। यह स्वाभाविक था, कि इनके निवासी अरब लोग अपनी स्थिति से असंतुष्ट हों। ब्रिटेन की दृष्टि में इन देशों का बहुत महत्त्व था, क्योंकि इन में तेल के अपार भण्डार विद्यमान थे, और ब्रिटेन के पूर्वी साम्राज्य का मार्ग भी इनके समीप से होकर गुजरता था। इसी कारण उसका यह प्रयत्न था, कि ईराक और ट्रांस-जोर्डन पर उसका प्रभुत्त्व बना रहे। पर इन राज्यों के अरब निवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उपेक्षा कर सकना भी उसके लिये सम्भव नहीं था। इसी लिये १९३१ में ब्रिटेन ने ईराक के सम्बन्ध में एक नई व्यवस्था की, जिसके अनुसार इस देश की राजनीतिक स्वाधीनता तो स्वीकार कर ली गई, पर उसके राज्यक्षेत्र में अपने सैनिक अड्डे बना सकने और अपनी सेना को ईराक में जहाँ चाहे ले जा सकने का अधिकार ब्रिटेन ने प्राप्त कर लिया। १९३२ में ईराक को राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गई। १९३१ की व्यवस्था द्वारा यद्यपि ईराक की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में हो गई थी, पर ब्रिटेन का प्रभाव उस पर कायम रहा, जो वहाँ के राष्ट्रीय नेताओं को पसन्द नहीं था। इसी लिये जब जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, तो ईराक के नेताओं का झुकाव नाजीज़्म की ओर होने लगा। उन्हें आशा थी, कि नाजी जर्मनी का समर्थन कर वे ब्रिटेन के प्रभाव व प्रभुत्त्व से अपने देश को मुक्त कर सकेंगे। यही कारण था, जो महायुद्ध में ईराक के शासक रशीद अली ने ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी का साथ दिया (१९४१)। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, क्योंकि ब्रिटिश सेनाओं ने इस देश पर फिर से कब्जा कर लिया था। महायुद्ध के समय ईराक पर एक बार फिर ब्रिटेन का शासन स्थापित हो गया।

ईराक के समान ट्रांस-जोर्डन भी राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन के शासन में था। वहाँ अरब राष्ट्रीयता का आन्दोलन अधिक प्रबल नहीं था। इसी लिये ब्रिटेन को उसके शासन में अधिक कठिनता नहीं हुई। वहाँ का राजा अब्दुल्ला ब्रिटेन का वशवर्ती होकर देश का शासन करता रहा। महायुद्ध के शुरू होने पर १९३९ में ब्रिटेन ने अब्दुल्ला के साथ एक नई सन्धि की, जिससे ट्रांस-जोर्डन ने पूर्ण स्वतन्त्रता की दिशा में महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाया। ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर ट्रांस-जोर्डन को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी वहाँ ब्रिटेन का जो नियन्त्रण है, उसका

अन्त कर दिया जायगा। पर द्वितीय महायुद्ध के काल में इस राज्य पर ब्रिटेन का प्रभुत्व व प्रभाव कायम रहा, और उसकी विदेश-नीति का सञ्चालन पूर्णतया ब्रिटेन के हाथों में रहा। ट्रांस-जोर्डन पर ब्रिटेन का प्रभुत्व ईराक की तुलना में भी अधिक था।

सीरिया और लेबेनान—तुर्क साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हुए अरब प्रदेशों में सीरिया और लेबेनान भी थे, जिन का शासन राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन फ्रांस के सुपुर्द किया गया था। इन दोनों प्रदेशों के निवासी जातीय दृष्टि से अरब हैं, पर लेबेनान के अरबों के अच्छे बड़े भाग ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके शासन में फ्रांस को विशेष कठिनाई नहीं हुई। १९२५ में लेबेनान के लिये नया संविधान बनाया गया, और उस द्वारा वहाँ लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की गई। आन्तरिक शासन में यह राज्य स्वतन्त्र था, यद्यपि इसकी विदेश नीति का सञ्चालन फ्रांस द्वारा किया जाता था। लेबेनान के निवासी इस स्थिति से संतुष्ट थे, और उन्होंने फ्रांस की संरक्षा को अपने लिये हितकर माना। पर सीरिया के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। वहाँ के मुसलिम अरबों में राष्ट्रीयता और पूर्ण स्वतन्त्रता की भावना निरन्तर जोर पकड़ रही थी, और उन्हें फ्रांस का शासन सह्य नहीं था। इसी लिये सीरिया में विद्रोहों का प्रारम्भ हुआ, और उन्हें शान्त करने के लिये फ्रांस को सैन्यशक्ति का प्रयोग करना पड़ा। सीरिया के अरबों की राष्ट्रीय भावना की संतुष्टि के लिये फ्रांस ने अनेक बार यह प्रयत्न किया, कि वहाँ संविधान-परिषद् का संगठन कर ऐसे संविधान का निर्माण कर दिया जाए, जिससे वहाँ के लोग संतोष अनुभव कर सकें। पर इस प्रयत्न में उसे विशेष सफलता नहीं हुई। इस काल में पड़ोस के अन्य अरब राज्यों में भी स्वतन्त्रता के आन्दोलन जोर पकड़ रहे थे, और सीरिया पर भी उनका प्रभाव पड़ रहा था। विवश होकर १९३३ में फ्रांस ने सीरिया के अरबों के साथ एक सन्धि की बातचीत प्रारम्भ की, जिसके अनुसार आन्तरिक शासन में सीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान करने और विदेश-नीति पर फ्रांस के नियन्त्रण को कायम रखने का प्रस्ताव किया गया। पर अरब नेता इससे भी सहमत नहीं हुए। वे अपने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे। इसी लिये उन्होंने १९३६ में फ्रेञ्च आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, जिससे विवश होकर फ्रांस ने सीरिया के साथ एक नई सन्धि के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये उसके नेताओं को पेरिस आमन्त्रित किया (सितम्बर, १९३६)। पेरिस में सन्धि की जो रूपरेखा तैयार की गई, उसके अनुसार सीरिया की स्वतन्त्रता को फ्रांस ने स्वीकार कर लिया, पर यह शर्त रखी गई कि फ्रांस उसके राज्यक्षेत्र में अपनी सेनाएँ रख सकेगा, और साथ ही सीरिया की विदेशनीति भी फ्रांस के नियन्त्रण में रहेगी। यह शर्त सीरिया के राष्ट्रवादी नेताओंको स्वीकार्य नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने फ्रांस के विरुद्ध उग्र आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया, जिससे विवश होकर सीरिया में नियुक्त फ्रेंच हाई कमिश्नर ने सब शासन-शक्ति अपने हाथों में ले ली। १९३६ के बाद जर्मनी

में हिटलर की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और नाजीज्म के उत्कर्ष के कारण यूरोप के क्षितिज में युद्ध के बादल घिरने शुरू हो गये थे। इस दशा में फ्रांस यह आवश्यक समझता था, कि पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र में उसकी सेनाएँ स्थापित रहें। इसी कारण वह सीरिया की समस्या को हल नहीं कर सका, और द्वितीय महायुद्ध के काल में इस देश पर फ्रांस का आधिपत्य कायम रहा।

ईजिप्ट—उन्नीसवीं सदी में ईजिप्ट तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था। यद्यपि उसके अपने पृथक् वंशक्रमानुगत शासक थे, पर वे तुर्क सुलतान की अधीनता को स्वीकार करते थे। तुर्क साम्राज्य की निर्बलता और ईजिप्ट के शासकों (जिन्हें खदीव कहते थे) की फिजूलखर्ची से लाभ उठा कर ब्रिटेन ने ईजिप्ट पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करना शुरू किया, और १८८२ में अपनी सेनाएँ स्वेज नहर के क्षेत्र में स्थापित कर दीं। बाद में ईजिप्ट पर ब्रिटेन के प्रभुत्त्व में निरन्तर वृद्धि होती गई, और तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत होते हुए भी यह देश ब्रिटेन का वशवर्ती हो गया। महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया था। ईजिप्ट को पूर्ण रूप से अपने प्रभुत्त्व में ले आने का इससे अच्छा अवसर ब्रिटेन के लिये और कौन-सा हो सकता था। उसने घोषणा की, कि ईजिप्ट को तुर्की की अधीनता से मुक्त किया जाता है, और वहाँ के खदीव ने ब्रिटेन के संरक्षण में रहना स्वीकार कर लिया है। ईजिप्ट के राष्ट्रवादी नेताओं का विचार था, कि उनके देश पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व केवल युद्ध के काल के लिये ही है, और युद्ध समाप्त होते ही उनका देश पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा, पर उनकी आशा पूरी नहीं हुई। युद्ध के समय ब्रिटेन ने ईजिप्ट की धन व जन शक्ति का उपयोग किया, और वहाँ के सैनिकों को तुर्की तथा जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई करने के लिये भी विवश किया। इस दशा में वहाँ एक राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसका उद्देश्य पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। जगलुल पाशा इस आन्दोलन के नेता थे। महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस की शान्तिपरिषद् में जगलुल पाशा ने ईजिप्ट की स्वतन्त्रता के प्रश्न को भी उपस्थित करने का प्रयत्न किया, पर वे पेरिस नहीं जा सके। अंग्रेजों ने मार्ग में ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया, और माल्टा में नजरबन्द कर दिया। यह समाचार जब ईजिप्ट पहुँचा, तो वहाँ जनता ने विद्रोह कर दिया, जिसके दमन के लिये ब्रिटिश सरकार ने उग्र उपायों का आश्रय लिया। पर ईजिप्ट के विद्रोह ने इतना भयंकर रूप प्राप्त कर लिया था, कि अन्त में अंग्रेजों ने अनुभव किया कि इस देश में शान्ति स्थापित रख सकना तभी सम्भव होगा, जब कि जगलुल पाशा और उसके साथियों से सुलह की बात चलायी जायगी। उन्होंने गिरफ्तार नेताओं को बन्धनमुक्त कर लार्ड मिलनर को इस प्रयोजन से ईजिप्ट भेजा, ताकि वे वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन कर कोई सर्वसम्मत फैसला करने का प्रयत्न करें। लार्ड मिलनर ने इङ्गलैण्ड वापस आकर यह रिपोर्ट दी, कि ईजिप्ट के साथ एक ऐसी सन्धि की व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे उसे स्वाधीनता तो प्राप्त हो जाए, पर साथ ही वहाँ ब्रिटिश हितों की रक्षा की भी समुचित व्यवस्था हो सके। इसी के

परिणामस्वरूप फरवरी, १९२२ में ईजिप्ट के साथ एक सन्धि की गई जिस द्वारा (१) ईजिप्ट को एक स्वाधीन राज्य स्वीकार किया गया, (२) स्वेज नहर के क्षेत्र में एक ब्रिटिश सेना की स्थापना की बात ईजिप्ट की सरकार ने मान ली, (३) ईजिप्ट में ब्रिटिश तथा अन्य विदेशियों के हितों की रक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटेन पर रखी गई, और (४) किसी अन्य देश द्वारा ईजिप्ट पर आक्रमण करने की दशा में ब्रिटेन ने उसकी रक्षा करना स्वीकार किया।

पर ईजिप्ट के राष्ट्रवादी नेताओं को १९२२ की यह सन्धि अपने देश के लिये अपमानजनक प्रतीत होती थी। उन्होंने यत्न किया, कि ब्रिटिश सरकार से बातचीत कर ब्रिटेन के उन विशेषाधिकारों का अन्त कराया जाए, जो इस समय उसे ईजिप्ट में प्राप्त थे। पर जब बातचीत का कोई परिणाम नहीं निकला, तो उन्होंने हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया, और ईजिप्ट में विद्यमान ब्रिटिश अफसरों पर हमले करना प्रारम्भ कर दिया। नवम्बर, १९२४ में ईजिप्ट में स्थित ब्रिटिश सेना के प्रधान सेनापति सर ली स्टैक की भी हत्या कर दी गई। इस पर ब्रिटिश सरकार ने ईजिप्ट की सरकार को एक अल्टिमेटम दिया, जिसमें स्टैक की हत्या के लिये क्षमायाचना करने, हत्या के लिये जिम्मेवार व्यक्तियों को कठोर दण्ड दिये जाने और हरजाने की एक भारी मात्रा प्रदान करने की माँग की गई। ईजिप्ट की सरकार (जिसके प्रधानमन्त्री जगलुल पाशा थे) के लिये इन माँगों को स्वीकार करना सम्भव नहीं था। उसने त्याग-पत्र दे दिया, और ईजिप्ट में एक ऐसा नया मन्त्रिमण्डल बना, जो पूर्णतया ब्रिटेन का वशवर्ती था। इस समय से ईजिप्ट पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व और अधिक सुदृढ़ हो गया। पर ईजिप्ट में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश पर विदेशी प्रभाव व प्रभुत्त्व के विरोधी थे। इन्होंने अपने संघर्ष को जारी रखा। १९२७ में जगलुल पाशा की मृत्यु हो गई थी, पर उन द्वारा संगठित वफ़्द (राष्ट्रीय) पार्टी अब भी विद्यमान थी, और वह ईजिप्ट से ब्रिटिश प्रभुत्त्व का अन्त कर देने के लिये कटिबद्ध थी। इस समय इस पार्टी के नेतृत्त्व में ब्रिटेन के विरुद्ध जो संघर्ष ईजिप्ट में हुआ, उसका उल्लेख यहाँ कर सकना सम्भव नहीं है। १९३६ में नाजीज्म और फासिज्म के उत्कर्ष के कारण यूरोप की राजनीति में एक नया मोड़ आना प्रारम्भ हो गया था। इटली ने अबीसीनिया को जीत लिया था, जिससे ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ बहुत उद्वेग अनुभव करने लगे थे। उन्होंने यही उचित समझा, कि ईजिप्ट के साथ समझौता कर लिया जाए, ताकि अपने पूर्वी साम्राज्य के देशों में आने-जाने का स्वेज का मार्ग ब्रिटेन के लिये सुरक्षित रहे। १९३६ में ब्रिटेन और ईजिप्ट में एक नई सन्धि की गई, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ईजिप्ट की स्थिति एक स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य की होगी। (२) ब्रिटेन को अधिकार होगा, कि वह अपनी सेनाएँ स्वेज के क्षेत्र में रख सके, पर शान्ति के काल में इस सेना के सैनिकों की संख्या ८००० से अधिक नहीं होगी, (३) युद्ध के समय ब्रिटेन को अधिकार होगा, कि वह ईजिप्ट में सब प्रकार की सुविधाएँ

प्राप्त कर सके। (४) ब्रिटेन प्रयत्न करेगा, कि ईजिप्ट में विदेशियों को एक्स्ट्रा-टैरिटोयेलिटी के जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका अन्त कर दिया जाए। इस सन्धि से ईजिप्ट के राष्ट्रवादी नेताओं ने संतोष अनुभव किया, और १९३७ में उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गई। १९३९ में जब यूरोप में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो १९३६ की सन्धि के अनुसार ब्रिटेन ने ईजिप्ट पर अपने सैनिक शिकञ्जे को बहुत सुदृढ़ कर लिया।

ईरान—पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में ईरान की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य की थी, जिस पर वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था। राजनीतिक दृष्टि से यह राज्य किसी पश्चिमी देश के प्रभुत्त्व में नहीं था, पर वहाँ के तेलकूपों से तेल निकालने का अधिकार विदेशी कम्पनियों ने प्राप्त किया हुआ था, जिनमें ऐंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी प्रधान थी। तेल के उद्योग के लिये ईरान प्रधानतया इस ब्रिटिश कम्पनी पर निर्भर था, जिसके कारण उसकी राजनीति पर भी ब्रिटेन का प्रभाव पर्याप्त रूप से विद्यमान था। तेल के प्रश्न को लेकर ईरान की राजनीति में रूस और ब्रिटेन में निरन्तर संघर्ष होता रहता था, और ईरान के राष्ट्रवादी नेता विदेशी प्रभाव से अपने इस प्रधान उद्योग को मुक्त करने का प्रयत्न करते रहते थे।

एशिया के अन्य राज्य—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व एशिया के बहुसंख्यक देश साम्राज्यवाद के शिकार थे। इन्डोचायना (दक्षिणी विएत-नाम, उत्तरी विएत-नाम, लाओस और कम्बोडिया) फ्रांस के अधीन था, और इन्डोनीसिया हालैण्ड के, फिलिप्पीन अमेरिका के, और भारत, लंका, मलाया, बरमा और सिंगापुर ब्रिटेन के शासन में थे। पूर्वी एशिया में केवल सियाम (थाईलैण्ड) ही स्वतन्त्र राज्य था। नेपाल राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र था, पर ब्रिटेन का प्रभाव उस पर भी विद्यमान था। अफगानिस्तान भी एक स्वतन्त्र राज्य था, पर रूस और ब्रिटेन की प्रतिद्वन्द्विता के कारण वह भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं था। जहाँ तक विदेशी राजनीति का सम्बन्ध है, एशिया के प्रायः सभी देश पश्चिम के शक्तिशाली व साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव में थे, और उनके लिये किसी स्वतन्त्र विदेशनीति का अनुसरण कर सकना सम्भव नहीं था।

तेरहवाँ अध्याय

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) का काल

(१) महायुद्ध के कारण

नवम्बर, १९१८ में बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का अन्त हुआ था। उसके केवल २१ वर्ष पश्चात् सितम्बर, १९३९ में यूरोप में फिर युद्ध की अग्नि भड़क उठी, और शीघ्र ही उसने प्रायः सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर लिया। इस युद्ध के कारणों पर विशद रूप से विचार करना इस ग्रन्थ के लिये आवश्यक नहीं है, पर युद्ध के कतिपय महत्त्वपूर्ण कारणों का निर्देश करना इस काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिये उपयोगी होगा।

(१) द्वितीय महायुद्ध के आधारभूत कारण निम्नलिखित थे—(क) पुरानी और नई प्रवृत्तियों का शाश्वत संघर्ष—१९१४-१८ के महायुद्ध ने यूरोप के अनेक राज्यों से एकतन्त्र शासनों का अन्त कर लोकतन्त्रवाद पर आधारित और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार निर्मित राज्यों की स्थापना कर दी थी। पर मानव-समाज किसी नई व्यवस्था को सुगमता के साथ स्वीकार नहीं कर लेता। इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया में महायुद्ध द्वारा एकतन्त्र राजाओं के शासन का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित कर दिये गये थे। पर उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना अवश्यम्भावी था। यह प्रतिक्रिया फासिज्म और नाजीज्म के रूप में प्रगट हुई। इन देशों में एक बार फिर एक व्यक्ति या एक गुट के शासन कायम हुए, और इतिहास की प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिये दब गयीं। पर ये सदा के लिये दबी नहीं रह सकती थीं। द्वितीय महायुद्ध में लोकतन्त्रवाद और अधिनायकवाद की प्रवृत्तियों में संघर्ष हुआ, और लोकतन्त्रवाद की विजय हुई। (ख) साम्राज्यवाद—ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्तराज्य अमेरिका और रूस के साम्राज्य अत्यन्त विशाल थे। बेल्जियम और हालैण्ड जैसे छोटे राज्यों ने भी अफ्रीका और एशिया के अच्छे बड़े प्रदेशों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया हुआ था। जर्मनी के पास कोई भी साम्राज्य नहीं था। इटली और जापान का अपने राज्यक्षेत्र से बाहर के कुछ प्रदेशों पर आधिपत्य अवश्य था, पर ब्रिटेन और फ्रांस की तुलना में उनके साम्राज्य सर्वथा नगण्य थे। ये राज्य अनुभव करते थे, कि हमारे भी साम्राज्य होने चाहियें, जहाँ हमारा तैयार माल निश्चिन्तता के साथ बिक सके और जहाँ हमारी बढ़ती हुई आबादी को बसाया जा सके। कुछ राज्यों के पास साम्राज्य हों और दूसरों के पास न हों, यह बात उचित व न्याय्य नहीं थी। विज्ञान और उद्योग के क्षेत्रों में जर्मनी,

जापान और इटली ने भी बहुत उन्नति कर ली थी। अतः उनके लिये भी साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न करना सर्वथा स्वाभाविक था। पर इस प्रयत्न में उनका अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। (३) कम्युनिज्म का विरोध-१९१७ की रूस की राज्यक्रान्ति से कम्युनिस्ट आन्दोलन को बहुत बल मिला था। जर्मनी में नाजीज्म और इटली में फासिज्म का प्रादुर्भाव जहाँ लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, वहाँ साथ ही ये नये आन्दोलन कम्युनिज्म के भी विरोधी थे। कम्युनिज्म का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय था, और नाजीज्म तथा फासिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता को अपने राष्ट्रीय हितों के लिये विघातक समझते थे। इस दशा में इनमें संघर्ष होना स्वाभाविक था।

(२) प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा विश्व की जो नई व्यवस्था की गई थी, वह न्याय और औचित्य पर आधारित नहीं थी। वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति न्याय नहीं किया गया था। यह स्वाभाविक था, कि जर्मनी में उसके प्रति असंतोष की भावना प्रबल हो, और वह उसका प्रतिशोध करने का प्रयत्न करे। प्रतिशोध की इस प्रवृत्ति को दबाये रखने के दो ही उपाय थे, या तो जर्मनी के प्रति किये गये अन्यायों को धीरे-धीरे दूर करने का प्रयत्न किया जाता, और या जर्मनी को इतना निर्बल व अशक्त बना दिया जाता, कि वह सिर उठा ही न सकता। फ्रांस दूसरे उपाय का पक्षपाती था। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांस में जो भी मन्त्रिमण्डल बने, चाहे वे वामपन्थी दलों के हों और चाहे दक्षिणपन्थी दलों के, सबका यह प्रयत्न रहा कि वर्साय्य की सन्धि द्वारा की गई व्यवस्था का समग्र रूप से पालन किया जाए, जर्मनी न अपनी सैन्य-शक्ति में वृद्धि कर सके और न र्‌हाइनलैण्ड में किलाबन्दी कर सके, उससे हरजाने की पूरी रकम वसूल की जाए और उसे औद्योगिक दृष्टि से भी इतना निर्बल बना दिया जाए कि वह फिर कभी फ्रांस पर आक्रमण करने का साहस न कर सके। साथ ही, फ्रांस के नेता अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये यह भी आवश्यक समझते थे, कि राष्ट्रसंघ को इतना अधिक शक्तिशाली बना दिया जाए, कि वह विश्व में शान्ति स्थापित रखने में समर्थ रहे। इसी लिये वे एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस या सेना की आवश्यकता पर भी जोर देते थे, जिसे 'आक्रान्ता' देश के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सके। पर ब्रिटेन की नीति इससे भिन्न थी। उसे जर्मनी के आक्रमण का विशेष भय नहीं था। १८७०-७१ और १९१४-१८ के युद्धों में फ्रांस जिस प्रकार जर्मनी द्वारा पदाक्रान्त किया गया था, उसके कारण फ्रेञ्च लोग जर्मनी की सैन्य-शक्ति से सदा आशंकित रहते थे। पर ब्रिटेन को अपनी भूमि पर कभी जर्मनी की सेनाओं का सामना नहीं करना पड़ा था। जब तक समुद्रों पर ब्रिटेन का प्रभुत्व रहे, वह जर्मनी से निश्चिन्त रह सकता था। उसकी जलशक्ति के सम्मुख जर्मनी की नाविक शक्ति का कोई महत्त्व नहीं था। इस दशा में जर्मनी को सर्वथा अशक्त बनाये रखने की फ्रांस की नीति का समर्थन करने की उसे कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। प्रथम महायुद्ध से पहले जर्मनी ब्रिटेन के माल का एक महत्त्वपूर्ण खरीदार था। ब्रिटिश पूँजीपतियों का विचार

था, कि यदि जर्मनी की आर्थिक दशा सँभल जाए, तो वहाँ उन्हें अपने माल की बिक्री का एक अच्छा बाजार फिर प्राप्त हो सकता है। पर यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी में शक्ति का संचार हो जाए और वह विदेशी माल को खरीदने का सामर्थ्य प्राप्त कर ले। इसी कारण ब्रिटेन ने जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति को अपनाया, और यह प्रतिपादित किया, कि वर्साय्य की सन्धि द्वारा उसके प्रति जो अन्याय किये गये हैं, उन्हें दूर किया जाना चाहिए। हरजाने को वसूल करने की समस्या, र्‌हाइनलैण्ड पर मित्र-राज्यों की सेनाओं का कब्जा, र्‌हाइन नदीके तटवर्ती प्रदेशों की किलाबन्दी, निःशस्त्रीकरण आदि के प्रश्नों पर फ्रांस और ब्रिटेन में जो मतभेद उत्पन्न हुए, उसका यही मूल कारण था। राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने और एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना के संगठन के प्रश्न पर भी ब्रिटेन फ्रांस के साथ सहमत नहीं हो सका, क्योंकि ब्रिटेन उन जिम्मेवारियों को अपने ऊपर लेने के लिये उद्यत नहीं था, जो कि राष्ट्रसंघ के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय सेना के संगठन के कारण उस पर आ सकती थीं। ब्रिटेन का साम्राज्य पृथिवी के प्रायः सभी भागों में विस्तृत था। यदि यूरोप, अफ्रीका या एशिया में कहीं भी कोई युद्ध छिड़ जाता, और राष्ट्रसंघ 'आक्रान्ता' देश के विरुद्ध सैन्यशक्ति के प्रयोग का निर्णय करता, तो ब्रिटेन को अवश्य ही उसमें अपनी सेना द्वारा सहयोग देना पड़ता। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ इसके लिये उद्यत नहीं थे। राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों की सुरक्षा के लिये 'सामूहिक उत्तरदायिता' का विचार ब्रिटेन को स्वीकार्य नहीं था, क्योंकि इसके कारण उस पर बहुत बड़ी जिम्मेवारी आ जाती थी। जब फ्रांस ने यह समझ लिया, कि वह अपनी सुरक्षा के लिये ब्रिटेन के सहयोग और राष्ट्रसंघ की शक्ति पर निर्भर नहीं कर सकता, तो उसने बेल्जियम, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया के साथ ऐसी सन्धियाँ कीं, जिनका उद्देश्य आत्मरक्षा के लिये एक दूसरे को सहायता करना था। पर इन सन्धियों द्वारा फ्रांस ने ऐसी जिम्मेवारियाँ अपने ऊपर ले लीं, जिन्हें पूरा कर सकना उसके लिये सुगम नहीं था। ये राज्य जहाँ निर्बल थे, वहाँ ऐसे राज्यों द्वारा घिरे हुए भी थे, ऐतिहासिक कारणों से जिनके साथ उनका विद्वेष था। चेकोस्लोवाकिया के कतिपय प्रदेशों में जर्मन लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था, और जर्मनी उन्हें अपने में सम्मिलित करने के लिये उत्सुक था। युगोस्लाविया के अन्तर्गत कतिपय प्रदेशों को इटली अपने साथ मिलाना चाहता था। यही कारण है, कि जब इन राज्यों को आत्मरक्षा के लिये सहायता की आवश्यकता हुई, तो फ्रांस ने अपने को असहाय पाया। १९३८ में जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया, तो उचित तो यह था कि उसके साथ की गई सन्धियों के अनुसार फ्रांस उसकी सहायता के लिये अग्रसर होता। पर अकेले फ्रांस के लिये चेकोस्लोवाकिया की रक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। ब्रिटेन जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण करने में तत्पर था, अतः फ्रांस ने भी यही उचित समझा कि वह ब्रिटेन का अनुसरण करे और चेकोस्लोवाकिया में हिटलर को मनमानी

करने दे। फ्रांस और ब्रिटेन की विदेशी नीति में जो यह मौलिक भेद था, उससे हिटलर को प्रोत्साहन मिला और वह जर्मनी के उत्कर्ष के लिये प्रवृत्त हो सका। द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात में यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

(३) राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा से निराश होकर न केवल फ्रांस ही अपनी गुटबन्दियाँ बनाने में प्रवृत्त हुआ, अपितु इटली और रूस ने भी अपने-अपने ऐसे गुट बनाये, जिनका प्रयोजन आत्मरक्षा करना था। इन गुटबन्दियों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। जब विभिन्न राज्यों के राष्ट्रीय हितों में परस्पर विरोध हो और सभी राज्य अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये प्रयत्नशील हों, तो उनमें युद्ध होना स्वाभाविक है। इस दशा में युद्ध को तभी रोका जा सकता है, जब कि परस्पर-विरोधी राष्ट्रीय हितों के विरोध का निराकरण करने के लिये किसी सशक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की सत्ता हो। राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी प्रयोजन से की गई थी। पर राष्ट्रसंघ के पास ऐसी शक्ति का अभाव था, जिसका प्रयोग कर वह सब राज्यों को अपने आदेशों का पालन करने के लिये विवश कर सकता। इटली द्वारा अबीसीनिया पर और जापान द्वारा चीन पर आक्रमण के समय राष्ट्रसंघ की यह शक्तिहीनता भली भाँति स्पष्ट हो गई थी। शान्ति को कायम रखने के लिये परस्पर सहयोग करने की अपेक्षा विश्व के विभिन्न राज्य अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को अधिक महत्त्व देने लग गये थे। इस दशा में अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का एकमात्र यही उपाय उनके सम्मुख रह गया था, कि वे युद्ध का आश्रय लें।

(४) जर्मनी, जापान और इटली तीन ऐसे शक्तिशाली राज्य थे, जिनकी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ या साम्राज्य-सम्बन्धी भूख शान्त नहीं हुई थी। इन्हें हम साम्राज्य-विहीन राज्य (Have-nots) कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि वर्साय्य की सन्धि द्वारा जर्मनी के प्रति न्याय नहीं हुआ था। उसका अंग-भंग कर दिया गया था, और उसके सब उपनिवेश उससे छीन लिये गये थे। हिटलर जो शक्ति प्राप्त कर सका, उसका यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। हिटलर ने जर्मन लोगों में यह भावना प्रादुर्भूत की, कि जर्मन जाति संसार की सर्वोत्कृष्ट जाति है। उसे अधिकार है, कि वह यूरोप की पिछड़ी हुई जातियों पर शासन करे और संसार में अपने लिए समुचित व सर्वोच्च स्थान प्राप्त करे। मध्य और पूर्वी यूरोप को वह जर्मनी के विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र समझता था, और साथ ही कैसर विलियम द्वितीय के उस स्वप्न को भी पूरा करना चाहता था, जिसके अनुसार बर्लिन से बगदाद तक के मार्ग पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो जाए और एशिया में भी उसके आधिपत्य का मार्ग प्रशस्त हो जाए। इटली की आकांक्षा उत्तरी अफ्रीका को अपने आधिपत्य में लाने की थी। मुसोलिनी के सम्मुख प्राचीन रोमन साम्राज्य का आदर्श विद्यमान था, और वह भूमध्यसागर को इटली की झील बना देना चाहता था। पूर्वी और पश्चिमी भूमध्यसागर के द्वीपों पर वह अपना स्वाभाविक अधिकार समझता था। जापान का विचार था, कि चीन और दक्षिण-पूर्वी

एशिया के विविध प्रदेश उसके साम्राज्य विस्तार के उपयुक्त क्षेत्र हैं, और इन पर पाश्चात्य राज्यों के प्रभुत्व का अन्त कर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहिये। जर्मनी, इटली और जापान की इन महत्त्वाकांक्षाओं को सर्वथा अनुचित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, रूस, बेल्जियम और हालैण्ड के विशाल साम्राज्य अनुचित व अन्याय्य नहीं हैं, तो इन्हें भी अपने साम्राज्य बनाने का अवसर क्यों न मिले। यदि साम्राज्य एक देश के लिये उचित हैं, तो दूसरे देशोंके लिए उसे क्यों अनुचित समझा जाए ? पर ये राज्य अपने साम्राज्य तभी प्राप्त कर सकते थे, जब कि साम्राज्यवादी देशों को युद्ध में परास्त करें। इनके साम्राज्य-विस्तार तभी सम्भव थे, जबकि पिछड़े हुए देशों को ये अपनो अधीनता में ला सकें। पर बीसवीं सदी में अफ्रीका और एशिया के कोई भी ऐसे स्वतन्त्र देश नहीं रह गये थे, जो किसी न किसी साम्राज्य-वादी देश के प्रभुत्त्व या प्रभाव में न आ चुके हों। चोन, ईरान, अफगानिस्तान आदि जो देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन भी थे, उन पर भी विविध पाश्चात्य देशों का प्रभाव कायम हो चुका था, और वहाँ उन्होंने अपने ऐसे स्वार्थ उत्पन्न कर लिये थे जिन पर वे किसी भी तरह से आंच नहीं आने देना चाहते थे। अबीसीनिया एक स्वतन्त्र राज्य था। इटली ने उसे जोत कर किसी अन्य साम्राज्यवादी देश को सीधा नुकसान नहीं पहुँचाया था। पर उसके कारण भूमध्यसागर से पूर्व की ओर जाने वाले जल-मार्ग पर इटली का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था, जो बात ब्रिटेन को सह्य नहीं थी। जापान के उत्कर्ष से ब्रिटेन और फ्रांस को अपने एशियन साम्राज्यों के लिये सीधा खतरा अनुभव होता था, और जर्मनी की शक्ति में वृद्धि फ्रांस की सुरक्षा के लिये विघातक थी। इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जर्मनो, इटली और जापान के साम्राज्य-विस्तार-सम्बन्धी प्रयत्नों को ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी देश आशंका की दृष्टि से देखें और उनका प्रतिरोध करने के लिए उद्यत हो जाएँ। ब्रिटेन और फ्रांस आदि देशों का हित इस बात में था, कि पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाएँ कायम रहें। इसके विपरीत जर्मनी, इटली और जापान का यह विचार था, कि इन व्यवस्थाओं की उपेक्षा कर अपनी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में ही उनका हित है। इस दशा में उनमें संघर्ष सर्वथा स्वाभाविक था।

१९३५ तक ब्रिटेन ने यह अनुभव नहीं किया था, कि जर्मनी में नाजी पार्टी के उत्कर्ष के कारण उसे भी कोई नुकसान पहुँच सकता है। इसी कारण उसने न केवल फ्रांस की नीति का समर्थन नहीं किया, अपितु अपनी सैन्यशक्ति की वृद्धि पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। इटली की फासिस्ट शक्ति से भी वह चिन्तित नहीं हुआ। पर जब मुसोलिनी ने अबीसीनिया को जीत लिया, तो उसकी आँखें खुलीं, और उसने यह अनुभव करना शुरू किया, कि इटली का फासिज्म और जर्मनी का नाजीज्म उसके लिये खतरे का कारण हो सकता है। पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस बीच में हिटलर ने जर्मनी को सैनिक दृष्टि से पूरी तरह से तैयार कर लिया था। इसी लिये

१९३८ में जब जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने साथ मिला लिया और चेकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया, तो ब्रिटेन ने चुप रहने और जर्मनी के साथ समझौता कर लेने में ही कल्याण समझा। अब उसे फ्रांस की नीति के तथ्य व औचित्य का बोध हुआ, और उसने १५० करोड़ पौंड प्रति वर्ष सेना पर खर्च करने का निश्चय किया। इटली और जर्मनी जो १९३५-३८ के काल में यूरोप तथा अफ्रीका में मनमानी कर सके, ब्रिटेन का युद्ध के लिये तैयार न होना उसमें एक महत्त्वपूर्ण कारण था। उसकी तुष्टीकरण की नीति अनेक अंशों में अपनी सैनिक निर्बलता पर भी आधारित थी। पर जब १९३८ में जर्मनी ने पोलैण्ड पर भी आक्रमण किया, तो ब्रिटेन के लिये तटस्थ रह सकना सम्भव नहीं रह गया, क्योंकि अब उसने यह भलीभाँति समझ लिया था कि जर्मनी की महत्त्वाकांक्षाएँ उसके अपने साम्राज्य व देश के लिये भी विघातक हो सकती हैं।

(२) द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने से तत्काल पूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

चेकोस्लोवाकिया को अपने अधीन कर हिटलर ने पोलैण्ड की ओर ध्यान दिया, और वर्साय की सन्धि द्वारा डान्ट्सिग तथा पोल गलियारे के सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएँ की गई थीं, उनकी समाप्ति कर देने का निश्चय किया (मार्च, १९३९)। १९३३ के बाद हिटलर जिस ढंग से पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं का एक-एक करके भंग करता रहा था, और फ्रांस तथा ब्रिटेन उसका प्रतिरोध कर सकने में असमर्थ रहे थे, उसके कारण उसे आशा थी कि पोलैण्ड के सम्बन्ध में भी वह मनमानी कर सकेगा। पर अब तक ब्रिटेन ने भी यह भलीभाँति समझ लिया था, कि जर्मनी की निरन्तर बढ़ती हुई आकांक्षाओं का प्रतिरोध करने में ही उसका हित है। इसी कारण ३१ मार्च, १९३९ को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन ने घोषणा की, कि यदि पोलैण्ड की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कोई खतरा उत्पन्न हुआ, तो ब्रिटेन और फ्रांस उसकी सहायता करेंगे। पर हिटलर ने इस घोषणा की कोई परवाह नहीं की, और पोलैण्ड को यह धमकी दी, कि यदि उसने किसी भी प्रकार से जर्मनी के मार्ग में रुकावट डाली, तो उसके परिणामों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी होगा। ६ एप्रिल, १९३९ को ग्रीस और रूमानिया की स्वतन्त्रता की गारन्टी भी ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा दे दी गई, क्योंकि इस बात की आशंका थी, कि इटली और जर्मनी इन राज्यों को भी अपनी अधीनता में ले आने का प्रयत्न करेंगे। १४ एप्रिल, १९३९ को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हिटलर और मुसोलिनी से यह अनुरोध किया, कि विश्व में शान्ति को कायम रखने के लिये वे दस साल के लिये यह वचन दें, कि वे पड़ोस के किसी राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे। पर हिटलर और मुसोलिनी यह वचन देने को उद्यत नहीं हुए, और २४ एप्रिल को जर्मनी ने यह घोषणा की, कि १९३५ में उसने ब्रिटेन के साथ सामुद्रिक शक्ति के सम्बन्ध में जो समझौता किया था, उसे वह रद्द करता है। इसी

समय हिटलर ने यह माँग की, कि डान्ट्सिग उसे वापस दे दिया जाए, और जर्मनी के बीच से पोलैण्ड को जो गलियारा दिया गया है, उसमें से होकर पूर्वी एशिया आने-जाने के लिये रेल तथा मोटर मार्गों की सुविधा जर्मनी को प्रदान की जाए। पर पोलैण्ड ने जर्मनी की इन माँगों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उसे अब यह विश्वास हो गया था, कि जर्मनी द्वारा आक्रमण की दशा में फ्रांस और ब्रिटेन उसकी सहायता करेंगे।

गत वर्षों में जर्मनी और इटली के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत सुदृढ़ हो गये थे। क्योंकि ये दोनों ही पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई व्यवस्थाओं में परिवर्तन व संशोधन के पक्षपाती थे, अतः उनके लिए परस्पर सहयोग द्वारा कार्य करना स्वाभाविक था। इसी कारण २२ मई, १९३९ को जर्मनी के परराष्ट्र-मन्त्री रिबनट्राप और इटली के परराष्ट्र-मन्त्री सिआनो ने बर्लिन में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार इन दोनों राज्यों ने दस साल तक युद्ध और शान्ति दोनों दशाओं में परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया, और साथ ही यह भी तय किया कि यदि उनमें से कोई भी देश युद्ध में व्यापृत हो जाए, तो दूसरा देश सैन्यशक्ति द्वारा उसको सहायता करेगा। युद्ध की समाप्ति के लिये यदि किसी सामयिक सन्धि की आवश्यकता हो, तो वह भी इन राज्यों द्वारा पृथक् रूप से न करके सम्मिलित रूप से ही की जायगी।

अब यह सर्वथा स्पष्ट होता जा रहा था, कि यूरोप में चिरकाल तक शान्ति कायम नहीं रह सकेगी। फ्रांस और ब्रिटेन पोलैण्ड, ग्रीस तथा रूमानिया की स्वतन्त्रता की रक्षा की गारण्टी पहले ही दे चुके थे। अब उन्होंने तुर्की के साथ भी परस्पर-सहायता देने के विषय में समझौते किये। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये जून, १९३९ में जर्मनी ने डेन्मार्क, एस्थोनिया और लेटविया के साथ अनाक्रमण की सन्धियाँ कीं। ये राज्य जर्मनी की सीमा पर या उसके समीप स्थित थे, अतः युद्ध की दशा में जर्मनी इनके सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाना चाहता था। पर ये राज्य छोटे-छोटे थे, और इनसे जर्मनी को विशेष भय नहीं था। यदि हिटलर पोलैण्ड से अपनी माँगों को पूरा करने का प्रयत्न करता, तो ब्रिटेन और फ्रांस अवश्य ही पोलैण्ड की सहायता करते, क्योंकि जुलाई, १९३९ में ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन ने यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया था, कि यदि जर्मनी ने डान्ट्सिग और पोलिश गलियारे के मामले को स्वेच्छापूर्वक स्वयं ही हल करने का प्रयत्न किया, तो ब्रिटेन पोलैण्ड की सहायता करने के लिये विवश होगा। इस दशा में जर्मनी रूस की ओर से भी निश्चिन्त हो जाना चाहता था, क्योंकि पश्चिम और पूर्व दोनों ओर के रणक्षेत्रों में एक साथ युद्ध करना उसे समुचित प्रतीत नहीं होता था। इसी लिये २३ अगस्त, १९३९ को रिबनट्राप और मोलोटोव (रूस के परराष्ट्र-मन्त्री) ने मोस्को में एक समझौता किया, जिसका प्रयोजन एक दूसरे पर आक्रमण न करना था। जर्मनी और रूस के इस

अनाक्रमण पैक्ट (Non-aggression pact) पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस पैक्ट द्वारा इन दोनों देशों ने यह स्वीकार किया था, कि वे दस साल तक किसी भी दशा में एक दूसरे के साथ युद्ध नहीं करेंगे, और यदि उनमें से किसी पर किसी अन्य देश ने आक्रमण किया, तो वे आक्रान्ता देश की सहायता नहीं करेंगे। निस्सन्देह, यह पैक्ट एक अत्यन्त आश्चर्य की बात थी। हिटलर कम्युनिज्म का घोर विरोधी था, और उसके प्रति अपने विरोध को प्रगट करने में सदा उद्यत रहता था। रूस भी नाजीज्म को अपना प्रधान शत्रु समझता था। पर विचारधाराओं के विरोध की सर्वथा उपेक्षा कर ये दोनों राज्य जो इस समय परस्पर अनाक्रमण की सन्धि के लिये उद्यत हो गये, उसमें इनके राष्ट्रीय हित ही प्रधान कारण थे। पोलैण्ड के प्रति जर्मनी का जो रूख था, उसके कारण वह यह आवश्यक समझता था, कि डान्ट्सिग और पोलिश गलियारे के प्रश्न पर युद्ध छिड़ जाने की दशा में उसे दो रणक्षेत्रों में एक साथ न लड़ना पड़े। रूस की आँख भी पोलैण्ड के उन प्रदेशों पर थी, जो १९१४-१८ के महायुद्ध से पूर्व उसके राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत थे। पोलैण्ड के जो प्रदेश रूस की सीमा पर स्थित थे, उनमें रूसी लोगों का भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। इसीलिये २८ सितम्बर, १९३९ को रिबनट्राप और मोलोटोव ने एक अन्य सन्धि की, जिस द्वारा उन्होंने पोलैण्ड को आपस में बाँट लेना तय किया।

रूस की ओर से निश्चिन्त होकर जर्मनी के लिये यह सम्भव हो गया, कि वह डान्ट्सिग और पोलिश गलियार के बारे में अपनी माँग को स्वीकार कर लेने के लिये पोलैण्ड पर जोर दे सके। इसी प्रयोजन से २९ अगस्त, १९३९ के दिन जर्मनी ने ग्रेट ब्रिटेन से यह कहा, कि वह पोलैण्ड के एक प्रतिनिधि को ३० अगस्त तक बर्लिन बुलवा ले। इस प्रतिनिधि को सारे मामले को अन्तिम रूप से तय कर सकने के पूरे अधिकार प्राप्त होने चाहियें। ब्रिटेन को अब तक भी आशा थी, कि जर्मनी के साथ समझौता हो सकना असम्भव नहीं है। पोलैण्ड का मामला ऐसा नहीं है, जिसका निबटारा बात-चीत द्वारा न हो सके। पर एक दिन का समय इतना कम था, कि उसमें पोलैण्ड की सरकार को जर्मनी की इस योजना को स्वीकार करने के लिये प्रेरित नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ, कि १ सितम्बर को प्रातः काल पाँच बजे जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड में प्रवेश करना शुरू कर दिया, और द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हो गया।

(३) महायुद्ध के दोनों पक्षों के राज्य और उनकी राजनीति

द्वितीय महायुद्ध के वृत्तान्त को यहाँ लिख सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैण्ड को स्वतन्त्रता की रक्षा की जो गारन्टी दी हुई थी, उसके कारण वे प्रारम्भ में ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गये थे। जर्मनी के साथ हुई सन्धियों के कारण इटली ने जर्मनी का साथ दिया। रूस, जापान और अमेरिका देर तक युद्ध से पृथक् रहे, यद्यपि बाद में वे भी लड़ाई में

शामिल हो गये, अमेरिका और रूस जर्मनी के विरोध में और जापान उसके पक्ष में। धीरे-धीरे यूरोप तथा संसार के अन्य भी बहुत-से राज्य महायुद्ध को लपेट में आते गये, और उनके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को युद्ध ने बहुत प्रभावित किया।

रूस की राजनीति—जून, १९४१ तक रूस महायुद्ध में तटस्थ रहा था। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि इस बीच में वह सर्वथा निष्क्रिय रहा हो। सितम्बर, १९३९ में जब जर्मन सेनाएँ पोलैण्ड को आक्रान्त करने में तत्पर थीं, रूस ने भी पूर्व की ओर से उस पर आक्रमण कर दिया (१७ सितम्बर)। रूस समझता था, कि युक्रेनिया का जो प्रदेश पोलैण्ड के अन्तर्गत है, उसे पोलैण्ड से पृथक् कर युक्रेनिया (सोवियत रूसी संघ के अन्तर्गत अन्यतम रिपब्लिक) के साथ मिला देना चाहिये। यदि पोलैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया, तो बाद में यह सम्भव नहीं होगा। पाँच दिन में इस सारे प्रदेश पर रूस का कब्जा हो गया। युक्रेनिया के प्रदेश के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे प्रदेशों पर रूस ने अपना अधिकार कर लिया, जो प्रथम महायुद्ध से पहले उसकी अधीनता में थे। इस समय जो प्रदेश रूस ने पोलैण्ड से प्राप्त किये, उनका क्षेत्रफल ७५,००० वर्ग मील से भी अधिक था, और उनकी जनसंख्या १,४०,००,००० के लगभग थी। जर्मनी के समान रूस को भी वर्साय्य की सन्धि से यह शिकायत थी, कि उसका अपना कुछ प्रदेश पोलैण्ड के अन्तर्गत कर दिया गया था। सितम्बर, १९३९ में उसने न केवल इस प्रदेश को अपितु पोलैण्ड के आधे से भी अधिक भाग को प्राप्त कर लिया था।

रूस केवल पूर्वी पोलैण्ड पर कब्जा कर के ही संतुष्ट नहीं हो गया। यद्यपि वह युद्ध में शामिल नहीं था और जर्मनी के साथ अनाक्रमण-सन्धि भी कर चुका था, पर वह यह भली भाँति समझता था कि हिटलर के वचनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, और अपने कम्युनिज्म-विरोधी विचारों के कारण वह कभी भी रूस पर आक्रमण कर सकता है। महायुद्ध की भावी प्रगति को दृष्टि में रख कर वह अपनी स्थिति को सुरक्षित कर लेना चाहता था। बाल्टिक सागर के तटवर्ती चार राज्य—एस्थोनिया, लैटविया, लिथुएनिया और पोलैण्ड—रूस की सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्व के हैं। ये पहले रूसी साम्राज्य की अधीनता में रह भी चुके थे। पूर्वी पोलैण्ड पर कब्जा कर लेने के बाद २९ सितम्बर, १९३९ को रूस ने एस्थोनिया के साथ एक नई सन्धि की, जिसके अनुसार एस्थोनिया ने अपने देश के अनेक सामुद्रिक व हवाई अड्डे सैनिक प्रयोग के लिये रूस को देना स्वीकार किया, और साथ ही परस्पर मित्रता को बनाये रखना भी। ५ अक्टूबर को इसी प्रकार की सन्धि लैटविया के साथ की गई, और १० अक्टूबर को लिथुएनिया के साथ। इन तीनों सन्धियों में यह बात भी स्वीकार की गई थी, कि यदि कोई अन्य राज्य इन सन्धियों को करने वाले किसी राज्य पर आक्रमण करे, तो दूसरा राज्य उसकी सहायता करेगा। रूस चाहता था, कि इसी प्रकार की सन्धि फिनलैण्ड के साथ भी कर ली जाए। इसके लिये फिन सरकार के प्रतिनिधियों को बातचीत

के लिये मास्को बुलाया गया। १२ अक्टूबर को दोनों देशों में सन्धि की बात शुरू हुई। रूस की इच्छा थी, कि फिनलैण्ड के कतिपय बन्दरगाह और द्वीप सैनिक प्रयोग के लिये रूस को प्रदान कर दिये जाएँ। पर फिनलैण्ड ने इसे स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ, कि रूस ने फिनलैण्ड के साथ किये गये अनाक्रमण-पैक्ट (१९३२) को रद्द कर दिया, और ३० नवम्बर, १९३९ को उस पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड रूस की सैन्यशक्ति का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। यद्यपि रूस ने फिनलैण्ड की आन्तरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा, पर उन सब स्थानों पर कब्जा कर लिया जिन्हें कि वह सैनिक दृष्टि से अपने लिये उपयोगी समझता था। इस प्रकार चारों बाल्टिक राज्य रूस के प्रभावक्षेत्र में आ गये। अब रूसने अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर ली थी।

१९३९-४० में रूस अपनी सैनिक तैयारी में व्यापृत रहा। उसे इस बात में जरा भी सन्देह नहीं था, कि अन्ततोगत्वा उसे भी युद्ध में शामिल होना पड़ेगा। यद्यपि महायुद्ध के प्रारम्भ होने से कुछ दिन पहले ही उसने जर्मनी के साथ अनाक्रमण-सन्धि कर ली थी, पर यह सन्धि दस साल के लिये होते हुए भी वस्तुतः सामयिक ही थी। रूस युद्ध की आशंका से निश्चिन्त नहीं था। इसी कारण उसने चारों बाल्टिक राज्यों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लिया था। जून, १९४१ तक महायुद्ध में जर्मनी की सर्वत्र विजय होती जा रही थी। नार्वे (एप्रिल, १९४०) और डेन्मार्क (एप्रिल, १९४०) को उसने अपने अधीन कर लिया था, और हालैण्ड तथा बेल्जियम की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया था (मई, १९४०)। फ्रांस को भी उसने युद्ध में परास्त कर दिया था (जून, १९४०), और विशी को राजधानी बना कर मार्शल पेतां ने एक नई फ्रेञ्च सरकार का संगठन कर लिया था, जो सब प्रकार से जर्मनी के साथ सहयोग करने को उद्यत थी। ग्रीस और युगोस्लाविया भी जर्मनी के सम्मुख हथियार डाल चुके थे। ग्रीस को परास्त कर जर्मन सेनाएँ अफ्रीका में पहुँच गयी थीं, और प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका उनके कब्जे में आ गया था। यूरोप के बहुत बड़े भाग को अपनी अधीनता में ला कर जर्मनी सीरिया, ईराक और ईरान में भी अपने प्रभुत्त्व के विस्तार में तत्पर था, और मित्रपक्ष के राज्यों के लिये कहीं भी उसका मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं रह गया था। केवल ब्रिटेन ही एक ऐसा राज्य था, जिस पर जर्मनी अब तक भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित नहीं कर सका था, यद्यपि वायु मार्ग द्वारा वह निरन्तर उस पर आक्रमण करने में तत्पर था।

रूस पर आक्रमण—महायुद्ध में जर्मनी को जो असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी, उसके कारण नार्वे से स्पेन तक और अटलान्टिक सागर के तट से ईंगियन सागर तक सर्वत्र जर्मनी की तूती बोल रही थी। पर ब्रिटेन की सहायता के लिये जहाँ उसका विशाल साम्राज्य विद्यमान था, वहाँ साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका भी उसकी पीठ पर था। यद्यपि वह युद्ध में शामिल नहीं हुआ था, पर युद्ध-सामग्री व धन द्वारा ब्रिटेन

की सहायता में तत्पर था। अमेरिका के लड़ाई में सम्मिलित होने से पूर्व ही जर्मनी को यह चाहिये था, कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति ब्रिटेन को नष्ट करने में लगा देता। हिटलर ने इसके लिये यत्न भी किया। ब्रिटेन पर हवाई आक्रमण किये गये, और पूर्व की ओर आगे बढ़ कर जर्मनी ने ब्रिटेन और उसके पूर्वी साम्राज्य के साथ सम्बन्ध को विच्छिन्न करने की भी कोशिश की। पर इसमें उसने अपनी पूरी ताकत नहीं लगाई। हिटलर का विचार था, कि ब्रिटेन के साथ उसका कोई विशेष झगड़ा नहीं है। ब्रिटेन का साम्राज्य यूरोप से बाहर है, और समुद्र पर उसका प्रभुत्त्व है। यूरोप में ब्रिटेन और जर्मनी के हितों में कोई विरोध नहीं है। सम्पूर्ण यूरोप जर्मनी के कब्जे में आ ही चुका था। अतः हिटलर ने यह विचार किया, कि यदि वह रूस के विरुद्ध लड़ाई शुरू कर दे, तो न केवल जर्मनी को अपने साम्राज्य का विस्तार करने का अवसर मिलेगा, अपितु कम्युनिज्म का सर्वनाश कर के यूरोपियन सभ्यता तथा ईसाई धर्म की रक्षा का गौरव भी उसे प्राप्त हो सकेगा। अमेरिका और ब्रिटेन के पूँजीपति रूस के खिलाफ युद्ध का स्वागत करेंगे। जर्मनी का यह भी विचार था, कि रूस अन्दर से बहुत निर्बल है। कम्युनिज्म के कारण सर्वसाधारण जनता की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है, और रूस के निवासी दासों की स्थिति को पहुँच गये हैं। सोवियत रूसी संघ में जिन विभिन्न जातियों का निवास है, उनमें अपनी पृथक् राष्ट्रीयता की भावना अभी नष्ट नहीं हुई है, और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम पर उनमें ऐसी पार्टियों का संगठन किया जा सकता है, जो कम्युनिस्ट रूस के विरुद्ध विद्रोह कर देनेको उद्यत हो जाएँ। यदि रूस को परास्त कर उसका भी अंग-भंग कर दिया जाए और उसके राज्यक्षेत्र से पृथक् हुए प्रदेशों को जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र में ले आया जाए, तो युक्रेनिया के विशाल उपजाऊ खेत, यूराल पर्वतमाला की कीमती खानें और काकेशस के तैलकूप—सब जर्मनी को प्राप्त हो जायेंगे। हिटलर ने अपने ग्रन्थ 'मेरा संघर्ष' (Mein Kamph) में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया था, कि जर्मनी का ब्रिटेन से कोई हित विरोध नहीं है। वह अब भी यही समझता था, कि यदि कम्युनिस्ट रूस के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के इरादे से ब्रिटेन के साथ सुलह की बात चलायी जाए, तो वह सफल हो सकती है। उसने इसके लिये प्रयत्न भी किया, यद्यपि वह सफल नहीं हुआ। पर इसके कारण हिटलर ने रूस पर आक्रमण करने की अपनी योजना में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। उसका खयाल था, कि सर्दियाँ शुरू होने से पहले ही रूस को परास्त कर दिया जायगा, और उसके हस्तगत हो जाने पर जो अपार सम्पत्ति व युद्ध सामग्री जर्मनी के हाथ लगेगी, उससे ब्रिटेन और अमेरिका का मुकाबला कर सकना सुगम हो जायगा। २२ जून, १९४१ को जर्मन सेनाओं ने रूस पर चढ़ाई शुरू कर दी। इस प्रकार रूस भी महायुद्ध में सम्मिलित हुआ। रूस के विरुद्ध लड़ाई में जर्मनी ने अच्छी सफलता प्राप्त की। एस्थोनिया, लैटविया, लिथुएनिया और फिनलैण्ड शीघ्र ही उस के प्रभाव-क्षेत्र से पृथक् हो जर्मनी की अधीनता में आ गये, और पूर्वी पोलैण्ड पर भी

जर्मनी ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। युक्रेनिया को भी उसने विजय कर लिया, और जर्मन सेनाएँ रूस में आगे बढ़ती हुई मास्को और लेनिनग्राड के समीप तक पहुँच गईं। पर वे इससे आगे नहीं बढ़ सकीं। रूस से उलझ जाना हिटलर की भारी भूल थी। जर्मनी जो महायुद्ध में विजयी नहीं हो सका, रूस के साथ लड़ाई छेड़ देना उसमें एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

महायुद्ध में सम्मिलित हो जाने से रूस को अनेक लाभ हुए। जब जर्मनी का पलड़ा हलका पड़ने लगा और युद्ध में उसकी पराजय होने लगी, तो रूसी सेनाओं ने न केवल उन प्रदेशों की फिर से विजय कर ली, जिन्हें जर्मनी ने उससे प्राप्त कर लिया था, अपितु मध्य और पूर्वी यूरोप के विभिन्न राज्यों को भी उसने जर्मनी की अधीनता से मुक्त किया। कम्युनिस्ट सेनाओं की सहायता से इन राज्यों में कम्युनिस्ट सरकारें कायम हुईं, और पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि कितने ही देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो गई। सुदूर पूर्व के चीन, कोरिया, वियत-नाम आदि देशों में भी इससे कम्युनिज्म के प्रसार में सहायता मिली, क्योंकि महायुद्ध का अन्त होने से पहले ही रूस ने जापान के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी थी (८ अगस्त, १९४५)। द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार के अच्छे बड़े भाग में जो कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो सकी, उसमें रूस द्वारा जर्मनी और जापान को परास्त करने में हिस्सा बटाना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण था।

जापान की राजनीति—जापान जर्मनी और इटली का साथी था, और बर्लिन-टोक्यो-रोम एक्सिस के कारण वह महायुद्ध में जर्मनी की सहायता करने के लिये वचनबद्ध भी था। जापान की आकांक्षा यह थी, कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब प्रदेश उसके प्रभुत्त्व में आ जाएँ। इसी दृष्टि से उसने चीन के विरुद्ध युद्ध का प्रारम्भ किया था। पर वह १९३९ में ही महायुद्ध में शामिल नहीं हो गया। वह उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में रहा। पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में चार प्रधान शक्तियाँ थीं, जो उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हो सकती थीं—ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड और संयुक्तराज्य अमेरिका। इन चारों के इस क्षेत्र में साम्राज्य विद्यमान थे। पर महायुद्ध में जर्मनी ने प्रायः सम्पूर्ण यूरोप पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था। हालैण्ड और फ्रांस को उसने जीत लिया था, और फ्रांस की विशी सरकार उसके साथ सहयोग करने में तत्पर थी। ब्रिटेन के लिये अपनी रक्षा कर सकना ही कठिन हो रहा था, और उत्तरी अफ्रीका पर जर्मनी का कब्जा हो जाने के कारण ब्रिटेन के लिये यह भी सम्भव नहीं रहा था, कि एशिया के अपने साम्राज्य की रक्षा को समुचित व्यवस्था कर सके। इस दशा में अमेरिका ही एकमात्र ऐसा राज्य रह गया था, जो जापान की योजना का प्रतिरोध कर सकता था। प्रशान्त महासागर में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति का प्रधान केन्द्र पर्ल हार्बर था, जो हवाई द्वीप-समूह में स्थित है। जापान समझता था, कि यदि इसे नष्ट कर दिया जाए, तो अमेरिका की शक्ति क्षीण हो

जायगी और वह सुदूर पूर्व में जापान का प्रतिरोध कर सकने में असमर्थ हो जायगा। इसीलिये ७ दिसम्बर, १९४१ को उसने अकस्मात् ही पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया, और वहाँ पर विद्यमान बहुत-से जंगी जहाज तहस-नहस हो गये। जापान के इस हमले से अमेरिका को आधे के लगभग सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो गई। जिस दिन पर्ल हार्बर पर हमला हुआ, उसी दिन शंघाई, मलाया, सिंगापुर और हांग-कांग पर भी वम्ब वर्षा की गई। अब जापान भी महायुद्ध में सम्मिलित हो गया था, और उसने विद्युत्गति से दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त कर वहाँ अपना प्रभुत्त्व स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। जापान के इन आक्रमणों का वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि १९४२ के प्रारम्भिक महीनों तक जापान ने हांग-कांग, फिलिप्पीन, इन्डोचायना, इन्डोनीसिया, मलाया, सिंगापुर और बरमा से पाश्चात्य देशों के शासन का अन्त कर ऐसी सरकारों की स्थापना कर दी थी, जो उसके साथ सहयोग करने को उद्यत थीं। प्रशान्त महासागर के प्रायः सब द्वीप भी उसकी अधीनता में आ गये थे। यद्यपि अन्ततोगत्वा जापान की पराजय हुई, और वह इन देशों पर अपने आधिपत्य को कायम नहीं रख सका, पर जापान को ये विजयें इन देशों की स्वाधीनता में अत्यन्त सहायक हुईं, और महायुद्ध की समाप्ति पर ये देश जो स्वाधीनता प्राप्त करने में समर्थ हुए, उसका श्रेय जापान को भी दिया जाना चाहिये।

अमेरिका की राजनीति—शुरू में संयुक्त-राज्य अमेरिका भी महायुद्ध में शामिल नहीं हुआ था, यद्यपि उसकी सहानुभूति ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष में थी। पर पार्थक्य की नीति और मुनरो सिद्धान्त का परित्याग भी अमेरिका के लिये सुगम नहीं था, और १९३७ में अमेरिका तटस्थता कानून (Neutrality Act) भी पास कर चुका था। इस कानून के अनुसार अमेरिका ने यह तय किया था, कि युद्ध की दशा में वह किसी भी पक्ष को युद्ध-सामग्री प्रदान नहीं करेगा। पर ज्यों-ज्यों महायुद्ध में जर्मनी की विजय होती गई, अमेरिका के लोकमत में परिवर्तन आना शुरू हो गया। इसीलिये ४ नवम्बर, १९३९ को तटस्थता कानून में संशोधन कर एक नया कानून (१९३९) स्वीकृत किया गया, जिसका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि नकद दाम देकर अमेरिका से युद्ध-सामग्री को प्राप्त किया जा सकता है। मित्रपक्ष के राज्यों ने इससे लाभ उठाया, और वे बड़ी मात्रा में अमेरिका से युद्ध सामग्री प्राप्त करने लगे। पर जब जर्मनी ने फ्रांस को भी जीत लिया, तो अमेरिका ने युद्ध की गम्भीरता को और भी अधिक तीव्रता के साथ अनुभव किया, और यह निश्चय किया कि अमेरिका की सैन्यशक्ति में वृद्धि की जाए, अमेरिकन महाद्वीप में शान्ति कायम रखने के लिये अन्य अमेरिकन राज्यों का सहयोग प्राप्त किया जाए, हर सम्भव प्रकार से (युद्ध में शामिल होने के अतिरिक्त) ब्रिटेन की सहायता की जाए, और जर्मनी व इटली के साथ कोई आर्थिक सहयोग न किया जाए। जर्मनी और

इटली के विरोधी राज्यों (इस समय ब्रिटेन ही एकमात्र ऐसा राज्य शेष रह गया था) को अधिकाधिक सहायता देने के लिये जनवरी, १९४१ में अमेरिका ने एक नया कानून पास किया, जिसका प्रयोजन सैन्यशक्ति के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार से इन राज्यों की सहायता करना था। यही लेन्ड-लीज विल (Lend Lease Bill) के नाम से प्रसिद्ध है। इस के कारण ब्रिटेन के लिये अमेरिका से सब प्रकार की युद्ध-सामग्री तथा अन्य सामान उधार प्राप्त कर सकना सम्भव हो गया। इसके अनुसार राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अगले तीन वर्षों में १००० करोड़ डालर के लगभग कीमत का सामान ब्रिटेन को उधार दे सकने की व्यवस्था की। पर अमेरिका से जो युद्ध-सामग्री ब्रिटेन भेजी जाती थी, जर्मनी उसे मार्ग में डुबा देने की कोशिश करता था। अतः बाद में यह इन्तजाम किया गया, कि अमेरिका के जंगी जहाज युद्ध-सामग्री को ढोने वाले जहाजों की रक्षा किया करें, और यदि कोई जर्मन जहाज इन्हें डुबाने का यत्न करे, तो उसका मुकाबला किया जाए। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अमेरिका महायुद्ध में शामिल न होते हुए भी मित्रपक्ष की पूर्ण रूप से सहायता करने में तत्पर था। पर महायुद्ध की परिस्थितियां ऐसी होती जा रही थीं, कि अमेरिका देर तक युद्ध से पृथक् नहीं रह सका। उसे भी उसमें शामिल हो जाने के लिये विवश हो जाना पड़ा।

अटलान्टिक चार्टर—महायुद्ध में जर्मनी की जिस ढंग से विजय हो रही थी, और जापान भी जिस प्रकार पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार के लिये तैयारियां कर रहा था, उसे देखते हुए अमेरिका के लिये चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। जर्मनी ने यूरोप के जिन देशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, उन में वह नाजी आदर्शों के अनुसार नई व्यवस्था स्थापित करने में तत्पर था। जापान भी पूर्वी एशिया के देशों के सम्मुख अपनी नई व्यवस्था (New Order) का सुन्दर रूप प्रस्तुत करने में लगा था। जुलाई, १९४१ में जापान ने फ्रांस की विशी सरकार से यह अधिकार प्राप्त कर लिया था, कि वह इन्डोचायना में अपनी सेनाएँ उतार सके और वहाँ के सामुद्रिक तथा हवाई अड्डों का प्रयोग कर सके। दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र में अमेरिका, हालैण्ड और ब्रिटेन के साम्राज्यों की भी सत्ता थी। अतः इस बात से उन्होंने बहुत उद्वेग अनुभव किया और यह आवश्यक समझा कि महायुद्ध में शामिल होने में मित्रराज्यों का क्या प्रयोजन है इसे स्पष्ट कर दिया जाए, और साथ ही इस बात को भी कि युद्ध की समाप्ति पर जब विश्व की नई व्यवस्था की जायगी, तो उसके लिये किन सिद्धान्तों व आदर्शों का अनुसरण किया जायगा। इस बात की आवश्यकता इस कारण भी थी, क्योंकि जर्मनी और जापान दोनों ही अपने द्वारा स्थापित की जाने वाली नई व्यवस्था के समुज्ज्वल स्वरूप को प्रतिपादित करने में तत्पर थे। इसीलिए अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री चर्चिल ने न्यूफाउण्डलैण्ड के समुद्रतट के समीप एक जहाज में भेंट की, और १४ अगस्त, १९४१ के दिन उन्होंने वहाँ से एक संयुक्त घोषणा प्रकाशित की, जो

अटलान्टिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इस घोषणा में निम्नलिखित आठ सिद्धान्तों व आदर्शों का प्रतिपादन किया गया था—(१) हम किसी भी प्रकार से अपने साम्राज्यों का विस्तार करना नहीं चाहते। न हम किसी नये प्रदेश को प्राप्त करना चाहते हैं, हैं, और न ही कहीं अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम करना चाहते हैं। (२) विविध राज्यों की सीमाओं में हम कोई ऐसे परिवर्तन करना नहीं चाहते, जो कि वहाँ की जनता की स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्त की गई इच्छा के अनुकूल न हो। (३) हम सब लोगों के इस अधिकार को स्वीकार करते हैं, कि वे स्वयं इस बात का फैसला कर सकें कि उनके राज्यों की सरकारों व शासन का क्या स्वरूप हो। साथ ही, हम यह भी चाहते हैं कि जिन लोगों से उनके सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता तथा स्वशासन के अधिकार बलपूर्वक छीन लिये गये हैं, वे उन्हें पुनः प्राप्त करा दिये जाएँ। (४) हमारा यह प्रयत्न होगा, कि सब राज्यों को चाहे वे छोटे हों या बड़े, चाहे वे विजेता हों या विजित हों—व्यापार करने और अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हो सकें। (५) हमारी इच्छा है, कि आर्थिक क्षेत्र में सब राज्यों का सहयोग इस दृष्टि से प्राप्त हो सके, कि श्रमिकों की दशा में सुधार हो, आर्थिक उन्नति सम्भव हो और सामाजिक सुरक्षा स्थापित हो। (६) जब नाजी शक्ति का पूर्णतया विनाश हो जायगा, तो हमें आशा है कि सब देशों के लोगों को यह भरोसा हो जायगा कि वे अब निर्भय रूप से अपने देशों में निवास कर सकते हैं, उनकी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता अक्षुण्ण बनी रहेगी, किसी अन्य राज्य के आक्रमण का उन्हें भय नहीं रहेगा और विविध पदार्थ प्राप्त करने में उन्हें कोई रुकावट नहीं रहेगी। (७) इस प्रकार स्थापित हुई शान्ति सब कोई को समुद्रों और महासागरों का निर्बाध रूप से प्रयोग करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर सकेगी। (८) हमारा विश्वास है, कि संसार के सब राष्ट्र यथार्थ तथा आध्यात्मिक कारणों से प्रेरित होकर शक्ति के प्रयोग का परित्याग कर देंगे। भविष्य में शान्ति का स्थापित रह सकना तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि सब राष्ट्र अपनी जल, स्थल तथा वायुशक्ति का अपनी राजकीय सीमाओं से बाहर प्रयोग करना बन्द न कर दें। जब तक कि सर्वसामान्य सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न हो जाए, यह भी आवश्यक है कि अस्त्र-शस्त्रों में कमी का प्रयत्न भी जारी रखा जाए। अस्त्र-शस्त्रों का जो बोझ शान्तिप्रिय राज्यों के ऊपर है, उसे हलका करने के कार्य में भी हमारा सहयोग प्राप्त रहेगा।

अमेरिका का महायुद्ध में प्रवेश—किन सिद्धान्तों व आदर्शों को दृष्टि में रख कर अमेरिका महायुद्ध में ब्रिटेन तथा अन्य मित्र-राज्यों की सहायता के लिये प्रयत्नशील था, यह अटलान्टिक चार्टर द्वारा स्पष्ट हो जाता है। पर पार्थक्य की नीति और मुनरो सिद्धान्त के कारण वह महायुद्ध में प्रत्यक्ष रूप से हाथ नहीं बटा रहा था। दिसम्बर, १९४१ में जब जापान ने अकस्मात् ही पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया, तो अमेरिका के लिए महायुद्ध से पृथक् रह सकना सम्भव नहीं रहा। पूर्वी एशिया

और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान की शक्ति व प्रभुत्त्व में वृद्धि का होना अमेरिका को किसी भी प्रकार सह्य नहीं हो सकता था, क्योंकि इस क्षेत्र में उसके अपने साम्राज्य की भी सत्ता थी। अतः वह भी महायुद्ध में सम्मिलित हो गया, और उसने भी जापान, जर्मनी तथा इटली के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

त्रिपक्षीय पैक्ट (Tripartite Pact)—महायुद्ध में जर्मनी, इटली और जापान के क्या आदर्श व सिद्धान्त थे, यह उस पैक्ट द्वारा स्पष्ट हो जाता है, जो इन राज्यों ने २७ सितम्बर, १९४० को आपस में किया था और जो त्रिपक्षीय पैक्ट के नाम प्रसिद्ध हैं। इस पैक्ट में ६ धाराएँ थीं—(१) महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में जो नई व्यवस्था स्थापित की जायगी, उसका नेतृत्त्व जर्मनी और इटली द्वारा किया जायेगा। (२) इसी प्रकार विशाल पूर्वी एशिया में नई व्यवस्था स्थापित करने का कार्य जापान के नेतृत्त्व में होगा। (३) जो राज्य अभी महायुद्ध में तटस्थ हैं, उनमें से किसी द्वारा यदि जापान, जर्मनी तथा इटली में से किसी पर आक्रमण किया जाए, तो तीनों राज्य राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक साधनों द्वारा आक्रान्त देश की सहायता को उद्यत रहेंगे। (४) इस पैक्ट को कार्यान्वित करने के प्रयोजन से तीनों राज्य तकनीकी क्षेत्र में परस्पर सहयोग से काम करेंगे, और इसके लिये संयुक्त कमीशनों की नियुक्ति करेंगे। (५) इस समय इन तीनों राज्यों के रूस के साथ जिन सम्बन्धों की सत्ता है, इस पैक्ट द्वारा उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। (६) भविष्य में जो अन्य राज्य इस पैक्ट के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार कर जर्मनी, जापान और इटली के साथ सहयोग करने को उद्यत हों, उन्हें भी सब प्रकार से सहयोग प्रदान किया जायगा। यह धारा इसलिये रखी गई थी, क्योंकि सितम्बर, १९४० तक यूरोप में अनेक राज्य जर्मनी के प्रभुत्त्व में आ चुके थे, और वे जर्मनी के साथ सहयोग करने में तत्पर थे।

त्रिपक्षीय पैक्ट का मूल सिद्धान्त यह था, कि यूरोप जर्मनी और इटली का प्रभाव-क्षेत्र है, और पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया जापान का। अपने-अपने इन प्रभाव-क्षेत्रों में ये राज्य ऐसी व्यवस्था स्थापित कर सकते हैं, जिसके अनुसार इन क्षेत्रों के विभिन्न राज्य उनके नेतृत्त्व व प्रभुत्त्व को स्वीकार करते हुए उनके अनुवर्ती तथा सहयोगी बन कर रहें।

(४) महायुद्ध के काल में शान्ति स्थापित करने के सम्बन्ध से विचार-विमर्श

महायुद्ध अभी पूरे जोरों से चल रहा था, कि मित्रपक्ष के नेताओं ने इस बात पर विचार-विमर्श प्रारम्भ कर दिया था, कि शान्ति की स्थापना होने पर जब विश्व का पुनः निर्माण किया जायगा, तो उसके लिये कौन-से आदर्श व सिद्धान्त अपनाने होंगे। इस बात की आवश्यकता इस कारण अत्यधिक हो गई थी, क्योंकि जर्मनी, इटली और जापान अधीनस्थ देशों और उपनिवेशों के निवासियों का ध्यान ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका आदि की साम्राज्यवादी नीति की ओर आकृष्ट कर रहे थे, और अपनी नई व्यवस्था

का जो चित्र वे उनके सम्मुख रख रहे थे, उसमें इन देशों की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता की बात को स्वीकार कर लिया गया था। उनका कहना था, कि एशिया और अफ्रीका के विभिन्न देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार हैं, और उन्हें स्वभाग्य-निर्णय का अवसर प्राप्त नहीं है। उन्हें साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होकर स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये, और जापान का यही उद्देश्य है कि वह उन्हें पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त करे और वहाँ ऐसे स्वाधीन शासनों की स्थापना करे, जो जापान को अपना नेता व सहायक मानने को तैयार हों। क्योंकि जापान अत्यधिक उन्नत देश है, अतः वही इनकी पाश्चात्य साम्राज्यवाद से रक्षा कर सकता है। यही बात यूरोप और अफ्रीका के विषय में जर्मनी और इटली द्वारा कही जा रही थी। यूरोप के बड़े भाग को जीत कर हिटलर ने वहाँ की जो नई व्यवस्था की थी, उसके अनुसार विजित देशों पर जर्मनी का सीधा शासन स्थापित नहीं किया गया था। वहाँ ऐसी सरकारें कायम कर दी गई थीं, जो जर्मनी के नेतृत्व को स्वीकार करती थीं और नाजी व्यवस्था की पक्षपाती थीं। यही कारण था, जो महायुद्ध के दौरान में ही मित्रपक्ष के राज्यों के प्रतिनिधि अनेक बार विभिन्न स्थानों पर एकत्र हुए, और वहाँ उन्होंने उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया, जिन द्वारा विश्व के विभिन्न राज्यों की जनता की सहानुभूति प्राप्त की जा सकती थी।

रूजवेल्ट द्वारा प्रतिपादित चार स्वाधीनताएँ—दिसम्बर, १९४१ में संयुक्तराज्य अमेरिका भी महायुद्ध में सम्मिलित हो गया था, और जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों पर विद्युत्गति से आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। इन देशों से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करते हुए जापान यह दावा कर रहा था, कि वह इन देशों की स्वाधीनता का पक्षपाती है। इस स्थिति में अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने फरवरी, १९४२ में चार स्वाधीनताओं की घोषणा की, जिन्हें वह जून, १९४१ में पहले भी अमेरिकन कांग्रेस के सम्मुख अपने संदेश में प्रतिपादित कर चुका था। ये स्वाधीनताएँ निम्नलिखित थीं—(१) सब मनुष्यों को भाषण तथा अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रगट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। (२) सब को अपने ढंग से ईश्वर की पूजा तथा उपासना की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, (३) जनता को अभाव और दरिद्रता से मुक्त कर ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिये, जिससे कि सब कोई अमन चैन के साथ स्वतन्त्र रूप से अपना आर्थिक जीवन बिता सकें। (४) सर्वत्र अस्त्र-शस्त्र में इतनी कमी करना, ताकि अन्य देशों द्वारा आक्रमण की सम्भावना ही न रह जाए और सब राष्ट्र युद्ध के भय से छुटकारा पा सकें।

'संयुक्त-राष्ट्र' की घोषणा—रूजवेल्ट द्वारा घोषित चार स्वाधीनताओं और अटलान्टिक चार्टर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को क्रियान्वित कर सकना तभी सम्भव था, जब कि महायुद्ध में जर्मनी के पक्ष की पराजय हो जाए। अतः जर्मनी के विरोधी राज्यों में सहयोग को सुदृढ़ करना बहुत आवश्यक था। इसी कारण १९४२ के प्रारम्भ में

उन राज्यों द्वारा एक घोषणा पर हस्ताक्षर किये गये, जो उस समय तक जर्मन पक्ष के विरुद्ध लड़ाई में सम्मिलित हो चुके थे। इन राज्यों की संख्या २६ थी, और ये संयुक्त-राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, कोस्टा रिका, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, डोमिनिकन रिपब्लिक, एल साल्वादोर, ग्रीस, गोटामाला, हेयती, होन्डूरस, भारत, लुक्सम्बुर्ग, नीदरलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, निकार्गुआ, नार्वे, पनामा, पोलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और युगोस्लाविया थे। यह घोषणा इन संयुक्त-राष्ट्रों के (United Nations) द्वारा की गई थी। इसी समय से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों के लिये 'संयुक्त राष्ट्र' संज्ञा का प्रयोग किया जाने लगा, और महायुद्ध की समाप्ति पर जिस संयुक्त-राष्ट्र संघ (United Nations' Organisation) का संगठन किया गया, उसके लिये भी इसी संज्ञा का प्रयोग किया गया। हम भी भविष्य में जर्मनी के पक्ष के विरोधी मित्रपक्ष के लिये 'संयुक्त-राष्ट्र' संज्ञा का ही प्रयोग करेंगे। इन २६ राष्ट्रों में अनेक ऐसे भी थे, जो १९४२ में जर्मनी द्वारा आक्रान्त हो चुके थे, पर उनकी आजाद सरकारों का संगठन उनके राज्य-क्षेत्र से बाहर अन्यत्र कर लिया गया था। बाद में जनवरी, १९४३ तक मेक्सिको, फिलिप्पीन, ब्राजील, अबीसीनिया और बोलिविया भी संयुक्त-राष्ट्रों में सम्मिलित हो गये थे। इन राष्ट्रों द्वारा की गई घोषणा में इन सब ने यह प्रतिज्ञा की थी, कि वे अपनी समग्र आर्थिक व सैन्यशक्ति का प्रयोग त्रिपक्षीय पैक्ट में सम्मिलित राज्यों के विरोध के लिये करेंगे, एक दूसरे के साथ सहयोग करेंगे और शत्रु-राज्यों से पृथक् रूप से कोई सन्धि नहीं करेंगे।

मास्को घोषणा—१९४२ के प्रारम्भ में २६ संयुक्त-राष्ट्रों द्वारा की गई घोषणा का प्रयोजन युद्ध काल में परस्पर सहयोग द्वारा शत्रु-राज्यों को परास्त करने का निश्चय करना था। पर इस काल में भी संयुक्त-राष्ट्र इस प्रश्न पर विचार-विमर्श करने में तत्पर थे, कि युद्ध की समाप्ति पर शान्ति की स्थापना किस ढंग से की जायगी और विश्व की नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा। जो राष्ट्र संयुक्त होकर जर्मनी, इटली और जापान को परास्त करने में तत्पर थे, उनका संगठन युद्ध की समाप्ति पर भी कायम रहना चाहिये, यह विचार भी इसी समय विकसित होना प्रारम्भ हो गया था। अक्टूबर, १९४३ में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन के परराष्ट्र-मन्त्री मास्को में एकत्र हुए, और १ नवम्बर के दिन उन्होंने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि जहाँ तक सम्भव हो शीघ्र ही एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण होना चाहिए, जो शान्ति चाहने वाले सब राज्यों की स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्त पर आश्रित हो और जिसमें अन्य सब राज्यों को चाहे वे छोटे हों या बड़े हों—सम्मिलित होने का अवसर रहे, ताकि विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित रह सके। मास्को में एकत्र इन राजनीतिज्ञों ने यह भी निश्चय किया, कि लण्डन में एक यूरोपियन परामर्शदाता कमीशन (European Advisory Commission) की स्थापना की जाए, जो यूरोप की समस्याओं के सम्बन्ध

में विचार-विमर्श करता रहे।

मास्को में अन्य भी अनेक निर्णय किये गये, जिनमें आस्ट्रिया के सम्बन्ध में की गई घोषणा महत्त्वपूर्ण थी। इसमें कहा गया था, कि १५ मार्च, १९३८ को आस्ट्रिया और जर्मनी का जो एकीकरण किया गया था, वह जर्मनी की जबर्दस्ती का परिणाम था, अतः उसे रद्द समझा जायगा और आस्ट्रिया को एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य के रूप में पुनः स्थापित किया जायगा, और उस के प्रति परास्त देश का सा व्यवहार न कर एक स्वतन्त्र किये गये देश का सा व्यवहार किया जायगा। इसी प्रकार के निर्णय इटली और जर्मनी के सम्बन्ध में भी किये गये। यह निश्चय किया गया, कि फासिज्म का पूर्ण रूप से अन्त कर इटली में एक ऐसे लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जायगी, जिसमें सब को भाषण आदि द्वारा अपने विचार प्रगट करने की स्वतन्त्रता होगी और सब कोई अपने विश्वासों के अनुसार पूजा आदि कर सकेंगे। जर्मनी के जिन लोगों ने भयंकर क्रूरताएँ की हैं, उन्हें समुचित दण्ड देने की बात का निश्चय भी मास्को कान्फरेन्स द्वारा ही किया गया था।

कैरो कान्फरेन्स—जापान के प्रति महायुद्ध की समाप्ति पर कैसा व्यवहार किया जाए, इस विषय पर कैरो की एक कान्फरेन्स में विचार-विमर्श किया गया (नवम्बर, १९४३) जिसमें रूजवेल्ट, चर्चिल और महासेनापति चियांक काई शेक सम्मिलित हुए। रूस ने अभी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की थी, अतः उसके प्रतिनिधि इस कान्फरेन्स में शामिल नहीं हुए थे। कैरो में किये गये निर्णय निम्नलिखित थे—१९१४ के बाद चीन के जिन प्रदेशों (मञ्चूरिया, फार्मूसा और पेस्काडोरस द्वीप-समूह के अनेक द्वीप) पर जापान ने बलपूर्वक अधिकार स्थापित किया है, वे सब चीन को वापस दे दिये जायेंगे, कोरिया की स्वतन्त्रता की पुनः स्थापना की जायगी, और द्वितीय महायुद्ध में पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन देशों व द्वीपों को जापान ने अपने अधीन कर लिया है, उन सब से उसे बहिष्कृत कर दिया जायगा।

तेहरान कान्फरेन्स—यह कान्फरेन्स भी नवम्बर, १९४३ में हुई थी, और इसमें रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन सम्मिलित हुए थे। यह पहला अवसर था, जब कि रूस के कर्ता धर्ता स्टालिन ने भी अमेरिका और ब्रिटेन के प्रधान राजनीतिक नेताओं के साथ मिलकर महायुद्ध की समस्याओं पर विचार विमर्श किया था। इस कान्फरेन्स का मुख्य प्रयोजन उन योजनाओं को तैयार करना था, जिन द्वारा जर्मनी को परास्त किया जा सकता था। पर साथ ही इसमें कतिपय ऐसे निर्णय भी किये गये, जिनका सम्बन्ध विश्व की भावी व्यवस्था के साथ था। ऐसा एक निर्णय ईरान के विषय में था, जिस द्वारा तीनों नेताओं ने ईरान की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता, स्वतन्त्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता के प्रति अपना विश्वास प्रगट किया। जर्मनी को परास्त करने के लिये अन्य राज्यों के सहयोग की प्रार्थना की गई, और तुर्की को भी युद्ध में शामिल हो जाने के लिये कहा गया।

डम्बर्टन ओक्स कान्फरेन्स—द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर संयुक्त-राष्ट्रों के जिस नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया जायगा, उसके सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचार मास्को कान्फरेन्स में किया जा चुका था। २१ अगस्त, १९४४ को इसी विषय पर अधिक विशद रूप से विचार करने के प्रयोजन से अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन के समीप डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान पर एक अन्य कान्फरेन्स की गई, जिसमें एक बार फिर अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इसके अधिवेशन ७ अक्टूबर तक होते रहे, और उनमें शान्ति और सुरक्षा के लिये निर्मित किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूपरेखा तैयार की गई। यह निश्चय किया गया, कि इस संगठन में भी एसेम्बली, कौंसिल, केन्द्रीय सचिवालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सत्ता रहे। इन संस्थाओं का रूप प्रायः वही था, जो कि राष्ट्रसंघ की संस्थाओं का था। पर इनके अतिरिक्त दो नई संस्थाओं के निर्माण का भी प्रस्ताव किया गया, आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल और सैनिक स्टाफ कमेटी। राष्ट्रसंघ की अधीनता में किसी पृथक् आर्थिक और सामाजिक कौंसिल की सत्ता नहीं थी। इन मामलों पर प्रायः संघ के सचिवालय द्वारा ही विचार किया जाता था। सैनिक स्टाफ कमेटी के निर्माण का विचार नवीन था। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व फ्रांस इस बात पर जोर देता रहा था, कि राष्ट्रसंघ के पास एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस या सेना अवश्य होनी चाहिए, जिसे 'आक्रान्ता' राज्य के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सके। पर तब ब्रिटेन आदि अन्य राज्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया था। पर द्वितीय महायुद्ध के अनुभवों ने इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सेना की आवश्यकता को प्रबल रूप से राज्यों के सम्मुख ला दिया था, और इसी कारण डम्बर्टन ओक्स कान्फरेन्स में ऐसी सैनिक स्टाफ कमेटी के विचार का घोर विरोध नहीं हुआ, जो आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न राज्यों की सैन्यशक्ति मे सहयोग स्थापित करने का कार्य कर सके। पर इस कमेटी के विषय में कोई सर्वसम्मत योजना भी इस कान्फरेन्स द्वारा प्रस्तुत नहीं की जा सकी।

डम्बर्टन ओक्स कान्फरेन्स में सब से अधिक मतभेद वीटो के प्रश्न पर हुआ। रूस यह चाहता था, कि उसे नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के किसी भी निर्णय को वीटो कर सकने का अधिकार प्राप्त रहे। उसका कहना था, कि इस संगठन में पूंजीवादी राज्यों की बहुसंख्या रहेगी, और वे ऐसे निर्णय कर सकने में समर्थ रहेंगे जो रूस व अन्य समाजवादी राज्यों के हित में न हो। अतः यह आवश्यक है कि वीटो के अधिकार को स्वीकार किया जाए। अपने मत के पक्ष में उसकी यह युक्ति थी, कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तभी सफल हो सकता है, जब कि उसके निर्णय सब प्रमुख राज्यों को स्वीकार्य हों। शान्ति स्थापित रखने के लिये यह आवश्यक है। अमेरिका और ब्रिटेन वीटो के अधिकार के विरोधी नहीं थे, पर उनका यह कथन था कि कोई राज्य इस अधिकार का प्रयोग केवल ऐसे मामलों में ही कर सके जिनका उसके साथ सीधा सम्बन्ध हो। इस मतभेद का ही यह परिणाम हुआ, कि डम्बर्टन ओक्स कान्फरेन्स नये

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विषय में कोई अन्तिम निर्णय नहीं कर सकी, और उसने यह कार्य भविष्य के लिये छोड़ दिया। यह निश्चय किया गया, कि एप्रिल, १९४५ में संयुक्त-राष्ट्रों की एक कान्फरेन्स सन फ्रांसिस्को में आयोजित की जाए, जो डम्बर्टन ओक्स में हुए विचार-विमर्श के आधार पर नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त-राष्ट्रसंघ) के निर्माण पर विशद रूप से विचार करे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि संयुक्त-राष्ट्रसंघ की रूपरेखा डम्बर्टन-ओक्स में ही तैयार कर ली गई थी।

याल्टा कान्फरेन्स—फरवरी, १९४५ में काला सागर के तटवर्ती क्रीमिया के याल्टा नगर में एक अन्य कान्फरेन्स हुई, जिसमें रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन सम्मिलित हुए। इस समय तक महायुद्ध में जर्मनी की पराजय प्रारम्भ हो चुकी थी, और संयुक्त-राष्ट्रों को अपनी विजय के दिन नजर आने लग गये थे। अतः वे महायुद्ध की समाप्ति पर की जाने वाली नई व्यवस्था के सम्बन्ध में अधिक भरोसे के साथ विचार-विमर्श कर सकते थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में भी इस समय विचार किया गया, और यह निर्णय हुआ कि २५ एप्रिल, १९४५ को सन फ्रांसिस्को में जिस कान्फरेन्स का आयोजन किया जा रहा है, उस मे सम्मिलित होने के लिये उन सब राज्यों को निमन्त्रित किया जाए जिन्होंने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित किया हुआ है। युक्रेनिया और श्वेत रूस (White Russia) को भी इस में पृथक् रूप से निमन्त्रित किया जाए, यद्यपि ये दोनों राज्य सोवियत रूसी संघ के अन्तर्गत थे। सन फ्रांसिस्को की कान्फरेन्स संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान को अन्तिम रूप से तैयार करे, पर उसमें अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और चीन को संघ की सुरक्षा परिषद् (Security Council) की सदस्यता स्थायी रूप से प्रदान की जाए, और इन राज्यों को परिषद् में वीटो का अधिकार भी प्राप्त रहे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में किये गये इस महत्त्वपूर्ण निर्णय के अतिरिक्त जो अन्य निर्णय याल्टा कान्फरेन्स द्वारा किये गये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) यूरोप के विविध राज्य जब नाजी तथा फासिस्ट दासता से मुक्त हो जायेंगे, तो उनका अटलान्टिक चार्टर में प्रतिपादित सिद्धान्तों व आदर्शों के अनुसार पुनर्निर्माण किया जायगा। उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, कि वे लोकतन्त्रवाद के आधार पर अपनी सरकारों का निर्माण कर सकें। नाजी और फासिस्ट शासकों द्वारा इन राज्यों की जनता की जो स्वतन्त्रता अपहरण कर ली गई है, वह उन्हें पुनः प्राप्त करा दी जायगी। (२) जर्मनी की सेना को भंग कर दिया जायगा, उसके सब अस्त्र-शस्त्र छीन लिये जायेंगे या नष्ट कर दिये जायेंगे, और युद्ध के लिये जो व्यक्ति जिम्मेदार हैं या जिन्होंने युद्ध सम्बन्धी अपराध किये हैं या नृशंस क्रूरता प्रदर्शित की है, उन पर मुकदमे चलाये जायेंगे। इन मुकदमों की व्यवस्था अमेरिका, रूस और ब्रिटेन के परराष्ट्र-मन्त्रियों द्वारा यथासमय की जायगी। (३) जर्मनी ने अन्य देशों का जिस ढंग से विनाश किया है, उसके लिये उससे हरजाना वसूल किया जायगा, और इसका आधा भाग रूस को प्रदान किया जायगा। यह हरजाना नकद

धनराशि के रूप में न होकर जर्मनी के कल-कारखानों, मशीनरी, अन्य सामग्री तथा जर्मन लोगों के श्रम के रूप में होगा। (४) पोलैण्ड को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में पुनः स्थापित किया जाए। १९१९ में लिथुएनिया और पोलैण्ड की सीमा को निर्धारित करने के लिये जिस कर्जन लाइन का विनिश्चय किया गया था, वही कुछ परिवर्तनों के साथ पोलैण्ड की पश्चिमी सीमा मानी जाए, और इन परिवर्तनों के कारण पोलैण्ड को जो क्षति उठानी पड़े, उसकी पूर्ति के लिये जर्मनी का कुछ प्रदेश उसे प्रदान कर दिया जाए। (५) युगोस्लाविया की भी पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में पुनःस्थापना की जाए, और वहाँ की सरकार का संगठन मार्शल टीटो की योजना के अनुसार किया जाए। जर्मनी द्वारा युगोस्लाविया के जीत लेने पर टीटो ने लण्डन में आजाद युगोस्लाव सरकार का संगठन कर लिया था (१९४३), और यह सरकार जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में संयुक्त-राष्ट्रों के साथ सहयोग कर रही थी। टीटो की योजना यह थी, कि युगोस्लाविया के नये संविधान का निर्माण करने के लिये एक संविधान परिषद् का संगठन किया जाए, जिसके सदस्यों का चुनाव वयस्क स्त्री पुरुषों के वोटों द्वारा हो। (६) जब यूरोप में युद्ध का अन्त हो जाए, तो रूस भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे। पर जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने के बदले में रूस को कतिपय महत्त्वपूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने का भी निर्णय किया गया। ये सुविधाएँ दक्षिणी सखालिन और उसके समीपवर्ती द्वीपों को जापान से लेकर रूस को प्रदान करने, पोर्ट आर्थर के नाविक अड्डे पर रूस के अधिकार की पुनःस्थापना और दक्षिणी मञ्चूरिया रेलवे के स्वामित्त्व में रूस के भाग की स्वीकृति के रूप में थीं।

सन फ्रांसिस्को कान्फरेन्स—याल्टा कान्फरेन्स के निर्णय के अनुसार एप्रिल, १९४५ में सन फ्रांसिस्को में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसकी बैठकें २५ एप्रिल से २६ जून तक होती रहीं। इस कान्फरेन्स में ५० राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए, जिन्होंने गम्भीर विचार-विमर्श के पश्चात् संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को स्वीकार किया। इस कान्फरेन्स का प्रधान कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान का निर्माण करना ही था। जो राज्य प्रारम्भ में ही इस संघ के सदस्य बन गये, उनकी संख्या ५१ थी। पोलैण्ड के प्रतिनिधियों को सन फ्रांसिस्को कान्फरेन्स में आमन्त्रित नहीं किया गया था, क्योंकि उसकी सरकार को अभी मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। पर उसके प्रतिनिधि ने भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर किये थे, और पोलैण्ड भी संघ के प्रारम्भिक सदस्यों में से एक था।

चौदहवाँ अध्याय

परास्त देशों के साथ सन्धियाँ

(१) पोट्सडम कान्फरेन्स

महायुद्ध में जब जर्मन पक्ष की पराजय प्रारम्भ हो गई, तो इस प्रश्न ने अत्यन्त महत्त्व प्राप्त कर लिया कि परास्त राज्यों के प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, और जर्मनी तथा इटली की अधीनता से जो देश मुक्त किये जा रहे हैं, उनकी क्या व्यवस्था की जाए। संयुक्त-राष्ट्रों की इस सम्बन्ध में यह नीति थी कि जर्मनी और इटली को बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण के लिये विवश किया जाए। जर्मनी और इटली के अतिरिक्त हंगरी, रूमानिया, बल्गारिया और फिनलैण्ड भी संयुक्त-राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई में व्यापृत थे। जर्मनी ने यूरोप में जो नई व्यवस्था कायम की थी, ये राज्य उसके प्रभाव में आ गये थे और महायुद्ध में इन्होंने जर्मनी का साथ दिया था। सितम्बर, १९४४ में इटली, बल्गारिया और फिनलैण्ड ने संयुक्त-राष्ट्रों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया था, और जनवरी, १९४५ में हंगरी ने। इन सब राज्यों में सामयिक सरकारें स्थापित कर दी गई थीं, और उन पर नियन्त्रण रखने के लिये संयुक्त राष्ट्रों द्वारा दो संस्थाएँ स्थापित की गई थीं—(१) सैनिक सरकार (Allied Military Government)—यह इटली सदृश परास्त राज्यों से जर्मन सैनिकों को निकालने तथा वहाँ संयुक्त राष्ट्रों का सैनिक प्रभुत्व स्थापित करने का कार्य करती थी, और उन प्रदेशों का शासन भी करती थी जहाँ अभी पूर्णतया शान्ति कायम नहीं हुई थी। (२) नियन्त्रण कमीशन (Allied Control Commission)—इसका कार्य परास्त राज्यों की सामयिक सरकारों पर देख रेख रखना था। इटली में स्थापित इन संस्थाओं में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया था, पर इन द्वारा किये जाने वाले निर्णयों पर वोट देने का अधिकार केवल अमेरिका और ब्रिटेन को दिया गया था। इन संस्थाओं के निर्माण तथा कार्यनीति के सम्बन्ध में यह विचार काम में लाया जा रहा था, कि जो राज्य जिस प्रदेश को जर्मनी के प्रभुत्व से मुक्त कराएँ, उसका शासन उन्हीं के हाथों में रहे। इसीलिये बल्गारिया, फिनलैण्ड, रूमानिया और हंगरी के लिये जो संस्थाएँ स्थापित की गई थीं, उनमें ब्रिटेन और अमेरिका को ही वोट का अधिकार दिया गया था।

७ मई, १९४५ को जर्मनी ने भी आत्मसमर्पण कर दिया, और यूरोप में महायुद्ध का अन्त हो गया। अब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि परास्त राज्यों के साथ किन

शर्तों पर सन्धियाँ की जाएँ, और यूरोप की नई व्यवस्था का क्या रूप हो। इसी पर विचार करने के लिये १७ जुलाई, १९४५ के दिन संयुक्त-राष्ट्रों के प्रधान नेता बर्लिन के समीप पोट्सडम नामक नगर में एकत्र हुए। ये नेता ट्रूमैन, एटली, स्टालिन और चियांग काई शेक थे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो जाने पर उपराष्ट्रपति ट्रूमैन ने राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर लिया था, और १९४५ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट का जो नया चुनाव हुआ था उसमें मजदूर पार्टी की विजय हो जाने के कारण एटली ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बन गये थे। इन नेताओं ने पोट्सडम में उस नीति का निर्धारण किया, जिसके अनुसार जर्मनी और उसके सहयोगी राज्यों के साथ सन्धियाँ की जानी थीं। पोट्सडम कान्फरेन्स के मुख्य निर्णय निम्नलिखित थे—

(१) शान्ति-समझौतों के सम्बन्ध में आवश्यक प्रारम्भिक तैयारी करने के लिये परराष्ट्र-मन्त्रियों की एक कौंसिल का निर्माण किया जाए, जिसकी पहली बैठक १ सितम्बर, १९४५ को लण्डन में हो, और बाद में अन्यत्र भी इस कौंसिल की बैठकें हो सकें। इस कौंसिल का स्थायी कार्यालय लण्डन में रहे, और यह उन सन्धियों का प्रारूप तैयार करे, जो जर्मनी, इटली, रूमानिया, बल्गारिया, हँगरी और पोलैण्ड के साथ की जायेंगी। यह कौंसिल उन प्रदेशों के सम्बन्ध में भी प्रस्ताव प्रस्तुत करे, जो इन परास्त राज्यों की अधीनता से मुक्त किये गये हैं।

(२) जर्मनी के प्रति व्यवहार में निम्नलिखित सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाए—(१) उसे अस्त्र-शस्त्रों से विरहित कर दिया जाए, और उसकी सेना को भंग कर दिया जाए। (२) नाजी व्यवस्था का अन्त कर नाजियों द्वारा निर्मित सब कानूनों को अवैध घोषित कर दिया जाए। (३) जर्मनी में फिर से लोकतन्त्रवाद पर आधारित शासन स्थापित किया जाए। (४) महायुद्ध के लिये जर्मनी से हरजाना भी वसूल किया जाए, और इसकी मात्रा छः मास के अन्दर-अन्दर निर्धारित कर दी जाये। पर हरजाने की मात्रा इतनी अधिक न हो, कि उससे जर्मनी का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाए। भविष्य में जर्मनी का आर्थिक जीवन इस प्रकार का हो, कि वह न अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध सामग्री बना सके और न जंगी जहाजों तथा जंगी वायुयानों का निर्माण कर सके। (५) राजनीतिक दृष्टि से जर्मनी को चार भागों में विभक्त किया जाए—(क) पूर्वी प्रशिया का उत्तरी भाग रूस के अधिकार-क्षेत्र में रहे। (ख) जब तक पोलैण्ड की पश्चिमी सीमा का अन्तिम रूप से निर्णय न हो जाए, पूर्वी प्रशिया का दक्षिणी भाग तथा ओडर-नीस लाइन के पूर्वी प्रदेश पोलैण्ड की अधीनता में रखे जाएँ। (ग) जर्मनी के शेष प्रदेश अमेरिका और ब्रिटेन के अधिकार-क्षेत्र में रहे। बाद में फ्रांस को भी इस अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया। (६) पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और हंगरी में जो जर्मन लोग आबाद हैं, उन्हें सुव्यवस्थित ढंग से जर्मनी में बसाया जाए। (७) रूस को जर्मनी से जो हरजाना प्राप्त करना है, उसे वह अपने अधिकार-क्षेत्र के जर्मन प्रदेश से प्राप्त करे। इसी प्रकार अमेरिका, ब्रिटेन

और फ्रांस भी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों से हरजाने की राशि को प्राप्त करें। (८) जर्मनी के जंगी तथा अन्य जहाजों को संयुक्त-राष्ट्रों में विभक्त कर दिया जाए (९) जर्मनी के विविध प्रदेशों पर जो रूस आदि के अधिकार-क्षेत्र कायम किये जाएँ, उनके नियन्त्रण के लिये तथा उनमें सहयोग स्थापित करने के प्रयोजन से एक कौंसिल को स्थापना की जाए, जिसमें सब प्रमुख संयुक्त-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को स्थान प्राप्त रहे।

(३) जापान से युद्ध का अभी अन्त नहीं हुआ था। पर उसे परास्त कर जब आत्मसमर्पण के लिये विवश किया जाए, तो उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ निर्धारित की गई—(१) जापान की सैनिक शक्ति को पूर्णतया नष्ट कर दिया जाए और साथ ही उन तत्त्वों का विनाश कर दिया जाए, जिन्होंने कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपने प्रभुत्त्व की स्थापना के लिये युद्ध का आश्रय लिया था। (२) जब तक कि ये तत्त्व पूर्णतया नष्ट न कर दिये जाएँ, संयुक्त-राष्ट्रों का जापान पर सैनिक कब्जा कायम रखा जाए। (३) जापान का प्रभुत्त्व केवल उसके अपने राज्यक्षेत्र तक ही सीमित रहे। (४) जापान की सरकार का लोकतन्त्रवाद के आधार पर पुनः संगठन किया जाए, और वहाँ के नागरिकों को वे सब अधिकार प्राप्त हों जिन्हें कि नागरिक स्वतन्त्रता के आधारभूत अधिकार माना जाता है। (५) जब जापान में लोकतन्त्र शासन स्थापित हो जाए, तो संयुक्त-राष्ट्रों की सेनाएँ वहाँ से हटा ली जाएँ। क्योंकि जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर देने से इनकार कर दिया था, अतः यह भी निश्चय किया गया कि उसके विरुद्ध युद्ध के सभी साधनों का उपयोग किया जाए। इसीलिये उसके अन्यतम नगर हीरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम्ब गिराये गये, जिससे विवश होकर १० अगस्त, १९४५ को जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया।

(४) पोट्सडम में अन्य भी अनेक निर्णय किये गये, जिनमें टैंजियर को अन्तर्राष्ट्रीय बनाये रखना, ईरान से संयुक्त-राष्ट्रों की सेनाओं को हटा लेना, आस्ट्रिया से हरज़ाना वसूल न करना और बल्गारिया, इटली, रूमानिया, हंगरी और फिनलैण्ड से पृथक् सन्धियाँ कर इन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लेना आदि महत्त्वपूर्ण थे।

लण्डन में परराष्ट्रमन्त्री कौंसिल का अधिवेशन—परास्त राज्यों के साथ की जाने वाली सन्धियों का प्रारूप तैयार करने के लिये पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा परराष्ट्र-मन्त्रियों की जिस कौंसिल का निर्माण किया गया था, उसके अधिवेशन ११ सितम्बर, १९४५ को लण्डन में प्रारम्भ हुए। इसमें बेविन (ब्रिटेन), बिरेन्स (अमेरिका), बिदॉल (फ्रांस), मोलोटोव (रूस) और वांग शिह चिएह (चीन) सम्मिलित हुए। सबसे पूर्व इस कौंसिल ने इटली के साथ की जाने वाली सन्धि पर विचार किया। यद्यपि महायुद्ध में रूस संयुक्त-राष्ट्रों में सम्मिलित था, पर सन्धि और शान्ति के प्रश्न पर ब्रिटेन और अमेरिका से उसके घोर विरोध प्रगट हुए। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि कम्युनिस्ट रूस का पूँजीवादी राज्यों से ऐकमत्य हो सकना सुगम नहीं था। जिन

प्रश्नों पर रूस और अन्य राज्यों में मतभेद था, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) इटली और युगोस्लाविया के बीच की सीमा का प्रश्न—रूस की माँग थी कि इटली और युगोस्लाविया की सीमा पर स्थित त्रिएस्त और फियूम के प्रदेश युगोस्लाविया के अन्तर्गत किये जाने चाहिएँ। इस समय तक युगोस्लाविया में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी, अतः स्वाभाविक रूपसे रूस इन प्रदेशों को अपने मित्र-राज्य में सम्मिलित कराना चाहता था। पर अमेरिका और ब्रिटेन इसके विरुद्ध थे। (२) अफ्रीका में इटली की अधीनता से मुक्त प्रदेशों में लीबिया भी एक था। रूस उस पर अपनी ट्रस्टीशिप स्थापित करना चाहता था। पर ब्रिटेन और अमेरिका इससे सहमत नहीं थे।

इस समय तक पूर्वी यूरोप के अनेक राज्यों के साथ रूस इस ढंग की सामयिक सन्धियाँ कर चुका था, जिनसे इस क्षेत्रमें रूस की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। ब्रिटेन और अमेरिका का प्रयत्न था, कि इन सन्धियों को स्थायी रूप प्रदान न किया जाए और इनमें आवश्यक परिवर्तन किये जाएँ। पर रूस को यह स्वीकार्य नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि इटली के साथ की जाने वाली सन्धि की शर्तों पर ही रूस का अन्य राष्ट्रों से मतभेद हो गया, और लण्डन की कौंसिल सफल नहीं हो सकी।

मास्को में परराष्ट्रमन्त्री कौंसिल का अधिवेशन—परराष्ट्रमन्त्रियों की कौंसिल के अधिवेशन १६ दिसम्बर, १९४५ को मास्को में फिर प्रारम्भ हुए। इसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई, और इसमें निम्नलिखित निर्णय किये गये—(१) इटली के साथ की जाने वाली सन्धि का प्रारूप अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस के परराष्ट्रमन्त्रियों द्वारा तैयार किया जाए। (२) रूमानिया, बल्गारिया और हंगरी के साथ की जाने वाली सन्धियों के प्रारूप ब्रिटेन, अमेरिका और रूस के परराष्ट्रमन्त्री तैयार करें। (३) फिनलैण्ड के साथ की जानेवाली सन्धि का प्रारूप ब्रिटेन और रूस के परराष्ट्र-मन्त्रियों द्वारा तैयार किया जाए। (४) जब इन सब सन्धियों के प्रारूप तैयार हो जाएँ, तो उन्हें एक ऐसी कान्फरेन्स के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जाए, जिसमें उन सब राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों जिन्होंने कि जर्मन पक्ष के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। (५) एक सुदूर पूर्व कमीशन (Far Eastern Commission) की स्थापना की जाए, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, चीन, फ्रांस, हालैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, भारत और फिलिप्पीन को प्रतिनिधित्व प्राप्त रहे। साथ ही, मित्र-पक्ष की एक कौंसिल (Allied Council) का भी निर्माण किया जाए, जिसमें ब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीन को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इन संस्थाओं का कार्य जापान तथा उस द्वारा अधिगत प्रदेशों की व्यवस्था करना और सुदूर पूर्व में संयुक्त-राष्ट्रों द्वारा नियुक्त सर्वोच्च सेनापति (Supreme Commander) के कार्यकलाप का निरीक्षण करना था। (६) कोरिया की व्यवस्था करने के लिये अमेरिका और रूस के एक संयुक्त कमीशन की नियुक्ति की जाए, जो वहाँ की लोकतन्त्रवादी पार्टियों से विचार-विमर्श कर ऐसी

सिफारिशें करे, जिन द्वारा कोरिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन स्थापित हो सके। (७) चीन की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता और राष्ट्रीय स्वाधीनता को स्वीकार किया जाए, और शीघ्र ही रूस तथा अमेरिका वहाँ से अपनी सेनाएँ वापस बुला लें। (८) शीघ्र ही रूमानिया में नया चुनाव करा के वहाँ लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जाए। (९) आणविक शक्ति के प्रयोग को नियन्त्रित करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाए, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में काम करे।

मास्को कौंसिल के निर्णय के अनुसार परराष्ट्रमन्त्रियों की कौंसिल के अगले अधिवेशन लण्डन में हुए (२५ एप्रिल-१६ मई, १९४६)। जिनमें इटली, बल्गा-रिया, हंगरी, रूमानिया और फिनफैण्ड के साथ की जाने वाली सन्धियों के प्रारूप तैयार करने का कार्य प्रारम्भ किया गया। इस कार्य को पेरिस में (१५ जून-१२ जुलाई, १९४६) पूर्ण किया गया।

(२) परास्त देशों के साथ की गई सन्धियाँ

परराष्ट्रमन्त्रियों की कौंसिल द्वारा इटली, बल्गारिया, हंगरी, रूमानिया और फिनलैण्ड के साथ की जाने वाली सन्धियों के जो प्रारूप तैयार किये गये थे, उनको अन्तिम रूप से स्वीकृत करने के प्रयोजन से पेरिस में शान्ति परिषद् का आयोजन किया गया (२९ जुलाई-१५ अक्टूबर, १९४६), जिसमें २१ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस परिषद् के सब निर्णय दो तिहाई बहुमत द्वारा किये गये।

इटली के साथ सन्धि (१० फरवरी, १९४७)—इस सन्धि द्वारा इटली के अनेक प्रदेश उसके राज्यक्षेत्र से लेकर फ्रांस और युगोस्लाविया को दे दिये गये, और उसकी अधीनता में विद्यमान कतिपय द्वीप ग्रीस और अल्बानिया को। अबीसीनिया को इटली के प्रभुत्व से मुक्त कर एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, और अफ्रीका महाद्वीप में जो अनेक प्रदेश इटली की अधीनता में थे उनके सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ को दे दिया गया। त्रिएस्त और उसके समीप के प्रदेश को एक स्वतन्त्र क्षेत्र (Free Territory) के रूप में परिणत कर दिया गया। इस सन्धि से न केवल इटली के अपने राज्यक्षेत्र में कमी की गई, अपितु अफ्रीका में उसका जो साम्राज्य था उसका भी अन्त कर दिया गया। १९५१ में लीबिया स्वतन्त्र हो गया, और १९६० में सोमालीलैण्ड। इटली पर हरजाने की भी एक भारी मात्रा लाद दी गई, और उसकी सैन्यशक्ति में भी कमी की गई।

बल्गारिया के साथ सन्धि—इस सन्धि द्वारा यह निश्चय किया गया, कि बल्गारिया की सीमाएँ वही हों, जो १ जनवरी, १९४१ को थीं, उसकी सेना में ५५,००० से अधिक सैनिक न रह सकें, और वह ४,५०,००० डालर ग्रीस को और २,५०,००,००० डालर युगोस्लाविया को हरजाने के रूप में प्रदान करे।

हंगरी के साथ सन्धि—(१) ट्रांसलवेनिया का प्रदेश हंगरी से लेकर रूमा-निया को प्रदान किया जाए। (२) स्लोवाकिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को दिया

जाए। (३) हंगरी की स्थल सेना के सैनिकों की संख्या ६५,००० से अधिक न हो। (४) हरजाने की एक भारी मात्रा वह रूस और चेकोस्लोवाकिया को प्रदान करे।

रूमानिया के साथ सन्धि—इस सन्धि द्वारा बस्सेरेबिया और उत्तरी बुकेविना के प्रदेश रूमानिया से लेकर रूस को दिये गये, और दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश बलगारिया को। रूमानिया की सैन्यशक्ति में भी कमी की गई, और उस पर हरजाने की एक भारी मात्रा लाद दी गई।

फिनलैंण्ड के साथ सन्धि—(१) पोत्सामो का प्रदेश फिनलैण्ड से लेकर रूस को प्रदान किया गया। (२) हेलसिन्की के पश्चिम में स्थित पोर्कला-उद्द पर भी रूस के अधिकार को स्वीकार किया गया। इस स्थान पर महायुद्ध के समय में रूस ने अपना नाविक अड्डा बना लिया था। फिनलैण्ड की सेना में भी कमी की गई, और उसे भी हरजाने की एक भारी रकम रूस को प्रदान करना स्वीकार करना पड़ा।

(३) जर्मनी और आस्ट्रिया की व्यवस्था

इटली, बलगारिया, हंगरी, रूमानिया और फिनलैण्ड के साथ सन्धियाँ करने में संयुक्त-राष्ट्रों को विशेष कठिनाई नहीं हुई थी, पर जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या अधिक जटिल थी, क्योंकि इनके सम्बन्ध में रूस और अन्य संयुक्त-राष्ट्रों में भारी मतभेद था। महायुद्ध में जर्मनी के आत्मसमर्पण कर देने पर शासन की दृष्टि से जर्मनी को सामयिक रूप से चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। पूर्वी जर्मनी पर रूसी सेनाओं का कब्जा था, और पश्चिमी जर्मनी में अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन के तीन अधिकार-क्षेत्रों की सत्ता थी, जिनमें उनकी सेनाएँ भी विद्यमान थीं। जर्मनी के चारों भागों की सरकारें पृथक् अवश्य थीं, पर सम्पूर्ण देश की समस्याओं पर विचार करने के लिये एक केन्द्रीय नियन्त्रण समिति (Allied Control Commission) की भी स्थापना कर दी गई थी, जिसमें चारों राज्यों के वे चार सेनापति सदस्य रूप में रहते थे जिनकी नियुक्ति जर्मनी के चारों भागों पर शासन करने के लिये की गई थी। जर्मनी के समान उसकी राजधानी बर्लिन को भी चार भागों में विभक्त कर दिया गया था, और ये भाग भी अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के शासन में दे दिये गये थे। महायुद्ध के परिणामस्वरूप न जर्मनी में राजनीतिक एकता रह गई थीं, और न आर्थिक एकता। वह चार शासन-क्षेत्रों में विभक्त हो गया था, और उन पर कब्जा किये हुए राज्यों की शासन नीति में भी बहुत अन्तर था। रूस के अधिकार-क्षेत्र में विद्यमान पूर्वी जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति में वृद्धि होती जा रही थी, और वहाँ कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित की जा रही थी। क्योंकि पश्चिमी जर्मनी के तीनों भाग पूँजीवादी लोकतन्त्र राज्यों के शासन में थे, अतः उनमें कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति नगण्य थी।

जर्मनी के सम्बन्ध में रूस की नीति अन्य संयुक्त-राष्ट्रों से बहुत भिन्न थी रूस चाहता था कि सम्पूर्ण जर्मनी को राजनीतिक दृष्टि से एक करके उसे शक्तिशाली बनाया जाए, और जर्मनी में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो, ताकि उसे आधार बनाकर

पश्चिमी यूरोप में अन्यत्र भी कम्युनिज्म का प्रसार किया जा सके। पर ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका इसके विरुद्ध थे। वे जर्मनी को कम्युनिज्म से बचाये रखने के लिये कटिबद्ध थे। अन्य संयुक्त-राष्ट्रों से रूस का मतभेद होने के कारण परराष्ट्र-मन्त्रियों की कौंसिल जर्मनी के सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्णय नहीं कर सकी, जो सबको स्वीकार्य हो। परिणाम यह हुआ, कि पूर्वी जर्मनी पर रूस का प्रभाव बढ़ता गया, और वह पूर्ण रूप से एक कम्युनिस्ट राज्य बन गया। साथ ही, पश्चिमी जर्मनी के तीनों भागों में आर्थिक सहयोग में निरन्तर वृद्धि होती गई, और उन्होंने यह आवश्यक समझा कि पश्चिमी जर्मनी को एक सुसंगठित तथा शक्तिशाली राज्य के रूप में परिणत कर दिया जाए, जहाँ पूंजीवाद पर आधारित लोकतन्त्र शासन कायम हो और जो पश्चिमी यूरोप में कम्युनिज्म के प्रवेश का प्रतिरोध कर सके। इसी लिये २० मई, १९४९ के दिन पश्चिमी जर्मनी के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया गया, जिसका स्वरूप संघर्गात्मक (फिडरल) था। नये संविधान द्वारा जर्मन फिडरल रिपब्लिक की स्थापना की गई, जिसका राजधानी बॉन को बनाया गया। इस प्रकार पश्चिमी जर्मन में जिस नई सरकार का निर्माण हुआ, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की दृष्टि में वही सम्पूर्ण जर्मनी की वैध सरकार है। सितम्बर, १९५१ में इन राज्यों ने बॉन को जर्मनी फिडरल रिपब्लिक की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता को स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया, कि वहाँ से अपने सैनिक कब्जे का अन्त कर दें। इस जर्मन सरकार से उन्होंने एक पृथक् सन्धि भी कर ली (२६ मई, १९५२), जिसके कारण जर्मनी से युद्ध की स्थिति का अन्त हो गया।

रूस द्वारा पूर्वी जर्मनी में जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक की स्थापना की गई, और उसने इस रिपब्लिक की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता को स्वीकार कर लिया। रूस तथा अन्य कम्युनिस्ट राज्यों की दृष्टि में यही सम्पूर्ण जर्मनी की वैध सरकार है। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में पश्चिमी जर्मनी की फिडरल रिपब्लिक को ही स्थान प्राप्त है, पूर्वी जर्मनी की सरकार को नहीं।

जर्मनी के आत्मसमर्पण से पहले ही एप्रिल, १९४५ में रूसी सेनाएँ आस्ट्रिया में प्रविष्ट हो गयी थीं, और वहाँ की नाजी पार्टी के विरोधियों ने डा० रेनर के नेतृत्व में अपनी स्वतन्त्र सरकार का संगठन कर लिया था (२९ एप्रिल, १९४५)। रूस ने इस सरकार की वैध सत्ता को मान्यता भी प्रदान कर दी थी। पर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस का विचार था, कि जर्मनी के समान आस्ट्रिया को भी चार अधिकार-क्षेत्रों में विभक्त किया जाए, और साथ ही उसकी राजधानी विएना को भी। पोट्सडम कान्फरेन्स के पश्चात् रूस को उनकी यह बात स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा, जिसके कारण आस्ट्रिया और विएना भी चार अधिकार-क्षेत्रों में विभक्त हो गये। यह दशा जुलाई, १९५५ तक कायम रही। इस बीच में परराष्ट्र-मन्त्रियों की कौंसिल आस्ट्रिया के सम्बन्ध में स्थायी व्यवस्था के लिये प्रयत्न करती रही। २७ जुलाई,

१९५५ के दिन संयुक्त राष्ट्रों ने आस्ट्रिया के साथ एक सन्धि कर ली, जिसके अनुसार इस राज्य की सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता और स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया गया, उस पर से विदेशी सेनाओं के कब्जे का अन्त कर दिया गया, और आस्ट्रिया ने यह वचन दिया, कि वह भविष्य में कभी जर्मनी के साथ राजनीतिक या आर्थिक संघ का निर्माण नहीं करेगा।

(४) जापान के साथ सन्धि

जापान में व्यवस्था स्थापित करने का प्रश्न विशेष महत्त्व का नहीं था, क्योंकि वहाँ साम्राट् की सरकार का व्यवस्थित शासन कायम था, और वहाँ राजनीतिक पार्टियों की भी कोई उग्र समस्या नहीं थी। विजेता संयुक्त-राष्ट्रों ने सम्राट् के शासन को कायम रखा, पर उस पर नियन्त्रण रखने और जापान की सैन्यशक्त को काबू में रखने की सब उत्तरदायिता जनरल मैक आर्थर को दे दी, जो प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्रों में संयुक्त-राष्ट्रों की सेनाओं के प्रधान सेनापति थे। उन्हें अपने कार्यों में परामर्श देने के लिये संयुक्त राष्ट्रों की कौंसिल नियुक्त की गई जिसे 'अलाइड कौंसिल आफ जापान' कहा जाता था (दिसम्बर, १९४५)। इस कौंसिल में अमेरिका, रूस, चीन और ब्रिटेन के प्रतिनिधि लिये गये। इस कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य कमीशन का भी निर्माण किया गया, जिसे 'सुदूर पूर्व कमीशन' कहते थे, और जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, भारत, कनाडा और फिलिप्पीन के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया गया था। इस कमीशन का कार्य यह था, कि जापान की अधीनता से मुक्त हुए देशों के सम्बन्ध में व्यवस्था करे। पर इस का कार्य सुगम नहीं था, क्योंकि कोरिया, विएत-नाम और चीन जैसे पूर्वी एशिया के देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों ने शक्ति प्राप्त कर ली थी, और इन के सम्बन्ध में की जानेवाली नई व्यवस्था के सम्बन्ध में रूस का अन्य संयुक्त-राष्ट्रों से तीव्र मतभेद था।

जापान के साथ की जाने वाली सन्धि के सम्बन्ध में सन फ्रांसिस्को की कान्फरेन्स में विचार किया गया (दिसम्बर, १९५१)। बरमा, भारत और युगोस्लाविया के प्रतिनिधि इस कान्फरेन्स में शामिल नहीं हुए, और चीन और कोरिया ने भी इसमें भाग नहीं लिया। सन फ्रांसिस्को कान्फरेन्स द्वारा जो निर्णय किये गये, उन्हें रूस, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड ने स्वीकार नहीं किया। जिन राज्यों ने जापान के साथ की गई सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, उनकी संख्या ४८ थी। इस सन्धि की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) जापान को सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता को स्वीकार किया गया, पर उसके राज्यक्षेत्र में कमी कर दी गई। (२) जापान ने संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना और उसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा रखना स्वीकार किया। (३) कोरिया, फार्मूसा, पेस्काडोरस द्वीप-समूह, कुरील द्वीपसमूह, दक्षिणी सखालिन, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ के मेन्डेट के अधीन प्राप्त द्वीपों, स्पार्टली द्वीप-समूह, परासल द्वीप-समूह और अन्टार्टिका के क्षेत्र से जापान ने अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व का अन्त कर देना

स्वीकार किया। (४) संयुक्त-राष्ट्रों की जो सेनाएँ जापान में विद्यमान हैं उन्हें वहाँ से हटा लिया जाए, पर यदि इस विषय में जापान और अमेरिका में कोई समझौता हो जाए, तो अमेरिकन सेनाएँ जापान में रह सकें। (५) जापान युद्ध के लिये हरजाना प्रदान करे। यह सन्धि ८ सितम्बर, १९५१ के दिन की गई थी। इसी दिन संयुक्त-राज्य अमेरिका ने जापान के साथ एक अन्य सन्धि की, जिसके अनुसार यह तय किया गया कि सुदूर पूर्व के क्षेत्र में शान्ति को स्थापित रखने के लिये जापान और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अमेरिका अपनी सेनाएँ रख सकेगा, ताकि ये सेनाएँ जापान के आन्तरिक विद्रोहों का दमन करने और सुदूर पूर्व के क्षेत्र में अशान्ति उत्पन्न होने की दशा में प्रयुक्त की जा सकें।

(५) संयुक्त राष्ट्रसंघ

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर संसार में स्थायी शान्ति स्थापित करने और विभिन्न राज्यों में परस्पर सहयोग कायम करने के प्रयोजन से संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations' Organisation) का संगठन किया गया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर इसी उद्देश्य से जिस राष्ट्रसंघ का निर्माण किया गया था, वह सफल नहीं हो सका था। उसे विश्व भर के राज्यों का संगठन कहा भी नहीं जा सकता था, क्योंकि संयुक्त-राज्य अमेरिका सदृश शक्तिशाली राज्य उसका सदस्य नहीं बना था, और रूस तथा जर्मनी भी चिरकाल तक उससे पृथक् रहे थे। उसके पास ऐसी शक्ति का भी अभाव था, जिसका उपयोग कर वह विभिन्न राज्यों को अपने आदेशों का पालन करने के लिये विवश कर सकता। द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता को दृष्टि में रखते हुए अब अमेरिका भी यह अनुभव करने लग गया था, कि विश्व के विभिन्न राज्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थायी शान्ति के लिये बहुत उपयोगी हो सकता है। इसी लिये १९४३ में वहाँ की कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर दिया था, कि विश्व के विभिन्न राज्यों का एक संगठन बनाया जाना चाहिये। अमेरिका के परराष्ट्रमन्त्री कार्डल हल जब ब्रिटेन, रूस और चीन के परराष्ट्रमन्त्रियों के साथ परामर्श करने के लिये मास्को में गये (अक्टूबर, १९४३), तो वहाँ उन्होंने एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता के विचार को भी अन्य परराष्ट्रमन्त्रियों के सम्मुख प्रस्तुत किया। वहाँ इस विचार का उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। इसके पश्चात् जब डम्बर्टन ओक्स में अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधि एकत्र हुए (अगस्त, १९४४), तो उन्होंने इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूपरेखा भी तैयार कर ली।

फरवरी, १९४५ में हुई याल्टा कान्फरेन्स में नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रश्न पर पुनः विचार-विमर्श किया गया। वहाँ यह निर्णय हुआ, कि इस संगठन के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार करने और उसके संविधान का निर्माण करने के लिये सन फ्रांसिस्को में एक कान्फरेन्स बुलायी जाए, जिसमें उन सब राज्यों के प्रतिनिधि निमन्त्रित किये जाएँ जिन्होंने कि जर्मन पक्ष के विरुद्ध लड़ाई में भाग लिया था। २५

एप्रिल, १९४५ से २६ जून, १९४५ तक यह कान्फरेन्स सन फ्रांसिस्को में हुई, जिसमें ५० राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस कान्फरेन्स द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को अन्तिम रूप से स्वीकार किया गया। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। वाद में अन्य राज्य भी इस संघ में सम्मिलित होते गये, और वर्तमान समय तक इस संघ के सदस्य-राज्यों की संख्या १२५ के लगभग तक पहुँच चुकी है।

सन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ का जो चार्टर तैयार किया गया, उसमें उन उद्देश्यों तथा प्रयोजनों का विशद रूप से निरूपण किया गया है, जिन्हें सम्मुख रख कर इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया गया था। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं—(१) मानव जाति की भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से छुटकारा प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति को कायम रखना, शान्ति का भंग करनेवाले सब प्रकार के कार्यों का प्रतिरोध करने के लिये सामूहिक उपायों को प्रयुक्त करना और राज्यों के आपसी झगड़ों को निबटाने के लिये न्याय्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों पर आधारित शान्तिमय उपायों का आश्रय लेना। (२) सब राज्यों में मैत्री-सम्बन्धों को स्थापित करना और इसके लिये सब के समान अधिकार तथा स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्तों को प्रयोग में लाना। (३) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवता-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिये सब राज्यों में परस्पर सहयोग कायम करना, आधारभूत मानव अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना में वृद्धि करना और जाति, लिंग, भाषा व धर्म के भेदभाव को दृष्टि में न रखते हुए सबको आधार-भूत स्वतन्त्रताएँ प्राप्त कराना। (४) संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक ऐसा केन्द्र बनाना, जिस द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विविध देशों में सहयोग तथा इन द्वारा किये जाने वाले कार्यों में सामंजस्य स्थापित हो सके।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन में सब सदस्य-राज्यों को एक समान स्थिति प्राप्त है। चाहे ये राज्य संयुक्त-राज्य अमेरिका और रूस जैसे विशाल व शक्तिशाली हों और चाहे नेपाल तथा लंका जैसे छोटे-छोटे हों, सब की स्थिति एक बराबर मानी जाती है। सब को संघ की कार्रवाई में समान रूप से भाग लेने, वोट देने और विविध पदों पर निर्वाचित होने का अधिकार है। संघ के चार्टर में यह बात भी स्वीकार की गई है, कि वह किसी राज्य के अन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

संगठन—संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान अंग निम्नलिखित हैं—(१) जनरल एसेम्बली—इसमें सब सदस्य-राज्यों के पाँच-पाँच प्रतिनिधि लिये जाते हैं। संघ के जिन उद्देश्यों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनकी पूर्ति के लिये विचार-विमर्श करना तथा योजनाएँ बनाना एसेम्बली का मुख्य कार्य है। सामान्यतया, उसके निर्णय बहुमत द्वारा किये जाते हैं, और प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक वोट गिना जाता है। पर महत्त्व-पूर्ण मामले दो तिहाई बहुमत से निर्णीत होते हैं। ये मामले निम्नलिखित हैं—किसी राज्य को संघ का सदस्य बनाना, किसी राज्य को संघ की सदस्यता से पृथक् करना,

शान्ति और सुरक्षा विषयक निर्णय, संघ की अन्य संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव और ट्रस्टीशिप के विषय। (२) सुरक्षापरिषद् (Security Council)—यह संयुक्त राष्ट्र-संघ की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसकी सदस्य-संख्या ११ है। संयुक्तराज्य अमेरिका, रूस, चीन, ब्रिटेन और फ्रांस को इस परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त है। शेष छः सदस्य अस्थायी होते हैं, जिन्हें दो वर्षों के लिये जनरल एसेम्बली के सदस्यों द्वारा दो तिहाई बहुमत से चुना जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की दृष्टि में चीन की वैध सरकार वह है, जिसका फार्मूसा पर शासन है। परिषद् संघ की स्थायी संस्था है, और उसकी बैठकें दो सप्ताहों में एक बार अवश्य की जाती हैं। यह ऐसे विवादों या परिस्थितियों पर विचार करती है, जिनसे शान्ति भंग होने की सम्भावना हो। साथ ही, इस द्वारा ऐसी सिफ़ारिशें भी की जाती हैं, जिन द्वारा राज्यों के आपसी झगड़ों को निबटाया जा सके। जिन पाँच राज्यों को सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त है, उन्हें परिषद् के किसी भी निर्णय को वीटो कर सकने का अधिकार भी प्रदान किया गया है। इसके कारण संयुक्त-राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निबटा सकने की क्षमता बहुत सीमित हो गई है। (३) सचिवालय—संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान अधिकारी सेक्रेटरी-जनरल कहाता है। उसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल एसेम्बली द्वारा की जाती है। संघ के कार्यों को आठ विभागों में विभक्त किया गया है, और उनके संचालन के लिये पृथक् सचिवों की नियुक्ति की जाती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में अनेक संस्थाएँ संगठित की गई हैं, जिनमें संयुक्त-राष्ट्र शिक्षा-विज्ञान तथा सांस्कृतिक परिषद् (UNESCO), अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, भोजन कृषि संगठन, पुनर्निर्माण व विकास का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राफण्ड, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कोर्पोरेशन, विश्व स्वास्थ्य परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय आणविक शक्ति एजेन्सी, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एसोसियेशन और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मुख्य हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना द्वारा संसार ने अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। यह स्वीकार करना होगा कि संयुक्त राष्ट्र-संघ पुराने राष्ट्रसंघ की तुलना में अधिक शक्तिशाली है। वह शान्ति भंग करने वाले या 'आक्रान्ता' राज्य के विरुद्ध सैन्यशक्ति का भी प्रयोग कर सकता है। यद्यपि उसकी अपनी कोई सेना नहीं है, पर वह अपने सदस्य-राज्यों से यह मांग कर सकता है, कि वे शान्ति भंग करने वाले राज्य के विरुद्ध प्रयुक्त करने के लिये अपनी सेनाएँ भेजें। पर यह संघ भी सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं बन सका है, क्योंकि कम्युनिस्ट चीन जैसे शक्तिशाली राज्य को संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हुई है, और जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक, उत्तरी कोरिया और उत्तरी वियतनाम सदृश कम्युनिस्ट राज्यों को भी संघ का सदस्य नहीं बनाया गया है।

●

